वैचारिकी

१

नई आलोचना

आज के आलोचना क्षितिज पर दृष्टिपात करते हैं तो उसका प्रत्येक स्तर गतिमय प्रतीत होता है। युग बदला है तो युग के वैचारिक द्वन्द्व ने दृष्टिकोण भी बदले हैं। पहले की कोमल-प्राण कल्पना आज अधिक सक्रिय, अधिक जागरूक हो उठी है। युग और जीवन से टकराकर अब तक की दबी पड़ी कुण्ठाएँ चोट खाये विषधर की भाँति फन उठाए हैं। बुजुर्गों की पीढ़ी आगत-अनागत के आह्वान से भरी थी। उनका अनुभूति-सिक्त सहज भावलहरियों का अक्षय स्रोत, शास्त्रीय नियम एवं लोकमत इन दो कूलों को स्पर्श करता हुआ, शत-सहस्र धाराओं में उच्छ्वसित हो—सदानीरा की भाँति—अप्रतिहत वेग से बहा करता था। उनके मर्यादित चिंतन का बाँध कम टूटता था, उनकी तुष्ट दृष्टि तर्कशील न हुई थी। पर नई चेतना में पला नये युग का नया साहित्यकार तात्कालिक परिस्थितियों एवं दैनन्दिन संघर्षों से टक्कर लेकर अपेक्षाकृत सतर्क हो गया है। वह पूर्ववर्तियों से अपने आपको उच्छिन्न करके सर्वथा नई लीक का राही है। साहित्य के प्रति उसके दायित्व नये हैं, उसके कर्त्तव्याकर्त्तव्य का मानदण्ड नया है, उसके मूल्यांकन का विधान नया है। भौतिकता के विकास के साथ ज्यों-ज्यों रागात्मकता शिथिल पड़ती जा रही है, बौद्धिकता उभर रही है। फलतः संक्रमण की इस अराजकता के बीच आलोचना की ऐसी अभिनव प्रणालियाँ विकसित हुई हैं जिनमें साहित्य के प्रति एक नवीन और तीव्र चेतना का आभास मिलता है।

तो गतिक्षिप्रता ने आलोचना को कई डग आगे बढ़ाया है। मानवीय चिंतन इतना आगे बढ़ गया है कि उसमें नई सृजनोत्कण्ठा के साथ-साथ बौद्धिक जिज्ञासाओं की तार्किक प्रणाली से निजी सृजन को आँकने की ख्वाहिश भी जग गई है। आचार्य शुक्ल के बाद हिन्दी आलोचना रचनात्मक पथ पर अग्रसर होती रही, गो कि उसके स्थायी मूल्य और माप की कसौटियाँ अभी सुस्थिर नहीं हुईं। दिनानुदिन बौद्धिक नवीनता के आग्रह ने आलोचना के उपादानों को उन निरे रूढ़ अर्थों में ही ग्रहण नहीं किया, अपितु आलोचना-परम्परा की लीक से अलग हट कर साहित्यिक प्रक्रिया के सच्चे स्वरूप और जीवन की रागबोधात्मक अनुभूतियों एवं बाह्य वास्तविकताओं के साथ उसके संवेदनात्मक सम्बन्धों को जानने और समझने को

भी प्रयास किया। अलबत्ता आलोचना की प्राणवान परम्परा अभी विकसित नहीं हुई, पर साहित्य में उसकी गहरी जड़ें हैं, उसके निर्माण में, उसकी गठन में, उसके स्थायित्व में उसका महत्त्वपूर्ण योगदान है।

मौजूदा आलोचना प्राचीन और नवीन का सन्धिचिह्न है। वह अभी समृद्धि के उस छोर को नहीं छू पाई, जहाँ से दिग्भ्रान्त होने का खतरा टल जाता है। पर अन्य प्रभावों को आत्मसात् कर बाहर के दाय ने उसे मर्वाद्धित और परिपुष्ट किया है। साहित्य के समूहगत पर्यालोचन, परीक्षण, विश्लेषण, उसके सत्य किंवा अर्द्ध-सत्य निष्कर्षों की खोज, सम्यक् अनुशीलन तथा देशीय एवं वहिर्देशीय अन्तर्विरोधों ने इधर कितनी ही प्रवृत्तियों को जन्म दिया है जिनमें युगीन वैविध्य और असामान्य गुणयोग है। मुख्य रूप से तो दो ही प्रवृत्तियाँ कार्य कर रही हैं—अन्तर्वादी और वस्तुवादी। अन्तर्वादी प्रवृत्ति का मूल मनोविज्ञान है जिसमें अहवृत्ति, आत्म-प्रपीडन, स्वप्न-परिपूर्ति और दमित इच्छाओं के कारण स्व रुग्णात्मकता (Neurosist neurosis) *आदि वैयक्तिक विकृतियाँ सन्नथित हैं।* कुछ आत्मकेन्द्रिक आलोचकों ने मनोविश्लेषण का दायरा सीमित कर ऐसे अन्तर्मुखी, अगम्य, अशरीरी तत्त्वों की खोज की है जिनमें मानव-मन के भीतरी पर्तों में दबी पड़ी काम-कुण्ठाओं का विवेचन है। जैसे जैसे भौतिकशास्त्रियों की गवेषणाएँ आगे बढ़ रही हैं, मानव-जिज्ञासा के पीछे छिपी कतिपय स्वाकृत-अस्वीकृत मान्यताओं के परीक्षणात्मक प्रयोग शुरू हो गए हैं।

पराजित भोगवाद

कहना न होगा—ऐसे आलोचक फ्रायड के मतवादों से प्रभावित हैं जिसने मनुष्य की तमाम विकृतियों अथवा साघातिक मानसिक रोगों की उत्पत्ति निरोधित प्रेरणाओं में खोजी है। उसके अनुसार *मनुष्य की मन प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं* जो स्वभावतः अप्राप्य की ओर दौड़ा करती हैं। वे उन वस्तुओं को पाने के लिए सतत चेष्टाशील रहती हैं जो नितांत सामाजिक अथवा व्यावहारिक जीवन में अमान्य हैं। अपने प्रयत्न में बाधा पाने से मनुष्य की प्रबल भोगेच्छा, उसकी उन्मत्त, उद्दाम लालसाएँ, उग्र संवेग निरन्तर दमित होने के कारण अचेतन मन में द्वंद्व पैदा करते हैं और ऐकांतिक वृत्तियों पर हावी होकर अन्तःकरण के अभेद्य स्तरों में संचित हो जाते हैं जो बाहर से तो ओझल, पर भीतर से मनोव्यापारों का अविभाज्य अंग बने रहते हैं। इन तिरोभूत अवांछित मनोवेगों, घुट इन्सानी जजबातों का क्षणिक तृप्ति से शमन नहीं होता, अपितु समय-असमय इन्हें अनियन्त्रित उत्तेजना मिलती रहती है जो सजग चेतन के असंख्य तारों को अनायास ही झनझना देती है। मन के गह्वर में दबी पड़ी ये काम-कुंठाएँ, फ्रायड के अनुसार, वातावरण के अनुकूल नियन्त्रित होती रहती हैं और मनुष्य के उच्चतर 'अहं' द्वारा उनका संस्कार या परिष्कार होता रहता है। पर जब-जब उनमें भयंकर विस्फोट

होता है अर्थात् मनुष्य की उच्छृंखल वृत्तियों पर से बुद्धि की रास ढीली पड़ जाती है तो मानसिक उलझनों और असन्तुलित मनोविकारों की कोई थाह नहीं है।

फ्रायड ने मानव-मन की मूल प्रेरक शक्ति 'काम' मानी है। इसी कसौटी पर उसने अपनी सम्पूर्ण मनोवैज्ञानिक भित्ति खड़ी की है। मनुष्य की इच्छा-अनिच्छा, सुकृत्य-दुष्कृत्य, क्षुद्र एवं उदात्त चिन्तन, विचारधाराएँ, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष और जानी-अजानी क्रियाएँ, सचेत, अर्द्धचेत तथा अचेत मन के अज्ञात, अवांछित निर्देश, सुषुप्ति अथवा जाग्रतावस्था के कार्य-व्यापार, उसकी तूफानी या सन्तुलित वृत्तियाँ—सभी का उद्गम 'काम' अर्थात् भोगजन्य उत्तेजना है, जिसको फ्रायड युवावस्था में ही नहीं, बल्कि शैशवावस्था से ही—अविकसित रूप में—स्वीकार करता है।

अपने यहां भी विश्लेषणवादी आलोचकों का एक ऐसा वर्ग बन गया है जो फ्रायड के पदचिह्नों का अनुसरण करता हुआ स्त्री और पुरुष के बीच के स्थूल शारीरिक द्वंद्वात्मक आकर्षण को ही सर्वोपरि मानता है।

"हमारे व्यक्तित्व में होने वाला संघर्ष मुख्यतया काममय है और चूँकि ललित साहित्य तो मूलतः रसात्मक होता है, अतः उसकी प्रेरणा में काम वृत्ति की प्रमुखता असंदिग्ध है।" **(डॉ० नगेंद्र, "विचार और अनुभूति")**

इसी प्रकार डॉ० नगेन्द्र ने समस्त छायावादी काव्य को 'काम' से प्रेरित माना है। प्रेमचन्द वाले लेख में उन्होंने लिखा है :

"साहित्य में कामाश्रित स्वप्न-कल्पनाओं का असाधारण योग रहता है। मैं समझता हूँ विश्व साहित्य का वृहदांश इन्हीं काम-कल्पनाओं से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में संवर्द्धन प्राप्त करता है।" **("विचार और विवेचन" पृष्ठ ९३)**

'अज्ञेय' ने तो आज के समूचे साहित्य को कुण्ठाजात माना है। 'त्रिशंकु' में "परिस्थिति और साहित्यकार" शीर्षक निबंध में उन्होंने स्पष्ट उद्घोषणा की है—

"आज का हिन्दी साहित्य अधिकांश में अतृप्ति का, या कह लीजिए लालसा का, इच्छित विश्वास (wishful thinking) का साहित्य है।"

इसी लेख में एक अन्य स्थल पर वे लिखते हैं :

"······हमारे देश की आधुनिक अवस्था में अनुकूलता की, संतोषजनक सामाजिक परिवृत्ति की मांग दुस्सह हो उठी है।"

इसी मांग के कुण्ठित हो जाने से जो दोहद, जो बलान्त अतृप्ति पैदा होती है वह एक विशेष प्रकार के साहित्य को ही प्रेरित कर सकती है।

"आज का हिन्दी साहित्य प्रायः ठीक ऐसा ही साहित्य है।"

'अज्ञेय' ने मनुष्य को अनुशासित करने वाली दो प्रमुख वृत्तियाँ मानी हैं—अहं और काम, जिनमें परस्पर संघर्ष होता रहता है। मनुष्य की उपभोग वृत्ति के

साथ उसका अहं टकराता रहता है। कहीं अहंभाव में दमित काम का पर्यवसान हो जाता है और कहीं काम के अनुशासन को स्वीकार करके अहंभाव की एकांगी विकासमूलक साधना की चरम परिणति सी दृष्टिगत होती है। नैतिक व्यवधान और सामाजिक परिवेश मानवीय विफल कुण्ठाओं पर प्रवचना का पर्दा डाल देते हैं जिससे असहनीय स्थिति, अर्थात् उनकी भाषा में—दौहृद पैदा हो जाता है।

फ्रायड के मन कल्पना सम्बन्धी सिद्धांतों के इलाचन्द्र जोशी भी कायल हैं, पर उनका अनुभव-क्षेत्र विशाल है और वे किसी भी मतवाद की चौहद्दी में न बँधकर मनोविज्ञान की व्यापक स्थितियों को स्वीकार करते हैं

'मेरे मन में मानवीय मन का विभाजन केवल दो या तीन खण्डों में नहीं किया जा सकता। मनुष्य का मनोलोक केवल सचेत मन या अर्द्धचेत मन तक ही सीमित नहीं है। वह असंख्य स्तरों में विभक्त है, जिनमें से अधिकांश स्तर साधारण चेतना की अवस्था में हमारी अनुभूति के लिए अज्ञात रहते हैं। जिन अवांछित प्रवृत्तियों का हम दमन करते जाते हैं वे किन्हीं स्तरों में जाकर उन्हीं में घुलमिल जाती हैं। प्रतिक्षण एक न एक अज्ञात स्तर हमारे सचेत मन को प्रेरणा देता रहता है। पर असाधारण अवस्थाओं में एक नहीं अनेक स्तर, एक दूसरे से टकराते हुए, सचेत मन पर आकर हमला करते हैं और एक प्रचण्ड मानसिक भूकम्प की अवस्था उत्पन्न कर देते हैं। अन्तस्तल में निहित कौन स्तर कब और क्यों उठ कर तूफान मचा बैठेगा, इसका कोई भी निश्चित नियम नहीं है।"

("विश्लेषण" पृष्ठ १०६)

हम तो कहेंगे मानव मन की क्रिया प्रतिक्रिया इतनी सूक्ष्म और अदृश्य है कि उसे किसी विशेष सत्ता अथवा स्तरों में विभक्त किया ही नहीं जा सकता। मन की संक्रमणशील शक्तियाँ केवल प्रातीतिक हैं। वे एक ऐसे स्वतः पूर्ण समवाय की सजीव प्रक्रिया हैं जो अपने आप में अविभाज्य हैं। उन्हें अणु, परमाणु या उससे भी सूक्ष्मतम कणों में विभाजित करना असम्भव है। मन का निर्माण इतना उलझावपूर्ण और रहस्यमय है, साथ ही उसके गुणात्मक मूल्यों की सत्ता इतनी संश्लिष्ट और अविभाज्य है कि उसके स्वरूप का निर्धारण किया ही कैसे जा सकता है। अतएव अनन्त और अमित चेतना को 'काम' की सीमित परिधि में बंदी बनाना अथवा उसका एक ही मूलगत एवं अपरिणत आधार खोजना सर्वथा गलत और भ्रामक है। मन की मुक्त तरंगें अप्रतिहत प्रवेग से अनेकधा होकर प्रवहमान होती हैं जिनके ओर छोर का पता लगाना अथवा मनोलोक की सभी असंख्य वृत्तियों को कामोन्मुख मानना निरी विडम्बना है। भोगजन्य उत्तेजनाएँ तो क्षणिक उन्माद की शिखाएँ हैं जो एक बार प्रदीप्त होकर *किसी भी स्थितप्रज्ञ साहित्यकार की बुद्धि को अस्थिर कर सकती हैं।* किन्तु महान् स्रष्टा की सृजन-चेतना तो तभी विराट् होगी जब कि वह सर्वांश के श्रेय-प्रेय को आत्मवत् ग्रहण करने का अभ्यस्त होगा।

प्रश्न है कि क्या किसी भी अदृश्य अथवा इन्द्रियातीत सूक्ष्मतम संस्कारों को अन्तिम दृष्टि से वास्तविक सिद्ध किया जा सकता है या यूँ ही वहमों एवं असत्य आधारों को फ्रायड द्वारा पोषण मिला है ? मन से परे अचेतन की अगम्य अवस्थाओं से साक्षात्कार वही व्यक्ति कर सकता है जो अन्तर्नुभूति के बल पर अन्तस्साधना के मार्ग का अनुधावन कर चुका है, फिर भी ये भीतरी अनुभूतियाँ मानसिक वातावरण में से गुजर कर जब भाषा मे व्यक्त होती हैं तो उनमें परस्पर भेद-प्रभेद एवं विसंगतियाँ आ ही जाती है जिनकी न व्याख्या हो सकती है, न विश्लेपण।

स्वय फ्रायड के दो शिष्यो एडलर और यूग ने आगे चल कर उसका विरोध किया था। फ्रायड के काम-वासना के महत्त्व और चेतन-अचेतन के अन्तर को उन्होंने सर्वथा अनुपयुक्त माना था। एडलर के मतानुसार मनुष्य की मूल प्रेरणा-शक्ति लोकैषणा अथवा वड़प्पन प्राप्त करने की इच्छा है, लेकिन उसकी ये जबर्दस्त महत्त्वाकांक्षाएँ कठोर यथार्थ के अत्यन्त संकुचित दायरे में गिरफ्तार हो जाती है। शनैः शनैः उसमें आत्महीनता की भावना जगती है जिससे उसके भीतरी जीवन में बहुत कुछ अस्तव्यस्तता और अशान्ति छा जाती है।

इसके विपरीत यूग ने मनुष्य में विभिन्न मनःस्थितियाँ, इच्छाशक्ति और व्यक्तिगत आकाक्षाएँ होते हुए भी कलाकार के रूप में उसकी उच्चतर स्थिति मान कर उसे 'सामूहिक मनुष्य' और मानव-मात्र के अचेतन मानसिक जीवन को प्रेरित और रूपायित करने वाला प्राणी स्वीकार किया है। उपर्युक्त विवादो से यह स्पष्ट हो गया कि मन के अकल्पनीय उद्वेगो की कोई ठोस परिसीमा नही है। यह अवश्य है कि फ्रायड ने चिन्तन को एक नया मोड़ दिया, पर आधुनिक मनोविज्ञान हमारे भीतर काम कर रहे जीवन और चैतन्य के स्रोतो की जो खोज कर रहा है उसमें वह बहुत दूर तक नही ले जा सका है। ज्यों-ज्यों नये संशोधित सिद्धात आगे आएँगे, पुरानी मान्यताएँ पीछे पड़ जायेगी। मनोविश्लेषणवादी आलोचक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में स्वय इस बात को स्वीकार कर चुके हैं। इलाचन्द्र जोशी फ्रायड के एकांगी और सकीर्ण दृष्टिकोण की भर्त्सना करते हुए अपना अभिमत यो व्यक्त करते हैं :

"फ्रायड ने यह निर्देशित किया है कि हम नींद की अवस्था में—जाग्रत अवस्था मे भी—जितने भी स्वप्न देखते हैं वे बदले हुए रूपों में हमारी दमित यौन भावनाओं को ही विस्फुटित करते हैं। उसके कथनानुसार हमारे स्वभाव की जितनी भी विकृतियाँ हैं उनका मूल कारण दमित यौन प्रवृत्ति हैं, और जितनी सुकृतियाँ या सुसंस्कृत और समुन्नत प्रवृत्तियाँ हममें पाई जाती हैं वे भी दमित यौन प्रवृत्ति के उदात्तीकृत रूप हैं। गरज यह कि मानव-जीवन को प्रगति की ओर बढ़ाने वाली अथवा विकृति की ओर पीछे घसीटने वाली मूल परिचालिका शक्ति एक ही है, और यह है यौन-प्रवृत्ति। यह कैसा एकांगी और सकीर्ण दृष्टिकोण है, विशेषज्ञों को यह बताने की आवश्यकता न होगी। यह ठीक है कि यौन-प्रवृत्ति के भीतर एक बहुत बड़ी अणु-शक्ति निहित है, जिसके अनियन्त्रित विस्फोट से मनुष्य के समस्त जीवन

पर भयावह प्रभाव पड़ सकता है तथा जिसके सुनियन्त्रण से जीवन के सुचारु सचालन में एक बहुत बडी सहायता मिल सकती है । पर समस्त मानवीय भावनाओ, मनुष्य की सभी सुख-दु खमयी वेदनाओं और आकाक्षाओं की मूल नियता एकमात्र यही प्रवृत्ति है, ऐसा समझना घोर भ्रामक होगा । असख्य मानवीय मूल प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं, जो यौन भावना से तनिक भी सम्बन्ध नहीं रखतीं और जो मानव के सघर्षमय जीवन को कुछ निश्चित दिशाओ की ओर धक्का देती रहती है ।"

('विश्लेषण" पृष्ठ १०८)

डॉ० नगेन्द्र अभी फ्रायड के मतवादो से मुक्त नही हो पाए हैं—"प्रगतिवाद के एकाध नादान दोस्त की मोटी अक्ल में फ्रायड का महत्त्व नही बैठ पाता, पर इससे फ्रायड का कुछ नही बनता-बिगडता ।"

पर लगता है उनके विचार अब डगमगाने लगे हैं और वे फ्रायड से पीछा छुडाना चाहते हैं । एक रेडियो प्रसारित वार्ता में उन्होने कहा था, "मेरे सहयोगी और सम-सामयिक मुझे फ्रायडवादी समझते हैं, किन्तु उनकी यह धारणा गलत है ।"

'अज्ञेय' तो पक्के यौनवादी होते हुए भी प्रगतिशीलता का दम्भ भरते नही थकते । ये दृष्टिकोण ही उनके जीवन के 'सूत्र' हैं और पुस्तकें उनकी भाष्य ।

लेकिन फ्रायड के इस स्थूल दैहिक आकर्षण ने इधर अपरिपक्व नौसिखुओ की बुद्धि को इतना झकझोरा है कि जो स्थापनाएँ अब पश्चिम मे ही सदिग्ध हो गई हैं या उन्हें ना-काफी मान कर कितने ही हेर-फेर किए जा रहे हैं—उन्हें नये सिरे से अपना कर वे अपने आपको गौरवान्वित मानते हैं । दो एक प्रतिष्ठित आलोचकों की शह पाकर तो आधुनिक मनोविज्ञान के प्रतिमानो को, जो स्वय शैशव और प्रयोग की सदिग्धावस्था मे हैं, हिन्दी साहित्य पर इस प्रकार थोपा जा रहा है कि नकारात्मक सकीर्ण स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियो को प्रश्रय दिया जा रहा है । फ्रायड के इन अन्ध मतानुयायियों को देखकर उन अर्द्धविक्षिप्त, कामातुर और विकृत रोगियो की लम्बी कतार आँखो के सामने आ खडी होती है जिनके मस्तिष्क में विवशता की घुटन है और वहमी उलझनों के कीडे कसमसा रहे हैं । मनोविज्ञान की आड लेकर और मतवादी सकीर्ण सीमाओ के कटघरे में बाधकर जो साहित्य को एकागी और मर्यादाहीन बना रहे हैं वे उसे चरम विकास के मुहाने पर ले जाने के बहाने कहाँ—कितनी दूर तक—अधबीच में—ले जाकर छोड देंगे—कहा नही जा सकता । भीतर-ही-भीतर वासना का 'घुन' उन्हें खाए जा रहा है जो इनके पशुत्व को उभार कर अधिकाधिक उन्हें खोखला और पुसत्वहीन बना रहा है ।

नि सन्देह, इन भीतरी राग विरागो के दिमागी फितूर और तिस पर अनर्गल इच्छा-आकाक्षाओ के न जाने कितने ही मिलेजुले अनन्त स्तर हैं जिनके जटिल जाल में समूचा जीवन और उनके अनगिन व्यवहार-व्यापार उलझे हैं । सवेगो में गुँथ कर ये दबे घुटे विकार ही तीव्र से तीव्रतर होकर जैसे आज के छिन्न-भिन्न जीवन के

बिखराव और बुद्धि के अजीर्ण की खट्टी डकारो से अंधेरी गुहाओ को गुंजाते अंतर्मन के कोनों-कोनो में झाँक लेने का दंभ भरते हैं। सब कुछ नया, अनदेखा, अनजाना, बे-समझा—एक निरर्थक दुस्वप्न-सा—घुटन और हताशा की पलायनवादी परिणति में आ सिमटा है। जीवन के अनन्त, फेनिल प्रवाहों की ओर उन्मुख, पर उक्त प्रवाह के गत्यवेग को रुद्ध करने वाली भीषण चट्टानो की ही तरह जहाँ अनेकानेक विकारो के उपकरण मौजूद हैं—ऐसे 'ओडिपस काम्प्लेक्स' के चक्राकार आवर्त्तों में दिग्भ्रान्त—लक्ष्य से भटके हुए, मगर फिर भी किसी एक ओर ही बढने की ज़िद ठाने—तन-मन की थकान और जीवन-संघर्षों की तलखी लिये ऐसे-ऐसे दूरस्थित छोरों पर भटक जाते हैं जहाँ सामंजस्य के बिन्दु या किसी प्रकार का मौलिक साम्य नहीं है, जहां इत्तफ़ाक़ से एक हवा टकराई तो दूसरी कतराकर गुज़र जाती है। मनोवैज्ञानिको के मत में यह 'ओडिपस काम्प्लेक्स' ही तो सारी मुसीबत की जड है। बस, यही तो है वह नक़ाब जिसकी ओट में असली और नकली चेहरे छुपे रहते हैं। अवचेतन की दुर्भेद्य परतो मे आत्म प्रपीडन, अहंकार और व्यक्तित्वहीनता; घृणा, द्वेष और दुर्भावना; विचार, भावना और परिस्थितिगत द्वन्द्व; आकर्षण-विकर्षण और कितनी ही सुरुचियों-कुरुचियों से उपजी अकारण प्रवृत्तियाँ—ऐसे-ऐसे असंख्य अपराधो की संभावनाओ को नित्य जगाते रहते हैं जिनमें बहुमुखी विराट् वाङ्मय के अन्तर्प्राण स्पन्दन अपने छिछले प्राणस्पन्दन से एकमेक कर ये मताध, दम्भी और सकीर्णमना लोग निजी इच्छा-आकांक्षाओं के बिम्ब-प्रतिबिम्ब उभारते रहते हैं। साहित्य के जीवन्त, प्रेरणादायक स्वरूप को न समझते हुए अपने क्षुद्र विश्वासो की दुर्दान्त छलना में बहक कर ऐसे-ऐसे अप्रत्याशित परिकल्पनाओं के 'क्लाइमेक्सों' द्वारा इस तरह के दृष्टि-कोण, मतवाद, धारणाएँ और भेद-विभेद प्रस्तुत कर रहे हैं जिनके द्वारा एक नितान्त कुंठित जडता में साहित्य के सृजनशील तत्त्वों का दम घोटा जा रहा है।

किसी भी आलोचक को आलोचना की निजी कसौटी अख्तियार करने की तो स्वतन्त्रता है, परन्तु साहित्य को इस प्रकार स्वेच्छानुसार से कुण्ठित करने का उसे कोई अधिकार नहीं।

अतिचारवाद या अवैध उन्मुक्ति

उपर्युक्त मनोविश्लेषणवादी धारा के समानान्तर कुछ अन्य प्रतिगामी प्रवृत्तियाँ भी साथ-ही-साथ पनप रही हैं। मुख्यतः हमारे अत्याधुनिक समीक्षकों में यह भावना घर करती जा रही है कि विचार और अभिव्यक्ति मे बे-रोकटोक स्वतन्त्रता बरतनी चाहिए। भले ही वे प्रगतिशील हों या प्रयोगशील, अथवा ऊपर से फ्रायड के दुश्मन ही क्यों न हों—वे किसी भी साहित्य के आचार-उपचार को न मान कर कहते हैं—'किसी भी प्रतिबन्ध को न मानो, जो बात कहनी हो खुले दिल से कहो। किसी की परवाह न करो, किसी की लिहाज़ में अपने भीतर की दबी हुई वासनाओं, अतृप्तियों, आकांक्षाओं का गला न दबाओ। अतएव उन तत्त्वों और निषेधो को निर्मूल कर दो, जो कला के रूप और विषय की पूर्ण स्वतन्त्रता एवं निर्बाधता में

अड़गा डालें। ऐसा प्रतीत होता है कि मानसिक संघर्ष मनुष्य की चेतना को ठेल कर और उसका कसमसाता भीतरी विद्रोह ऊब कर व खीझ कर समस्त बन्धनों को ताड़ता हुआ बाहर फूट पड़ना चाहता है। मनोविश्लेषणवादियों का कामशास्त्र बहुत कुछ मन कल्पना है, अत बौद्धिक अधिक है। जिन्हें इसमें काल्पनिक सुख मिला वे इससे सम्मोहित ही अधिक हुए, क्योंकि भारतीय साहित्य-परम्परा के अन्तर्गत इस विजातीय तत्त्व की पूर्णतया खपत न हो पाई। यहाँ के मनोविश्लेषणवादी आलोचक भी इसे बुद्धि द्वारा ही ग्रहण कर सके, अनुभूति द्वारा उसे अनुप्राणित नहीं कर पाए।

किन्तु यथार्थवादियों ने इस भावना को नये स्वर से जगाया है। वे मन के छद्म आवरणों का पर्दाफाश कर 'काम' के उद्वेग का खुला, निर्बाध निष्कासन पसन्द करते हैं। इस पतनवादी प्रवृत्ति की ऐसी लहर सी आई है कि उपन्यास, कहानी, नाटक, कविता आदि पर तो इसका गहरा प्रभाव है ही, आलोचना भी इसके असर से अछूती नहीं रह सकी है।

एक और प्रवृत्ति इधर जोरों पर है, जो साहित्य की सहज गति को रुद्ध करने वाली है। प्राय जो आलोचक आलोचना के क्षेत्र में उतरते हैं, वे विवाद या तर्क-वितर्क करना तो पसन्द करते हैं, पर ग्राही नहीं हैं। कोरी युक्तियाँ ही उनके पास हैं, अनुभूति की पूँजी उनके पास बहुत कम होती है। परिणाम यह होता है कि ऐसी अधिकांश आलोचनाएँ असंगत और अविश्वसनीय उतरती हैं।

प्रगतिवादी समीक्षा

नये युग की नवोद्भावित चेतना ने इधर साहित्य को नई राह दी है। जीवन बिखर कर इतनी धाराओं में बहने लगा है कि साहित्य का गति-परिवर्तन अवश्यम्भावी भी हो गया। समष्टिगत गतिवेग ने प्रगतिवादी आलोचना को प्रश्रय दिया और इस तरह की आलोचना खूब पनपी भी, पर परम्परागत संस्कारों में अनास्था उत्पन्न करके विचारों की कशमकश, श्रेष्ठता के दम्भ और नित-नई समस्याओं की खींचतान ने जीवन के दुर्बल पक्ष ही उसमें अधिक उभारे। फिर ज्यों-ज्यों प्रगतिवाद मार्क्सवादी दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectic Materialism) से प्रभावित हुआ, वह वर्गहीन समाज व्यवस्था में विश्वास करने लगा और उसके बाह्य परिवेश भी बदल गए। नई-नई शंकाओं के साथ नए-नए समाधान और निराली समस्याएँ भी सामने रखी गईं। वर्तमान को अतीत से विच्छिन्न करके देखा गया और साहित्य के शाश्वत तत्त्व द्वन्द्ववाद में आ सिमटे।

इस द्वन्द्व से उद्भूत एक गतिरोध इधर की आलोचनाओं में दीख पड़ रहा है। प्रगतिवादी समीक्षक द्वन्द्व को ही विकास का स्रोत समझकर जिस अधिनायकवादी रुख को अपनाते जा रहे हैं वह संकीर्ण सत्तावाद का वाहक बन कर प्रतिगामी और परस्पर-विरोधी तत्त्वों का एक दूसरे में अंतर्गठन कर साहित्य को गतिमान करने की

बजाय उसके वेग को रोक रहा है।

अब तक विशप सिद्धान्तो की कसौटी पर विभिन्न विचारधारा के विपक्षी दलो में ही परस्पर आलोचना प्रत्यालोचना हुआ करती थी जिससे साहित्य के अच्छ-बुरे सबल और दुबल पहलू उभर आया करते थ। इससे राहत मिलती थी और अपनी अपनी रुचियो को प्रश्रय देन का मौका भी मिल जाता था। ममलन एसी आलोचनाए सदैव अभिनदनीय होती थी और हमारी राय में कभी भी उनकी महत्ता कम न होगी जो साहित्य के मिथुनाचार का बहिष्कार कर उसे स्वस्थता की ओर प्रेरित करेंगी।

'वात्स्यायन जी बार बार कलाकार के 'स्वानुभूत सत्य' और उसकी ईमानदारी' की बात उठाते हैं, बातें दोनों ही ठीक हैं। जिस साहित्य में कलाकार का अपना स्वानुभूत सत्य नहीं होता वह घटिया साहित्य होता है, घटिया और प्रभावशून्य। बिलकुल ठीक बात है। उसी तरह जिस साहित्य के पीछे साहित्यकार की ईमानदारी नहीं होती वह दो कौडी का साहित्य होता है। बिलकुल ठीक बात है। देखना यह है कि इसमें कुछ बात बिन-कही भी छोड दी गई है। वह बिन-कही बात यह है कि एक खास तरह की अनुभूति ही अनुभूति है और एक खास तरह की ईमानदारी ही ईमानदारी। यानी अगर अपने कमरे में बन्द आप अपने काम ग्रसित या अहपीडित या घुटन और अवसाद भरे मन की बारीक गुलकारियाँ दिखलायें तो वह आपकी सच्ची अनुभूति और स्वानुभूति मानी जायेगी, लेकिन अगर आप किसी क्रातिकारी भावना या घटना का चित्र खींचे तो वह आपकी स्वानुभूत बात नहीं मानी जायेगी, वह रचना कम्युनिस्ट प्रचार के अन्दर परिगणित हो जायेगी। मगर बात समझ में नहीं आती कि मेज पर पडी हुई धूल या जमीन पर रेंगते हुए कीडे या मक्खी को अपने जाल में फसाने वाली मकडी या मैथुन करती हुई छिपकली या कबूतरी या पनौली स्याही की दावात का यथार्थवादी, क्लिनिकल परफेक्शन तक पहुँचा हुआ चित्रण अगर कवि की ईमानदारी में दाखिल है तो कूच बिहार के गोलीकाड पर एक कहानी या कविता या रिपोर्ताज लिखना उसकी ईमानदारी में दाखिल क्यों नहीं? शरद् की जुन्हाई या नदी तट की अपार बालुका राशि देखकर ही हमारे इन कवियो की सरस्वती क्यों जागती है? निशीथ की ठिठुरती हुई नि स्तब्ध बेला में उन्हें हर बार अपनी प्रिया का ही ध्यान क्यो आता है, एक बार भी किसी गरीब बेचारी लडकी का ध्यान क्यों नहीं आता जो ठिठुरते हुए रात काट रही है और जिसकी हर रात इसी तरह कटती है? कवि तो बडा भावुक प्राणी होता है। क्या एक बार भी उसे इस गरीब लडकी की पीडा की अनुभूति नहीं होती? अगर होती है तो उसके अपने साहित्य में उसका प्रमाण? और अगर नहीं होती तो क्यो नहीं होती? वह सत्य कभी भी उसका स्वानुभूत सत्य क्यों नहीं बनता, क्यों ये चीजें सदा उसके लिए बेगानी रही आती है? कवि के सारे प्रतीक व्यर्थता और थकान, पीडा और अवसाद, पराजय और मृत्यु के ही क्यों हैं, एक खास तरह की Ennui क्यों उसका दामन नहीं छोडती? क्यो नयी जिन्दगी का उबाल, उसका जोश और जवानी, उसका अजेय सकल्प, उसका हजार तक-

लीको में भी मुसकराना, उसका sense of fulfilment 'अज्ञेय' जैसे कवियों के यहाँ नहीं मिलता (यहाँ चाहे विदेशी साहित्य में) यह सवाल हम वात्स्यायन जी से पूछते हैं। क्यों ऊब और थकन और मौत और अंधेरे और फ़ायडीय मनोविज्ञान के बारीक से बारीक रेशों की तराश आपको उनके यहाँ मिल जायगी, मगर शासक-वर्ग के बड़े-से-बड़े जुल्म और बड़ी से बड़ी सख्तियाँ, गोलियाँ और लाठियाँ और पुलिस की हिरासत में और जेलों में दी गई यन्त्रणाएं—इनकी सबकी कोई प्रतिध्वनि इस कवि हृदय में नहीं होती, इनके खिलाफ एक भी प्रतिवाद का स्वर उसके मुँह से नहीं निकलता। मरे हुए कुत्ते को देखकर यह बीस पंक्तियों की एक कविता लिख सकता है, मगर सलेम के जेल गोलीकांड में मरे हुए पच्चीस और घायल एक सौ राजबंदियों की बाबत पढ़कर और सुनकर उसे दो पंक्तियाँ लिखने की भी प्रेरणा नहीं होती। कवि कहेगा—यह मेरा स्वानुभूत नहीं है।"

(अमृतराय, 'हंस', दिसम्बर, १९५१)

और इसी तरह फायडीय पद्धति की कुत्सित मनोवैज्ञानिकता को कड़ी रगड़ देते हुए शिवदानसिंह चौहान ने लिखा है

"मोटे तौर पर, मनुष्य की मानसिक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करके सहज वृत्तियों, आवेगों और भावनाओं को अधिक मानवीय, संस्कृत और स्वस्थ बनाने वाले सामाजिक प्रभावों का निर्देश करना मनोविज्ञान का काम है। परन्तु ये मनोवैज्ञानिक ! इन लकड़बग्घों के घृणित मनोविज्ञान पर टिप्पणी करना भी किसी इंसान का स्वाभिमान गवारा नहीं कर सकता। मानवीय विचार, नैतिक मर्यादा, मानवीय भाव, सांस्कृतिक परम्परा, समाज सम्बन्ध, कला दर्शन, विज्ञान आज कोई चीज भी तो इन मौत के व्यापारियों के निकट सत्य और पुनीत नहीं है। मानव-आत्मा और मानव विवेक की हत्या करके यहाँ पर एक विक्षिप्त नरभक्षी कुंभकरण को जगाना आज उनकी विध्वंस योजना का अनिवार्य अंग है। उनका दुःस्वप्न कभी सफल नहीं हो सकता, क्योंकि जीवन मृत्यु से अधिक बलवान है।"

('नई चेतना,' अंक ४,१९५१)

मगर मानवीय विवेक जगाने वाली और सदभावना व हमदर्दी से विचारों के आदान प्रदान की चीजें इधर कम लिखी जा रही हैं। कुछ अर्से से प्रगतिवादी समीक्षा में ऐसी शाब्दिक पटेबाजी चल रही है कि ये लोग खुद एक दूसरे पर कीचड़ उछाल कर बेबुनियाद सिद्धांतों के प्रचार प्रसार में समय नष्ट कर रहे हैं। अविश्वास और क्षुद्र अहंकार ने उनके बीच दुर्लंघ्य प्राचीरें खड़ी कर दी हैं। इसका एक सबसे बड़ा कारण यह है कि प्रगतिवादी या मार्क्सवादी कहे जाने वाले आलोचक अधिकतर तो वे अधकचरे अवसरवादी नवयुवक हैं जो नवीनता की चकाचौंध में बे-पर के उड़ कर धरती पर पैर टिकाना नहीं चाहते। वे बदहवास एड़ लगाकर इस कदर आगे बढ़ने की हिमाकत कर रहे हैं कि प्रगति की दौड़ में सबको पीछे ढकेल देना चाहते हैं। ऐसे गैरजिम्मेदार लेखक न साहित्य को नई परम्परा दे सकते हैं, न गम्भीर

हुई शक्तियों और साहित्य व कला के द्वैत और विसंगतियों पर भी दृष्टिपात किया।

व्यापक से बृहत्तर व्यापकता की ओर मनुष्य की गति है। वह निजत्व का प्रसार और बौद्धिक चेतना को क्रमशः विकसित देखना चाहता है। प्रगति की भावना उसके विचारों को ठेलती कुरेदती और आगे बढ़ाती है, अन्यथा जीवन चल नहीं पाता। शरच्चन्द्र ने लिखा है 'यदि मृत और खण्डहर ही हमारा रास्ता रोके रहेंगे तो आगे बढ़ने का पथ कैसे मिलेगा? वातावरण और परिस्थितियों के अनुसार मनुष्य की भावनाएँ विकसित होती रहती हैं। विगत युगों में जो हमारा जीवन-लक्ष्य था वह आज भी कैसे स्थायी रह सकता है? अपने सुख-दुःख में तो हृदय एक परितृप्त विह्वलता का अनुभव करता ही है किन्तु समाज में रह कर वह बाह्य संघर्षों से भी मुँह मोड़ कर कैसे जी सकता है? अतएव विकास के क्रम का कौन हिमायती न होगा पर यह उत्कर्ष यह विकास साहित्य में मूर्त होना चाहिए। कोरे सिद्धांत कोरा विरोध कोरी स्वच्छ कल्पना कुछ मानी नहीं रखती। कोई अत्युक्ति न होगी यदि यह कहा जाय कि परस्पर विरोधी वृत्तियों एवं संघर्ष भावना से प्रेरित होकर साहित्यकारों ने साहित्य में कुछ ऐसी सीमारेखाएँ निर्धारित की हैं जिसके संकुचित दायरे में हमारी सामान्य सृजन शक्ति और उदात्त अंतश्चेतना उत्तरोत्तर ह्रास को प्राप्त हो रही है।

'इज्म' की भावना ने अभीप्ट उद्देश्य को भुलाकर तर्क वितर्क और नये मत वादों की प्रवर्तना की है। हमारी साहित्यिक प्रतिभाएँ कुछ गुटों वादों और दल बंदियों के दलदल में फँस कर अपनी शक्ति का अपव्यय कर रही हैं। उन्होंने एकांगी असामाजिक रुख अपनाकर एक दूसरे के विचारों का बहुत कुछ खण्डन-मण्डन किया है और साहित्य के उच्च लक्ष्य से पथभ्रष्ट होकर अराजक साहित्य की सृष्टि की है।

"अपने क्रांति विरोध का सबूत देकर चौहान ने बुर्जुआ मनोविज्ञान की माला जपनी शुरू की। मार्क्सवाद अधूरा है, उसे बुर्जुआ मनोविज्ञान से मिलाकर भरापूरा बनाओ—यानी साहित्य का लड़ाकू बगरूप खतम कर दो, साहित्य को गैर जानिबदार बनाओ, वर्ग-संघर्ष में निर्लिप्त और निस्संग रहो, चौहान ने पूँजीवाद के पढ़ाए हुए तोते की तरह यह रट लगानी शुरू की। रूप के नाम पर छायावादी विचार-वस्तु की हिमायत की और आखिर में अश्क जैसे टुटपुँजिया लेखक को गोर्की और प्रेमचन्द को बराबर बिठाया। प्रगतिशील लेखकों का मोर्चा कमज़ोर करने के लिए चौहान ने यह नारा उठाया कि कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है और कला आत्मसिद्धि का परिणाम है।"

(डॉ० रामविलास शर्मा, 'नया सवेरा' में प्रकाशित शिवदान सिंह चौहान पर लिखे गए निबंध से)

"कुओ० मो० जो० के अनुसार जो व्यापक संयुक्त मोर्चा तीस वर्ष संयुक्त

कार्य और सम्मिलित संघर्ष और उससे उत्पन्न चीनी लेखकों की पारस्परिक सद्भावना और एकता का स्वाभाविक परिणाम होना था, उसे रामविलास शर्मा ने तीन-चार वर्षों तक नियमित रूप से प्रगतिशील लेखक आंदोलन की जड़ों पर कुठार चलाने और देश की साहित्यिक शक्तियों में फूट और वैमनस्य की चौड़ी खाई खोदने के बाद हठात् एक अनिवार्य आरम्भ-बिन्दु के रूप में पेश कर दिया और इस प्रकार अपनी और अपने कुत्सित समाजशास्त्रीय जनद्रोही गुट की संस्कृति विरोधी करतूतों पर पर्दा डालने की चेष्टा की।"

(शिवदान सिंह चौहान—"आलोचना", अक्तूबर, १९५१)

रूस के सुविख्यात लेखक मैक्सिम गोर्की को लेकर ही इन दोनों आलोचक महारथियों के आरोप-प्रत्यारोप का एक नमूना देखिए—

"चौहान मार्क्सवाद और पतित पूँजीवादी मनोविज्ञान के समन्वय का मसौदा पेश करते रहे हैं, वह साहित्य में तटस्थता की माँग करते रहे हैं और गोर्की तक के लिए उन्होंने लिखा है कि उस महान् लेखक ने रूसी क्रान्ति के अवसर पर, 'तत्कालीन प्रश्नों को लेकर जो रचनाएँ कीं', उनका इसी तरह की वाल्तेयर और शेली की रचनाओं की तरह 'कोई साहित्यिक मूल्य नहीं रहा।' चौहान की कोशिश रही है कि प्रगतिशील साहित्य को तत्कालीन प्रश्नों से हटा कर शाश्वत तथा अर्द्ध-शाश्वत प्रश्नों की तरफ मोड़ा जाय।" ('हंस', मई, १९५१)

"प्रेमचन्द और गोर्की की तुलना क्यों नहीं की जा सकती, और गोर्की को प्रेमचन्द से हीन क्यों नहीं सिद्ध किया जा सकता ? और सबसे पहले यह सिद्ध करने का श्रेय भी डॉ० रामविलास शर्मा को है। सच तो यह कि 'साहित्य' के इस डाक्टर ने एक ही तीर से विश्व के तीन महान् लेखकों—टाल्सटाय, दास्ताव्स्की और गोर्की—को प्रेमचन्द के मुकाबले में धराशायी कर दिया। उन्होंने 'युग के साथ' होने की 'जनवादी' कसौटी पर कस कर सिद्ध किया कि "अनेक दृष्टियों से ये महान् लेखक अपने युग से पिछड़े थे।" (देखिए डॉ० रामविलास शर्मा कृत 'प्रेमचन्द' की भूमिका, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३)

इस हिन्दी आलोचक के ही शब्दों में गोर्की के पिछड़ेपन का जरा मुलाहज़ा फर्माइए।

"गोर्की में आवारापन अत्यधिक था और वर्ग-संघर्ष की उसे पूरी-पूरी जानकारी न थी। उसने अपनी डायरी में अपनी आवारा प्रवृत्तियों का मार्मिक वर्णन किया है। अपने रोमांटिकपन के कारण वह क्रान्ति के पश्चात् भी क्रान्ति के पूर्व के ही चित्र बनाता रहा। प्रेमचन्द अपने युग के साथ थे और अपने युग की उथल पुथल को उन्होंने अपनी रचनाओं में चित्रित किया है।" (वही 'पृष्ठ' ३)

"... ..इस वक्तव्य के गूढार्थों में गागर में सागर भरा हुआ है।"

('प्रेमचन्द और गोर्की' पुस्तक से उद्धृत, पृष्ठ ५५४)

और 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' पुस्तक मे डॉ० रागेय राघव का यह आक्रोशभरा विद्रूप

"डॉक्टर साहब ठीक कहते हैं। चौहान जी की गलती है कि वे अपनी तरह सबको गलती महसूस करने वाली ईमानदारी का मालिक समझते हैं। उन्हें टुटपूंजिया वर्ग की अवसरवादिता के पक्ष पर मार्क्सवाद से शिक्षा लेनी चाहिए। तब यहाँ मिसालें गिना देना ठीक होगा। आज जैसे डॉ० रामविलास शर्मा चीन को खाल खींच रहे हैं एक दिन वे रूस की आँख निकाल रहे थे।" (पृष्ठ ८०)

डा० रामविलास शर्मा ने सुमित्रानन्दन पत और राहुल सांकृत्यायन पर लम्बी आलोचनाएँ की थी जिन पर कितनो न ही अपने-अपने ढग से एतराज किया। अर्से तक एक हगामा सा मचा रहा, जिसके आसार अब भी सर्वथा मिट नहीं हैं। डा० धर्मवीर भारती ने पत जी का पक्ष लेते हुए 'सगम' में लिखा

"जैसे एक पागल कुत्ता कभी-कभी खिसिया कर अपनी ही पूँछ नोचने के लिये नाचने लगता है, वैसे ही इन प्रगतिवादियो ने अपने ही पक्ष वालों को हाथ नचा नचा कर गालियाँ देनी शुरू कीं। सबसे पहला वार हुआ पत जी पर। पत जी के उस कैम्प में जाने से लोगो को आश्चर्य हुआ था, परन्तु पत जी की सरलता से जो लोग अवगत थे वे जानते थे कि कैसा जाल बिछाया गया था। और बाद में उनके शिकजे को पत जी के लिए बर्दाश्त करना असम्भव हो गया।"

और राहुल जी के पक्ष समर्थन में डॉ० प्रभाकर माचवे ने 'प्रज्ञाचक्षु' नाम से अपना आक्रोश यो व्यक्त किया

"डॉ० रामविलास शर्मा के लेखो का शास्त्रीय विश्लेषण आवश्यक है, चूँकि उनका दृष्टिकोण नितात अशास्त्रीय, अवैज्ञानिक है। राहुल को तो उन्होंने निमित्त मात्र बनाया है। उनका उद्देश्य कुछ और ही है। उनका उद्देश्य ध्वसात्मक नीति के लिये नैतिक समर्थन प्राप्त करना है। उस नीति की असफलता की खीझ से व्याकुल रामविलास इस प्रकार की अधी आलोचना के लेख लिख कर प्रगतिशील आन्दोलन का कितना बडा अहित कर रहे हैं, यह शायद वे नहीं समझते। एक ओर सयुक्त साहित्य मोर्चे की चर्चा और दूसरी ओर ये प्रतिदिन के फरमान—आज शिवदान सिंह चौहान को चारों खाने चित्त करो, कल पत्त को पटक दे मारो, परसो रागेय राघव को 'धोबी पछाड' दो, नरसो यशपाल पर लट्ठ लेकर दौड़ पडो। यह है साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में रामविलास की पहलवानी, और उनके पट्ट शिष्य चन्द्रबली सिंह जी का उस्ताद की तावीज़ पहन मुगदर में तेल चुपड़ना।"

('नवयुग', २४ जून, १९५१)

इस पर बौखलाकर डॉ० शर्मा ने लिखा

"यह कीचड फेंकते हुए इन सज्जन को खुद उनकी दुर्गन्ध से इतनी पीडा

हुई कि उन्होंने मुह पर कपडा बांध लिया और असली नाम का 'प्र' लेकर नकली नाम प्रज्ञाचक्षु रख कर ही साहित्य के मैदान में क़दम रख सके।"

('हंस', मई, १९५१)

उपर्युक्त आरोप का उत्तर दिया डॉ० रागेय राघव ने। अपनी पुस्तक 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' में उन्होंने लिखा

"तो यह पता चला कि डाक्टर साहब के तर्क के अनुसार जब कोई नाम बदलकर लिखता है तो वह डरता है। तब रामविलास जी जब अगिया बैताल, निरजन, अशोक आदि नामों से लिखते थे तब वे डरते थे। या तो डाक्टर साहब को अपनी नौकरी का डर रहा होगा या उन्हें वैसे साहित्य को स्वीकार करने में झेंप होगी। जब वे घासलेटी साहित्य को, पार्टी दस्तावेजों को छन्दबद्ध करके रख रहे थे और उससे जनवादी कला का दम घोट रहे थे तब शायद उन्हें अपने डाक्टर जैसे भारी-भरकम नाम के बदनाम होने का डर था, क्योंकि खडीबोली की यह कविताएँ जो आधुनिक प्रचलित शैली में लिखी गई हैं उन पर उनका 'डाक्टर' शोभित है।"

इस प्रकार के सैकडों उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें आहत क्षोभ, दुराग्रह, आवेश और घृणोत्पादक दलीलों का प्रश्रय लिया गया है। एक ही विचार-धारा और सम सिद्धान्तों के सम्मानित लेखकों में इस तरह के विवेकहीन तर्क और कटूक्तियाँ पेश की जा रही हैं कि जिससे संकीर्ण विचार-वृत्त में ही सिमट कर प्रगतिवादी समीक्षा सर्वथा एकांगी और विध्वंसक होती जा रही है।

और भी कितनी ही खामियाँ हैं जिन्हें नजरन्दाज नहीं किया जा सकता—

१ रूसी मान्यताओं को लेकर चलने के कारण प्रगतिवाद अपनी भारतीय जीवन-व्यवस्था में पूर्णरूपेण गृहीत न हो सका, पर इसके समर्थकों ने इसके सामान्य गुणों के लम्बे-लम्बे भाष्य कर हमारे देशकाल की विशिष्ट परिस्थितियों पर इसे जबर्दस्ती थोपने का प्रयास किया है।

२ प्रत्येक कलाकार अपने युग से सदैव आगे होता है। उसकी प्रतिभा निर्माणोन्मुख और संघर्षों को चीरती हुई सहज गतिशील होती है, फिर संगत-असंगत तर्कों द्वारा प्राचीनों का मूल्य घटाना अथवा तात्कालिक परिस्थितियों की अवहेलना कर उनके कृतित्व को किसी खास पैमाने से नापजोख करना सर्वथा अशोभनीय है।

३ 'शाश्वत' और 'चिरन्तन' से चिढ़ने वाले नासमझों द्वारा प्राचीन श्रेष्ठ साहित्य तक को आज के उथले, दिशाहीन साहित्य की तुलना में घटिया सिद्ध करना या उन्हें पृथक् करने वाली विभाजक रेखाएँ खींचना (क्योंकि उसमें उनका अभीष्ट या निर्दिष्ट मान्यताएँ नहीं हैं) अपनी प्राणवान साहित्यिक पूँजी को बिल्कुल चौपट करना है।

४ ऐसी विचार-परम्पराएँ, जो वर्ग विशेष से सम्बद्ध होती हैं, उससे बाहर उनका कोई विशेष मूल्य नहीं होता। इसके विपरीत जातिगत और देशगत सीमाओं को अतिक्रान्त कर जो मानवीय अनुभूतियाँ सार्वदेशिक, सार्वकालिक और सार्वजनीन हो जाती है उनकी महत्ता सदैव अक्षुण्ण बनी रहती है। वे 'आउट आव डेट' नहीं होती, बस वे ही युग-युगान्त की धरोहर हैं। उन्हीं में स्थायिता और असाधारणता होती है जो 'शाश्वत' और 'चिरन्तन' की कोटि में आ जाती है।

५ प्रगतिवादियों ने मोटे तौर पर 'दलितों' और 'शापितों' को अपनाया, उनके तई ही समझा-बूझा, समस्त त्रुटियों और कमजोरियों पर पर्दा डाल कर उन्हीं की वेदना और निरीहता का रोना रोया। परन्तु दूसरे पक्ष वालों की भावनाओं और मनोगत द्वन्द्वों से कतई आँखें मूँद लीं, गो कि सच्चे टिकाऊ साहित्य में श्रेय-हेय को समान रूप से समेटने की सामर्थ्य होनी चाहिए।

६ इन लोगों ने जीवन के 'सूक्ष्म' को 'स्थूल', 'कोमल' को 'कर्कश' और 'सुगढ' को 'अनगढ' के अर्थ में लिया है। पर सर्वथा विपरीत छोरों को मिलाने की न इनमें योग्यता है, न सहनशीलता।

७ नास्तिक तो ये हैं ही, आत्मा की सत्ता में भी पूर्ण अनास्था है। वे सभी स्वप्न, आदर्श, प्रेरणाएँ और महत् संकल्प इनकी दृष्टि में मिथ्या हैं जिन्होंने (मार्क्स से पूर्व) गम्भीर चिन्तना दी है, जो हमारी संस्कृति के ऊर्ध्व विकास में सम्बद्ध रहे हैं और जीवन की गत्यात्मक धारायें जहाँ से उद्भूत हुई हैं। इनका दृष्टिकोण निरा भौतिक है और जीवन दर्शन अत्यन्त संकुचित।

८ प्रगतिवादियों ने जीवन की आर्थिक व्याख्या स्वीकार की है, पर क्या प्रतिकूल आर्थिक परिस्थितियों और विषम सामाजिक अवस्थाओं में श्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि नहीं हुई ? यथार्थ के मूक, चेष्टाविहीन चित्रण में उनकी वृत्तियाँ पूर्ण लय नहीं हुईं, वे मानो अस्थिर वात्याचक्र में ऊपर-ही-ऊपर चक्कर काटते रहे। फलतः उनमें कृत्रिमता अधिक, अनुभूति की सचाई और रसभीगी चिन्तना कम है।

९ प्रगतिवादी दर्शन गतिवाद की जागृति का हिमायती होकर भी जीवन के श्रेय-प्रेय का वाहक न बन सका, यही कारण है कि कोई व्यापक मानवीय भावना—ऐसी भावना जिसमें व्यक्ति, समाज और वर्गों के भेद रहते हुए भी सब द्वन्द्वों से परे संकुचित सीमाएँ मिट जाती हैं, हमें प्रगतिवाद में नहीं मिलती।

१० शुरू में प्रगतिवाद एक नये आशा भरे सन्देश को लेकर अखाड़े में उतरा था। बड़ी आकर्षक बोली में उसने जनता का ध्यान आकृष्ट किया। खूब जूझने के बाद उसने सत्ता हासिल की, पर अन्त में उसी पुरानी कीचड और गन्दगी में जा सना।

११ 'प्रगति' का अर्थ है 'आगे बढना', लेकिन उग्रपन्थी सकीर्ण विचारधारा ने साहित्य में उलटे 'अ-गति' पैदा की है। ऐसी प्रगति उस 'कोल्हू के बैल' की सी

है जो गोल परिधि में आँखो पर पट्टी बांधे आगे डग तो बढ़ाता है, पर किसी निश्चित ध्येय पर नहीं पहुँच पाता।

१२ 'संयुक्त मोर्चे' का नारा स्वयं का बिनडा है, लेखकों का ध्यान आकर्षित कर उपयोगी साहित्य की सर्जना में इसने क्षति पहुँची है। क्या किसी भी सच्चे सर्जक की निर्बन्ध लेखनी को किन्हीं प्रस्तावित उद्देश्यों, कार्यक्रमों, नियमों और एक विधान से बांधा जा सकता है?

१३ एक प्रगतिशील आलोचक[1] के शब्दों में—"मार्क्सवाद ने जीवन को देखने-समझने और बदलने के लिए अमल करने का एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण दिया है, पर यह दृष्टिकोण जादू की लकड़ी नहीं है कि उसको छूते ही आदमी 'सर्वगुण-सम्पन्न' बन जाता हो।"

१४ निश्चय ही साहित्य गतिमय है, परिवर्तनशील है, भले ही उसका गतिमय प्रेरक रूप तुरन्त पकड में न आता हो, किन्तु उसके कोई निश्चित फार्मूले नहीं हैं। विगत कुछ दशकों में हर नगण्य विचारधारा और व्यक्तिगत प्रवृत्तियों को लेकर जो नित-नये 'वादों' की सृष्टि हो रही है उसमें साहित्य के सहज औचित्य बोध से विमुख—विसंगतियों और उन्माद के कारण—उसकी मूल स्थापनाएँ डगमगा गई हैं।

असंतुलन

आज अन्तर्दर्शी और वस्तुवादी समीक्षा का द्विधाग्रस्त वैषम्य ही हमारी समस्या नहीं बना हुआ, अपितु अपने यहाँ चिंतकों का एक ऐसा वर्ग भी है जो विभ्रम और संशय की इस स्थिति में कुछ निश्चय नहीं कर पा रहा है। साहित्य के पहले के स्थापित सिद्धान्त एवं मानदंड, अथवा उनकी मान्य सीमा से परे वे उसमें ऐसे अभिनव तत्त्व खोज लाना चाहते हैं जो अब तक कभी प्रयोग में नहीं आए। उनका मत है कि जो कुछ लिखा जाय उसमें नव्यता और निरालापन तो होना ही चाहिए। उनमें अपनी श्रेष्ठता का दम्भ तो है ही, साहित्य के अनरग अन्य स्रोतों के प्रति क्षुब्ध विद्रोह भी है जिसमें एक खिन्न घुटन और असन्तोष का स्वर नित-नई बदलती विचारधारा के साथ तीव्रतर होता जा रहा है। सनातन मान्यताओं के प्रति निष्ठा खोकर वे ऐसे बेतुके सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने में नहीं हिचकते जिनसे उनकी भावनाओं का कभी लगाव नहीं हुआ, जिनको उन्होंने अपने भीतर अनुभव करने की आवश्यकता नहीं समझी और जिनमें उनकी आत्मा की किंचित् भी कभी पैठ नहीं हुई।

इस नव्य भूमि पर उतरने के प्रयास में उनकी भ्रमित चेतना साहित्य के मर्म और अन्तर्लयन को भुला बैठी है। एक विचित्र विरोधाभास सा इधर दीख पड रहा

१. शिवदान सिंह चौहान, 'आलोचना' अक्तूबर, १९५१

है जिससे एकाएक विरोधी दबावों से विशृंखल वृत्तियाँ, अनिश्चय और संशय में, उनके स्वानुभूत से तादात्म्य नहीं कर पाती।

इन अन्तर्विरोधों की कोई सीमा नहीं है और न इनके द्वारा किसी विशेष मत या सिद्धान्त का प्रतिपादन ही हो सकता है। एक प्रवृत्ति यदि सृजन को व्यक्ति-परक तो दूसरी उसे सामाजिक बनाने के पक्ष में है। सामाजिक संकल्प से अधिक उसमें व्यक्ति के विकल्प गुँथे हैं। साहित्य की संगठित प्रवृत्तियाँ आज एक ऐसी अविभाज्य इकाई के रूप में नहीं दीख पड़तीं जिसमें स्रष्टा के संवेदक पहलू तिरोहित होकर एक पुंजीभूत प्रकाश पैदा कर सकें। इसके विपरीत 'वादों' का वह एक बड़ा उलझावपूर्ण समवाय है जिसमें वादपरक होना उसकी सम्पूर्ण साधना की एक अनिवार्य शर्त बन गई है और जिनका न परस्पर समझौता हो सकता है और न समन्वय। स्पष्ट है कि साहित्य के ये वादपरक पहलू एक सम्पूर्ण समष्टि के रूप में नहीं, व्यष्टि के रूप में एक बड़ी प्रायोगिक प्रक्रिया के अंग भर हैं जिनमें जिन्दगी की सही सीमाएँ आँकने की ताकत है, न वस्तु और अभिव्यंजना का अंतरंग सम्बन्ध और न सहजात स्वनिर्मित वैचारिक स्वीकृति।

आज आलोचना का क्षेत्र विस्तृत है, पर उसके अभावों की सर्वांगीण पूर्ति के लिए कौन से प्रयत्न हो रहे हैं? हमारी वर्तमान आलोचना का स्तर क्या है? पाठकों की माँग क्या है और उसकी किस प्रकार पूर्ति हो रही है? यह किसी ने कदाचित् सोचने का कष्ट नहीं किया। तर्क-वितर्क और वाद विवादों का आग्रह जोरों पर है जिससे उसमें साधन-संबल बटोरने की शक्ति बढ़ी है, पर साहित्य की यह शंकाकुल स्थिति जीवन और जगत् के गतिमय प्रेरक तत्त्वों को कितने समय तक रूपायित कर सकेगी—यह समझना है।

ज्यों-ज्यों साहित्य में दिखावटी, अतिरंजित और बाह्य असम्भावनाएँ बढ़ रही हैं, पलायनवादी नकारात्मक तत्त्व उसमें अधिकाधिक उभर रहे हैं। नवीन परिस्थितियों के साथ भौतिक आवेष्टन, युग-विशेष की मान्यताएँ, संवेग, रुचियाँ और मनोमन द्वन्द्व जीवन की जटिल समग्रता के साथ सामंजस्य नहीं कर पाते। अतएव इस द्रुत और अस्थिर क्रम में मनुष्य इतना हतबुद्धि और विभ्रान्त सा है कि वह साहित्य के ओर-छोर हीन विस्तार के बीच मुँह बाए निःस्तब्ध खड़ा है। सामाजिक समस्याओं में उलझा हुआ और अपने व्यक्तिगत सुख दुःखों में रत, साथ ही जीवन यापन की अविरत अस्थिरता, परेशानी, व्यस्तता और कशमकश ने उसके रसोद्रेक को शिथिल और चिन्तना को ऐसा पंगु-सा बना दिया है कि वह कुछ भी सोचने-समझने में सक्षम नहीं है। एक विचित्र प्रकार का 'अहं' उसमें जगा है जो भीतर-ही भीतर घुलकर प्राचीन और नवीन के समय प्रसार और वैविध्य से एकरस नहीं हो पाता। अतः साहित्य में स्थायी और निर्माणक तत्त्वों का द्रुतत क्रम समाप्त-सा हो रहा है। अतीत की थोथी, बेजान मिट्टी में या तो नये आशांकुर उगाने की चेष्टा की जा रही है अथवा नये-नये मतवादों के नागपाश में जकड़े जाकर जन-जीवन के प्रति एक निर्जीव

संवेदना और बेबस दुराग्रह का अनिश्चित कुहासा छाया है।

फिर भी आलोचक चूँकि अधिक जागृत है वह भीतरी और बाहरी अन्तर्विरोधो में संतुलन स्थापित कर साहित्य को नई गति दे सकता हैं। प्रत्येक युग के कुछ खास प्रश्न होते हैं और नीर-क्षीर-विवेकी आलोचक की प्रखर प्रतिभा अपने ढग से उन सभी का समाधान खोजती है। युग-युगान्तर की कडी से बँधकर वह समय की नब्ज को टटोलता हुआ सचेत होकर, जागरूक रह कर, सर्जक के हृत्स्पदन को उसके सृजन के स्पदन से एकरूप कर साहित्य के मूल आधारो को नया पथ देता है।

आलोचना का आधेय

इसमें सदेह नही कि लेखक के मनोबल पर परिस्थितियों का भारी दबाव है और वह इसे बखूबी महसूस भी कर रहा है, पर आलोचक का आस्थावान हृदय अभिव्यक्ति को निरूपित करने वाली क्षमता का दिग्दर्शक होता है, अतः वह कभी भी हार नही मानता। एक स्पष्ट जीवन-दर्शन, विचारो एव अनुभूतियो की एकतानता, भावना एव विवेक बुद्धि का समीचीन संतुलन—इस प्रकार उसके सहज ज्ञान द्वारा प्रतिपादित स्वयसिद्ध और अकाट्य तर्क साहित्य के रूप और मूल्य के प्राणवान स्पन्दनो के वाहक बन सकते हैं, मोटे रूप में—उसके उथले विश्लेषण से नही, वरन् उसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म गतिविधियो और निहित अर्थवत्ता को वह आत्मसात् कर सकता है। आलोचक का कर्त्तव्य है कि वह साहित्य के सत्य और सौंदर्य को अधिक पूर्णता और अतर्दृष्टि से आँके, उसकी समग्रता म पैठ कर विषय-वस्तु का अगाध अनुधान खोजते हुए अधिक गहराई और सशक्त रूप में उसे छुए।

आलोचक के पास मूल्य आँकने की व्यावहारिक कसौटियाँ है, किन्तु उसके कृतित्व की अतरग परीक्षा द्वारा हमें देखना यह है कि उसमें उत्कर्ष का धरातल क्या है, युगीन दायित्वो को उसने कहाँ तक निभाया है और किन शक्तियो को मुखर करता हुआ वह सनातन कला का मापक बन सका है। उसकी दृष्टि जितने ही सुदूर तक फैले जीवन पर पडेगी उतने ही सौंदर्य के शाश्वत स्वरूप की प्रतिष्ठा वह अपने कृतित्व में कर सकेगा और उसकी गहराइयो में उतर सकेगा। उसके दिल-दिमाग का दायरा ज्यो-ज्यो फैलता जायगा उसकी दिलचस्पियाँ बढेंगी, सार्वजनीन सस्कारो को ग्रहण करने के अलावा उसके रागात्मक सबधो और अनुभूतियो का क्षेत्र विस्तृत होगा और युग-सत्य को प्रेष्य बनाकर सामयिक स्थितियो को वह अधिक सचाई से आँक सकेगा।

आलोचक की युक्तियों में युगानुरूप विश्वासो के प्रतिरूप और अन्तर्दृष्टि की दुर्जेय शक्ति निवास करती है। किसी भी कलात्मक कृति और उसके सौंदर्य-भावन की प्रक्रिया को ऐसी विवेक-तुला पर रख कर जाँचना-परखना चाहिए कि जिससे उसकी असलियत आँकी जा सके। सामंजस्य की कसौटी पर आलोचक एक बडी हद तक किसी भी कृति की नाप-जोख कर सकता है, पर स्थिर किए मानदड

और समीक्ष्य सामग्री दोनों में समानुपात और सर्वांगपूर्णता तो अवश्य होनी ही चाहिए।

तो फिर वह कौन सी तुला है जिस पर समीक्ष्य सामग्री को तोला जाय ? सबसे पहली बात तो कला-परीक्षण करते समय आलोचक को अपने गम्भीर दायित्वों को ध्यान में रखना है। साहित्य के स्वस्थ समुन्नयन के लिए—जब कि इस सक्रान्ति युग में सारे प्राचीन मूल्य और मान बदलते जा रहे हैं—सामयिक उतार-चढाव को भांपता हुआ वह रूप और स्वरूप की वर्चस्वता को लेकर बाह्य विवेचन और आन्तर अनुभूति के नित्य सम्बन्ध की ओर दृक्पात करे। उसमें यदि सचाई होगी तो वह स्थापित कसौटियों में निष्पक्षता और निष्ठा बरत सकेगा।

साध्य और साधन

आलोचक की खूबी 'सत्य' की पकड है, पर हाँ—इस अनित्य 'सत्य' का जो मूल प्रकार है वह सदा अविच्छिन्न रूप से परिवर्तनशील तत्त्वों के ऊपर उठा होना चाहिए। आज साहित्य ऊँचे उसूलों के बोझ से दबा कराह रहा है। विभिन्न वादों, मत मतान्तरों और सिद्धान्तों से उसकी सांस घुट रही है, लेकिन कोई भी उसकी मर्यादा को नहीं माप सका है। युगीन समस्याएँ नित्य बदलती हैं और इन्सान उनसे जूझता है, खेलता है, उलझता है, पर उनकी कोई थाह नहीं पाता। समय से टकराकर साहित्य के शाश्वत उपादान जीर्ण होकर धूलिसात् नहीं होते, वरन् नित नए रूप में उभरते हैं। आलोचक को इस द्वन्द्व, इस कशमकश में से ही पथ खोजना पडता है। उसकी लेखनी की शक्ति असीम है, किन्तु उसकी शक्ति की असीमता सर्वसंवेद्य अनुभूति प्रवणता में है। उसे समीक्षा के व्यापक तत्त्वों की गवेषणा करते हुए ऐकान्तिक से समष्टिगत और एकदेशिक से सार्वभौम सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना चाहिए।

आज आवश्यकता इस बात की है कि आलोचक अपनी आन्तरिक दायित्व-भावना को पूर्णतया उद्बुद्ध करे। वह दिग्भ्रमित न हो, अपितु विरोधी सिद्धान्तों एव वाद विवादों की बहिर्गत विषमता को अन्तरतम ऐक्य की एकनिष्ठ साधना के बल पर साहित्य के स्वीकृत सौंदर्यात्मक स्वस्थ तत्त्वों को आत्मसात् कर ले, क्योंकि उसकी मूल्य मान्यताओं का प्रश्न केवल बौद्धिक संवेदन का प्रश्न नहीं है, साहित्य के निर्माण और विन्यास का प्रश्न है।

वर्तमान युग के दो अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विशिष्ट आलोचक टी० एस० इलियट और आई० ए० रिचर्ड्स ने एकमत हो स्वीकार किया है—"आलोचना का उद्देश्य किसी वस्तु के मूल्यों का निर्धारण करना है।"

पर इससे एक और सवाल पैदा होता है कि ये निर्धारित मूल्य कैसे हों और वह उन्हें किस रूप में सामने रखे। आलोचना का सौष्ठव, उसकी अर्थवत्ता, और उसका तात्त्विक आधार उसके महत्तर अन्तःप्रयोजन में निहित है जहाँ आलोचक

केवल उस हवा मे—जहाँ कि वह साँस लेता है—क्षर परमाणुओ को एकत्र कर ही तुष्ट नही होना प्रत्युत् कलात्मक मूल्यो का अपनी चेतना से तादात्म्य कर और अपने मन प्राणों में उन्हे उतार परिचालित करता है। सेंत व्यूवे के मत से "साहित्य की श्लाघ्य परिपाटियाँ स्थापित करके ही आलोचना को ऊँचा उठाया जा सकता है।" साहित्य तो अनन्त स्रोत है जिसकी प्राणदायिनी बूँद आत्मा का अभिसिंचन और चेतना-केन्द्रो को अनुप्राणित कर सकती है। साहित्य को आँकने वाली काई निश्चित मापरेखा तो नही खीची जा सकती, परन्तु कलात्मक मूल्यो का महत्व आलोचक की प्रबुद्ध सहानुभूति में रम कर कही अधिक व्यापक, कही अधिक महनीय हो सकता है। वह अपनी जिम्मेवारी को जितनी ही गहराई से समझेगा उतनी ही अपनी निर्दिष्ट कसौटियो को साहित्य की स्थायी परम्परा से ग्रथित कर सकेगा।

नई कविता
केन्द्र और परिधि

इधर कुछ अर्से से अर्वाचीन काव्य के उच्चतर विकास का प्रतिनिधित्व करने वाली जो कविताएँ प्रकाशित हो रही हैं उनमें असंख्य विसंगतियाँ, विभ्रम और अन्तर्विरोध नजर आ रहे हैं। कवियों की मनोवृत्ति क्या है, विगत युगों के आगत की परिणति और अनागत की प्रेरणाओं से परिचालित उनके नवीन केन्द्रस्थ विश्वास और परिधिगत मूल्यों के आयाम किस दिशा की ओर अनुधावित हो रहे हैं, मुख्य रूप से तात्कालिक वर्तमान के लिए अर्थबोध चाहने वाले इन महत्वाकांक्षियों ने अपने बहुमुखी माध्यमों और युगनिष्ठ भावोन्माद से निष्पन्न अप्रतिरोधित रसोद्रेक द्वारा एक अपनी विशिष्टता तो कायम की है किन्तु इस विशिष्टवाद ने निरवधि काल प्रवाह की अपरिहार्यता को चुनौती देते हुए कवि-चेतना के इल्हामी स्वरूप पर बल देकर—कि कवि का दरअसल किस युग विशेष का सदेशवाहक बनना है—साथ ही निजी अन्तःस्फूर्ति द्वारा इन्द्रियगम्य और इन्द्रियातीत के आवरण-पट को छिन्न कर वह कौन से ऊर्ध्वाकाशों को स्पर्श करने का प्रयत्न कर सकता है और उसके परिवेश के विभिन्न धरातलों का मिलन बिन्दु क्या है तथा भीतरी भावबोध का उद्घाटित स्तर वस्तु-सत्य के मापदण्ड के समकक्ष है कि नहीं—ये कुछ विचारणीय प्रश्न हैं जो आज के सृजन के मूल में समाजद्रोही तत्त्वों को बटोरकर विस्फोटक बारूद का काम कर रहे हैं। आधुनिकता की भ्रांति, मांसल कल्पना प्रियता और अवचेतन विलासिता के अतिरेक ने नव्य जीवन-मूल्यों की स्थापना को एक अप्रत्याशित मान दिया है और उसकी सर्वथा नयी व्याख्या प्रस्तुत की है।

कहना न होगा—काव्यगत मूल्यों का उक्त क्रम-विपर्यय कभी-कभी खिलवाड़ के सिवा कुछ नहीं। वर्ग-संघर्ष के दौर में अस्थिर अनुभूति और अयाचित राग विराग से सिरजे गए इन रंग रेखाओं के व्यापार का क्या कोई मापदण्ड नहीं है? जहाँ रेखाओं की गति निर्बन्ध हो और नानाविध टेक्नीक की गुत्थियों का अक्रम ही भ्रम बन जाय, 'वास्तव' एवं 'प्रतीति' में कोई भेद न रहे तथा विशृंखल विषयों अथवा असम्बद्ध शब्द-चयन के वैचित्र्य में ही अर्थ खोजने की चेष्टा की जाय तो प्रेरणा का स्रोत उक्त परिधि के भीतर या बाहर कहाँ ठेल दिया जायगा—कहा नहीं जा सकता।

माना कि व्यष्टि मानव और समष्टि मानव के पूँजीवादकालीन दुर्निवार अन्तर्विरोध के फलस्वरूप अनेक कवियों ने कविता का नया रूप-संस्कार किया है, तथापि जीवन के प्रति उस विस्तृत और गंभीर प्रतिक्रिया को एक गत्यात्मक व्याख्या के रूप में प्रस्तुत करने के प्रयास में जो उनकी अतरंग विद्रूपता कल्पना-बिम्बों में उभरी है उन पर बौद्धिक प्रक्रिया का ऐसा आवरण चढ़ा है कि वह अतीत और वर्तमान के व्यवधान के बीच सांगोपांग सपूर्ति का साधन अथवा सहज संवेद्य बनकर आत्मा में रमने वाला नहीं हो सकता। भूत में प्रतिपल परिणत होना वर्तमान और भविष्य को दोस्य परिधि में सिमटा अनागत निन-नई मानव-चेतना का पाथेय बनकर प्रगति-पथ की ओर निर्देश करता है। जब-जब नवोदित क्रान्ति ने लोक-चेतना में आलोडन उत्पन्न किया है, नई ताजी खुली हवाओं के झोंके बहुमुखी क्रियात्मक शक्ति एवं संघर्ष के प्रति जागरूक बनाकर विचार और कर्म की संकीर्णता से मुक्त करते हैं, पर इसके विपरीत यदि ये हवाएँ कृतिकार की क्षमताओं पर अट्टहास करती अथवा उसके अंतस्तल को झकझोरती नैसर्गिक सृजन की मूल प्रेरणाओं को विच्छिन्न करने वाली हैं तो युगीन दर्शन, आचार और रीति-नीति उनके क्रूर थपेड़ों से आहत होकर बेमानी हो जाते हैं।

उन्मुक्त वातायन या गाती-मचलती आज़ाद हवाएँ खुले दिल और खुले दिमाग को राह देती हैं। व सुप्त मानस को जगाने वाली और भीतर की बन्द कारा में नई रूह जगाने वाली हैं, मगर ये सरपट पास से गुज़रने वाले प्रचंड बवंडर—अपने संक्रमणकारी प्रभाव से—क्या कलाकारिता की कसौटी का ही नष्ट-भ्रष्ट न कर देंगे ?

प्रगतिवाद

छायावाद की रूढ़ियों की प्रतिक्रिया सहसा प्रगतिवादी कविताओं में प्रबल जीवनाकांक्षा का उन्माद लेकर प्रकट हुई थी। साधारणतः किसी प्रमुख प्रवृत्ति के बहुत दिनों तक एक ही दिशा में चलते रहने से जो प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है वही कालान्तर में प्रबुद्ध मानवों द्वारा प्रगति-पथ खोजती है। प्रगति एक हद तक अनिवार्य और जीवन-सापेक्ष्य भी है। आत्मकेन्द्रित, विशृंखल भाव चेतना वाह्य जीवन-क्रम में एक प्रकार का अवरोध उत्पन्न कर देती है, जिससे बाध्य होकर गतिशील सत्य और सामाजिक चेतना के भीतर से उपादान खोजने पड़ते हैं। कलाकार चूँकि अधिक जाग्रत है वह भीतरी और बाहरी अंतर्विरोधों में संतुलन स्थापित करता है और अपनी सशक्त अभिव्यक्ति द्वारा समाज का नेतृत्व करता है।

आज के संघर्षशील युग में ज़िन्दगी की मौजूदा कशमकश और विरोधाभासों ने मानव के पूर्ण रसोद्रेक को शिथिल, नियन्त्रित और शुष्क बना दिया है। जीवन की दृष्टि-भंगी बदल गई है। कवि की प्रखर चेतना द्वन्द्वात्मक शक्तियों को ललकार कर क्रान्ति का आह्वान किया चाहती है। यह आँधी सिर्फ हवा नहीं, इसकी दिशा विकासोन्मुख है। इसके कोलाहल के भीतर बदलती दुनियाँ की तस्वीर छिपी है। नवीन जीवन के

निर्माण की ओर उत्प्रेरित यह गतिशील क्रान्तिकारी दृष्टिकोण ही आज प्रगतिवाद के नाम से रूढ़ हो गया है और आलोचक इसके पक्ष विपक्ष में अपने अभिमत व्यक्त करते रहे हैं।

अन्तर्भूत सत्य की साधना ही साहित्य म भावयोग है और प्रगतिवाद की यह पहली और आवश्यक शर्त होने के कारण बहुत कुछ सकुचित और अवास्तविक आदर्शों को ठुकराया गया है। छायावाद का सूक्ष्म वायवी कला विलास इधर बहुत कुछ एकांगी हो गया था। उसमें जीवन की सीधी निर्बाध अभिव्यक्ति न थी, इसलिए यह स्वीकार करने में हमें आपत्ति न होनी चाहिए कि लोगों के दृष्टिकोण बदलने में प्रगतिवाद का बहुत बडा हाथ रहा है। वह कुछ इतनी तेजी से प्रिय भी हुआ कि उसके कलम के जादू को कोई रोक नही सका। उसने बाह्य विश्व के सघात को उदात्त बनाकर दर्शाया और प्रगति के मार्ग में रोडा अटकाने वाली प्रतिगामी शक्तियो को कुचल कर भावी क्रान्ति के लिए आवश्यक मनोभूमि का निर्माण किया।

पर यह प्रगतिवाद का विधायक पक्ष है। *प्रश्न उठता है—अपनी बौद्धिक* निष्ठा और तार्किक आशावाद के अलावा उसने साहित्य को और क्या दिया? वह किन आस्थाओं, किस चेतना और किन सस्कारो से गतिमान होकर अग्रसर हुआ और उसने कौन सी 'मिदान' पूरी की? सचाई से प्रेरित होकर जब-जब आत्म विश्वास और दृढ सकल्प के साथ जन-जीवन से तादात्म्य स्थापित किया गया तब-तब साहित्य समाज के सस्कारो की समष्टि बनकर आया और श्रेष्ठ एव स्फूर्तिप्रद समझा गया। मत प्रचार की सकीर्णता से मुक्त जहाँ वह विचार जाग्रति का प्रणेता बना वही निम्न तल से उठकर उच्च धरातल पर जा टिका और कलाकार की अमर साधना का प्रतीक बनकर प्रकट हुआ।

युग विशेष की माँग क्या है—इस प्रश्न ने अनेक बार हमारे साहित्यकारो को सामाजिक और राजनीतिक चेतना को झकझोरा। उनके परम्परागत सस्कारो पर समय-असमय परिस्थितियो की चोट पडी और वे काल्पनिक आदर्शों को भुलाकर एक नवीन सस्कृति के स्वप्नद्रष्टा हो गए। निराला, पत, नरेन्द्र, बच्चन, भगवती-चरण वर्मा, दिनकर आदि कवि भी इस लहर में बह गए। स्वप्नदर्शी पत ने आकाश से पृथ्वी की ओर झाँका और दूसरो को भी ऐसा ही करने के लिए प्रेरित किया।

'ताक रहे हो गगन?
मृत्यु—नीलिमा—काल-नयन?..
नि स्पन्द शून्य, निर्जन नि स्वन?
देखो भू को!
जीवन प्रसू को!
हरित भरित तरु
पल्लवित मर्मरित

कूजित गुंजित
कुसुमित
भू को !'

सुन्दर से असुन्दर को सहन करने की भावना भी उनमें जगी।

'वह अन्त सौन्दर्य, सहन कर सके
वाह्य वैरूप्य विरोध।'

पंत के सुन्दरतम गीतो का एक बहुत बडा अंश प्रगतिवाद से प्रेरित है। प्रगति की होड में न जाने कितने ही अन्य कवियो ने भी सुन्दर कविताएँ रचकर साहित्य को समृद्ध किया, लेकिन शनै शनै यह 'वाद' फैशन बन गया और बाहरी सघर्ष से भीतरी प्रतिक्रिया का सामजस्य न हो सकने के कारण अनेक बार प्रगति-वादियो के कृतित्व का सतुलन खो गया।

सन् १९१० की बोल्शेविक क्रान्ति ने न सिर्फ रूस में, वरन् यहाँ भी जीवन की नींव हिला दी थी। फलत किसान, मजदूर, दीन-दुखी, शोषित-उत्पीडित वर्ग ही कवियो के आकर्षण का केन्द्रबिन्दु बन गया। जीवन का अतर्विरोध यहाँ तक बढा कि कुछ समय तक साहित्य के मूलभूत तत्वो में भी तनाव और तीखापन अनिवार्य समझा गया।

'आज शोषक-शोषितो में, हो गया जग का विभाजन !
अस्थियों की नींव पर, अकडा खडा प्रासाद का तन
धातु के कुछ ठीकरों पर मानवी सत्ता विसर्जन।
मोल कङ्कड-पत्थरों के, बिक रहा है मनुज जीवन।'

(शिवमंगलसिंह 'सुमन')

'वह नस्ल जिसे कहते मानव, कीडो से आज गई बीती।
बुझ जाती तो आश्चर्य न था, हैरत है पर कैसे जीती॥'

(अंचल)

'रे दो दिन का
उसका यौवन।
सपना छिन का
रहता न स्मरण।
दु खो से पिस,
दुर्दिन में घिस
जर्जर हो जाता उसका तन ?

बह जाता असमय यौवन धन ?
बह जाता तट का तिनका
जो लहरों से हँस-खेला कुछ क्षण ?'

(सुमित्रानन्दन पंत)

'नष्ट कर दो
आज धरती पर खड़े
अभिशाप से'
इन राजमहलों को जलाकर
नष्ट कर दो
लक्ष्मी के लाडलों के
ये विशाल भवन !
है खड़े जो नींव लेकर
आज मानव के रुधिर की।
नष्ट कर दो ...
शेष रह जाये न कोई
इस जगत में ...'

(विश्वनाथ मिश्र)

'बहुत बज चुकी जर्जर वीणा, बहुत प्रेम का गान हुआ।
बहुत हो चुका रास-रंग कवि ! बहुत दिनों मधुपान हुआ।
बहुत दिनो तक हुआ न्याय का और बहुत अपमान हुआ।'

(नरेन्द्र)

'तरुण क्रांति मन मन मचलेगी, प्रांत प्रांत पुर पुर बिछलेगी,
सड़ी-गली प्राचीन रूढ़ि के भवन गिरेंगे, दुर्ग ढहेंगे।'

(नेपाली)

विश्व साहित्य से अनुप्राणित होकर यहाँ के साहित्य का गति-परिवर्तन अवश्यम्भावी भी हो गया था। अत जीवन बिखर कर अनेक धाराओं में बहा और यद्यपि बीच में कितनी ही बाधाएँ आईं, किन्तु उसकी प्रगति न रुकी और रुकावटों, विघ्नों के बावजूद भी वह आगे बढता रहा। आज भी ऐसे रुचिवागीश लेखकों की कमी नहीं है जो प्राचीन आदर्शों से चिपटे रहकर साहित्य की गति को रुद्ध करना चाहते हैं, लेकिन प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उनके द्वारा भी यह सत्य स्वीकृत हो

चुका है कि साहित्य सीमित अथवा व्यक्ति-केन्द्रित होकर नही जी सकता। सामाजिक दायित्वो की सर्वथा उपेक्षा करके शक्ति अर्जन करना उसके लिए असम्भव है। कारण—जीवन-सत्य की परिणति ही साहित्य की सार्थकता है।

इस व्यापक सत्य को स्वीकार करके कवि नूतन पथ पर अग्रसर तो हुआ किन्तु मानव-समाज के विकास के साथ कदम से क़दम मिलाकर युग को वाणी देने का युगीन दायित्व न निभा सका। प्रगतिवादी कविता पनपी तो सही, किन्तु उसमें विद्रोह का स्वर इतना तीखा था कि साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के खिलाफ मार्क्सवाद और सर्वहारा वर्ग के नाम पर बेहद उच्छृखलता समा गई। शनै-शनै मनोविज्ञान ने नग्न 'सेक्स' चेतना जगाई और यथार्थ के हामी बनकर बिना किसी अकुश के न सिर्फ उनके अस्वस्थ मन एव विकृत मस्तिष्को के परीक्षण किये, बरन् उनके उपचार का भी दावा किया।

आध्यात्मवाद और आत्मानुभव को ठुकराकर नितान्त स्थूल दृष्टिकोण अख्तियार किये गए, साथ ही नीति और आचारवाद को अस्वीकार करके नर-नारी के पारस्परिक गर्हित सम्बन्ध, यहाँ तक कि उनके लैंगिक आकर्षण तक को स्वस्थ, प्रकृत प्रेम के अन्तर्गत लिया गया।

'उन धान के कटे हुए खेतो के उस पार,
भैंस के पीछे एक काली-सी किसान-कन्या
नाटे से बरगद की घनी उस छांह में
पास में मोटा-सा लट्ठ लिए एक युवक
भैंस की पीठ पर कुहनी टिकाए हुए
देखते ही देखते चिकोटी काटी उसने..
छातियाँ मसल दीं, उसने और ...... ।
गाड़ी में बैठे हुए बाबू के मन में........
सेक्स-चेतना की प्रतिक्रिया हुई 'छि, छि' में,
'देखिए असभ्यता गॅवारों की,
खुले मैदान में ....
खेत खलिहान में
'ये' के आगे बढ़ने में उनकी सुसभ्य वाणी.....
प्रौढ़ा नायिका की भाँति सकुच सिमट गई!
उन्हें क्या पता कि .....
स्वस्थ काम को अपेक्षा नहीं
महल, अटारी, और तोशक-पलग की।'

(मंगला मोहन)

अनेक कवियो ने अपने कृतित्व में सहज मर्यादा तत्व को भुलाकर- उच्छृंखल यौन-रुचियो की परितृप्त करने के लिए रसात्मक सर्जना की जो उन्ही की प्रतिगामी इच्छाओं की प्रच्छन्न अभिव्यक्ति के रूप में या कहें कि छिन्नमूल वैयक्तिकता के आस्फालन स मुक्त सवेगजन्य तीव्रता में फूट पड़ी ।

'नस नस में छलक-छलक उठती कैसी तृष्णा मदिरा अज्ञात
किस नव तरग से कसक वक्ष कर रहा प्रबल उत्तप्त घात
यह सावन की मदभरी रात'

(*अचल*)

पत की स्वस्थ चुम्बनेच्छा कितना ही सदाशय और सद्भाव लिए हो, किन्तु व्यावहारिक जीवन मे अमनोवैज्ञानिक और व्यर्थ की जल्पना मात्र है ।

'धिक् रे मनुष्य तुम स्वस्थ शुद्ध निश्छल चुम्बन
अकित कर सकते नहीं प्रिया के अधरो पर !
क्या गुह्य क्षुद्र ही बना रहेगा बुद्धिमान,
नर-नारी का यह सुन्दर स्वर्गिक आकर्षण !!'

प्रगतिवाद आज के साहित्य का सब से पुष्ट अग है । नव चेतना उसमें जिस अनुपात से प्रतिबिम्बित हुई उसी अनुपात में जनमत को प्रभावित करने की शक्ति उसमें जगी, पर शिकायत यही है कि अपने यहाँ प्रगतिवाद का ठीक विकास नही हुआ और रूसी मान्यताओ को लेकर चलने के कारण *अपनी भारतीय जीवन-व्यवस्था में वह पूर्णरूपेण गृहीत न हो सका ।* प्रगतिवादी दर्शन गतिवाद और जाग्रति का हिमायती होकर भी जीवन के श्रेय प्रेय का वाहक न बन सका, यही कारण है कि कोई व्यापक मानवीय भावना—एसी भावना जिसमें व्यक्ति, समाज और वर्गों के भेद रहते हुए भी सब द्वन्द्वो से परे सकुचित सीमाएँ मिट जाती है—हमें प्रगतिवाद मे नहीं मिलती । विरोधो के बीच प्रतिगामी शक्तियो पर दृष्टि रखते हुए विकास का पथ खोज लेना, सामान्य सिद्धान्तो में वैभिन्न्य विभेद के बावजूद व्यापक समानता को सापेक्ष बनाना और जैसे अधकार एव प्रकाश का एक सन्धिस्थल होता है उसी प्रकार प्रतिकूल प्रेरक क्रियाओं में भी परस्पर सागठिक तत्त्व खोज लेना साहित्य में अभिव्यक्ति की पूर्णता की कसौटी है । प्रगतिवाद इसी कसौटी पर उतर कर हमारे अतीत और वर्तमान की पूर्ववर्ती और परवर्ती मूल्य-दृष्टियो का समन्वय प्रस्तुत कर सकता है ।

हमारा अभिप्राय यह नही है कि हमारी आज की समस्याएँ भी वे ही हैं जो पहले थी और उनमें किंचित् उलट-फेर नहीं होना चाहिए । प्रत्येक युग की कुछ भिन्न समस्याएँ होती हैं और उनका हल भी नये ढग से किया जाता है । लेकिन श्रेष्ठ

साहित्यकार का कर्त्तव्य है कि वह अंतर्द्रष्टा बन कर अपने चारों तरफ देखे और वस्तु के तल में पैठने का प्रयास करे। उसे तात्कालिक समस्याओं में नहीं उलझ जाना चाहिए, केवल कुछ प्रश्नों और एक-दो समस्याओं में ही वह अपनी समस्त शक्ति केन्द्रित न कर दे, उसे तो साहित्य के चिरंतन सत्य और निरपेक्ष ध्रुव पर आ टिकना चाहिए। वह अनेक कोणों से जीवन के विभिन्न पक्षों और मिलन-बिन्दुओं की परख करे और युग-चेतना से सम्पृक्त होकर यथार्थ स्थितियों की पर्यालोचना में प्रवृत्त हो। कारण—सृजनशील लेखक टकसाली सिद्धान्तों अथवा उथले विश्लेषण से काम नहीं चला सकता, उसे किन्हीं भी मनोवैज्ञानिक गुत्थियों और चेतन-अचेतन के द्वन्द्व-संघर्ष का सामना करने के लिए स्वकीय सिद्धान्त किंवा निर्दिष्ट दृष्टिकोण तो अपनाने ही पड़ते हैं।

प्रगतिवाद के विषय में आज जो विवाद फैले हुए हैं उसका कारण है कि इधर उसका दायरा बहुत संकुचित हो गया है। सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति न होकर राजनीतिक द्वन्द्व और तनाव की कशमकश ही साहित्य में व्यक्त होने लगी है। यथार्थ के मूक, चेष्टा-विहीन चित्रण में चिरन्तन प्रश्न गौण हो गए हैं और स्वयं यथार्थता भी इतनी जटिल और बहुमुखी हो गई है कि जिस प्रश्न के कल तक एक या दो ही समाधान हो सकते थे, वह आज खण्ड-खण्ड होकर सामने बिखरा पड़ा है और उसको समेटना एक समस्या बन गया है। मनुष्य के रुझान, उसके विचार और दृष्टिकोण, उसकी भावनाएँ और संवेदनाएँ एक विशेष सामाजिक परिवृत्ति से घिरे हैं। परिस्थितियों के दबाव ने उसे परवश कर दिया है, उसकी क्लान्त अतृप्ति दुस्सह हो गई है, फलतः उसकी अभिव्यक्ति भी घटिया किस्म की और बेजान होती जा रही है।

प्रयोगवाद

साहित्य और कला के विषय में प्रयोगवादियों की आमतौर पर बुनियादी स्थापनाएँ निम्न हैं :

नवीन भाषा, नवीन छन्द, नवीन टेक्नीक, असाधारण प्रतीक-विधान और मनमानी भावात्मक इकाईयों का कविता में अतिरंजित रूप।

नित-नए प्रयोगों की प्रक्रिया के भीतर से जीवन और वस्तु-सापेक्ष्य प्रायोगिक क्रान्ति।

वस्तुपरक दृष्टिकोण का आत्यन्तिक आग्रह।

स्वतन्त्र चिन्तन, रूप शिल्प, काव्योत्कर्षकारी व्यंजना, सामाजिक संगठन से पराभूत या गुमराह भावचेतना का प्रयत्नपूर्वक पोषण, समृद्धि-विकास एवं कलात्मक साज-सँवार।

जीवन के मूल तत्वों में वांछित उलट-फेर और अस्तव्यस्त उलझी मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं को सहज संवेदनीय बनाना।

एक प्रयोगवादी कवि के शब्दों में "सरलतम भाषा में रंग बिरंगी चित्रात्मकता से समन्वित साहसपूर्ण उन्मुक्त रूपोपासना तथा उद्दाम यौवन के सर्वथा मांसल गीत।"

प्रयोगवादियों का दावा है कि मनुष्य की मूल्य दृष्टियाँ—युग और वातावरण के अनुरूप-उत्तरोत्तर विकसित होती रहती हैं, अतएव उसकी नवोद्भावित चेतना भीतरी बोधवृत्ति का जो परिष्कार और रूपान्तर करती चलती है वे ही समयानुरूप साहित्य में जीवन्त और सशक्त प्रयोग बन जाते हैं। मानवीय भावनाओं का आलोडन सामाजिक चेतना से सर्वथा विच्छिन्न नहीं किया जा सकता, इसी कारण उसमें समयाश्रित द्वन्द्व-संघर्ष और उसी की मजबूरियों से उत्पन्न पलायन के तत्त्व उभरते रहते हैं जो अनेक बार उसकी पूर्णता के परिचायक बन जाते हैं।

चूँकि युग बदल गया है, अब भावप्रवण मिथ्या परिकल्पनाओं के छायाभास वैभव में मानव की वृत्ति नहीं रमती और जीवन की बोझीली, ठोस बौद्धिकता ने भी उसमें संशय और खीझ पैदा कर दी है। युगानुरूप विश्वास और मस्तिष्क को जाग्रत करने के लिए ये प्रयोग साहित्य की प्रेरणा बन सकते हैं। ये जीवन के 'सत्य शिव-सुन्दरम्' को आत्मसात् करके कला-साधना का पथ प्रशस्त कर सकते हैं—इसमें जरा भी सन्देह नहीं।

प्रयोग की प्रवृत्ति और बड़े पैमाने पर प्रयोगशील सक्षम उपकरणों के संघटन का प्रश्न कुछ ऐसी व्यापकता लिए है कि उसकी अनिवार्यता किसी सूरत में अस्वीकार नहीं की जा सकती। पर प्रयोगों के मूल्यांकन की कसौटी क्या हो? उनका रूप कैसे सुस्थिर किया जाय? किन पैमानों पर उन्हें जाँचा और परखा जाय—ये कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं।

जिज्ञासा और ऊहापोह का यह नया युग किसी पुरानी वस्तु को उसी रूप में स्वीकृत करने के लिए कैसे उद्यत हो सकता है? समय की रगड़ से परम्परागत विश्वासों और निष्ठा को जो गहरा धक्का लगा है इसके फलस्वरूप कितनी ही नवीन समस्याएँ सामने आ खड़ी हुई हैं और कवि अथवा कलाकार को अपनी बात को अधिकाधिक मार्मिकता एवं प्रभविष्णुता प्रदान करने के लिए अभिव्यंजना में नये-नये प्रकारों से जूझना पड़ता है।

बात यह है कि प्राचीन से ऊब कर नवीनता की चाह प्रत्येक में होती है और सनातन भावनाओं को अनेक बार नए चोले में पेश किया जाता रहा है। हर लेखक का अपना निराला ढंग होता है, वह दूसरे से भिन्न तौर-तरीका अख्तियार करना चाहता है, कम से कम उसमें यह ख्वाहिश तो होती ही है कि वह अपनी बात को चमत्कारिक ढंग से कहे। दूसरे लोग उसकी प्रतिभा की दाद दें और वह जो कुछ कहे या प्रकट करे उनके दिल दिमाग में पूरी तरह धँस जाय। इसी भावना से प्रेरित होकर सर्जक अभिनव प्रयोग करता आया है और दूसरों को प्रभावित करने की सतत चेष्टा करता रहा है।

प्रयोगों की यह परम्परा नई नहीं है, वह आज के मस्तिष्क की उपज भी नहीं है, हाँ—उसे 'वाद' बनाने का दुराग्रह नया कहा जा सकता है।

यह निर्विवाद है और काव्य-सृजन की आदिम परम्परा से लेकर उसके परम पुष्ट विकसित काल तक का इतिवृत्त भी यही सिद्ध करता है कि प्रयोग सदा से होते आए हैं और उनसे कल्पना की समृद्धि एवं सारस्य की अभिवृद्धि होती है। सूक्ति, वैचित्र्य, अलंकार, श्लेष, यमक, अनुप्रास, अतिशयोक्ति आदि तथा ध्वनि, रीति, लक्षणा, व्यंजना, असामान्य रूप-विधान अथवा वस्तु, दृश्य, घटना और जीवन के अनवरत संघर्ष-विराम से प्रेरित संवेदनशील अनुभूति साहित्य-स्रष्टा की उत्कण्ठा, एकाग्रता व तन्मयता से एकात्म्य हो काव्य की सगक्त सार्थकता को उजागर करती रही है, पर साथ ही यह भी सच नहीं कि विचित्र व्यंजना अथवा नितांत नए भावों को नई शैली में नए रूप-विधान के साथ प्रस्तुत करना ही एकमात्र काव्य की कसौटी है। न कभी काव्यगत प्रयोग इतने छिछले स्तर तक ही वाछनीय हुए हैं जहाँ कलात्मकता बाधक हुई हो और न शिल्प एवं प्रकार में अद्भुत संभावनाओं का इतना उत्कट आग्रह ही कभी ग्राह्य हुआ कि जिनमें नई सृजन-प्रेरणा का नितान्त अभाव हो। पुराने जमाने के कवि अपने प्रयोगों में भी सत्य के खोजी हुआ करते थे और उनका सत्य भी वही हुआ करता था जिन्हें वे समग्र रूप से ग्रहण अथवा आत्मसात् कर लेते थे। विचारों को अलङ्कृत करने के उद्देश्य से रूपक या उपमा, सहभाव अथवा सादृश्य कल्पना उनके अपने स्वानुभवों और चारों ओर के पर्यवेक्षण और जीवन के प्रति अन्तःप्रेरित एवं काल्पनिक प्रतिक्रिया के आधार पर निर्णीत होती थी। उनका काव्यत्व, उनका समग्र शिल्प-विधान—इसी चरम लक्ष्य की सिद्धि के निमित्त नियोजित होता था कि सर्वस्वीकृत ढाँचे में ढले होने के कारण विशिष्ट वैयक्तिक सम्बन्धों से समन्वित होते हुए भी वे सार्वजनीन रूप से कैसे मान्य हों, यथा—

"पिया बिनु साँपिन कारी रात
कबहुँ जामिनी होत जुन्हैया,
डसि उलटी ह्वै जात।"

उपर्युक्त पंक्तियों में सूरदास ने कृष्ण पक्ष की भयावह रात्रि की उस काली सर्पिणी से तुलना की है जो डसने के उपरान्त तुरन्त उलटी हो जाती है और इस तरह उसके पेट की श्वेतिमा रात्रि की उत्तरार्द्ध चाँदनी सी दीखकर विरहिणियों के लिए अत्यन्त कष्टप्रद और असह्य होती है। रात्रि की सर्पिणी से तुलना आज भी एक नया और अद्भुत प्रयोग कहा जा सकता है, पर कितना सर्वांगीण और वस्तुस्थिति के मरम को ग्रहण करने वाला।

"ज्यों मुख मुकुर मुकुर निज पानी
गहि न जाइ असि अद्भुत बानी"

(तुलसीदास)

अयोध्या काण्ड में राम के वन से पुनः अयोध्या लौट चलने की गम्भीर वार्ता का प्रसंग है। राम प्रेम में विभोर भरत की वाणी श्रोताओं को ग्रहण करना उसी प्रकार कठिन प्रतीत हो रहा है जैसे हाथ में दर्पण थामे हुए भी और मुख की प्रतिच्छवि इतनी समीप और नज़रों के सम्मुख होने हुए भी पकड़ में नहीं आती।

इसी तरह के अगणित प्रयोग भक्तिकाल और रीतिकाल के कवियों में अपितु कहें कि उससे भी पूर्ववर्तियों और परवर्तियों में मिलते हैं परन्तु काव्य में जो अपरिमित स्थायी गुण होने चाहिए अर्थात् कभी न ह्रास होने वाली भव्यता और एक असीम अनन्तता—उसका पहले निर्वाह किया जाता था। विचारधारा में प्रगति लाने वाले अंत सूत्रों की जाँच करके प्रत्यक्ष की विशेषताओं का वर्गीकरण और सम्बन्धों का निरूपण कर लेने के पश्चात् उस विशिष्ट काल-खंड के भीतर उसी की कोटि की या उससे महत्तर मूल्यों की स्थापना में एक-एक पहलू का सर्वव्यापी महत्त्व निर्दिष्ट कर लक्ष्य दिशा की ओर अग्रसर होने की चेष्टा की जाती थी। तर्क-संगत वास्तविकता मौलिक और शाश्वत यथार्थ को विस्मृत न करती थी और निरपेक्ष सत्य की सीमा-रेखा मार्ग की असीमता को झुठला न पाती थी। सर्वसम्मत औचित्य के आधार पर व्यक्ति की क्रियाशीलता सामाजिक क्रियाशीलता बनकर महत्त्वाकांक्षा और निश्चय में प्रगति करती थी। जो प्रगतिशील या प्रयोगशील कहे जाने वाले साहित्य की मान्यताएँ किसी विशिष्ट राजनीति, वर्ग अथवा सामयिक परिस्थितियों से सम्पृक्त न होकर सचाई से उन तथ्यों का अधिकतर आकलन करती थीं, जिसमें एक समन्वित समग्रता तो निहित होती ही थी, पर जो कालान्तर में साहित्यिक सौहृदयता की भी उत्प्रेरक सिद्ध होती थी। किन्तु इसके विपरीत आज की सन्देहशील अनिश्चितता में कवि की हर अनियन्त्रित अभिव्यक्ति का स्थितिजन्य कहकर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सत्य और सर्वोचित की परिपक्वता में परिणत करने का दंभ कितना गर्हित साबित हुआ है। कुंठित मस्तिष्कों की ह्रासमूलक प्रवृत्तियाँ, नर-नारी के यौन व्यापार और उनकी प्रेम घृणा के संवेदनात्मक चित्र अथवा प्रकारान्तर से जनवादी आस्था की दुहाई देकर झूँठ मूठ के शिल्प विधान की प्रवंचना द्वारा जनता के स्वप्न या नई जिन्दगी की निर्माण चेतना को ललकारना कहाँ तक सही है और किस रूप में निष्क्रियता का अन्त कर वह नया जीवन फूँकने में समर्थ होगा—कहा नहीं जा सकता।

सबसे बड़ी दिक्कत प्रयोगवादी रचनाओं की सीमा रेखा निर्धारित करने में होती है। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद दोनों में इतना सूक्ष्म भेद है कि पार्थक्य कभी-कभी कठिन सा हो जाता है और अनेक प्रगतिवादी रचनाएँ प्रयोगवाद के अन्तर्गत भी परिगणित की जा सकती हैं। यथा

> "और वे तारे अभी भी टिमटिमाकर आँख मटकाते किलकते,
> है उन्हें क्या ज्ञात ?

कितनी भूख से मन छटपटा कर सो गये फुटपाथ पर हैं,
और कितने घोर अत्याचार
होते हैं यहां पर,
निकल आए इन्हें क्या, बस हो गई है रात।"

यह प्रगतिवादी कविता है। इसी भावना से प्रेरित एक प्रयोगवादी कविता:

"ज्योति के ये केन्द्र हैं क्या ?
ये नवल रवि-रश्मि जैसे,
चांदनी से शुद्ध उज्ज्वल,
मोतियों से जगमगाते,
हैं विमल मधु मुक्त चंचल।
श्वेत मुक्ता सी चमक, पर
कर न पाये नभ प्रकाशित,
ज्योति है निज कर न पाये,
पूर्ण वसुधा किन्तु ज्योतित।
कौन कहता दीप ये जो
ज्योति से कुटिया सजाते ?
ये निरे अंगार हैं बस,
जो निकट ही जगमगाते।
ये न दे आलोक पाये ?
बस चमक केवल दिखाते,
झिलमिलाते मौन अगणित
कब गगन-भू को मिलाते ?
ज्योति के तव केन्द्र हैं क्या ?"

(महेन्द्र भटनागर)

उपर्युक्त दोनों कविताओं में बहुत कम अन्तर है। ऐसी ही सैकड़ों कविताएँ एक दूसरे में गुंथकर बिखरी हुई हैं जिनमें प्रगतिशील उपकरणों और युग विशेष के विशिष्ट अभिधानों के अलावा छन्द, भाषा, शैली और अभिव्यंजना के माध्यमों में नवीन प्रयोग करते गए हैं। विगत पन्द्रह-बीस वर्षों में 'प्रगति' के मैदान में आगे आने की नए-पुराने कवियों में जो परस्पर होड़ सी होती रही उसी ने उनमें चिहुंकती टीस और उष्णता जोड़ भरा और उसी ने उन्हें नए सक्षम प्रयोगों की प्रेरणा दी। भगवती चरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, अंचल, दिनकर—यहां तक कि निराला और पंत तक ने आज जागरण-युग की भावनाओं को वहन करते हुए कविता को अधिक संवेदक और सशक्त बनाया। उस समय जो जनवादी कविताएँ लिखी गईं उनमें सामाजिक तत्त्व और वैचारिक संघर्ष तो है ही, विषय-वस्तु और रूप-विधान में भी

ऐसे कलागत प्रयोग किए गए हैं कि उनमें अभिप्रेत सामजस्य उत्पन्न होकर विभेदक-सीमा मिट गई है। प्रगतिशील और प्रयोगशील दोनों प्रकार के तत्त्वों ने उन्हें ऐसा ठोस आधार प्रदान किया है कि आज वे एक विशिष्ट दिशा, एक निश्चित गन्तव्य पथ की ओर सकेत कर सकी हैं।

प्रगतिवादी तत्त्व अब तक प्रयोगवाद के भी पूरक रहे थे, यद्यपि यह नवागत प्रवृत्ति अभी स्पष्ट नहीं हो पाई थी। प्रगतिवाद में सामाजिक चेतना और राजनीतिक द्वन्द्व-सघर्ष प्रमुख होता है जबकि प्रयोगवाद में प्रखर वैयक्तिक चेतना के साथ-साथ भाव-वस्तु और शैली शिल्प के प्रयोगों के प्रति अपेक्षाकृत जागरूकता और वस्तुपरक व्यग्यात्मक दृष्टिकोण होता है। आज के सघर्षशील युग में मौजूदा परिस्थितियों के साथ कवि धर्म निभाना कुछ कठिन सा हो गया है। ऐसे अन्तर्विरोधों को दूर करने और कविता की जीवन्त शक्तियों को उद्बुद्ध करने के लिए प्रयोगों की आवश्यकता दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। प्राचीन से जब मन ऊब जाता है तो कुछ नया पाकर सतोष होता है, ताजगी और चुस्ती आती है। यों भी सृजनशील कलाकार पुरानी लीक पर कदम से क़दम मिलाकर देर तक नहीं चल सकता, वह अपनी निजता ढूँढता है। अपनी अभिव्यजना-शक्ति विचित्र ढंग से मुखरित करता है कम से कम एक-दो पग आगे बढ़ कर साहित्य पर कुछ अपनी स्थायी छाप छोड़ने की इच्छा तो रखता ही है।

कहना न होगा कि उक्त परिवर्त्तन आज दृष्टिगोचर हो रहा है। साहित्यकार की बहुमुखी प्रतिभा व्यापकता की ओर बढ़ रही है। भले ही विषयभूत विविध बाह्य परिस्थितियों तक ही उसकी दृष्टि सीमित हो, किन्तु निश्चेष्ट होकर बैठना उसे नहीं सुहाता। वह साहित्य को एक नया मोड़ देना चाहता है। नई पनपती हुई प्रवृत्तियों के साथ यथार्थ के अधिक निकट आने की प्रेरणा उसमें जग रही है।

तो साहित्य और कला में जहाँ तक जीवन की विशाल विविधता के समावेश का प्रश्न है, उसका क्षेत्र व्यापक और विस्तृत किया जाना ही चाहिए। इसी से वह आगे बढ़ सकता है और मनुष्य की अत शक्ति को जगा सकता है, पर इसमें आगे वह क्या है? जीवन की दृष्ट विराट् वास्तविकताओं के अनुपात में वह कहाँ तक श्रेष्ठ चितक के आत्म विश्वास का प्रतीक बनकर प्रकट हुआ है—यह विचारणीय है। मिथ्यात्व के कुहरे को भेद कर वास्तविक भूमि पर उतरना शुभ है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि काव्य के परम्परागत रूप को तोड़ मरोड़ कर कल्पना की अभिनवता और नवीन प्रतीकों के सृजन में इतना विभोर हो जाये कि अतरंग चिंतन और रागात्मक आलोडन की सर्वथा उपेक्षा ही हो जाय।

काव्य का ध्येय मनुष्य का अनुरजन है। तीव्र भावावेश में ही हृदयस्थ अनुभूतियाँ कविता बन आती हैं। जहाँ भावावेश मन्द होगा वहाँ भावना मूक और भाषा फीकी पड जाएगी, साथ ही काव्य सकीर्ण परिधि में बन्दी होकर उन्मुक्तता और जीवन से तादात्म्य खो बैठेगा। इस स्थिति में काव्य की अतरंग परीक्षा द्वारा हमें देखना यह

है कि उसके उत्कर्ष का धरातल क्या है, अपने युग से उसका
किन शक्तियों को मुखर करता हुआ सनातन कला का मापक है
की दृष्टि जितनी ही दूर तक फैले जीवन पर पड़ेगी उतने ही
स्वरूप की प्रतिष्ठा वह अपने कृतित्व में कर सकेगा और उसकी गह
सकेगा। उसके दिल-दिमाग का दायरा ज्यों-ज्यों फैलता जाएगा उसकी ...स्पर्शी
बढ़ेंगी, सार्वजनीन संस्कारों को ग्रहण करने के अलावा उसके रागात्मक सम्बन्धों
और अनुभूतियों का क्षेत्र विस्तृत होगा और युग-सत्य को प्रेष्य बनाकर सामयिक
स्थितियों को वह अधिक सचाई से आँक सकेगा।

यह सच है कि लिखने के कोई आम नियम नहीं होते। प्रत्येक को अपने
ढंग से कहने का अधिकार है। यह भी आवश्यक नहीं है कि सबके प्रेरक उपकरण
एक से हों कुछ न कुछ भिन्नता तो बनी ही रहती है, किन्तु यह असम्भव है कि
लेखक कलात्मक सिद्धान्तों के बदले अन्य महत्त्वहीन सिद्धान्तों की रचना करे। साहित्य
के शाश्वत उपादानों की अवहेलना करके ऐसी चीजें लिखें जिससे उसकी भावनाओं
का लगाव न हो, जिसको अपने भीतर अनुभव करने की उसने आवश्यकता न समझी
हो और जिसमें उसकी आत्मा न झाँकती हो।

युग बड़ी तेजी से बदल रहा है और युग के साथ-साथ साहित्य स्रष्टा की
अभिव्यक्ति के मनोवैज्ञानिक पहलू भी बदल रहे हैं। काव्य प्रणालियाँ इतनी बहुमुखी
हो गई हैं कि सृजन-व्यापार में संलग्न मानस की गतिविधि और उसकी सूक्ष्म
प्रक्रियाएँ समझना कठिन हो गया है। यह माना कि नवीन परिस्थितियों के साथ
भौतिक आवेष्टन युग विशेष की मान्यताएँ, संवेग रुचियाँ और हमारी मनोवृत्ति के
द्वन्द्व जीवन की जटिल समग्रता के साथ सामंजस्य नहीं कर पाते फिर भी कलाकार
की अपनी सीमा होती है और उसकी दृष्टि अतीत में जुड़कर उसकी आत्मा के
भीतरी स्वरूप को पहचानती है।

प्रयोगवादियों ने अब तक साहित्य-क्षेत्र में कुछ अछूते विषयों पर दृग्पात
किया है सही, किन्तु उनका अपना कोई स्वतन्त्र दर्शन नहीं है। अभी उनकी कविता
का कोई रूप भी स्पष्ट नहीं हो पाया है। अधिकांश प्रयोगवादी रचनाओं में जो
मिलता है वह है गहरी अस्पष्टता असन्तुलन, वैचित्र्य और प्रत्येक वस्तु को एक
नवीन दृष्टिकोण से देखने का गहरा मोह। जब से साहित्य में यथार्थ के चित्रांकन
की प्रवृत्ति बढ़ी है सारा साहित्य वैयक्तिक वास्तविकता की दुरूह एवं कल्पनात्मक
अभिव्यक्तियों से भरता जा रहा है। वह जिन्दगी के किसी भी पहलू किसी भी पक्ष
का दिग्दर्शक और कहीं से भी मसाला बटोरने की ताक में रहता है। मनोगत द्वन्द्व-
संघर्ष, अन्तरंगी आवेग प्रवेगों को समझने का उसके पास न अवकाश है और न
उत्साह। निष्ठुर व्यक्तिवादिता पनप रही है, महत्व तत्त्व गौण पड़ गए हैं। अन्त-
र्जगत् की प्रहेलिकाओं में उलझा कवि स्वयं नहीं समझ पा रहा है कि वह लिखना
क्या चाहता है और लिख क्या रहा है। उसके तर्क बाहर से सत्य प्रतीत होते हुए

भी भीतर से थोथे और बेजान हैं। उसकी लेखनी राह-बेराह रेंगती है और मन के निराधार अलक्ष्य तारों को सहसा झनझना देती है।

प्रयोगवादी धारा का एक रूप है काव्य की परिचित परम्परागत लीक से अलग हटकर चलना। वह अपनी प्रकृति और स्वरूप दोनों में भिन्न है। उसकी दूसरी विशेषता है वैचित्र्य विधान की प्रवृत्ति और बिखरी वस्तुओं पर सुदूर के मोहक चित्रों, झिलमिल छायाओं, रूपकों और कल्पित प्रतीकों का आरोप, समष्टि से निरपेक्ष वह व्यक्तिगत अतृप्त कुण्ठाओं से आक्रान्त है और उसकी प्राणवत्ता ही स्वच्छन्द विचारों के दबाव से जो कल्पना में छायाचित्र उभर आएँ उनका अनूठा चित्रण है। प्रयोगवादी हर पंक्ति में प्रयोगगत और व्यंजनागत चमत्कार चाहता है, भले ही उसे अनेक स्थलों पर बेमेल और इयत्ता खोकर अपनी प्रतिपादित विशिष्टताओं को मिथ्या साबित करना पड़े।

"सामने के शीत नभ में
आयरन ब्रिज की कमानी, बाँह मस्जिद की बिछी है।

(नरेशकुमार मेहता)

"मेरे प्राणों के पहिए भूमि बहुत नाप चुके
सिनेमा की रीलों-सा कसके लिपटा है सभी कुछ
मेरे अन्दर कमानी खुलने को भरती है हुमास
लो सुनो, इतना ही कहना है, सुनो
"तुम से मुझे ···· "
किन्तु ठहरो तो शायद
इससे भी अच्छी कोई बात याद आ जाये।"

(रघुवीर सहाय)

नीचे की पंक्तियों में आँखों को लालटेन की भौंडी परिधि में समेटा गया है :

"दिन से बुखार,
रात्रि की मृत्यु,
के बाद हृदय पुंसत्व हीन,
अन्तर्मनुष्य रिक्त सा गेह,
दो लालटेन से नयन दीन।"

(गजानन मुक्तिबोध)

इस दूसरी कविता में नयनों को दो मोमबत्तियों सा पाया गया है :

*"मित्र ! युग सक्रांति के इस मोड़ पर
मैं रुका कुछ वर्ष
चरण स्थिर, शृंखला में बंध गए*

मोमबत्ती की तरह जलते रहे दोनों नयन,
अपने विकल्पों को जलाये लो।"

(नरेशकुमार मेहता)

कहीं 'प्राण के दीप' जलाये गए हैं—
'प्रणय पथ पर प्राण के दीप कितने
मिलन ने जलाए, विरह ने बुझाए।'

(शम्भुनाथ सिंह)

यहाँ पलकों के मंदिर में पुतली का दीपक जलाया गया है
'पलकों के मंदिर में मैंने
पुतली का दीप जलाया जब
हे देव! तुम्हारी रूप-किरण में
'लौ' ने स्नेह जलाया जब
नभ-पथ की सतरंगी रेखा,
बरसी कण-कण शीतल चन्दन।'

एक अन्य स्थल पर वही पुतली रूपी नौका में परिवर्तित हो गई है :
'पुतली की नौका मैंने जब खोली अधीर
देखा पतवार सँभाले जो
छवि बैठी थी— तुम वही पीर।'

(केदारनाथ मिश्र)

'अज्ञेय' ने किसी दूर टिमटिमाते तारे से इनकी उपमा दी है :
'तेरी थीं वे आँखें, आर्द्र, दीप्तियुक्त मानो किसी,
दूरतम तारे की चमक हो।'
एक कवि महाशय आँखों से प्रश्न करते हैं
'कोमलता का प्रश्न सदा से
इन आँखों में कितना जल है!'

(भगवतीचरण वर्मा)

एक अन्य कविता में 'चुम्बन' ही दीपक बन कर जल रहा है
'तुम्हारा चुम्बन जल रहा है भाल पर
दीपक सरीखा
मुझे बतलाओ
कौन सी दिशि में अँधेरा अधिक गहरा है।'

(दुष्यंत कुमार)

और एक दूसरे कवि आंखो की बमाप गहराइयो में ही मानो खो गये हैं

'आँखें याद आती हैं
जिनमें मैं समुन्दर की बेमाप गहराइयाँ
बनकर खो गया हूँ।'

(केदारनाथ सिंह)

नूपुर ध्वनि और चप्पल की आवाज में कोई साम्य नही है फिर भी

'तू सुनता रहा मधुर नूपुर-ध्वनि
यद्यपि बजती थी चप्पल।'

(भारतभूषण)

वही पाँवो की ध्वनि बारात बनकर आई

'पावो की ध्वनि की बारात ले
बिजलियों की आँखो की छाया में
सडक बढी जा रही
किनारे पर गगा के।'

(रामदरश मिश्र)

एक अन्य कविता में ऊँटो की कतार को रेंगने वाले काले प्रश्नचिह्नों-सा आँका गया है

"साँझ हुई—
दूर, आकाश के पीले
रेगिस्तानी टीलों पर,
भूखे शिथिल ऊँट,
सुख क्षितिज की ओर ऊपर सर उठाए
पीठ पर चारा लादे,
किसी ओझल पडाव की ओर थके माँदे,
काले प्रश्नचिह्नों से रेंगने लगे।"

(सर्वेश्वर दयाल सक्सेना)

निम्न दो कविताओ की पहली कविता में मौन सुधियो के राजहंस और दूसरी में 'सपनो के कलहंस' कही दूर से तिरकर उड़ते आते या जाते हैं

'मौन सुधियों के राजहंस दूर-दूर उडे जाते हैं'

(नेमिचन्द्र जैन)

"एक रोज मेरे आंगन में पर फैलाए
सपनों के कलहंस कहीं से तिरते आए।"

(रामानंद 'दोषी')

लेकिन वे ही सपने एक कविता में 'फूलों की नाव', दूसरी में 'सिन्धुफेन' और तीसरी में 'प्राण की लघु नाव' बन गए हैं

'कि जब तुम्हारे सपनों के फूलों की नाव,
छिन्न भिन्न हो गई थी
किसी के 'बैंक-बैलेंस' की
चट्टान में टकराकर।'

(वीरेन्द्र कुमार जैन)

'सिन्धुफेन से सपने विलीन हुए'

(शम्भूनाथ सिंह)

'अरे यह जागरण की रात
पावन प्रार्थना की रात
निशि का तिमिर-पारावार
उसमें बह रही अविराम
मेरे प्राण की लघु नाव'

(ब्रजमोहन गुप्त)

नीचे उद्धृत पंक्तियों में बादल की दीप्त श्वेतिमा हड्डी की मनहूस सफेदी के समकक्ष आँकी गयी है

'पूरब दिशि में हड्डी के रंगवाला बादल लेटा है
पेड़ों के ऊपर गगन खेत में
दिन का श्वेत अश्व मार्ग के श्रम से थककर मरा पड़ा ज्यों।'

(नरेशकुमार मेहता)

यहाँ प्रकाश की उपमा शव के सफेद परिधान से दी गई है

'इनका प्रकाश
शव के विशाल
शव का सफेद परिधान साफ।'

(गजानन मुक्तिबोध)

और इन्हीं कवि महोदय ने एक अन्य स्थल पर पूनो की चाँदनी की झिलमिल झिलमिल रेशम से तुलना की है

'फैली यह सफलता की, भद्रता की
कीर्ति-सी रेशम की पूनो की चाँदनी।'

परन्तु एक अन्य कवि ने चाँदनी को 'शुद्ध वनस्पति घी' समझने का दुस्साहस किया है :

'यह देखो दूधिया चांदनी
आज बिखेरी है धरती पर
शुद्ध वनस्पति घी सी जिसमें रंग न अब तक मिल पाया है।'

(केशवचन्द्र वर्मा)

यहा दर्शिए—

'पूणमासी रात भर
पीती रही सुधा
यक में शशि के सिमटकर
धोती रही श्यामल बदन
सुधबुध बिसार
दिन सरीखी श्वेत चादर ढांक।'

(शकुन्तला माथुर)

'चांदनी रात है—
किसी अबोध कुमारी के सरल नैनों सी
अथाह मदभरी, गीली '

(नेमिचन्द्र जैन)

'हर रात
जब चांदनी
हर सभव गलियारे में
झांकने की कोशिश करने लगती
और जब स्वप्न के
रंगीले पख लगा नीचे फले
सीमाहीन आकाश में
दिन भर की यथार्थता की चट्टान से टकरा
चूर चूर हो जाती।'

(अनिल)

'चांदनी का जिस्म टूटा जा रहा है
चाहती शबनम
किसी अभिसारिका के मधु कलश में
मुंह छिपाना
रात के पिछले पहर तक
प्राण कितनी बेबसी है'

(परमार)

'बाँह पर धर गाल
बिथुरी अलक सुन्दर
गा उठी अपनी कहानी
तिमिरहर उन्मादिनी।'

(रांगेय राघव)

लेकिन जब—

'उल्काओं के रथ पर सवार हो गई हवा,
डस लिया तिमिर अजगर ने तारों का राजा।'

(नीरज)

तो एक दूसरे कवि के शब्दों में —
'अवनत है चांदनी सित
शिशिर की राका-निशा की शान्ति है निस्सार।'

(अज्ञेय)

निम्न दो कवियों ने चांद की लजीली वधू से उपमा दी है :

"बिल्कुल वधू सी है चांदनी
बिदा की बेला में
लजायी सी उन्मादिनी
यही है यही है शरद हासिनी"

(राजेन्द्र किशोर)

और

"डाल कर परदा कुहासे का
यह शरद की सांझ दूल्हन सी
गाँव के मिहरे सिवानों पर
पालकी से सहम कर उतरी।"

(शम्भूप्रसाद श्रीवास्तव)

और इसमें उल्टे मन की शून्यता को काली बेमाप चादर-सा बताया गया है :
'व्यर्थता की स्याह-सी बेमाप चादर से
अभी ज्यों ढक गया हो शून्य जी का प्रान्त।'

(नेमिचन्द्र)

जाडों की धूप एक अन्य कवि को 'सेमल की गरमीली रुई' सी जान पडती है :

'सेमल की गरमीली हल्की रुई समान
जाड़ों की धूप खिली नीले आसमान में
झाड़ी झुरमुटों से उठे लम्बे मैदान में।'

(गिरिजाकुमार माथुर)

✓अनुभूति की गहराई कभी अन्तर की विराटता खोजा करती थी और काव्य के मूलाधार—भाव, विचार और कल्पना—मनुष्य की बुद्धि, हृदय, मस्तिष्क इन तीन शक्तियों से परिचालित हुआ करते थ, पर तब की हृदयगम्य अनुभूतियाँ आज बुद्धिगम्य अनुभूतियाँ बन गई हैं। उनमें वैसी रागात्मकता या रजतनारी तरलता नहीं है जो उमड घुमड कर आप्लावित करले इसके विपरीत एक दुरुह श्रमसाध्य मस्तिष्कीय व्यायाम है जो नव्यता के आधार पर प्रभावों की समग्रता और उसके सहज वैशिष्ट्य के साथ बलात्कार सा करता है।

"जिंजर बोटल काली भौंहें
प्रश्नचिन्ह सी झूल रही हैं
जातक सी ये कर्ण विभायें
और पोटेटो-फिंगर जैसी
ओठों की दुर्बल सीमाएँ,
बूट ब्रशों सी काली मूछें
युद्ध-क्षेत्र की खाई जैसी
रिक्त कपोलों की गहराई
भस्मित वायुयान के झुलसे
डैने जैसे जर्जर कन्धे,
गिलगिट की स्ट्रेटेजी जैसी
मेरुदण्ड की गढी हड्डियाँ
सर्चलाइट की मन्द बैटरी जैसी छाती
किसी साइरेन सी आतंकित गहरी साँसें।"

(लक्ष्मीकान्त वर्मा)

साम्य और वैषम्य के कुछ और अजीबोगरीब चित्र जरा देखिए

"कोकाकोला जैसा हुस्न
बुझा बुझा सा लाल लाल सा
चिउंगम जैसी मुहब्बत
फीकी फीकी सी मीठी मीठी सी
लोशनों डाइयों की मदद से

घुला घुला सा रंगा रंगा सा निखरा-निखरा
तेरे केशों का लच्छा लच्छा ।'

(करतारसिंह दुग्गल)

'बादामी पंखुडियों से नख
गदराई मटर फली-सी रक्तिम अंगुलियाँ
नीली केली से सुन्दर सुरमई नयन
गेहूँ का गोरा पेड
कोपलों ओंठ'

(रामसेवक श्रीवास्तव)

"गालों की धरती पर
आँसू की झीलें हैं !
आँखों का आसमान
बरस बरस जाता है !
रूढ़ियों का हृदय किन्तु
तरस नहीं खाता है
किरणों के छूने से
आँसू की झीलों में,—
इन्द्रधनुष के समान
सरसिज के दल के दल
खिलते हैं—भासमान !
सिहरन से हिलते हैं !"

(शिवकुमार श्रीवास्तव)

कवि की कोमल कल्पना दृश्यवस्तु के बिम्ब या उनकी छाया ग्रहण कर नव-रूप विधायिनी शक्ति के रूप में स्फूर्त हुआ करती थी अर्थात् संवेदनजन्य अनुभूति के योग से सादृश्य-सारूप्य के सहारे दृष्ट छवियों को प्रकृत साँचों में ढाल कर कितने ही भावरंजित चित्र उभारा करती थी, पर आज की उपमाएँ महज ज्यामिति या एल-जब्रा के लाक्षणिक प्रयोग हैं जो कुंठाओं की कसकन लिये पाठकों के मर्म पर उतर आते हैं—

"तुम्हारे पास, हमारे पास
सिर्फ एक चीज है
ईमान का डंडा है
बुद्धि का वल्लम है
अभय की गेंती है

हृदय की तगारी है —तसला है,
नये नये बनाने के लिए
भवन आत्मा के
मनुष्य के,
हृदय की तगारी में ढोते हैं हमी लोग
जिन्दगी को पीली और
महकती हुई मिट्टी को ।

(गजानन मुक्तिबोध)

नीचे उदधृत पहली कविता में पगडंडी सर्पिणी सी फन फैलाए है—

'पगडंडी ऊपर भुजगिनी सी, उन्मना
आदि भूमि क्वारी अनछुई विषसामयी
उठी फन फैला कर टेढ़ा मेढ़ा।

(शम्भूनाथ सिंह)

किन्तु दूसरी कविता में उसी पगडंडी की उंगली थामकर चलने को चुनौती दी जा रही है

'जो पगडंडी की उंगली थामकर
है चलना तो कैसे राह बनाओगे ?

(रामावतार त्यागी)

दरअसल आज का तिक्त वातावरण बेहद आवारागर्द और आत्मावजीवी वृत्तियाँ उभार रहा है फलत सब कुछ चारों ओर उसे बेगाना सा लगता है। एक अट्टहास करता हुआ प्रतअय पिशाच सृजन चेतना पर छाया है जो वस्तुस्थिति के आगे नतगिर नहीं बल्कि बड़े ही उद्धत नाज़ अन्दाज़ से सिर ऊँचा किए है। जिन्दगी के इर्दगिर्द न जाने कभी उमड़ती घुमड़ती मनहूस घटाएँ उजियाला-अंधेरा सैलाब, काई की सी स्याह घनता लिए एक मिथ्या अभिजात्य या इसके ठीक विपरीत अनास्था का कफन ओढ़े है

'भीतर कहीं
सफेद होंठ
पीली आँखें
मुर्दा बाहें
अब रह रह कर चिल्लाती हैं।'

(कैलाश वाजपेयी)

और
और जब हम बोलते हैं,

बात होठों पर तनिक निःशब्द रखकर—
तोलते हैं,
न जाने कैसे, कहाँ से,
वह हमारे शब्द लेकर,
हमें छूँछा अर्थ देकर,
हमारी ही मुट्ठियों से—
एक जीवित सोनचिड़िया-सी
फुदकती भाग जाती है !"

(केदार नाथ सिंह)

रूप और सौंदर्य की मार्मिक, संवेदनात्मक अभिव्यक्ति भी बाहरी मुलम्मा बनकर रह गई है :

"सोने की वह मेघ चील
अपने चमकीले पंखों में ले
अंधकार अब बैठ गई दिन अंडे पर
नदी बधू की नथ का मोती चील ले गई।"

(नरेश मेहता)

चूँकि हर युग का कवि जिज्ञासु है, अतएव पर्दे के पीछे ताक-झाँक करने की प्रवृत्ति को वह आज भी इसी जिज्ञासा का एक अंग मान रहा है। ऊटपटांग कविता की रसज्ञता में बहकर वह उसके भोंडेपन को ढकने का प्रयास करता है। इस ना-तकल्लुफी के दौर में वह अपने संयम का आवरण उतार कर इस क़दर दुराग्रही और आत्मविश्वासी बन गया है कि उसे अपने 'आचार्यत्व' का दंभ है, वह अपनी बड़ी कीमत कूतता है और यथार्थ से कतराकर ऐसे-ऐसे कल्पित स्वप्नजाल में उलझ जाता है—वन के पंछियों की तरह आजाद और मुक्त– एक अजीब मस्ती और बेगानापन लिये—जहाँ वासना सत्य है, प्रेम बंधन है और अनावृत्त आचरण और कुरुचि उकसाना ही गौरव समझा जाता है। कविता क्या है—मानसिक ऐय्याशी का प्रतीक– जो अपने रंगीन पंखों पर मानो कहीं उड़ा कर ले जायगी। अपने अंतर्मन के आगे चमक मुनहरी चित्र उभार कर और बौद्धिक रिक्तता व विघटन को तूल देकर वह कुछ ऐसा नया और चौंका देने वाला वैलक्षण्य खोजता है जिससे चोखे रंग देने वाले उपादानों के आगे उसकी कल्पना का दारिद्र्य छिप जाये। घुमाफिरा कर अप्रत्यक्ष रूप में कोई ऐसा पहलू हाथ लग जाय जिससे कोई बड़ी झंझट न हो और इस प्रकार उसकी कलई खुलने से रह जाय।

"किसी खाली दियासलाई की बची
अन्तिम जलती तीली-सी हँसी;

मोरपख की आँखो के प्यार भरे गीत !
वल्मीक पर फैली हुई चाँदनी की बेल !
शबनम के अलकार !
इन्हे अब रहने दो !"

(शिवकुटीलाल वर्मा)

"एक तीव्र शोर !
मन ने दर्द से कहा—ये हम सब है !
टूटे प्यालो में सिगरटो की राख
खोखली हँसी की झनकारें—
मुर्दे तडप उठे।"

(मलयज)

इसी प्रकार—
'अपशकुन खम्भे सरीखा मौन !
ठूटो से रुधे इन नगर खेतो पर
टँगा है—ईसा सरीखा !'

(जनमित्र)

'चुप का कफन' ओढे एक दूसरी कविता—
'बाँसुरी की कब्र पर चुप का कफन में
मुट्ठियाँ पत्थर किए हैं बन्द।
कौन ?
चुप के वस्त्र को,
तेज सुई की तरह से छेदता ?
विश्व के इस रेत बन पर
मैं अह का मेघ हूँ।
उन दिशा की दासियों के सगमरमर के करों में,
जय वस्त्र है मेरा यमा।'

(नरेश कुमार मेहता)

—
यहाँ कफन का कवच' जीवन का सरक्षक बन गया है—
'हम कफन लपेटे चलते सदा, सही है,
इसलिए कि बस, जीवन का कवच यही है।"

(भारतभूषण अग्रवाल)

और निम्न पक्तियो में 'इन्द्रधनुष की बदली' जैसे सारी कविता पर छाई हुई है।

"चुपके-चुपके प्राणों की यह अदला बदली,
भीतर बाहर छायी इन्द्रधनुष की बदली।"

(त्रिलोचन शास्त्री)

प्रतीक या उपमान स्थूल वस्तुतत्त्व के लिये नहीं, अपितु उसकी अंतःप्रकृति के अनुरूप सूक्ष्म सम्बन्ध तत्त्व पर आधारित होने चाहिए, लेकिन वर्तमान नई कविता की प्रतीकबहुल, यत्नसाध्य और स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के ऐसे सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं जिसमें बदले हुए दृष्टिबिन्दु से उपमाएँ, रूपक और साम्य प्रस्तुत किये गये हैं। कला की अभिव्यक्ति के क्षेत्र में उनकी उपादेयता और औचित्य क्या है और वे किस हद तक सफल कहलायेंगी—यह तो बताना कठिन है, हाँ—इतना अवश्य कहा जा सकता है कि नवीन वर्ण्य-विषय और नूतन प्रयोगों के मोह में निरर्थक रूप-विधान और कलाहीन प्रचार सर्वथा रुक जाना चाहिए।

मौजूदा युग की प्रत्यक्ष स्थूलता एवं इतिवृत्तात्मकता के फलस्वरूप कवियों में यह विपरीत प्रतिक्रिया इतनी अन्तर्मुखी और वैयक्तिक होती चली जा रही है कि उनकी दृष्टि जनवादी प्रवृत्तियों को पूर्ण रूप से न अपनाकर काल्पनिक कुहासे और रंगीन छायाचित्रों में भटक रही है। शब्द-रचना, पद-विन्यास, प्रतीकवाद (Symbolism), रूपप्रकारवाद (Formalism), स्थूल सज्जा और शैली-शिल्प के गुम्फित वैभव में भ्रमित उसकी चेतना अपनी कला के मर्म और असलियत को भूल बैठी है। कई बार उपमाएँ पचाई नहीं, थोपी गई सी जान पड़ती हैं।

छायावादी रूमानियत कम होने पर ज्यों-ज्यों नव्य वास्तविक भूमि पर उतरने का प्रयास किया गया त्यों-त्यों साहित्य में एक विचित्र विरोधाभास उपस्थित होता गया और यह विरोध दो व्यक्तियों में नहीं, वरन् एक ही व्यक्ति की विभिन्न मानसिक स्थितियों से उत्पन्न दृष्टिकोणों में दीख पड़ा। 'अज्ञेय' द्वारा सपादित 'तार सप्तक', 'दूसरा सप्तक' और 'तीसरा सप्तक' के अनेक कवियों में यह विभेद-वैभिन्य स्पष्ट है। अनेक बार उनकी अन्तरंग प्रेरणा उनकी संवेदनाओं से असम्बद्ध-सी लगती है और एकाएक विरोधी दबावों से उनकी विशृंखल वृत्तियाँ, अनिश्चय और संशय में, उनकी स्वानुभूतियों से अन्तर्गठन नहीं कर पाई हैं।

हमें किसी भी 'वाद' से परहेज नहीं है, न 'वाद' की ओट में हम किसी महत्त्व-पूर्ण वस्तु को निरस्कृत और बहिष्कृत करना चाहते हैं। पर साहित्य की यह शंका-कुल स्थिति जीवन और जगत् के गतिमय प्रेरक तत्त्वों को कितने समय तक रूपायित कर सकेगी—यह समझना है। कोई भी साहित्य इसीलिए श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह प्रयोगशील या वादपरक है। उसकी हीनता अथवा श्रेष्ठता की कसौटी तो उसकी अन्तर्हित शक्ति एवं रसात्मकता ही सिद्ध करती है।

प्रयोगवाद की सार्थकता में हमारा अविश्वास नहीं है, बल्कि इसके विपरीत हमें प्रायोगिक अनगढ़ आकारों का रूप सुस्थिर करना है और उसमें सार्वजनीन तत्त्वों

का समावेश कर अन्तर्नुभूतियों से समन्वित करना है। सत्साहित्य जीवन का दर्पण ही नहीं, बल्कि भीतर रमकर युग-युगान्तर की जीवन धारा को मोड़ने की क्षमता भी रखता है। अतएव सच्चे साहित्यकार की जिम्मेदारियाँ बड़ी हैं। वह आत्मा का इंजीनियर है। वह न केवल सच्ची कला के निर्माण में सहायक होता है, अपितु उसका संस्कार और परिष्कार भी करता है। उसकी लिखने की पद्धति अथवा टेक्नीक साधारण से भिन्न होती है। वह पुराने ढग को नये ढग से अख्तियार कर सकता है अथवा अपनी रचना को अतीत से विच्छिन्न करके नये युग के अनुरूप गढ सकता है। जब तक सच्ची कला के साथ सच्चे कलाकार का इतिहास जुड़ा रहेगा तब तक साहित्य में अभिनव प्रयोग होते रहेंगे और कलाकार की सृजनशील प्रतिभा भरपूर शक्ति के साथ उसका उपयोग करेगी।

हमें कोई आपत्ति न होगी यदि प्रयोगवादी कवि जीवन के विराट् सपनों को अपने कृतित्व में अधिकाधिक साकार करें, अपनी निश्छल और निखरी स्वानुभूति को आकर्षक और नूतन ढग से दूसरों के सामने रखें, उनकी अभिव्यक्ति में जनवादी स्वर हो, उनकी पुकार में मर्म को कचोटने वाली सवेदना हो और सबसे बड़ी बात उनमें व्यापक सत्य, सर्वांगपूर्णता और रागतत्त्वों को उद्वेलित करने की शक्ति हो। ऐसी चीजें दिल खोल कर अपनाई जायेंगी, किन्तु जहाँ नवीन प्रयोगों के मोह में पड़कर भाव और भाषा अटपटी हो गई है, अतिवैयक्तिक शब्दों में भावनाएँ अनमिल हो गई हैं और छद, लय, ताल की वर्जित स्थापनाओं से सहज एकसूत्रता विच्छिन्न हो गई है वहाँ प्रयोगवाद निरा बच्चे का खिलवाड़ है। यह मनोरंजन तो कर सकता है, साहित्य की महान् परम्पराओं को जीवित नहीं रख सकता।

विकल्प या स्वेच्छाचार

सबसे बड़ी घातक स्थिति इस स्वेच्छाचारी दौर में अव्याहत स्वातन्त्र्य और उन्मुक्त उच्छृखलता की भावना है जो कविता को दिग्भ्रमित और डांवाडोल कर रही है। घोर प्रतिक्रियास्वरूप एक नकारात्मक अनास्था और अविश्वास—सैद्धान्तिक ऊहापोह में—न केवल ह्रासोन्मुखी पूँजीवाद से त्रस्त है, अपितु तमाम समाज और सामाजिकता से उसे भयकर द्रोह है। अत्यधिक आत्मकेन्द्रित और अहवादी तर्क नियात्मक रूप से एक ऐसे नये सघर्ष के स्वरों का उद्घोष कर रहे हैं जिससे साहित्य में कुरुचि और अपरिष्कृत द्विधा के उद्दाम चित्र मिलते हैं। कलात्मक सयम, तत्त्वचिंतन और एकनिष्ठ साधना का तो प्रश्न ही नहीं उठता, इसके विपरीत दुर्दमनीय सौन्दर्येच्छा, यौन प्रेम और अनियन्त्रित आचरण ने उनकी अभिरुचि और ग्राहक शक्ति को नितान्त छिछला बना दिया है। अतएव काव्य-सृजन की प्रक्रिया में—बौद्धिक जोड़तोड़ रूपायित होकर—नये-नये पहलू और ढाँचे उभारते हैं। शब्दों और वाक्यांशों के नये आरोह-अवरोह छन्दों को साधने और अनुभूति को चरितार्थ करने में आशातीत अकल्पित भावों की व्यंजना कर रहे हैं।

"कभी तुम बहुत पास लगते हो
दुख की किसी तह में
बैठी हुई, छिपी हुई
दिल की धड़कन हो जैसे
कोई गुप्त कम्पन ।
और वासना के भूखे मेरे आलिंगन
ढूंढते रहते हैं तुझे
भुजाओं की पहुँच के बीच
कदमों की दूरी में
मेरे वासना के भूखे आलिंगन ।"

(कर्तारसिंह दुग्गल)

0

"और यदि तुम कह गए कुछ सत्य तो
फिर तुम असभ्य,
समाज से अनभिज्ञ
'अनसोशल' कहाओगे ।
किन्तु, सारी जिन्दगी भूखे मरोगे,
जूतियाँ चटखाओगे ।
है अभी काफ़ी समय—
यदि चेत जाओ ।
क्या सही है इसे छोड़ो ।
जिस तरह भी बने
अपने पर मुलम्मे को चढाओ ।
ये समय की मांग है
ये नाइण्टी परसेन्ट लोगों के दिमाग़ों का निचोड़ ।"

(विनोद शर्मा)

लगता है—मानववाद की इस उप वेला में कवि को अकस्मात् ऐसी नवोन्मेष, विचित्र दृष्टि हासिल हुई है कि वह बेहद आवेश या दुर्दम्य तिक्तता में एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच गया है जो ध्वसावशेषों पर नियति का अधिनायक बनकर अपनी महत्वाकांक्षाओं का प्रासाद खड़ा करना चाहता है । नई पाबन्दियों और आचार-शिष्टता ने अच्छे-बुरे की विभेदक सीमाएँ तोड़ दी हैं । धारणा कुछ और है, कर्म कुछ और । स्थूल वास्तव की रूपान्तर प्रक्रिया ने अंतर्मन को इतनी श्रेणियों में विभक्त कर दिया है कि प्रणय तक का मर्मर संगीत अब दृश्येतर जगत् का कोमल प्रकम्पन उत्पन्न नहीं करता, वरन् पृथ्वी से सटे क्षितिज से कितने ही 'डाइमेन्शनों' में या हल्की-गाढ़ी रेखाओं में मानो घुटी-घुटी सी सिसकियाँ उभारता है । 'प्रेम की ट्रेजेडी' की कुछ पंक्तियाँ—

←▽→
(हाय !)
←△←
(नहीं चैन,
जागते ही कट गयी रैन)
→ ←
(प्रेम यानी इश्क यानी लव !)
"!"
"!!"
▽+△
....
?
(अरमानों के गाल पर चाँटा
झरबेरी का काँटा)
←?→
(मुहब्बत में घाटा !!)

(सैयद शफ़ीउद्दीन)

आवेश, आहें, एक दबी सी चीख, बीच-बीच में असह्य मौन और आँसू भरी सिसकियाँ—रात के सन्नाटे में—रेडियो-संगीत सुनकर एक दूसरे कवि को मानो कुछ और ही अहसास होता है

"मैं
सुनूँगा तेरी आवाज़
पैरती बर्फ़ की सतहों में रोशन
तीर-सी
शबनम की रातों में
तारों की छूटती
गर्म
गर्म
शमशीर सी।
तेरी आवाज़
ख्वाबों में घूमती झूमती
आहों की एक तस्वीर सी
सुनूँगा : मेरी तेरी है वह
खोई हुई

रोई हुई
एक तकदीर सी।
(पर्दों में– जल के– शान्त
झिलमिल झिलमिल
कमल दल)

रात की हँसी है
तेरे गले में
सोने में
बहुत काली सुरमयी अलकों में
साँसों में, लहरीली पलकों में •
आई तू – और किसकी ?
फिर मुस्कराई तू ।
(नींद में – खामोश – वस्ल •)"

(शमशेर बहादुर सिंह)

इसी लय पर एक और कविता—
"नहीं
मुझे कुछ भी याद नहीं
कुछ भी तो याद नहीं आता
ओठों को छू-छू कर
पलकें छा लेते हैं
वही
वही अपने कन्धों पर बिखरे
बहके बहके
रेशमी मुलायम अलकों के बादल
और उनमें
भटकती निगाहों सी
मेरी दिग्भ्रान्त उगलियाँ।"

(राजेन्द्र यादव)

प्राचीन वर्जनाओ को स्वाभाविक मन स्थिति में स्वीकार करने में आज के कवि को अनैतिकता या दुर्बलता की हिचक महसूस नही होती। चूँकि सभी पहली मान्यताओं के समक्ष गहरे प्रश्नचिन्ह लग हैं, अत अपने अधिकाश कृत्यों और उनके पक्ष में दिये गए तर्कों का वह स्वय उत्तरदायी है। बाहरी और भीतरी अव्यवस्था अथवा क्रमभग्नता के कारण एक सीमाहीन सँत्राव से घिरा अपनी बोधवृत्ति के

सन्दर्भों से वह नितान्त अलग जा पड़ा है जहाँ द्विविधा में विकल्पहीन एक अस्पष्ट कुहेलिका ने उसे दिग्भ्रमित कर दिया है।

इसका परिणाम है कि वादों का एक भीषण बवंडर उठ खड़ा हुआ है और नये-नये प्रेरणास्रोत, नए नए तौर तरीके और नई-नई मनोवृत्तियाँ काम कर रही हैं। मौजूदा जीवन संघर्ष की थकान और पस्ती ने एक विचित्र अहं और पलायनवाद जगाकर उसे ऐसा बना दिया है कि जो 'मूड' या तरंग उसमें उठती है उसी के मुताबिक *वह बाहरी तथ्यों को खोजता है और उसका उद्देश्य किन्हीं सामाजिक आग्रह या* स्थायी काव्यगत मूल्यों को आंकने का नहीं है, बल्कि सत्याभासों की आड़ में उसकी अपनी दुर्निवार अनिश्चितता, व्यंग विद्रूप, दु:ख-दैन्य, आधि व्याधि, पीड़ा घुटन, कुंठ खोजने और पाने की हविस, स्पर्द्धा का भाव और सीमाएँ तोड़कर आगे बढ़ने की प्रवृत्ति, वैयक्तिक और एकान्तिक अंगीकरण, एन्द्रिय तुष्टि के निमित्त यौनवादी 'एप्रोच', सबसे बढ़कर आन्तरिक द्वन्द्व और विरोधी तत्त्वों के बीच समाधान पाने के लिए प्रतिपाद्य विषय के रेशे रेशे को उधेड़कर अत्यन्त होशियारी से तराशे हुए उपादान, साथ ही दृष्टिकोणवादी अनेकता को पचाकर अथवा प्रयोजित नवीनता से चुने गए उपकरणों को साधकर अपनी वैचारिक प्रक्रियाओं को स्वस्थ और श्रेयस्कर और दूसरे को गलत और निकम्मा साबित करने का वह प्रयत्न कर रहा है। ज्यों-ज्यों सामयिक उत्तेजना और छिछली भावुकता के कारण उसके जज़्बाती अफ़्साने 'प्रोपेगेंडा लिटरेचर' बनते जा रहे हैं, अपने ढंग से इस्तेमाल करने के उसे कितने ही 'गुर' भी मालूम हो गए हैं—जो एक नये तर्ज़ और अन्दाज़ में कमाल की हद तक तो ले जाते हैं, पर बात के चटख़ारे और लहक में ही जो अपनी अहमियत खो देते हैं।

एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि ऐसी कविता ने विस्तार, गहराई और शक्ति सामर्थ्य की दृष्टि से क्या कुछ दिया, क्या कुछ सहेजा और बिखेरा। इस प्रश्न और इस जैसे अनेक प्रश्नों का उत्तर यही है कि मौजूदा कवि अपनी सविशेष कल्पना के उन्मुक्त क्षणों को कुछ शब्दों में बांधकर प्रकट करता है। वह हवा में तैरता सा है। उसमें कुछ खुशियाँ हैं तो कितनी ही ग़मियाँ और नाराज़गियाँ भी। जिसे इतिहास नहीं जगा पाया, उसे ये जगाये हुए हैं अर्थात् ये स्वयं ही अपना इतिहास हैं और इतिहासकार भी। एक ओर मूल्यों का विघटन प्रारम्भ हो गया है तो दूसरी ओर मूल्यान्वेषण का शौक चर्राया है। ऐसी कविता की टेक्नीक और शैली शिल्प अलग है, पर उसमें क्रमभंग एवं असंगत तत्त्वों को दर्शाने की अजीब शक्ति है। कारण—उसकी वैचारिकता अधिक अर्थविस्तारों वाली होती है, उसने कितनी ही युगीन स्थितियों और स्तरों को बिना रुके बहुत थोड़े समय में पार किया है। नई और पुरानी परम्पराओं से टक्कर लेकर आज के वैज्ञानिक विकास और चमत्कारों के बीच वह खुद भी वर्णसंकर तत्त्वों को बटोर कर बेहूद चटख और मनमौजी हो गई है जिस पर किसी भी प्रकार का लेबल नहीं लगाया जा सकता। सही तो यह है कि नया कवि अपनी अस्पष्ट भावनाओं को किसी भी रूप में प्रकट करने से नहीं कतराता। शब्द, अर्थ, रस,

ध्वनि, लय, गति, छन्द, व्याकरण और अलकार आदि काव्य के प्रचुर साधनो से तो वह नाता तोड ही चुका है, किसी विगत भाव ऐश्वर्य या कल्पना-बिम्बो में भी वह रजन नही करता है, वरन् इसके विपरीत जहाँ तहाँ अदृश्य कडियो से जुडकर युगीन यान्त्रिकता व दाम्भिक समाधान में उसकी कविता ऐसी तल्छट है जिससे लगता है— काव्य-साधना जैसे अजीब तमाशा या करतब हो, समाधानहीन समस्याओ में उलझी वह दम तोड रही हो तथा जीवन का श्रेयस्कर मरणोन्मुख पहलुओ की नोक पर व्यर्थ, बेमानी हो। इस एटम के 'स्पीड' युग में भाग-भागकर, दम फुला-फुलाकर कवि अपनी प्रतिभा को बेजान कर रहा है, उसे फुर्सत नही है, कविता का सम्मोहन अमृत न बनकर उसके लिए विष बन गया है, अत वह अपने तजुर्बो को सच्ची आतरिक प्रेरणा पर तरजीह देने लगा है, क्योकि यह सच्ची प्रेरणा एक ऐसा उद्वेग और जज-बाती जन्नत है जो इत्तफाक से क्षण भर किसी विचार पर टिकी तो एक बिम्ब छोड-कर चली गई, पर दूसरे ही क्षण कही और फिसल कर रपट गई। दरअसल, परस्पर विरोधी बिन्दुओ को जोडने में भी कोई मौलिक साम्य नही, जैसे विचारो की इकाई सर्वथा खडित हो गई हो। हवा की इस बेरुखी को या तो यह अपने से बहुत सशक्त पाता है अन्यथा वह अपनी हीनता या लघुत्व से परास्त हो जाता है। इस दुराशा में उसकी कविता इतनी बाजारू और छिछली है कि वह उसे किसी भी तरह गढ सकता है, अपनी हर बेढगी अभिव्यक्ति को कविता का जामा पहना सकता है और टूटे दिल के नगमो को कविता की हद में बाँध सकता है।

"यह ठीक नहीं कि इच्छा के खिलाफ
अधियारियों द्वारा बरते जायें
ठीक नहीं कि आकाश के नक्षत्रों के जुल्मो को
सर झुकाकर सहते जायें,
यह भी कि जिस फिज़ां में रहना नहीं चाहते
वहां मजबूरन रहते जायें !
ठीक यह कि अधियारियो, नक्षत्रों और
फिज़ाओं को प्रतिकूलताएँ हमें न छलें
ठीक यह कि इस शाम को हम
रोशनी की नई पोशाकों,
हवाओ की जुल्फो
और खिलखिलाहट के नग़मों में बदलें।"

(श्रीकान्त जोशी)

यो प्राचीन दर्शन की श्लाघा न बरतते हुए कोरा तर्क वितर्क और ऊहापोह, बल्कि कहें—कि कोई भी स्थिति और गति सापेक्ष तारतम्य पर आश्रित नहीं, द्विविधा और द्वन्द्व मानो चतुर्दिक् परिस्थितियाँ उसे घेर लेती है, अपने जाल में जकड़े है और अपनी निर्दिष्ट सीमारेखाओं में इस प्रकार बाँध लेती है कि वह यन्त्रमात्र रह जाता

है। लगता है—उसके अंतर की घुटन समूचे सेन्सरा का कत्लेआम कर बाहर फूट पड़ना चाहती है। यही कारण है कि आज का कवि दम्भी है, हिप्नोटेंट, मन से रुग्ण और सन्त्रस्त वह दूसरों को भी हिप्नोटाइज़ करना चाहता है अर्थात् उसका दिमागी कैमरा जो अक्स ग्रहण करता है वह अनुभूत या यथार्थ नहीं वरन् प्रत्याभास मात्र है अर्थात दुर्दान्त परिस्थितियाँ—विकृति और घुटन बनकर ही—आती हैं और उसके बौद्धिक दिवालियेपन को प्रतीका की बाझिलता में समोना चाहती हैं। ऊपर-नीचे, पहले-पीछे बतरतीब क्रमभंग, नितान्त विचित्र और अजीबोगरीब जिसमें कहीं न कुछ तथ्य है न रूप, न वैशिष्ट्य न नियामकता, केवल थोथे विचार मात्र हैं, उसकी कुंठाओं और रुग्ण विचारधारा के घात प्रत्याघात से उपजे शब्द और अक्षर हैं जिन्हें कविता में 'फिट' करना भी मुश्किल है जो काव्य की चिरन्तनता को क्षणिकता में समेटने का प्रयास करते हैं। प्रयोगों से टकराकर कविता के विधायक तत्व तो नष्ट हो ही गये हैं उनके आपसिक भेद प्रभेद और पृथक सत्ता का भी ठेस पहुँची है माना उसका सब कुछ खोल-खोल होकर बिखर गया है। दिशाहारा कवि सर्वथा नई लीक पकड़कर तो चलना चाहता है कुछ करिश्मा कुछ चुस्ती, कुछ अपनी करामात दिखाने की गरज़ से पर ऐसी डावाडोल मन स्थिति में—कि यह भी नहीं, वह भी नहीं कुछ भी तो ठीक नहीं, फिर है तो क्या है, किसी पर भी तो उसका मन, उसकी आस्था टिक नहीं पाती।

> "क्या यही हूँ मैं
> अंधेरे में किसी संकेत को पहचानता सा ?
> चेतना के पूर्व सम्बन्धित किसी उद्देश्य को
> आगत किसी सम्भावना से बाँधता सा ?"

(सत्येन्द्र श्रीवास्तव)

एक दूसरे कवि के शब्दों में—

> 'हम सरोवर हैं
> नहीं हैं धार
> अब नहीं हममें तरंगित गान
> और बन्धन की व्यथा में खोगया अभिमान।"

(भारतभूषण अग्रवाल)

इस सशय और अनास्था की नकारात्मक स्थिति में कैसे वे मूल्य पुनः स्थापित किये जायें जबकि उसका भीतरी विक्षोभ मात्र कुंठाओं में डूब जाता है। लगता है—कविता निरी खिलवाड़ या कलाबाज़ी अथवा इसके विपरीत झूठे समझौतों व हमारी रीती बुद्धि की अवसादपूर्ण थकान है जिसकी सचाई तो कभी की मर चुकी, केवल उसकी गूंज अनुगूंज ऊबड़खाबड़ घाटियों से टकराकर बार बार अपने को दोहरा रही है और थककर, चूर-चूर, जर्जर, नष्टप्राय, अट्टहास करती कलपती सिमटती चीख के

जगलो में जा भटकी है—

"फूल, पत्तो, अन्धडों में
ये तुम्हे भटकायेंगे, दौड़ायेंगे
छिप जायेंगे—
इनका ठिकाना क्या ?
यहाँ बैठे वहाँ गाया—
उधर जाकर छा गये ।"—

(केदारनाथ सिंह)

फलत इस धक्कापेल में कविता का सही दिशा-निर्देश असंभव सा हो गया है। उक्त प्रवृत्तियो की पृष्ठभूमि में हमें कुछ अच्छी चीजें भी मिली हैं, पर वैयक्तिक कुण्ठाओं से सृष्ट भौंडी, कुरूप, कर्कश विचारधारा और रूपशिल्प के कृत्रिम विधान ने नैसर्गिक व मुखरित भावनाओ को कुचल डाला है। टूटे, खडित स्वप्नो ने साहित्य में एक ऐसी ध्वसात्मक अराजकता उत्पन्न कर दी है जो अजगर की-सी उग्रता लिये उसके सम्पूर्ण अस्तित्व को आन्दोलित कर अपने आप में लील लेना चाहती है।

स्पष्ट है कि उक्त विडम्बना किसी भी विकसित साहित्य के जागरूक, अपराजेय मनोबल की विरोधी है। अनपेक्षित मानसिक उद्वेगो, अवान्तर स्थितियो, विकेन्द्रित प्रतीतियों और असगत अतर्विरोधो ने हमारी सकल्पशील सृजन की गरिमा को छीन लिया है। सर्वांगीण अन्तर्बोध के सर्वोन्मुखी बहुविध तत्त्वों को अतिशय जडता और अनिश्चय की कारा में बन्दी बना लिया गया है। या कहें कि कविता इस वक्त एक ऐसी डगमग दिशाहारी नौका बन गई है जिसमें पाल नही, चप्पू नहीं, अगल-बगल घाट या ठहराव की जगह नही, वरन् निरुद्देश्य भटकते उसके सम्मुख एक ऐसा अकल्पित प्रसार है जिसका ओर-छोर दिखाई नही पडता, ऊपर अनगिन छायाएँ कालरात्रि सी उस पर मँडरा रही हैं, पर जैसा कि रूसी नेता स्तालिन ने कहा है 'साहित्यकार आत्मा का इजीनियर है।' वह कभी भी डूबते को सहारा देकर उसे सुरक्षित बना सकता है, धारा-प्रवाह के वेग से अथवा उच्छल तरगो से भागकर नहीं, बल्कि उसमें बहते हुए उन्हें चीरकर, उनकी प्रबलता को मुट्ठी में बाँधकर, अपनी पदचाप से उसके विशाल वक्ष को नापकर रास्ता बना सकता है।

समय की सीमाहीनता यदि कहती है कि वह बँधी नही है, वह गति की ओर अनुधावित है तो लेखक भी बँधा नहीं है, वह अलक्ष्य की ओर बढना जानता है। अपनी उद्दाम कल्पनाओ के आँवे में प्राचीन को गला घुलाकर वह नित-नई योजनाओ के रूपाकारो को टाला करता है। उसकी जीवन की जटिलता में अतीत की परिणति है तो भविष्य के सूत्र भी गुँथे हैं। इन सूत्रो के आधार पर ही उसकी अतर्हित सृजन-शक्ति को पहचाना जा सकता है।

अतएव, जो सच्चे साधनानिष्ठ हैं—वे साधारण परिस्थितियो से सदा ऊपर उठे रहते हैं। उनका उद्देश्य क्षुद्र घृणा-द्वेष और छिछली भावनाओं का प्रचार-प्रसार नही है।

इसके विपरीत उनकी दृष्टि भीतरी स्तर को भेदती है, साथ ही वैयक्तिक अनुभूतियों को सामूहिक मान्यताओं में आत्मसात् करके अपनी विशिष्ट चिन्तना एवं चैतन्य जागरूकता द्वारा वे सहज परिस्थितियों में हड़कम्प-सा तो मचा देते हैं, पर मर्यादित पृथक् पथ खोजते हैं।

स्रष्टा की वाणी में युगानुरूप विश्वात्मा के प्रतिरूप और अन्तर्दृष्टि की दुर्जेय शक्ति निवास करती है। उन मिथ्या दर्प-दम्भ और परस्पर तिरस्कृत-बहिष्कृत करने की भावना का परित्याग करके दिमाग के दरवाज़े खुले रखने चाहिए। जगत् और जीवन को साहित्य में रूपान्तरित करने के लिए सृजन के उन स्थायी और सार्वजनीन तत्वों को अपनाना चाहिए जो मानवीय उदात्त कल्पना को वाणी की अखण्ड पूर्णता में परिणत कर सकें।

आज की उलझन और कशमकश में एक प्रकार की चुनौती है। हमें अपने परिचित पथ को, गति को बदलकर चलना है। साहित्य के पोषक तत्वों को लेकर एक ऐसे तीसरे साहित्य की सृष्टि करनी है जो प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति, प्रत्येक युग की धरोहर हो और एक अखण्ड इकाई के रूप में हमारी चेतना को उद्बुद्ध और कल्पना-शक्ति को परिपुष्ट कर हमें अबाध रूप से आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान करे।

३

नई कहानी

कहानी जीवन के श्रेय और हेय सभी तत्वो को भीतर समेटे हुए मनुष्य की रागात्मक वृत्तियो को उद्भावित करती है। कहानी का सत्य जीवन के सत्य से भिन्न नहीं है, वरन् एक के बिना दूसरे का अस्तित्व वाछनीय नहीं। अतएव मानव के सम्पूर्ण क्रिया कलाप एव उसकी अशेष चित्तवृत्तियो के भीतर मचलनेवाला गूढतम अन्तर्भावो का आलोडन ही कहानी का प्राण है।

कहानी कैसी हो ?—इस सम्बन्ध में भिन्न भिन्न मत है। कुछ विद्वानो के मतानुसार कहानी जीवन की प्रतिरूप होनी चाहिए अर्थात् विभिन्न जीवन प्रसगो को प्रभावोत्पादक रूप में प्रस्तुत करना ही कहानी शिल्प अथवा उसकी टेकनीक की विशेषता है, किन्तु इसके विपरीत कुछ लोग कहानी में रोचक, आकर्षक तत्वो को अधिक महत्त्व देते है। वस्तुत मनोरजक कहानियो की माँग हमेशा से बहुत अधिक रही है और इससे सैकडो, हजारो व्यक्तियो के मन की परितृप्ति होती है, किन्तु कहानी में मनोरजन की स्वाभाविक प्रक्रिया के साथ-साथ कथानक, चरित्र चित्रण, वार्त्तालाप, सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, प्रसगानुकूल वाक्यो और शब्दो का प्रयोग, भाषा और शैली, घटनाओ की सुव्यवस्थित सयोजना और रचना सगठन पर भी ध्यान केन्द्रित होना चाहिए। कहानी सदैव जीवन के व्यापक अर्थ को व्यजित करने वाली हो, साथ ही उसकी प्रमुख घटनाओ, कथानक और चरित्र की व्याख्या को इस प्रकार जीवन से सश्लिष्ट कर देना चाहिए कि कहानी की नाटकीयता का पाठक पर ईप्सित प्रभाव पड़े।

कुछ नये उत्साही लेखक कहानी लिखने की तीव्र इच्छा रखते हुए भी इस बात से अनभिज्ञ होते है कि कहानी कैसे शुरू की जाय। प्रचारात्मक दृष्टिकोण प्रारम्भ में ही अपना लेने के कारण उनकी दृष्टि सकुचित हो जाती है जो जीवन के मर्म में पैठ नही पाती। यद्यपि प्रचारात्मक दृष्टिकोण भी उपेक्षणीय नहीं, इससे व्यावहारिक ज्ञान बढता है, तथापि तथ्य-सचयन और बाह्य आवश्यकताओ की पूर्ति भी मानवीय मनोवेगों की पूर्ण सगति के साथ रूपायित कर देनी चाहिए। एक सफल कलाकार जीवन की गहराइयो में पैठकर तत्सम्बन्धी वास्तविकताओं, परि-

स्थितिजन्य वैविध्य एव निगूढ मनोगतियो का उद्घाटन करता हुआ कहानी के उन नैसर्गिक गुणो की ओर आकृष्ट होता है जो उसकी आतरिक शक्ति को उद्बुद्ध करते हैं। सर वाल्टर बेसेंट ने कहानी की व्याख्या करते हुए उसकी उपयोगी मान्यताओ का सफल आकलन किया है।

"कहानी कला में वर्णन-पटुता सचाई, विश्वास, सूक्ष्म पर्यवेक्षण-क्षमता, तटस्थ दृष्टिकोण, वस्तु-चयन, सुलझे विचारो की प्रस्तुति, चारित्रिक विशेषताओ का उद्घाटन, रचना प्रणाली की चारुता और कहानीकार का उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिये जो पाठक के हृदय मे जीवन्त विश्वास और अन्तर्जिज्ञासा जगा सके तथा उसकी रागात्मक वृत्ति एव भावुक अन्त प्रकृति को एक व्यापक सवेदना से भर दे।"

उपन्यास और कहानी मे अन्तर

कुछ लोग कहानी और उपन्यास में बहुत थोड़ा भेद मानते है, प्रत्युत् यों कहें कि कहानी को उपन्यास का ही छोटा रूप समझते हैं। कहानी और उपन्यास इसलिए भी एक दूसरे के साथ गुँथ गये है, क्योकि बहुत से उपन्यासकार उतनी ही खूबी से कहानी-साहित्य का भी सृजन करते है (यद्यपि कई बार खूबी से नही)। प्राय कहानी लेखक—अनुभव और परिपक्वता पाकर—कहानीकार से उपन्यासकार में परिणत हो गये है, किन्तु इसका प्रमुख कारण है कहानी के विधायक तत्त्वो से उनका गहरा लगाव—जो आत्मविश्वास जगाता है और उपन्यास के विस्तृत 'कैन्वस' पर चित्रण करने की सूक्ष्म प्रतिभा प्रदान करता है।

कुशल लेखक भले ही उपन्यास और कहानी की विभेदक सीमा को पाटने की क्षमता रखता हो, किन्तु नए कहानीकार को दोनो की पृथक् पृथक् टेक्नीक को हृदयगम कर लेना चाहिए।

(१) उपन्यास और कहानी का मुख्य भेद विस्तार और सीमा का है। उपन्यास का विस्तृत चित्रपट मानव जीवन की विविध परिस्थितियो एव समस्याओ का लेखा लिये होता है, किन्तु कहानी की सकीर्ण परिधि म मानव-जीवन के किसी एक अश या पहलू पर ही प्रकाश डाला जा सकता है। एक खास घटना, जीवन की कोई स्थिति-विशेष अथवा किसी केन्द्रीय भावना को लेकर कहानी लिखी जाती है। उसमें अनावश्यक प्रसग, विरोधी वृत्तियाँ, मुख्य ध्येय के विपरीत एक जीवन से टक्कर लेने वाले दूसरे प्रतिरोधी जीवन के तथ्य नही रखे जा सकते। कथा, परिस्थिति और घटनाओ का तारतम्य एक ही केन्द्रबिन्दु की ओर अनुधावित होता है। उदाहरणार्थ —प्रेमचन्द की 'प्रेरणा' कहानी को लिया जा सकता है।

सूर्यप्रकाश नामक विद्यार्थी अत्यन्त शैतान और शरारती है। उसकी विचित्र कपट-क्रीडा, ऊधम और षड्यन्त्रो से समस्त विद्यार्थी और शिक्षक सत्रस्त रहते है। उसका अपनी क्लास का प्रोफेसर सबसे अधिक परेशान है, किन्तु दैवयोग से उसकी बदली हो जाती है। विदा के क्षणो में शिक्षक और शिक्षार्थी दोनो में ही सुप्त स्नेह

उमड पडता है। शैतान सूर्यप्रकाश के हृदय में पश्चात्ताप का अकुर जमता है और उसकी आँखो में अश्रु-बिन्दु छलक आते है। लेखक पश्चात्ताप को केन्द्रबिन्दु बना कर ही कहानी का क्रमिक विकास दर्शाता है। प्रोफेसर का त्यागपत्र, गाँव मे एकान्तवास, अकस्मात् डिप्टी कमिश्नर के रूप मे सूर्यप्रकाश स भेंट, उसकी बदली हुई जीवन-परिस्थितियो के विश्लेषण से कि कैसे ममेरे भाई की सगति से उसकी सर्वथा कायापलट, हो गई आदि बातो से मुख्य ध्येय पर प्रकाश पडता है। सूर्यप्रकाश के स्वभाव में परिवर्तन और उसकी आदतो में सुधार—इस प्रकार एक व्यक्ति-विशेष के जीवन में न जाने कितने ही प्रश्नचिह्न सहसा उद्घाटित होने है।

कहने की आवश्यकता नही कि कोई एक केन्द्रीय घटना अथवा परिस्थिति-जन्य द्वन्द्वो की कचोट से ही छोटी कहानी को सफल बनाया जा सकता है। कचोट और तीव्रता नष्ट होते ही कहानी समाप्त हो जाती है। ऐसी कहानियो में घटनाओ का सयोजन इस प्रकार होता है कि चरम स्थिति पर पहुँच कर ही अन्त में उसका प्रभाव पडता है।

एक दूसरी छोटी अग्रेजी कहानी में जिसमें प्लॉट की अपेक्षा चरित्र-चित्रण की विशेषता है, एक ऐसे व्यक्ति का बडा ही अनूठा शब्द चित्र अकित किया गया है जो युद्ध में अन्धा होकर निराश और दुखी अपने पैदायशी ग्राम में लौटता है। वहाँ मार्ग में भटकते हुए उसकी वृद्ध कर्नल से भेंट होती है जो हाथ पकड कर उसका पथ-प्रदर्शन करता है। जिन वस्तुआ को देखने में वह अक्षम है उनका रोचक वर्णन करके कर्नल उसके निराश और विपन्न हृदय में प्रेरणा और प्रोत्साहन भरता है। साथी के मधुर शब्द शक्तिवर्द्धक टॉनिक की भाँति उसमें आश्चर्यजनक स्फूर्ति भर देते हैं। उसकी प्रसन्न मुद्रा और चहकती बातो को सुन कर उस अन्धे सैनिक के विचार और दृष्टिकोणो में परिवर्तन हो जाता है। वृद्ध कर्नल के विदा होते ही वह आत्मतोष और शान्ति का अनुभव करता हुआ चुपचाप बैठ जाता है। तभी उसकी उस लडकी से भेंट होती है जो इस दुरवस्था में भी उसकी सहायिका रही है। वह उसे बताती है कि वृद्ध कर्नल भी उसी की भाँति बिल्कुल अन्धा और असहाय है। जैसा कि स्पष्ट है इस कहानी का निष्कर्ष चरम स्थिति पर पहुँच कर ही प्रकट होना चाहिए था। बीच में ही उसको उद्घाटित करना समयोचित और प्रभावोत्पादक न होता। 'क्लाइमैक्स' पर पहुँच कर तीव्रतम स्थिति के साथ ही-साथ कहानी का अन्त भी वाछनीय होना चाहिए।

२. कहानी में दूसरी विचारणीय बात उसके आकार की है। कहानी कितनी बडी हो—इस पर अन्तिम रूप से निर्णय देना कठिन ही नही असम्भव है। कुछ कहानियाँ इतनी बडी लिखी गई है जिन्हें हम आसानी से छोटा उपन्यास ही कह सकते है। प्राय सभी विज्ञ सम्पादको के मतानुसार कहानी की सीमा ३००० से ४००० शब्दो तक की अधिक सुविधाजनक है, यो बहुत सी कहानियाँ ढाई सौ से आठ हजार शब्द तक की भी मिलती है। वस्तुत कहानी और उपन्यास में अन्तर

केवल आकार का ही नही, वरन् रचना प्रणाली और उद्देश्य का भी है।

३ कहानी के मूलत निर्माणक तत्त्व उपन्यास की अपेक्षा साधारण हैं। आधारभूत केन्द्रीय भावना के अतिरिक्त अनावश्यक प्रसग, एक से अधिक तथ्यो की चर्चा तथा ऐसे पात्रो का चित्रण जो कहानी की एकसूत्रता और प्रमुख उद्देश्य पर व्याघात पहुँचाते हैं—छोटी कहानी मे बहुत कम गुजाइश रखते है। एडगर एलन पो ने कहानी में एक भी फालतू शब्द और वाक्य का घोर निषेध किया था। बाद में हडसन ने भी सक्षिप्तता पर जोर देते हुए यही बात दोहरायी। मौजूदा आलोचकों के मत से प्रभाव-ऐक्य और स्वत पूर्ण रचना होने के कारण कहानी का छोटा होना अनिवार्य है। ज्ञात एव अज्ञात रूप से लेखक द्वारा प्रत्येक वाक्य का परीक्षण होना चाहिए, वडी बारीकी और बुद्धिमानी से यह जानने के लिए—कि वह कहानी के विकास में कहाँ तक सहायक है। नए कहानी- लेखको में ऐसी कुछ अजीब आदतें *होती है कि वे जो कुछ एक बार लिख लेते है उसे फिर निकालना नही चाहते,* विशेषकर जब उन्हें कोई शब्द अथवा मुहावरा रुच जाए। यह बुरी आदत है और इसका दृढता से बहिष्कार होना चाहिए। कहानी लिखते हुए प्रत्येक वाक्य की समाप्ति पर गम्भीरतापूर्वक मनन करके यह निर्णय कर लेना चाहिए—कि क्या वह कहानी के लिए आवश्यक है? कथावस्तु अथवा ईप्सित प्रभाव की वह मदद तो कर रहा है? यदि कोई वाक्य व्यर्थ हो और प्रस्तुत विषय से उसका सीधा सम्बन्ध न हो तो उसका हटा देना ही श्रेयस्कर है।

४ इसके अतिरिक्त कहानी का एक और विशिष्ट एव अत्यावश्यक गुण है जिसको अनुभवी लेखक तो जाने-अनजाने भाँप ही लेते है, किन्तु नये लेखको को समझने में कठिनाई होती है।

यहाँ यह लिखना अप्रासगिक नही कि कहानी के सभी परिपोषक अतरग तत्त्वो में जीवन का खुला निर्बाध चित्रण होता है। कहानीकार भौतिक तत्त्वो मे पराड्मुख *होकर कभी भीतर की ओर अपनी शक्ति केन्द्रित करता है और कभी कल्पना से* प्रसूत सामान्य राग वाले क्रियाकलापो और विस्तृत सदर्भो का मार्मिक अकन करता हुआ जीवन की सश्लेषणात्मक प्रक्रियाओ की व्याख्या में प्रवृत्त होता है। जब हम कोई कहानी पढते हैं तो हमें लगता है कि विश्वजनीन तत्त्वो से परे कहानी का सम्बन्ध सर्वसाधारण की चित्तवृत्ति और वातावरण से अधिक है, जिससे प्रभावित होकर लेखक ने उसका निर्माण किया है। हम बिल्कुल दूसरी दुनिया में पहुँच जाते हैं। कथा-सम्राट् प्रेमचन्द ने कहानी का विवेचन करते हुए लिखा है, "साहित्य में कहानी का स्थान इसीलिये ऊँचा है कि वह एक क्षण में ही, बिना किसी घुमाव-फिराव के, आत्मा के किसी न किसी भाव को प्रकट कर देती है, आत्मज्योति की आंशिक झलक दिखा देती है और चाहे थोडी मात्रा में ही क्यो न हो, वह हमारे परिचय का, दूसरो में अपने को देखने का, दूसरे के हर्ष या शोक को अपना बना लेने का क्षेत्र बढा देती है।"

जीवन के अनन्त प्रवाह एव अतर्संघर्षो में झाँककर देखने की आकाक्षा मानव-स्वभाव है। गहरे और प्रखर मनोभाव, जिन्दगी की ऊँच-नीच और गहराइयो में पैठ कर मानवीय दुर्बलताओं और उसकी सशक्त चेष्टाओ को अवगत करना, सत् और असत् के सघर्ष, मनोरजक अथवा हृदय को हिला देने वाले सूक्ष्म रहस्यो के गूढ आशय को समझने का प्रयत्न करना तथा ऐसे अनगिन दृश्यो, दशाओ और मार्मिक पहलुओ को हृदय मे उतार लेना मानव की सहजात वृत्ति है—जो विषय विस्तार में झाँकने की नित्य प्रेरणा प्रदान करती है। जब कोई अनुभूति किसी स्मृति से जुड जाती है अथवा भीतर सचित सस्कारो के समानान्तर हमारे राग-विराग से जा टकराती है तो आलोडन उत्पन्न होता है और वे ही राग विराग कला की सृष्टि करते हैं। कभी-कभी कहानियों को पढ कर लगता है कि जैसे हम किन्ही सच्ची घटनाओं में से गुजर रहे है। जीवन के अगणित दृश्य-चित्र, अतीत की भूली-बिसरी बातें, कब की, कहाँ की सुनी-देखी घटनाएँ कहानियो को पढते हुए अनायास ही मानस-पटल पर कौंध जाती हैं। कभी-कभी तो यथार्थ जीवन की घटनाओ से भी अधिक कहानियाँ हमारे हृदय पर प्रभाव डालती हैं। इसका कारण है कि कुछ कहानीकार जीवन के यथार्थ और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को इस स्वाभाविकता से कहानी में चित्रित करते हैं कि पाठक के सूक्ष्म मनोभाव उसमे केन्द्रित होकर सुख-दु ख का अनुभव करते हैं। प्रेमचन्द के शब्दो में—"कहानी जीवन का यथार्थ चित्र है। यथार्थ जीवन का चित्र तो मनुष्य स्वय हो सकता है, मगर कहानी के पात्रों के सुख-दु ख से हम जितना प्रभावित होते हैं उतना यथार्थ जीवन से नही होते—जब तक कि वह निजत्व की परिधि में न आ जाय। कहानियो मे पात्रो से हमें एक ही दो मिनट के परिचय में निजत्व हो जाता है और हम उनके साथ हँसने और रोने लगते हैं। उनका हर्ष और विषाद हमारा अपना हर्ष और विषाद हो जाता है, इतना ही नही बल्कि कहानी पढकर वे लोग भी रोते या हँसते देखे जाते हैं जिन पर साधारणत सुख-दु ख का कोई असर नही पडता। जिनकी आँखें श्मशान या कब्रिस्तान में भी सजल नही होती, वे लोग भी उपन्यास-कहानी के मर्मस्पर्शी स्थलों पर पहुँच कर रोने लगते हैं।

शायद इसका यह कारण भी हो कि स्थूल प्राणी सूक्ष्म मन के उतने समीप नही पहुँच सकते जितने कि कथा के सूक्ष्म चरित्र के। कथा के चरित्रो और मन के बीच में जडता का वह पर्दा नही होता जो एक मनुष्य के हृदय को दूसरे मनुष्य के हृदय से दूर रखता है। और अगर हम यथार्थ को हू-ब-हू खींचकर रख दें तो उसमें कला कहाँ है? कला केवल यथार्थ की नकल का नाम नही है।"

जहाँ तक कथाशिल्प और जीवन की विकसित चेतना का प्रश्न है, वहाँ भोंडी अनुकृति नही वरन् स्पष्ट दृष्टिकोण और सूझबूझ चाहिए। शिल्प और भौतिक प्रतिमानो में रूपगत समानता की अपेक्षा प्रकृतिगत समानता का विशेष महत्त्व है।

'सादृश्य' या 'प्रतिरूपता' किसी भी कहानी की जिन्दा शहादत तो है ही, जीवन और कथाकार के सम्बन्ध-सूत्र को परिपक्व करने का ठोस आधार भी है। कथाकार अपने शिल्प की प्राणात्मा का सस्कर्ता तभी बन सकता है जबकि उसकी अंत प्रकृति में पैठे और सामान्य जीवन के अनुरूप दृढ निष्ठा के साथ उसे मानवीय संवेदना से आपूरित कर दे। कारण—कहानी अंतरात्मा की वह मुखरता है जिसमें कथाकार के अर्जित संस्कार प्रतिफलित होते हैं। वह उन्ही रूप-व्यापारो और जीवन व्यापारो की प्रभावात्मकता में पैठता है जो उसकी कल्पना को प्रेरित करते या उससे तादात्म्य स्थापित करते है। उसकी रुचि और कार्यान्वय में भेद हो सकता है, पर प्रभाव या संवेदना की इकाई बरतने के लिए उसमें तादृश सजीवता और चमत्कार तो अपेक्षित है ही। महान् कथाकार का जीवन महान् घटनाओं से ही नहीं, बल्कि अदना से अदना व्यक्तियों और जीवन-प्रसंगो से जुड़ा होता है। मनोवैज्ञानिक रूप में वह प्रत्यक्ष उसकी कल्पना में मूर्तिमान् हो जाता है अर्थात् उससे तद्रूप हो वह निजी अनुभूतियो को तो प्रकट करता ही है, अपनी मौलिक प्रतिभा के योग से नये चरित्रो को भी जन्म देता है। कहानी तो सभी कह सकते हैं—चाहे कोई अनपढ हो या विद्वान्। मगर कल्पना से सिरजे इन रूपाकारो में वह कितनी सूक्ष्म और गहरी रेखाएँ आँक सका है जो उसकी निश्छल तन्मयता या दूसरों की आत्मा को छू सकी हैं—यह देखना है। रसग्राही चेतना के तंतुओ को जाग्रत करनेवाली ईमानदार साधना ही किसी भी कृति को महत्वपूर्ण बनाने की सच्ची कसौटी है और उससे जो एकात्म्य स्थापित होता है वही वस्तुत कला की चरम अनुभूति है।

कुशल कहानीकार की खूबी है कि वह अपनी कहानी में यथार्थ की तादृश भ्रांति उत्पन्न करदे जो यथार्थ न होती हुई भी यथार्थ सी ही ज्ञात हो। इस कला में जो जितना ही पारगत होगा उतना ही वह सफल कलाकार हो सकता है।

प्लॉट

यो तो कहानी में क्रमबद्धता अथवा घटनाओ के संयोजन का कोई नियम नही है, तथापि कथा-तत्त्वो के उत्कर्ष के लिए सुन्दर प्लॉट होना आवश्यक है। प्लॉट में परिवर्तन की स्थितियां इतनी सुसंगठित होनी चाहिए कि घटनाओं का एक निश्चित क्रम हो जाए और वे अभ्यंतर के गहन, सूक्ष्म सत्यों को उद्घाटित करती हुई अपना सामूहिक प्रभाव छोड जायें।

जीवन के जिस क्षेत्र से कहानीकार अपनी कहानी का प्लॉट ले उससे उसे पूर्ण अवगत होना चाहिए। अपनी प्रखर कल्पना-शक्ति से वह ऐसे भी कितने ही दृश्यो, दशाओं और मनोभावो का प्लॉट के साथ ग्रथित कर सकता है जिसका उसने प्रत्यक्ष अनुभव न करके कल्पना द्वारा अनुमान लगाया हो। यह सत्य है कि संसार की विभिन्न वस्तुओ, प्रकृति का उन्मुक्त प्रसार और उसमें छिपे अगणित रहस्य तथा मानव जीवन के कतिपय मर्मस्पर्शी पहलू कहानी के प्लॉट और विषय बन सकते हैं,

तथापि उसमें मानवीय आत्मा की वह उदात्त चेष्टा होनी चाहिए जो कहानी को प्रभावशाली और प्रेरक शक्ति से भर दे। कुछ कहानियाँ पुराने विषयों को लेकर ही चलती रहती हैं, यथा—कौतूहल और वैचित्र्य से भरी छोटी छोटी प्रणय कथाएँ जो दुःखान्त अथवा सुखान्त होती हैं, सामान्य जीवन स्थिति के लोगों की घरेलू व्यवस्थाएँ, कल्पित और रहस्यपूर्ण किस्से, त्याग और बलिदान को दर्शाने वाले विषय, ऐसे प्लॉट जिसमें किसी दुष्ट व्यक्ति की प्रधानता रहती है अथवा किसी निष्कर्ष को लेकर चलने वाली कहानियाँ जिसमें सज्जन का उत्कर्ष और दुर्जन का अपकर्ष दिखाया जाता है आदि इस प्रकार के अहर्निश उपयोग में आने वाले साधारण और परिचित विषय भी कुशल कहानीकार की लेखनी से असाधारण और जीवन सिद्धांतो से ओतप्रोत होते हैं। नय दृष्टिकोण से लिखे हुए पुराने प्लॉट कलात्मक स्पर्श पाकर मनोज्ञ और आकर्षक तत्त्वों से युक्त, आचार की विचित्रताओं से चर्चित, व्यापक सवेदना और मानवीयता से आप्लावित, इस लोक के होते हुए भी कहीं और के, किन्हीं अन्य ही प्रकार के व्यक्तियों से भरे दीख पड़ते हैं जो पाठकों के हृदय पर अमिट प्रभाव छोड़ जाते हैं।

प्लॉट क्या है ? यह कहना अथवा इसकी ठीक-ठीक व्याख्या करना कठिन है, किन्तु हम इसे कहानी का ढाँचा कह सकते हैं। चरित्र-चित्रण, वार्त्तालाप और वर्णन की सकुलता से मुक्त वह कहानी का शरीर मात्र है। कभी-कभी प्लॉट और थीम (मन्तव्य) में भी भ्रम हो जाता है। निःसन्देह, प्लॉट शरीर है तो थीम केन्द्रस्थ आत्मा। थीम कहानी को सबल और सशक्त बनाता है।

एक मशहूर छोटी अंग्रेजी कहानी में कश्चित् दम्पति, जो अनेक आर्थिक कठिनाइयों में से गुज़र रहे हैं, अपने विवाह के प्रथम वार्षिकोत्सव पर एक दूसरे को अच्छे-से-अच्छा उपहार देने को उत्सुक हैं। वे चुपचाप बिना बताए अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु गँवाकर भी भेंट देना चाहते हैं। वह शुभ तिथि आती है और पति अपनी पत्नी के सुन्दर बालों के लिए कीमती पिन, कंघे आदि अपनी अत्यंत प्रिय घड़ी बेच कर ले आता है, किन्तु सहसा उसे यह जानकर बहुत दुःख होता है कि पत्नी ने उसकी घड़ी के खातिर सोने की चेन भेंट करने के उद्देश्य से अपने लम्बे, लहराते काले बाल कटवा डाले हैं।

उपर्युक्त कहानी के प्लॉट में केन्द्रस्थ विषय भेंट की करुण परिणति है जो कहानी को सशक्त बनाती है।

प्लॉट और थीम में पर्याप्त अन्तर है। थीम में साधारणतः एक ही विषय की प्रमुखता रहती है, प्लॉट परोक्ष-अपरोक्ष रूप से अनेक छोटी-मोटी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। थीम एकदम लेखक के मस्तिष्क में कौंध जाता है, जब कि प्लॉट की रूपरेखा शनैः-शनैः तैयार की जाती है। जैसी कि कुछ लोगों की धारणा है सामान्य घटनाओं का वर्णन मात्र ही प्लॉट नहीं है। प्लॉट का सर्वांग गठन इस प्रकार होना चाहिए कि उसका यदि कोई अंश निकाल दिया जाय तो वह अपंग न हो। ऐसा

निर्माण कौशल कहानी को असाधारण बना देगा, यद्यपि ऐसी श्रेष्ठ कहानियाँ विश्व-साहित्य में बहुत कम मिलती हैं।

प्लॉट ढूंढने के लिए कहानीकार के सम्मुख समग्र मानव-जीवन बिखरा रहना चाहिए, यों ऐसा सम्भव नहीं है कि उसके सभी विभिन्न पहलू समान रूप से मूल्यवान् समझे जायें। नए लेखकों को कुछ उत्कृष्ट कहानियों के प्लॉट हृदयगम कर लेने चाहिए। जो कोई अच्छी कहानी उसकी नजरों से गुज़रे उसके प्रतिपाद्य विषय का मूल्य आंकने के लिये उससे उद्भूत रागात्मक तत्वों की शक्तिमत्ता पर ध्यान केन्द्रित करते हुए उसे उसके गुण दोषों का संक्षिप्त विवेचन किसी कापी में नोट कर लेना चाहिए। इस प्रकार तीस-चालीस अच्छे प्लॉट लिख लेने पर कहानी लिखने की कला उत्तरोत्तर विकसित होती जाती है।

सर वाल्टर बेसेंट के अनुसार अच्छे प्लॉट ढूंढने के लिए 'कहानीकार को अपनी सामग्री आले पर रखी हुई पुस्तकों से नहीं, उन मनुष्यों के जीवन से लेनी चाहिए जो उसे नित्य ही चारों तरफ मिलते रहते हैं।' ऐसा कौन है जिनके पास कुछ कहने सुनने को न हो। किसी के भीतर रज-गम है तो किसी के पास खुशी भरी अनुभूतियाँ हैं। कोई निराश प्रेम में तड़पा है तो किसी ने प्यार की रंगरेलियाँ मनाई हैं। ज़रा छेड़िये तो किसी के दिल के तार, फिर वह अपनी कितनी कितनी दास्ताँ सुनाने को बेताब हो जाता है। जीवन में घटित होने वाली छोटी-छोटी घटनाएँ, समाचार-पत्रों में पढ़ी हुई खबरें, स्टेशनों, गलियों, व्यस्त सड़कों, अदालतों और इतस्तत बिखरे अगणित दृश्यों को देखकर कहानी लिखने की प्रेरणा मिलती है। मान लीजिए हम किसी अखबार में हड़ताल की खबर पढ़ते हैं, अचानक मनन करते-करते हमारी आंखों के सामने एक चित्र खिंच जाता है। मेहनतकश मजदूर वर्ग की दर्दनाक जीवन-स्थितियाँ, स्त्री-पुरुषों और बच्चों की दुरवस्था, पग-पग पर उच्च वर्ग द्वारा उनकी भर्त्सना, तिरस्कार और अवहेलना आदि दृश्य एक के बाद एक दृष्टि पथ के समक्ष बिछ जाते हैं। तत्क्षण हमारा ध्यान खिंच कर किसी प्लॉट पर केन्द्रित हो जाता है और हम उससे भिन्न किसी और ही असाधारण कहानी का ढांचा तैयार कर सकते हैं। यथा—

एक बिजली-कम्पनी में काम करने वाले व्यक्ति का बच्चा सख्त बीमार है। चिन्तित, परेशान माता-पिता को डाक्टर बताता है कि अभी तीन दिन तक कोई खतरा नहीं है। पिता निश्चिंत होकर लेबर यूनियन की मीटिंग में सम्मिलित होने के लिये चला जाता है, किन्तु उसी रात्रि को अचानक बच्चे की स्थिति बिगड़ जाती है। वही डाक्टर बुलाया जाता है। वह माँ को आश्वस्त करता है कि कोई भय नहीं, केवल एक छोटा-सा आपरेशन बच्चे की स्थिति में परिवर्त्तन ला देगा। तत्पश्चात् डाक्टर बिजली के बल्ब के प्रकाश में बच्चे के ऊपर झुकता है और औज़ार से घाव का चिह्न बनाता है। समीप ही बच्चे की माँ चिंतातुर खड़ी है। किन्तु पलक झांपते ही भीषण अन्धकार ! मकान की सारी बिजलियाँ एकदम बुझ जाती हैं। 'ओह ! आप

यह क्या कर रही है ?' डाक्टर चीखता है। अधरे को चीरता हुआ करुण स्वर सुन पड़ता है 'बिजली मैंने नही बुझाई।' सब पागल से स्विच खटखटाते हैं, किन्तु व्यर्थ ! चारो ओर अधकार-ही-अधकार, कुछ सूझ नही पड़ता। बड़ी कठिनाई से एक मोमबत्ती मिलती है, लेकिन इतनी देर बाद कोई लाभ नही, बच्चे की मृत्यु हो जाती है। तभी द्वार पर धम-धम होती है और किसी के भारी जूतो की आवाज नजदीक आती हुई सुन पड़ती है। किवाड़ खुलता है। मृत बालक का पिता विजयोल्लास से मुस्कराता हुआ सामने आता है। 'हमारी जीत हुई,' वह जोर से चिल्लाता है, 'आज रात नगर में एक भी बत्ती नही जल रही है।'

इस प्रकार छोटी-छोटी घटनाओं से उत्कृष्ट प्लॉट गढ़ने की प्रेरणा मिलती है। एक किस्सा दूसरे किस्से को जन्म देता है, शनै-शनै प्लॉट ढूँढना एक मनोरजक मस्तिष्कीय व्यायाम बन जाता है और अभ्यास हो जाने पर हमारी दृष्टि अपने मतलब की बात टटोल लेती है। कल्पना के योग से मानसिक शक्ति का वर्द्धन होता है और हमारी बुद्धि उत्तरोत्तर तीव्र और सवेदनशील होती जाती है।

हेनरी जेम्स ने लिखा है, 'यदि किसी लेखक की बुद्धि कल्पना-कुशल है तो वह सूक्ष्मतम भावो के योग से जीवन को व्यक्त कर देती है, वह वायु के स्पदन को भी जीवन प्रदान कर सकती है।' परिश्रम और साधना सफलता का द्योतक है। प्लॉट उल्कापात के सदृश आकाश से हमारे मस्तिष्क में नही उतरते और न ही वे लेखक--जो कलम से जमीन खोदते हुए सिर पर हाथ रखे बैठे रहते हैं--उसे पाने के अधिकारी होते हैं, वरन् दृश्य-जगत् में चारो ओर इधर-उधर घटनाएँ बिखरी हुई है। जो चाहें उनमें से महत्त्वपूर्ण चीजें बटोर सकते है।

चरित्र-चित्रण

प्लॉट के बाद कहानियों में पात्रों का मनोवैज्ञानिक, सूक्ष्म विश्लेषण अपेक्षित है। कही-कही तो वह प्लॉट से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। मानवीय सवेदना की सर्वांगीण व्याख्या के लिये पात्रो के भाव, विचार और प्रवृत्तियो का सूक्ष्म विवेचन, साथ ही उनकी विचार-प्रक्रिया और मनोरागो की निरपेक्ष अभिव्यक्ति उन्हें अशत अथवा सम्यक् रूपेण जीवन के निकट ले आती है। पाठक की दृष्टि कभी-कभी स्थूल घटनाओ की अपेक्षा पात्रों की अन्तर्वर्ती सत्ता पर आ टिकती है। वह व्यक्ति की ऐकान्तिक अन्तश्चेतना को वाह्य व्यापारो और जीवन के प्रेरक, विधायक तत्त्वों में आरोपित करके बहुत कुछ देखने-समझने की चेष्टा करता है। अतएव कुशल कहानीकार को चाहिये कि वह अपने पात्रों में जीवन-तत्त्वो का ऐसा चेतन संघटन प्रस्तुत करे कि उसके पात्र जीती-जागती तस्वीर बन जायें। उनके अणु-परमाणुओ में सादे पर गहरे रगों को समाविष्ट करके वह उनमें खण्ड-चित्रो की भाँति चलचित्रात्मक प्रभाव उत्पन्न करदे, किन्तु इसके लिये उसे परिश्रमपूर्वक वैयक्तिक निरीक्षण की कला को विकसित करना होगा। जीवन की सकुलता में झाँक कर मनुष्य के विभिन्न रूपों, उनके स्वभाव, प्रवृत्ति

और विशेष गुण-दोषों को हृदयगम करना होगा। जिन कहानी-लेखकों की चरित्र-चित्रण की ओर विशेष अभिरुचि है उन्हें बिना किसी हिचकिचाहट के जन-समूह में घुसकर विभिन्न व्यक्तियों की चारित्रिक विशेषताओं का मननपूर्वक गंभीर अध्ययन करना चाहिये और उनकी वाह्य आकृति, वेष-भूषा आदि का भीतरी वृत्तियों से साम्य स्थापित करके उनकी छोटी-छोटी बातों पर गौर करना चाहिये। फिर ऐसा न हो वे अपने अनुभवों को यों ही भूल जायें या उनकी उपेक्षा कर दें। उन्हें अपनी मस्तिष्कीय प्रतिक्रिया को तत्क्षण कागज पर उतार लेना चाहिये। एकान्त में बैठकर वे मन ही मन अपने अनुभवों को एकत्र करलें और लिखते जायें। पहले वे चुपचाप अपने मित्रों और परिचितों के रेखाचित्र खीचें, फिर उन्हें बराबर पढ़ें और संशोधित करते जायें। लिखते हुए उनकी भाषा स्वस्थ, स्वाभाविक और पात्रानुरूप होनी चाहिये।

कहानी में चरित्र-चित्रण उपन्यास की अपेक्षा अधिक सुकोमल और संकेतात्मक होता है। जैसा कि सेमूर हेडन ने लिखा है—'कलम का किंचित् सा स्पर्श गहरी रेखाएँ खींच देता है। यदि वे सुसयत अथवा सुविचारित होती हैं तो वह कुशल कलाकार माना जाता है अन्यथा उसकी कला एक कलंक बन जाती है।' कला के किसी भी क्षेत्र में स्पर्श का इतना बड़ा महत्त्व नहीं है। एक रेखा यदि सगत बैठी तो दस असगत हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त लेखक की अनुभव-समष्टि कहानी की परिमित परिधि में इतनी मुकुल और घनीभूत होकर प्रकट होती है कि वह अपने पात्रों को जितना ही संवेद्य और विश्वसनीय बना सके उतना ही अच्छा है। सूक्ष्म रेखाकार अपनी शलाका से जो चमत्कार उत्पन्न करता है वही कथा-लेखक अपनी लेखनी से कर दिखाता है। रेखाकन कला रगों की सूक्ष्मता में रमती है तो कहानीकार को बुद्धि और मस्तिष्क कुरेद कर जीवन-तत्त्वों के भीतर गहरा पैठना पड़ता है।

हमारी अन्तरग वृत्तियाँ स्वभावत चैतन्य होने के कारण मानव चेतना में ही अपने अस्तित्व की जाग्रत अनुभूति पाती हैं। सर्वमान्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य की मानसिक प्रक्रिया, भिन्न-भिन्न उद्वेग, प्रच्छन्न अभिलाषाएँ और मनोवृत्तियां प्रायः बहुत कुछ एकसी हुआ करती हैं। कहानियों को पढ़ते हुए पात्रों की वृत्तियों के साथ हमारा तादात्म्य स्थापित हो जाता है और हमें लगता है जैसे वे हमारे ही अगों और परिचित हों। हम उनके सुख-दुःखों में समान रूप से भाग लेते हैं और उनके जीवन में अपने ही जीवन का प्रतिबिम्ब देखना चाहते हैं। प्रेमचन्द लिखते हैं—'साधु पिता का अपने कुव्यसनी पुत्र की दशा से दुखी होना एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। इस आवेग में पिता के मनोवेगों को चित्रित करना और तदनुकूल उसके व्यवहारों को प्रदर्शित करना कहानी को आकर्षक बना सकता है। बुरा आदमी भी बिल्कुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं देवता अवश्य छिपा होता है,—यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। उस देवता को खोलकर दिखा देना सफल आख्यायिका लेखक का काम है। विपत्ति पर विपत्ति पड़ने से मनुष्य कितना दिलेर हो जाता है—यहाँ तक कि वह बड़े से बड़े सकट का सामना करने के लिये ताल ठोंक कर तैयार हो जाता है, उसकी

समस्त दुर्बलताएँ नष्ट जाती हैं, उसके हृदय के किसी गुप्त स्थान में छिपे हुए जौहर निकल आते हैं और हमें चकित कर देते हैं, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। जीवन में ऐसी समस्याएँ नित्य ही उपस्थित होता रहता है और उन से पैदा होने वाला द्वंद्व आख्यायिका को चमका देता है। सत्यवादी पिता को मालूम होता है कि उसके पुत्र ने हत्या की है। वह उसे न्याय की वदी पर बलिदान कर दे, या अपने जीवन सिद्धान्तों की हत्या कर डाले ? कितना भीषण द्वंद्व है। पश्चात्ताप ऐसे द्वंद्वों का अक्षय स्रोत है। एक भाई ने अपने दूसरे भाई की सम्पत्ति छल-कपट से अपहरण कर ली है। उसे भिक्षा माँगते देख कर क्या छली भाई को जरा भी पश्चात्ताप न होगा ? अगर ऐसा न हो तो वह मनुष्य नहीं।'

निःसंदेह, ऐसे मनोगत भाव और द्वंद्व हमारे हृदय को छूते हैं। कहानीकार को उस द्वंद्व का गम्भीर ज्ञान अपेक्षित है। वह वार्त्तालाप, क्रिया और विभिन्न चेष्टाओं द्वारा अपने पात्रों का यथार्थ और आकर्षक चित्रण प्रस्तुत कर सकता है।

इसके अतिरिक्त कुछ स्वभावगत विशेषताओं को आरोपित करके वह अपने पात्रों की मनोवृत्तियों को भी प्रयोग में ला सकता है। हम प्राय प्रतिदिन ऐसे व्यक्तियों से मिलते हैं जिन्हें सिर खुजाने या पैर हिलाने की आदत होती है। किसी को उंगली चटकाना या सीटी बजाना बहुत भाता है। कुछ लोगों को कोई-कोई शब्द, मुहावरे और वाक्य इतने मुँह चढ़े रहते हैं कि वे बात-बात में उसका प्रयोग करते हैं। इस प्रकार कहानीकार अपने पात्रों में कुछ विशिष्ट मनोवृत्तियों को आरोपित करके उन्हें और भी सजीव एव विश्वसनीय बना सकता है।

वार्त्तालाप

मनुष्य में अपने विचारों को दूसरों के समक्ष व्यक्त करने की स्वाभाविक इच्छा होती है। वह वार्त्तालाप द्वारा अपनी और दूसरे की बात कहने-सुनने को लालायित रहता है। कहानियों के पात्र बहुधा अपनी सजग, स्पष्ट और गम्भीर बातचीत से हमारे मन में घर कर लेते हैं। उनका अपना व्यक्तित्व हमारे सम्मुख फड़क जाता है और भीतरी वृत्तियाँ सजीव होकर उभर पड़ती हैं। इससे वर्ण्य विषय तो गतिमान होता ही है, पात्रों के मनोवेगों, अभिरुचियों और उनके अन्तरंग मार्मिक स्तरों को छूने का भी सुअवसर मिल जाता है।

जिस प्रकार प्लॉट और चरित्र चित्रण प्रतिपाद्य विषय को आगे बढ़ाते हैं, उसी प्रकार वार्त्तालाप भी घटनाओं को गतिशील, वातावरण को रोचक, चरित्र-चित्रण को प्रखर और कहानी के व्याख्यात्मक तत्त्वों का निर्माण करता है। वार्त्तालाप में भी वे ही प्रसग, वे ही बातें और वे ही विचार व्यक्त करने चाहिए जो प्लॉट के विकास में सहायक हों और चरित्रों के गुप्त मनोभावों का निदर्शन करें। एक सुप्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक ने एक बार लिखा था—'किसी भी कहानी में यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि अमुक स्त्री या अमुक आदमी झगड़ालू और कर्कश है।

उसे सामने लाकर खडा कर दो और बकने-झकने दो।' इस प्रकार अनेक विशिष्ट पात्रो के वार्त्तालाप से ही उनकी मनोवृत्तियो का अध्ययन हो जाता है। क्रोध, घृणा, द्वेष, हर्ष-शोक, प्रेम-अनुराग, हँसी चुहल आदि मानव-मन के प्रच्छन्न पहलू उनकी वाणी द्वारा व्यक्त हो जाते हैं और हम उनकी व्यक्तिगत विशेषताओ को हृदयगम करने में सफल होते हैं। निम्न वार्त्तालाप में प्रेम, कर्त्तव्य और व्यथा की छटपटाहट का कैसा सुन्दर मर्मस्पर्शी चित्रण है—

"उषा के आलोक में सभा मडप दर्शकों से भर गया। बन्दी अरुण को देखते ही जनता ने रोष से हुकार करते हुए कहा—'बध करो।'

राजा ने सबसे सहमत होकर आज्ञा दी—'प्राणदण्ड'। मधूलिका बुलाई गई। वह पगली-सी आकर खडी हो गई। कोशल नरेश ने पूछा—'मधूलिका, तुझे जो पुरस्कार लेना हो, माँग।' वह चुप रही।

राजा ने कहा—'मेरी निज की जितनी खेती है मैं सब तुझे देता हूँ।' मधूलिका ने एक बार बन्दी अरुण की ओर देखा। उसने कहा— 'मुझे कुछ न चाहिए।' अरुण हँस पडा। राजा ने कहा—'नही, मै तुझे अवश्य दूँगा, माँग ले।' 'तो मुझे भी प्राणदड मिले'—कहती हुई वह बन्दी अरुण के पास जा खडी हुई।'

('पुरस्कार'—प्रसाद)

वार्त्तालाप सरल, सजीव और आकर्षक होना चाहिए, साथ ही वह ऐसा न हो जो जीवन से दूर जा पडे। श्रेष्ठ कलाकार वही है जो प्रसगानुकूल, चलित परिस्थितियो एव पात्रो के अनुरूप वार्त्तालाप प्रस्तुत करता है—हाँ, उसे यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि उसका वार्त्तालाप यथार्थ और स्वाभाविक होता हुआ भी इतना साधारण और निम्न कोटि का न हो जो गँवारू और सर्वथा कलाहीन हो जाए।

भाषा और शैली

कहानी लिखने के लिए यह आवश्यक नही कि अपनी समस्त शक्ति भाषा और शैली पर ही केन्द्रित कर दी जाय। यदि विचार-गाम्भीर्य न होगा तो भाषा और शैली की वाह्य चारुता निरर्थक है, वरन् शब्द, अलकार, उपमाओ से लदी भाषा अस्वाभाविक और दुरुह हो जायगी। कहानी-लेखक अपनी मनोवृत्तियों के अनुरूप आत्माभिव्यजन की इच्छा से प्रेरित होकर भाषा का निर्माण करता है। यदि उसकी कल्पना और कला में जीवन की व्याख्या निहित है तो उसका महत्त्व भाषा की शक्ति में केन्द्रित होकर उसके प्रभाव को द्विगुणित कर देता है। वह उसके भावो और विचारों की वाहक होकर उसके प्रतिपादन की पद्धति पर आश्रित रहती है। न केवल भाषा में उसके भाव प्रतिफलित होते हैं, प्रत्युत् भावो के अनुरूप उसकी भाषा भी इस बिन्दु से सुदूर बिन्दुओ की ओर अग्रसर होती रहती है और विषय को उपयोगी बनाती चलती है।

कोई भी दक्ष लेखक भाषा का क्रीतदास नही, वरन् भाषा ही उसकी वश-

वर्तिनी होती है। उसकी सूझ, उसकी गम्भीरता, विचार-अनुक्रम और मस्तिष्कीय उद्भावनाओं की अमिट छाप उसकी भाषा और शैली पर स्पष्ट अंकित हो जाती है। अनजाने ही वह लिखता जाता है और भाषा चुपके-चुपके उसकी सृजन-शक्ति और प्रतिभा के अनुकूल ढलती चलती है। बेकन ने लिखा है

"अच्छे लेखक अधिक नहीं पढते, अपितु जो पढते हैं उसे पचाते अधिक हैं। व्यापक अध्ययन-हृदय और मस्तिष्क में ओतप्रोत होकर–भावी साहित्य-साधना में सहायक होता है, किन्तु जिन्हें हम पढने हैं उनका अन्ध अनुवर्ती होना हमारी बौद्धिक हीनता का द्योतक है।"

लेखक इतस्तत पढकर और अध्ययन करके ही तत्कालीन विचारधारा को अपने कृतित्व में उतारता है, केवल उसका लिखने का ढग मौलिक होना चाहिए। अपनी सौंदर्य की अभिव्यक्ति को वह भाषा के औचित्य और सृजन की अदम्य शक्ति से परिपूरित कर सकता है।

कहानी के उदात्त तत्त्व

प्लॉट, चरित्र-चित्रण, वार्त्तालाप और शैली के प्रमुख अगों के अतिरिक्त कहानी में कुछ ऐसे उदात्त तत्त्व भी निहित होने चाहिए जो पाठक में सद्भाव और उदात्त विचार उत्पन्न कर दें। कहानी समाप्त करते ही वास्तविक परिस्थितियों की गहराइयो में डूबी हुई जीवन के सत्य की ऐसी जाज्वल्यमान रेखाऍ उसके समक्ष विकीर्ण हो जायें, जिसमें वह अन्त प्रेरणा की शाश्वत शक्ति को उद्बुद्ध कर सके।

कहानी मनुष्य के जीवन की व्याख्या है। उसका मूल आधार मनोविज्ञान है। वह जीवन के द्वन्द्वात्मक सत्य, मनुष्य के मन की ग्रथियो, उसके प्रच्छन्न भाव, मानसिक ऊहापोह, उलझन, अन्तर्संघर्ष एव विकारग्रस्त कल्पनाओ को मनोविश्लेषणात्मक पद्धति पर उघाड-उघाड कर दर्शाती है। जीवन-रहस्य के सहस्रो परमाणु उसकी परिधि में सिमटे रहते है, कथा-लेखक को तो उन्हें ठीक से सॅवारने-सजाने की आवश्यकता है। कहानी में निहित उदात्त विचारो से आत्मतुष्टि तो होती ही है, साथ ही जीवन के अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यो पर भी प्रकाश पडता है।

कहना न होगा—कहानी को उदात्त बनाने के लिये उसका सर्वांग गठन अनिवार्य है। जैसा उसका आरम्भ प्रभावात्मक हो वैसा ही उसका अन्त भी स्वस्थ और सुन्दर होना चाहिए। इसके अतिरिक्त कहानी में घटना-क्रम, परिस्थितियो का विश्लेषण, भाव व्यजना, उद्देश्य आदि भी ऐसा होना चाहिए जो कहानी के प्रसार-क्रम को शिथिल न होने दे।

कहानी साहित्य की आधारशिला है। उसमें सदैव से ही अतीत जीवन की झाँकी मिलती रही है, यही कारण है कि प्रत्येक देश की प्रत्येक जाति में, चाहे वह सभ्य हो या असभ्य, कहानियों का प्रचलन रहा है।

विश्वकथा-साहित्य में भारतीय-साहित्य के ऋग्वेद, उपनिषद्, सांख्य आदि

के दृष्टान्त, उपाख्यान तथा चीन में प्रस्तर खण्डो पर खुदी प्राचीन गाथाओ को छोड कर ग्रीक और लैटिन कहानियाँ ही सबसे प्राचीन मानी जाती हैं, जिन्होने सारे यूरोप में कहानी-साहित्य का सूत्रपात किया है। ईसा से चार शताब्दी पूर्व हिरोडोटस की पुस्तक में ईसप की दिलचस्प कहानियो का उल्लेख मिलता है, जो बहुत कुछ भारतीय कहानियों का किंचित् परिवर्तित रूप ही कही जा सकती हैं।

चौदहवी शताब्दी में इटली में बोकेशियो की कहानियाँ पढकर इस ओर लोगो की अत्यधिक अभिरुचि हुई। उसकी अनेक कहानियाँ फ्रैंच भाषा में अनूदित हुई और उनका इतस्तत प्रचार किया गया। शनै शनै इन्ही अनुवादो से मौलिक कहानियाँ लिखने की भी प्रेरणा प्राप्त हुई।

हमारे साहित्य में आधुनिक लघु कथाएँ लिखने की प्रथा पश्चिम से आई है, यो यह बात नही कि हमारे यहाँ अपना कथा साहित्य था ही नही। सस्कृत में हमारे प्राचीन धर्मग्रथो के रोचक आख्यानो के अतिरिक्त 'हितोपदेश', 'पचतन्त्र', कथा, सरित्सागर', बृहत्कथा मजरी' दशकुमार चरितम्', 'कादम्बरी' आदि स्वतन्त्र कथा ग्रथो की भी रचना हुई जिनका प्रभाव न केवल भारतीय भाषाओ पर ही पडा वरन मध्य एशिया के अन्य देशो की भाषाओ पर भी देखा जाता है।

हिन्दी में वर्तमान छोटी कहानी अग्रेजी से बगला और बगला से हिन्दी में आई है, वैसे यहाँ 'रानी केतकी की कहानी', 'नासिकेतोपाख्यान' आदि कुछ पुराने ढर्रे की कहानियाँ पहले से ही लिखी जाती रही है, पर उन कहानियो में और आज की कहानियो में आकाश-पाताल का अन्तर है।

चमत्कारपूर्ण, विस्मयोद्बोधक प्रणाली से किसी उपदेश विशष की योजना अथवा किसी-न किसी रूप में मजेदार किस्से-कहानी गढ़ कर पाठको का मनोरजन करना उन पुरानी कहानियो की विशषता थी। उनमें अद्भुत तत्त्व का अश अधिक और मानवीय भावनाओ का विलोडन कम था। जीवन अपनी स्थूलता म जिन तथ्यो को उभार कर रखता है उनसे परे आन्तरिक परिस्थितियो और पहलुओ की व्याख्या न की गई थी। किन्तु आज की कहानी जीवन और जीवन-मर्म की विश्लेषक है। वह महत्त्वपूर्ण समस्याओ को हल करने का एक महान् साधन बन गई है।

उन्नीसवी शताब्दी से विश्व साहित्य में कहानियो का विशेष प्रचलन हुआ है। रूस, फ्रास, इग्लैड आदि के सुप्रसिद्ध कहानी लेखक दॉस्तॉइवस्की, टालस्टाय तुर्गनेव, चेखव मैक्सिम गोर्की, वालजक, मोपासा, गाई डी० पियेरलोटी, डिकेंस, हार्डी, वल्स, किप्लिग, शार्लेट यट ब्राटी आदि ने युगान्तर उपस्थित कर दिया और इन्ही के अनुकरण पर छोटी कहानियाँ अर्थात् शॉर्ट स्टोरी' लिखी जाने लगी।

सन् १९०० में 'सरस्वती' में किशोरीलाल गोस्वामी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी 'इन्दुमती' प्रकाशित हुई। किन्तु वह भी शेक्सपीयर के नाटक 'टैम्पेस्ट' के कथानक के आधार पर लिखी गई थी। इसके बाद अनेक रूपान्तरित और अनूदित कहानियो के अलावा बग-महिला की 'दुलाई वाली' मौलिक कहानी छपी, जिसे

आधुनिक कहानी का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है। सन् १९११ में जयशंकर प्रसाद की 'ग्राम' कहानी 'इन्दु' में प्रकाशित हुई और इसके बाद काफी संख्या में कहानियाँ छपने लगी।

उन दिनो सामयिक पत्र-पत्रिकाओ में जो कहानियाँ प्रकाशित होती थी उनमें मौलिकता के चिह्न होते हुए भी प्रतिभा का विशेष चमत्कार और जीवन की मूल शाश्वत परिस्थितियों का द्वद्व न था। अधिकाश कहानियाँ दैवी घटनाओं, प्रेमाख्यानक कथानको और उपदेशात्मक चित्रण से भरी होती थी। कहानी की टेक्नीक भी विचित्र थी। वर्णनात्मक शैली में अस्वाभाविक रूप कल्पना, जिसमें विचित्र मनोरंजक घटनाओ का सकोच-विस्तार और अजीब पेंचीदा गुत्थियाँ सुलझती चलती थी, पाठको को चकाचौंध कर देती थी। उनसे बाह्य विश्व का सघात कोसो दूर था।

हिन्दी कथा-साहित्य में जब इस प्रकार की विशृंखलता और अराजकता-सी फैली थी तथा तत्कालीन उपन्यासकार और कहानी-लेखक बाह्य एव अस्वाभाविक प्रसाधनो का प्रश्रय लेकर कल्पित, कृत्रिम और कौतूहलपूर्ण ऊटपटांग किस्से-कहानियाँ गढ रहे थे उस समय प्रेमचन्द ही सर्वप्रथम व्यक्ति थे जिन्होने कहानी और उपन्यास क्षेत्र में युग प्रवर्तक का कार्य किया। मानव जीवन के सार्वजनीन चित्र प्रस्तुत करते हुए उन्ही की नित्यप्रति की अनुभूतियाँ, उन्ही के चरित्र के विविध आकर्षक पहलू, साथ ही आदर्श-अनादर्श, धर्म अधर्म, पाप-पुण्य के अन्तर्द्वन्द्व के बीच सद्वृत्तियों की विजय दिखाकर यथार्थ जीवन के तथ्यो का सत्यान्वेषण उनके कृतित्व में मिलता है। प्रेमचन्द की विशेषता है कथानक सामान्य होने हुए भी अपनी वर्णन-पटुता और रोचक शैली से उसे सजीव बना देना। वे उर्दू से हिन्दी में आए थे, अतएव उनकी भाषा में बेतकल्लुफी, लोच और स्वाभाविकता है। व्यावहारिक और मुहावरेदार शैली ने उनकी भाषा में जान फूँक दी है। ग्रामीण जीवन के चित्रण में उनकी वृत्ति असाधारण रूप से रमी है। लगता है लेखक ने देहाती जीवन के विविध दृश्याकन प्राणो के रस से सींचे हैं। 'प्रतिज्ञा', 'वरदान', 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम' 'रगभूमि', 'कर्मभूमि', 'निर्मला', 'गबन', 'कायाकल्प', 'गोदान', 'मगलसूत्र' आदि उनके प्रसिद्ध उपन्यास और 'प्रेमद्वादशी', 'प्रेमपचीसी', 'प्रेमप्रसून', 'पंचफूल' 'कफन', 'सप्तसरोज', 'नवनिधि', 'प्रेरणा', 'मानसरोवर' आदि उनके कई कहानी-सग्रह हैं।

हिंदी में प्रेमचन्द जब से कहानी-साहित्य में अवतीर्ण हुए तभी से कहानी की धारा बदली। पाश्चात्य कहानियो के सदृश ही उन्होने जीवन की यथार्थ, परोक्ष अभिव्यक्ति को कला में रूपायित किया और चेतना को व्यापक बना उसकी स्थायी भीतरी शक्तियो को पहचाना।

प्रेमचन्द की कहानियाँ महत्त्वपूर्ण जीवन विश्लेषक चित्र है, जिनमें समाज के

बूर्जुआ ढाँचे के नीचे मध्यमवर्ग निम्नवर्ग की द्वन्द्वात्मक जीवन-परिस्थितियों के छोटे छोटे करुण दृश्य अंकित किये गए हैं। बहुत ही मार्मिक, व्यंजक और हृदय को हिला देने वाले गरीबों, बेकसों, किसान और निर्धन जनता की आशा-आकांक्षाओं के डूबते उतराते में सजीव सुन्दर दृश्यचित्र हैं जो पाठकों को मुग्ध कर लेते हैं।

प्रेमचन्द के कृतित्व में जो जीवन-सम्पर्क और सहानुभूति है, कल्पना की मनोरमता के साथ-साथ मानव स्वभाव का सूक्ष्म विश्लेषण और वैचित्र्य है उसी के कारण वे उपन्यास-सम्राट् और आधुनिक हिन्दी कहानी के जन्मदाता कहे जाते हैं।

प्रेमचन्द के पश्चात् जयशंकर प्रसाद ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से हिंदी कथा-साहित्य को एक नवीन ओज और चेतना प्रदान की है। उनकी कहानियाँ सांस्कृतिक भावनाओं से युक्त मानवीय मनोभावों का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करती हैं। कभी उनकी प्रतिभा इतिहास की गौरव गरिमा में रम जाती है, कभी अतीत की रंगीनियाँ उन्हें आकृष्ट करती हैं और कभी जीवन का गम्भीरतम दृश्य कण-कण हो उनके सामने बिखर जाता है।

कथानक, टेक्नीक, कला शिल्प तीनों ही दृष्टियों से उनकी कहानियाँ उत्कृष्ट बन पड़ी हैं। उनमें रंजनकारी कल्पना और अन्तस्साधना है, जो पाठकों को विस्मित कर देती है। प्रसाद बौद्ध-संस्कृति से प्रभावित हैं, साथ ही उनमें रहस्य भावना और सश्लेषणात्मक बुद्धि भी है। कहानियों में एक संवेदनशील स्रष्टा और गम्भीर चिंतक के रूप में वे हमारे सामने आये हैं।

प्रेमचन्द और जयशंकर प्रसाद के साथ विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' और चन्द्रधर गुलेरी के नाम भी ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं। गुलेरी जी ने केवल तीन कहानियाँ 'सुखमय जीवन', 'उसने कहा था' और 'बुद्ध का काँटा'-लिखी और अमर हो गये। 'उसने कहा था' कहानी इतनी प्रसिद्ध हुई कि सभी उत्कृष्ट कहानी-संग्रहों में उद्धृत की गई। उनकी भाषा सरल, स्पष्ट और मुहावरेदार है। बीच-बीच में पंजाबी और उर्दू शब्दों के सुन्दर सम्मिश्रण और सामंजस्य से वह सहज व्यंग्यात्मक हो गई है। उनकी निर्देशक शक्ति कलापूर्ण और कहानी कहने की प्रणाली निराली है। उनकी कहानियों में सामान्य जीवन के संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण और क्रम-विकास से अद्भुत सौंदर्य की सृष्टि होती है जो हिन्दी की कहानियों में बहुत कम मिलती है।

इनकी सुप्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' में एक छोटी सी सामान्य घटना को लेकर जो अंतर्द्वन्द्व चलता है, कहानी के अन्त में उसका सम्पूर्ण चित्र सामने आ जाता है। उसके भाव गुम्फों में संवेदना की गहरी कचोट, मानसिक संवेद्य तथ्यों से उभरी स्मृति विस्मृति की अंतर्दशाओं का सूक्ष्म विश्लेषण, साथ ही कल्पना की परिष्कृति एवं अभिरुचि की पूर्ण समन्विति दृष्टिगत होती है। कहानी मर्म को छूती हुई अमिट रूप से मस्तिष्क पर छा जाती है।

कौशिक जी की कहानियाँ चरित्र प्रधान है। उनकी सर्वोत्तम कहानी 'ताई', में ताई के मन का अचानक परिवर्तन दिखाया गया है। इन्ही के समकालीन कहानी-लेखकों में विश्वम्भरनाथ जिज्जा, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, चतुरसेन शास्त्री, ज्वालादत्त शर्मा, चण्डीप्रसाद 'हृदयेश', श्री सुदर्शन, गोविन्दवल्लभ पन्त, राय कृष्णदास और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने भी वातारणप्रधान व्याख्यात्मक कहानियाँ लिखी हैं।

श्री जिज्जा ने अनेक सुन्दर कहानियाँ लिखीं, पर विषम परिस्थितियों की चोट से उनकी प्रतिभा बीच में ही मुरझा कर रह गई। राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह की कहानियों पर बगला गद्य-शैली का स्पष्ट प्रभाव है। कहानियाँ वर्णनात्मक होते हुए भी स्वानुभव और जीवन के सत्य से अनुप्राणित हैं। कुछ हास्यव्यग मिश्रित, प्राणों की पुलक, आकर्षक सरलता और खास नाज-अदाज लिये हैं। चतुरसेन शास्त्री ने कहानियाँ अधिक परिमाण में लिखी हैं। विभिन्न मानव-मनोवृत्तियों, दृश्यों और समस्याओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए उन्होंने बौद्धकालीन, मुगलकालीन और राजस्थानी जीवन-चित्रों को साकार किया है। शाही हरम और रजवाड़ों के प्रच्छन्न दृश्य उनके कलम के जादू से जीते जागते पेश हुए। 'दुखवा मैं कासो कहूँ मोरी सजनी' आदि उनकी अनेक कहानियाँ अत्यन्त प्रसिद्ध हुईं। ज्वालादत्त शर्मा ने अपनी कहानियों में जीवन के सरल, मर्मस्पर्शी चित्र आंके हैं। श्री 'हृदयेश' और सुदर्शन की कहानियाँ स्फूर्तिप्रद और लाक्षणिक सौंदर्य से पूर्ण हैं। गोविन्द वल्लभ पंत, रायकृष्णदास और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने इस प्रकार की कथानक-प्रधान कहानियाँ लिखी हैं जिनमें वातावरण का चित्रण और प्रसगों की अवतारणा स्वाभाविक ढग से होती है।

जासूसी और रहस्यपूर्ण कहानियों में गोपालराय गहमरी और दुर्गाप्रसाद खत्री द्वारा रचित कहानियाँ और हास्यरस-प्रधान में जी० पी० श्रीवास्तव की कहानियाँ उल्लेखनीय हैं। पाडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने अधिकाश प्रकृतवादी कहानियाँ लिखी, जिनमें वेश्याओं, गुण्डों, विधवाओं आदि के चित्रण के कारण सुरुचि की रक्षा नहीं हो पाई। इनकी लिखने की शैली भी विशेष व्यजक और उग्र है।

दूसरे खेवे के कहानीकारों में वृन्दावनलाल वर्मा, जैनेन्द्रकुमार, आचार्य शिवपूजन सहाय, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, विनोदशकर व्यास, राजेश्वर प्रसाद सिंह, जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज', मोहनलाल महतो 'वियोगी', वाचस्पति पाठक, दुर्गादास भास्कर, इलाचन्द्र जोशी, ऋषभचरण जैन और पृथ्वीनाथ शर्मा आदि विशेष प्रसिद्ध हुए।

जैनेन्द्रकुमार ने कथा-क्षेत्र में एक नूतन विश्लेषणात्मक पद्धति को लेकर प्रवेश किया, जिसमें विषय की गहराई में पैठकर उसके अन्तर्बाह्य को टटोलने की क्षमता थी। उनके सहयोग से कहानी अपेक्षाकृत चिंतन की प्रौढता और सजग भीतरी चेतना की ओर उन्मुख हुई। इस ओर प्रेमचन्द को छोड कर समसामयिक कहानीकारों का ध्यान बहुत कम आकृष्ट हुआ था।

जैनेन्द्र में प्रखर बौद्धिकता के साथ-साथ मौलिक दृष्टिकोण और निष्पक्ष

दृष्टि-निक्षेप की कला है। एक साहसी निर्भीक कहानीकार के रूप में मिथ्या और चारित्रिक शिष्टाचार से हटकर उन्होंने मानव जीवन को यथातथ्य परिस्थितियों में टाल कर देखा है और कहानी में व्याख्यात्मक तत्वों को समाविष्ट कर उसका मार्ग प्रशस्त किया है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता है सत्यान्वेषण और गम्भीर विवेचनात्मक चिन्तन। जीवन की जटिल गुत्थियों को बहुत सहज ढंग से उन्होंने कहानी में गूँथा और मानव मन की अज्ञात एषणाएँ, उसके अभ्यन्तर में प्रतिपल उठते हुए विचारों, उद्वेगों और असामान्य चिन्तनाओं को नवीन मानवीय सदर्भों से परख कर बौद्धिक रूप दे दिया।

इसके विपरीत वृन्दावनलाल वर्मा की कथा-शैली में एक ऐसी सर्वग्राहिणी मनोरजकता है जो पाठकों का ध्यान बरबस आकृष्ट करती हुई उनके भीतर संवेदना और सहानुभूति जगाती है। तार्किक असमावनाओं को अपनाकर बाह्य परिवेशों के आलोडन विलोडन से ऊपरी सतह को इतना फेनिल बना देना जिससे नीचे की गहराई ढक जाये अथवा अच्छे बुरे सत् असत जीवन-उपकरणों को मनोविज्ञान की कसौटी पर कस कर कथा-साहित्य में पर्यवसित करना इनका स्वभाव नहीं है, वरन् इन्होंने जीवन को सर्वांगीण रूप में अपनाया है, उसके सरल, सच्चे रूप की व्याख्या की है और बनावटी गम्भीरता से हटकर जीवन के वैविध्य में झांका है।

इनकी भाषा और भाव सरल हैं। कारण—केवल शहरी कुटाओं के दाँवपेंच तक ही वे सीमित न रहे, अपितु बुन्देलखड और मध्यप्रदेश के पर्वत पठार नदी-नाले, झील-तालाब, मन्दिर-मठ, पेड़ पौधे, हरे भरे जगल, चरागाह और मैदान यहाँ तक कि मेले-उत्सव, नाच-गान और पर्व-त्योहार तक ने उन्हें लिखने की प्रेरणा दी। समय के साथ ज्यों-ज्यों उनका दृष्टिकोण विकसित होता गया, भारत की सामाजिक संस्कृति को समझने के लिए उन्हें इतिहास की गहराई में उतरना पड़ा। उनका प्रत्येक वर्णन, प्रत्येक दृश्यांकन हृदय का सहज उद्वेग है। पारिवारिक जीवन का विशद चित्रण, ग्रामीण स्त्री-पुरुषों, बच्चों-बूढ़ों का स्वभाव, रहन सहन, बातचीत सभी कुछ स्वाभाविक ढग से इनके उपन्यास और कहानियों में मिलते हैं। इतिहास के गौरवमय अतीत में झांक कर देखने के कारण इन्होंने अपने अदम्य आत्म विश्वास और प्रवाहमयी कल्पना से अनेक ऐतिहासिक घटनाओं को कथा सूत्र में बांध दिया है।

आचार्य शिवपूजन सहाय बिहार के प्रमुख कहानीकारों में हैं जिनमें मौलिक प्रतिभा और असाधारण सूझबूझ है। इन्होंने अपनी कहानियों में जीवन के सरल और परिष्कृत चित्र खींचे हैं। भाषा गम्भीर और सयत होती है। लिखने की शैली सुगठित, सुष्ठु और कलापूर्ण है। इन्होंने न केवल कथा-साहित्य की सर्जना की, वरन् अनेक लेखकों को प्रेरणा और प्रोत्साहन भी दिया।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी की कहानियों में मार्मिक व्यंजना के साथ-साथ गम्भीर चिंतन और भाव प्रवणता है। जीवन की साधारण घटनाओं को अपनी सहज आत्मानुभूति से इन्होंने अधिकाधिक व्यावहारिक और रोचक बनाया है। भाषा सरल और

विषय के अनुरूप बदलती चलती है। विनोदशंकर व्यास ने अपनी छोटी छोटी कहानियों में जीवन के विविध दृश्यों को कौशल से अंकित किया है। कथाएँ और कहानियों के वर्ण्य-विषय अनेक स्रोतों से संकलित किये गए हैं।

राजराजेश्वर प्रसाद सिंह की कहानियों में अनावश्यक विस्तार होता है, जिससे कहानी नीरस और असंतुलित हो जाती है। जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' की छोटी-छोटी कहानियाँ भावपूर्ण और सरस हैं। कविताओं में जो तल्लीनता और रस है वही कहानियों में फूट पड़ा है। अनेक कहानियों में इनका आलोचक का दृष्टिकोण है। जीवन के उषःकाल से बाद तक जो संस्कार इन्होंने अर्जित किये वे कहानियों में रम कर समय-समय पर प्रकट हुए। सामाजिक आचारों-अनाचारों की भर्त्सना भी यत्र-तत्र मिलती है। कवि होने के कारण मोहनलाल महतो 'वियोगी' की कहानियों में भी शील-वैचित्र्य और रस-विधान का अद्भुत सामंजस्य है। भाषा सरल, रोचक और प्रौढ है। कहानियों में वर्ण्य विषय, दृश्य और चरित्रों में मानव-जीवन का सरल विवेचन मिलता है। सरलता, सहृदयता और मानवीयता के साथ-साथ इनकी कहानियों में हल्का आक्रोश, उद्वेग और स्वाभिमान भी है जो विचित्र अनूठापन लिये है। वाचस्पति पाठक और दुर्गादास भास्कर साधारणतः अच्छी कहानियाँ लिखते हैं। इनमें इलाचन्द्र जोशी कहानी-क्षेत्र में अपना एक निराला व्यक्तित्व लेकर प्रकट हुए। मानव मनोभावों में पैठकर वातावरण और पारिपार्श्विक परिस्थितियों के सजीव चित्रण से कहानी को अनुप्राणित करने की कला में ये सिद्धहस्त हैं। ऋषभचरण जैन और पृथ्वीनाथ शर्मा ने सरल, व्यावहारिक भाषा में अनेक सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं।

सन् १६२८ से हिन्दी में कहानियों का कुछ ऐसा जोर बढ़ा कि अनेक कवियों का ध्यान भी इस ओर आकृष्ट हुआ। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सियारामशरण गुप्त, सुमित्रानन्दन पन्त, भगवतीचरण वर्मा आदि लब्धप्रतिष्ठ कवियों ने अनेक भावपूर्ण सरस कहानियाँ लिखी। कुछ कहानीकार विभिन्न पाश्चात्य 'वादों' से प्रभावित हो नवीन दृष्टिकोणों को लेकर प्रकट हुए और उन्होंने कथा-साहित्य को स्फूर्ति और नवीन क्रांतिकारी चेतना प्रदान की। सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय', उपेन्द्रनाथ अश्क, यशपाल, रांगेय राघव, विष्णु प्रभाकर, आनन्दप्रकाश जैन, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, गोहर्नसिंह सेंगर, नलिन विलोचन शर्मा, अनंत गोपाल शेवडे, रावी, 'भिक्षु', 'निर्गुण', 'रेणु', आदि की कहानियों में एक गरिमामय द्वन्द्व है, जो मानसिक प्रक्रियाओं के मूक आदान प्रदान द्वारा एक क्रांतिकारी दृष्टिकोण उपस्थित करता है। कहीं-कहीं इनकी अभिव्यक्तियों में गहरी खीझ और कटुता है। सामाजिक संघर्षों की चोट ने उन्हें तीखा बना दिया है, जिससे परम्परागत संस्कारों एवं सामाजिक कुरीतियों पर उनके वर्णनों में कहीं कहीं भीषण विद्रूप बज उठता है। ऐतिहासिक कहानियों की दिशा में आनन्दप्रकाश जैन ने विशेष सफलता प्राप्त की है।

स्त्री कहानी-लेखिकाओं में शिवरानी प्रेमचन्द, सुभद्राकुमारी चौहान, तेजरानी पाठक, उषादेवी मित्रा, होमवती, कमला चौधरी, कमला त्रिवेणी शंकर, चन्द्रावती

ऋषभसेन जैन, कंचनलता सब्बरवाल कुंवरानी तारादेवी, रामेश्वरी 'चकोरी', हीरा देवी चतुर्वेदी, कृष्णा सोवती, तारा पोतदार, विमला देवी, सत्यवती मलिक, तारा पांडेय, सुशीला आगा और चन्द्रकिरण सौनरिक्सा के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन सभी कहानी-लेखिकाओं ने प्राय पारिवारिक जीवन और हिन्दू-समाज में नारी की दारुण स्थिति का दिग्दर्शन कराया है। पुरुष की क्रूरता और स्वेच्छा भावना ने नारी को कुचला और रौंदा है। सुभद्राकुमारी चौहान की भाषा में ओज स्फूर्ति और भावावेग है। उन्होंने जिन जिन दृश्यों घटनाओं का चित्रण किया उसकी पूरी झाँकी आँखों के समक्ष प्रस्तुत कर दी। 'सीधे साधे चित्र' 'बिखरे मोती' और 'उन्मादिनी' उनके महत्त्वपूर्ण कहानी संग्रह हैं। उषादेवी मित्रा, कमला चौधरी और तारा पांडेय ने अनेक व्यंजक, मर्मस्पर्शी कहानियाँ लिखीं। नारी सुलभ करुणा और वात्सल्य इनकी कहानियों में सर्वत्र मिलता है। होमवती जी ने अधिकतर सरल, व्यावहारिक प्रणाली अपनाई और सम्पर्क में आये चिर-परिचित व्यक्तियों की करुण कहानी, साधारण रोजमर्रा के कार्यक्रम में घटने वाली घटनाएँ और सामान्य प्रसंग ही लिये हैं। नारियों में सदियों बाद सृजनाकांक्षा तो जागी, पर पुरुषों के प्रति घोर प्रतिक्रिया और आक्रोश के भाव ने उन्हें सर्वथा एकांगी बना दिया। फलत उनके साहित्य में अन्तर्बाह्य का आलोडन कम, गहरी खीझ और कटुता का भाव अधिक है। पुरुषों की उद्दाम स्वेच्छा भावना ने जो उन्हें सदा कुचला और रौंदा है उससे वे उनके प्रति सन्तुलन, न्याय और निष्पक्षता नहीं बरत सकी हैं। अपनी अधिकांश कहानियों में उन्होंने नारी की विवशता और समाज में उसकी दारुण स्थिति का तो दिग्दर्शन कराया, पर वे जीवन के उस गरिमामय द्वन्द्व को उस व्यापक दृष्टि से नहीं आँक सकी जैसा कि विश्व साहित्य की नारियों के कृतित्व में देखा जाता है।

पर आज के संघर्षों ने कुछ नई लेखिकाओं—लीला अवस्थी, रजनी पन्निकर रत्नमयी दीक्षित, वसन्तप्रभा, रानी चूंडावत, सोमा वीरा, मन्नू भंडारी, ऊषा प्रियंवदा, रत्नकुमारी, इन्दुमती, प्रेमलता दीप, शीला शर्मा, शकुन्तला शर्मा, शकुंतला सरन, रामेश्वरी शर्मा आदि को इस ढंग से उकसाया है कि वे नई टेकनीक को लेकर अग्रसर हो रही हैं। पुरुष से बराबरी का दावा करने वाली बनकर निश्चय ही वे उस रफ्तार बेढंगी में विश्वास नहीं कर सकतीं जो सच्चे अर्थों में उनकी स्वत्व शालीनता पर कुठाराघात करे। अतएव जितनी ही सामयिक समस्याओं और ऊहापोहों ने उनके मूल तंतुओं को हिला दिया और वे पारिवारिक परिधि से सामाजिक चेतना की ओर उन्मुख हुईं। घर मोहजाल को विच्छिन्न करके उन्होंने मर्मस्पर्शी, व्यंजक चित्रों की अन्विति की। इन सभी लेखिकाओं में चन्द्रकिरण सौनरिक्सा में गहरी कचोट और ओजस्वी व्यंजना है। गृहस्थ की आस्तिकता को सूक्ष्म, कोमल भावजगत् तक सीमित न रख कर इन्होंने पार्थिव अस्तित्व की परिधि में बाँध दिया है। आज की कशमकश, विषम परिस्थितियाँ, जटिल समस्याएँ, भेदभाव, अनैक्य और दुःख-क्लेशों के कारण अशान्त, उद्वेलित और असंतुष्ट मानव-जीवन का यथार्थ चित्रण इनकी कहानियों की विशेषता है। इन्होंने जीवन के

तत्व को स्पर्श किया है। कल्पित 'कैन्वस' पर असहाय जीवन और ह्रासोन्मुख समाज के आचार-अनाचार और दयनीय अवस्था के सजीव दृश्य कुशलता से आंके हैं।

ज्यों-ज्यों कथाकार की आंतरिक संवेदना उसके वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की शर्त बनती गई, उक्त परिवर्तन के प्रवाह में बहकर उसके कथ्य की निष्ठा नये ढंग से विकसित होती गई। कितने ही जटिल प्रश्नों की गहराई में घुसकर वह उनका समाधान ढूंढने लगा। यहाँ तक कि निजी प्रवृत्तियों एवं परिवेश से परिचालित उसने नये-नये निष्कर्ष निकाले। परिस्थितियों की तिक्तता एवं तनावों ने न सिर्फ़ उसे बुद्धिजीवी एवं विद्रोही बनाया, बल्कि हिमाकत और हठधर्मी भी उसमें हद दर्जे की बढ़ती गई। कोई फ़ायडीय तो कोई अन्तश्चेतनावादी, कोई प्रगतिशील या यथार्थोन्मुख अतिशयता का क़ायल तो कोई प्रयोगों की बहक में निरपेक्ष स्वतन्त्रता बरतनेवाला —चाहे जैसे भी हो—नई पीढ़ी के नये कहानीकारों ने मानवीय विकासबोध की नई उपलब्धियों को नई अर्थवत्ता में ग्रहण किया—यों इस द्वन्द्वमयी कशमकश में 'इनडिविडुएल सेन्स' अर्थात् अहम्मन्यता ही उसमें अधिक जगी। राजेन्द्र यादव, कर्तार सिंह दुग्गल, परदेसी, पहाड़ी, मार्कण्डेय, जनार्दन मुक्तिदूत, कमलेश्वर, हर्षनाथ, सर्वेश्वर दयाल, ओंकारनाथ श्रीवास्तव, निर्मल वर्मा, सत्येन्द्र शरत्, अमरकान्त, शेखर जोशी, रघुवीर सहाय, मलयज, रामस्वरूप शर्मा, उदित साहु रणधीर सिनहा, नरेश आदि अभिनव प्रवृत्ति के कतिपय कहानी-लेखक सर्वथा नये निर्माण का आग्रह लिये हैं, जबकि प्रगतिवादी कथाधारा के अन्तर्गत अमृतराय, अमृतलाल नागर, कृष्णचन्द्र, नागार्जुन, प्रभाकर माचवे, नरोत्तम नागर, हंसराज 'रहबर', भीष्म साहनी, भैरव प्रसाद गुप्त, केशवप्रसाद मिश्र, मेहन्दी रजा आदि ने जनजीवन के व्यापक द्वन्द्व-संघर्ष को चित्रित करने के प्रयत्न किये, पर उनके मूल्यांकन व सामाजिक आदर्शों के विधान से बहुत लोग सहमत न हो सके। फिर भी पाश्चात्य कथा-साहित्य की विविध शैलियाँ जैसे पत्र कथा, लघु कथा, डायरी, रिपोर्ताज, स्केच, हास्य-व्यंग्यात्मक कहानी-किस्सों ने उसका पथ प्रशस्त किया।

शनैः शनैः कहानी काफ़ी विकसित स्थिति में पहुँच गई है। उसकी टेकनीक में भी अपेक्षाकृत आकाश-पाताल का अन्तर हुआ है। कहानी की कथन-पद्धति में पहले का-सा ऊबभरा शैथिल्य नहीं है, वरन् विषय-चयन में नूतनता और वैविध्य पाया जाता है। कहानियों में अनेक नूतन प्रयोग किये गए हैं। नई-नई समस्याएँ और नये-नये आदर्श उनमें साकार हो उठे हैं और उनका उद्देश्य एकांगी एवं एकदेशीय न होकर बहुमुखी हो गया है। यथार्थ जीवन के चित्रण के साथ-साथ मन के गूढ़तम प्रच्छन्न स्तरों, मानव-चरित्र के विभिन्न पहलुओं, उनके व्यक्तित्व में कुछ ऐसे द्वैत, उलझाव, विसंगतियाँ जो उनसे कराती कुछ और कहलाती कुछ हैं, असामान्य दितनाओं, आन्तरिक उत्तारोहों और अज्ञात अन्तर्व्यापारों में भी झांकने का प्रयास किया गया है।

आज की कहानी सस्ते रोमांस से हट कर मनोवैज्ञानिक बारीकियों पर आ टिकी है। प्रतिदिन की बेतरतीब उलझनें, हमारी जीवन-यापन की अविरत अस्थिरता,

परेशानी व्यस्तता और हाहाकार तथा मानवीय भावनाओं की मनोविश्लेषणात्मक व्याख्या कथा साहित्य की जीवन्त शक्तियों को अधिकाधिक उद्बुद्ध कर रही है जिससे अब तक की त्रस्त मन स्थिति और परम्परागत सस्कार, मानसिक और बौद्धिक मथन, कसक और बचैनी, उलझन और ग़लतफहमियाँ सच्ची जागृति के मूल में—एक व्यापक स्तर पर—जागरूकता और दृष्टि की पैठ उकसा रहे हैं और सकुचित प्रवृतियाँ दबाकर जीवन के हर कोण और पहलू पर ग़ौर करके उसकी निर्माण प्रक्रिया का दायरा विस्तृत कर विश्व-साहित्य से (ड ले सकने वाली लोकोत्तर सृजन की शक्ति जगा रहे हैं ।

नई औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ

हिन्दी उपन्यास इधर पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति के साथ कई मंजिलों से गुजरा है, किन्तु कतिपय ह्रासोन्मुखी धाराएँ जो नवीनतम या अत्याधुनिक कला टक्नीक का रूप धर कर हमारे बीच जोर पकड़ती जा रही है उससे कितने ही नये बेबुनियादी पहलू—एक नई अनोखी ताजगी और ताकत के साथ—अजीबोगरीब ढंग से पेश किये जा रहे हैं। इनका मूल्य और सर्वप्रियता उत्तरोत्तर बढती ही जा रही है, क्योंकि आज के रचना-शिल्प और भाववस्तु के काल्पनिक उपादान जिन मानसिक प्रक्रियाओं के दुर्विलास की ओर आकर्षित हैं उनके उत्स्फूर्त प्रसंगों के वैविध्य में 'गैरवाजिब' नाम की कोई चीज नहीं। छायावादोत्तर काल के दशकों की गहराई की थाह लेने हुए जो सम्पर्क या विचार हमारे सामने आए, वे किसी निश्चित जीवन दर्शन के दायरे में बन्दी नहीं, यों शैलीगत वैशिष्ट्य के अंतर्गत एकदम निजी और वैयक्तिक प्रयोग ही प्राय मौजूदा उपन्यासों की कसौटी बन गए हैं।

ज्यो-ज्यों परम्परानुमोदित मान्यताएँ एक झटके के साथ अस्वीकारी जा रही हैं, एक नये वस्तुतत्त्व, एक नवीन जीवन दर्शन और एक बीरानी सी अनपेक्षित सामाजिकता उपन्यास के रूप और शिल्प, भावपक्ष एवं कलापक्ष दोनों पर हावी होती जा रही है। ऐसी स्थिति में वे पुरानी कसौटियाँ, जिन पर हमें नाज है, कहीं की कहीं पिछड कर दूर जा पडी हैं।

तो कहें कि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, काल्पनिक वर्ग-संघर्ष की गुत्थियाँ अथवा वाद विवादों के बवंडर ने उपन्यास को आधुनिकता की ऐसी जकड़बन्दी में कसा है कि जिससे उपन्यासकार के कल्पना-जगत् में एक से एक परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं और इस कारण उसकी कोई एक खास दिशा निर्दिष्ट नहीं हो पाती।

चूँकि समूचा उपन्यास लेखक की कल्पना से ही सिरजा जाता है, अतएव भिन्न-भिन्न प्रसंगों, घटनाओं और पात्रों की सृष्टि इतनी यथार्थ और नैसर्गिक होनी चाहिए कि वह पढने वाले को बिल्कुल सच्ची और विश्वसनीय लगने लगे। दिल पर वे ऐसे अक्स हो जायें कि जीते जागते व्यक्तियों की भाँति ही हम उनसे सलूक करें। जैसा चरित्र हो वैसा ही उससे तादात्म्य स्थापित हो जाए, उनकी जीवन समस्याएँ हमारी हों और उनकी यथार्थता हमारे जीवन की यथार्थता बन जाए अथवा

नितान्त विश्वसनीय बनकर हमारे दिलोदिमाग पर अपनी अमिट रेखाऐं आँक जाएँ। सघटनात्मक तत्त्वो के योग से परिस्थितिगत और परिवेशगत उत्थान पतनो के निदर्शन के साथ साथ उपन्यास मे यदि निम्न बातो का ध्यान रखा जाए, यथा—

१. किसी पक्ष में अतिरेक की गुंजाइश न हो।

२ नूतन इकाई पर टिक कर अराजकता और अतर्विरोध की भ्रान्ति में न पड़।

३ जीवन कितना बड़ा है, पर देखना है कि उसमें केन्द्रित सवेदनात्मक उपलब्धियाँ या सश्लेषण के तत्त्व कहाँ तक विकसित हुए ?

४ भले ही सीधे समतल पथ के बदले विसगतियो से गुजरकर विरोधी तत्त्वो के समन्वय के लिए विकास का विषम पथ अपनाना पडे, किन्तु विशाल नूतन क्षितिज के अतर्गत इस प्रतिक्रिया का एक अटूट और सम्पुष्ट क्रम तो चलता रहना ही चाहिए।

५ पूर्वागत के पाश से मुक्ति का अर्थ है नई अनखोजी दिशाओ में किसी विशिष्ट विचारणा या खोज का अभियान, अन्यथा मौलिक प्रदेय से रहित वे क्या सफल हो सकते हैं ?

६ उत्साह की उद्वलित तरग मे या जीवत बौद्धिक सहानुभूति से प्रेरित होकर भव्य एकान्विय की ओर गति हो तो व्यापक मूल्य-चेतना के अतर्गत वैयक्तिक मूल्यो की सस्थिति क्या है, कौन से उपादान या साधन सूत्र हैं और कहाँ से वे उभरते हैं तथा किस माध्यम से उन्हे ग्रहण किया जाता है। लेखक चूँकि एक स्वयम्भू सत्ता है, अतएव उसकी कृति अर्थात उसके द्वारा रचित उपन्यास कहाँ तक पूर्ण इकाई बन सका है और उसकी विभिन्न व्यष्टियाँ सापेक्षिक और क्यो कर एक दूसरे की पूरक बन पडी है ? लेखक की सबसे बडी लाक्षणिक विशेषता यह है कि जीवन और जगत के सत्य को अपने मोहमुक्त स्वानुभूत मौलिक चिंतन द्वारा उपलब्ध करे क्योकि गतिमान जीवन में कितने ही उतार चढाव आते रहते हैं क्षण-क्षण, पल पल उसका कुछ बदलता रहता है, लेकिन वह एक तरह से नित्य-सनातन की ही मनोवैज्ञानिक पुनरावृत्ति है।

तो इस अनुभूत साक्षात्कार को सीखने समझने की भी एक प्रक्रिया है अर्थात् समझकर हृदयगम करने की एक ऐसी अपराजेय जिज्ञासा जो हर नुक्ते पर नजर रखकर उसकी तह तक पहुँच जाय, और उसके तीव्रतम घात-प्रतिघातों का महसूस करे। अत में इस अगाध प्रक्रिया को बरतते बरतते जब अचानक अधकार फट जाता है तो आर-पार मुक्त प्रकाश में बहुत कुछ नजर आता है। जीवन-समग्र के भीतर भले ही खण्ड रूप में उसे लिया जाय—कोई भी दुःख दर्द, समस्या, आशकाएँ या सघर्ष हो तो वह उसका उचित आकलन करे और सम्पूर्ण राग के प्रकाश मे देखे। मेरी सम्मति में लेखक का ऐसा सूक्ष्म निरीक्षण और असाधारण मनोवैज्ञानिक अकन ही कारगर हो सकता है।

कहने का अभिप्राय है कि उपन्यास में जो चीज जिस ढग से सामने रखी जाए उसे वैसा ही ग्रहण कर लिया जाय– तत्र बात है, क्योंकि किसी उपन्यास की कल्पना आख्यान मात्र नहीं, वरन् एक ऐसा यथार्थ है जो अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। यह एक ऐसा सच्चा अनुभव है जो विश्लेषणात्मक युक्तियों से और भी गहराई से समझा जा सकता है। उपन्यास भले ही कल्पना हो या किसी व्यक्ति-विशेष की सहज प्रवृत्तियों की प्रेरणा से लिखा गया कथाख्यान, कुछ की नज़रों में वह मानसिक ऐय्याशी अथवा विश्राम के क्षणों की काल्पनिक सृष्टि भी हो सकती है, मगर उसकी अपनी एक निराली दुनिया है जो अपने ही कार्य कारण के पारस्परिक सदर्भो और नियम-उपनियमों से परिचालित होती है। उसके कर्मप्रसार में अनेक वृत्तियों का निदर्शन और तत्सम्बन्धी वस्तुओं का आभ्यतर और बाह्य प्रत्यक्ष साकार हो उठता है जिसमें केवल यही अन्तर है कि वास्तविक जीवन में मनुष्य के सकल्प और विकल्प का हाथ रहता है, परन्तु औपन्यासिक सस्कृति की निजी मौलिकता में सृष्ट पात्र ही नाना विधियों से, वाणी-कर्म द्वारा, सघर्ष रूप जीवन के अधिष्ठाता हैं। उनका जीवन परिवृत्त ही नहीं, बल्कि पूर्वनिश्चित् और नियत्रित भी है और उनकी अपनी विवशतापूर्ण सीमाएँ भी होती हैं।

अनुभूतियों और वृत्तियों की अनुरूपता के कारण उक्त अनुभूतियों से प्राप्त सत्यों और निष्कर्षों का वाहक भी हम उसे कह सकते हैं। साहित्य की लिखित विधाओं के अनुसार उसके अनेक भेद हैं, कितने ही रूप और प्रकार है जिनमें जीवन चित्रों और भाव क्षितिजों की गतिमयता में बँधा उपन्यासकार अपनी निष्ठा और आत्मविश्वास को उद्भासित करता है।

पर उपन्यास का दृष्टिकोण आज कितना बदल गया है। वह पहले की तरह एकदम कुतूहल की कुजी अथवा रहस्यमय तिलस्मी अजूबा नहीं है और न ही नूतन सस्कार एव प्रभावान्विति की दृष्टि से रग-रेखाओं के हल्के-फुल्के 'स्ट्रोक्स' या इधर-उधर तुक भिडा देने से ही काम चलता है। इसके विपरीत हर घटना, क्रिया, भाव, प्रसग, वर्ण्य विषय और विभिन्न ब्योरों की गतिमयता के शाश्वत क्रम में, सामाजिक जागरूकता के धरातल पर, प्रगति के नये चरण चिन्हों का अनुसरण करते हुए कुछ ऐसे बदले हुए अनुबन्ध और माध्यम खोजने पडते हैं जो उसके मौलिक आदर्शों और सिद्धान्तों के वाहक बन सकें।

आजकल भिन्न-भिन्न वर्ग के जीवन दृश्य नये वातावरण और नई परिस्थितियों के साथ सश्लिष्ट करके आँके जा रहे हैं। मुख्यत फ्रायडीय और कम्युनिस्ट–इन दोनों का दाभिक क्रमवाद अभिनव प्रतीकों और सदर्भचित्रों में उभर कर सामने आ रहा है। पहले में अपने को स्वय की परिधि में पूर्ण समझनेवाला, एकान्त और वैयक्तिक विचारों का मर्ज है अर्थात् दूसरे शब्दों में कामुकता का अवरोध, घुटन और कुठाओं का दारुण परिणाम भी कहा जा सकता है, जबकि दूसरे में घृणित शोषक वर्ग के ऊपरी मुलम्मे और भीतरी खोखलेपन की झाँकी मिलती है, साथ ही शोषितों की मजबूरी के

रोमांचक नज़ारे भी पेश किये जाते हैं। पहला 'सुपीरियरिटी काम्प्लेक्स' से पीड़ित है और दूसरा 'इनफीरियरिटी काम्प्लेक्स' से। दोनों का नैतिक पतन धड़ल्ले से दर्शाया जाता है—शोषक वर्ग का इसलिए कि उनकी उत्कट विलासिता और भोगवृत्ति का पर्दाफ़ाश *किया जा सके, शोषित-प्रताड़ितों का इसलिए कि निर्धनता और बेबसी की* उन्हें कितनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है।

फ्रायडीय चित्रण में एक बिखरे हुए आकर्षण का वैशिष्ट्य है, पर सफल सुखोपभोग के उस बिन्दु तक नहीं जहाँ सुषुप्ति और चेतना बाह्य और अन्तर्मन, उल्लास और आहें, हास और अश्रु घुलमिल कर एक हो जाते हैं। इसके विपरीत कामजन्य आवेग के झोंके से भड़क कर अपने उद्दाम प्रसार और उत्तेजना से जो उभारते हैं वह हैं तेज दहकते सांस, सीने का दर्द और एक उमड़ता, अमर्यादित व्याकुल ज्वार। जीवन का एक-एक प्रसंग, एक एक पल, एक-एक अनुभूति स्वच्छन्द और अनुशासनहीन काम-आवेगों का स्फुरण मात्र है जो दमित कुंठाओं से उपजी आत्मभर्त्सना की अतिरंजित संवेदनाएँ जगाता है।

'दमित कुंठा' के अर्थ में आज बहुमुखी विस्तार है जो अधिकाधिक नैतिक यान्त्रिकता में विकसित होती जा रही है। स्वप्न जगत् के भावनात्मक पक्ष को उसके स्थूल भौतिक पक्ष से अधिक तूल देकर आज के मानव ने अपनी क्षुधाओं से नियंत्रण हटा दिया है, क्योंकि उसकी दृष्टि में आचार-बंधन की सीमाएँ कोई मानी नहीं रखतीं। *वे कृत्रिम हैं और मौजूदा सभ्यता में उनके व्यावहारिक पहलू नगण्य हैं।* 'प्रणय' तो परम्परागत है, परन्तु उसका नव्यतम रूप बौद्धिक मूल्यों की अधिकाधिक प्रतिष्ठा के साथ मनोग्रस्त होता जा रहा है और उसको प्रमाणित करने के लिए फ्रायडीय दर्शन से उनसे यथेष्ट आधार भी मिल गया है।

फलत लेखकों का मनोविश्लेषणवादी कुण्ठाग्रस्त वर्ग मन के सपनों में डूबी एक अजीब सी कशिश और रहस्यमयता का पर्दाफ़ाश करने या ऐकान्तिक ऊहापोह के समाधान में लगा है तो सर्वहारा वर्ग इसका सारा दोष समाज के मत्थे मढ़कर मध्यवर्गीय संस्कारों से सिरजी अनपेक्षित आकांक्षाओं और नग्न कामुकता के दहकते अंगारों की एक बेहद तीखी और गहरी दहदान पर किसी खामोश बेबस प्यार के शबनम की बूँदें छिड़काने में मज़ा ले रहा है। *पहला वर्ग नैतिकता को नया मनोवैज्ञानिक* आधार देना चाहता है तो दूसरा वर्ग इस नये मनोविज्ञान पर स्वनिर्मित नैतिकता को आरोपित करने में लगा है। इसका परिणाम है कि प्रेम के तौर-तरीक़े और ढंग बहुत कुछ बदल गए हैं। उसकी गहन गम्भीरता बाहर के उपलेपन को नहीं ढकती वरन् अपनी निषिद्ध जड़ता में भटके हुए उच्छृंखल मन को समा सी लेती है। अन्तर्गत सत्ता का आत्मार्पण जो प्रेम में इतना सुस्थिर, लीन और एकीभूत होता है और अपनी निस्सीमता में आविष्ट कर लेता है, वह निम्नतर तत्त्वों से उपजी आसक्तियाँ, उद्वेग अथवा वर्जित इच्छाओं के निदर्शन और आज की नियंत्रणहीनता में अधिकाधिक प्रश्रय पाकर उस उद्धत आचरण या लेखक के निजी 'अहं' अथवा एक

ऐसी बँधी-बँधाई रूढ विचारधारा पर आ टिका है जिसे न मन जानता है और न जिसकी चेष्टाओ एव भगिमाओ के आधार ही समझ पडते है।

मौजूदा उपन्यासो मे बहुमुखी चरित्र-सृष्टि तो है, पर भारतीय आचार के अनुरूप शील एव सस्कार नही, दूसरे शब्दो मे हम कह सकते है कि चारित्र्य-शुद्धि नही। सभ्य बर्बरता की इस नई बेला में कथाकार का सचेत मन किनारे की मिट्टी में अतीन्द्रिय अनुभूति के गडे तो खोदता है, पर उसमें भीतरी आलोक-रश्मियाँ नही बिखेरता। दरअसल, सद्-असद् एव असम्पूर्ण इच्छाओ की विचारात्मक प्रतिक्रिया ऐसे अतीन्द्रिय अनुभवो का समवाय ही तो है—यथा मन में विचित्र प्रश्नो का उद्वेग, विभिन्न जीवन-समस्याओ की उत्पत्ति तथा कितने ही प्रकार के मनोद्वन्द्व। ये ही वे दु स्वप्न है जो बहुत गहरी, प्रच्छन्न पर्तों के नीचे छुपे पड़े रहते है और अवसर पाकर विकृत रूप में उभर आते हैं। फलस्वरूप उनके द्वारा सृष्ट चरित्र एक ऐसे धरातल पर उतर आते है कि जिनका शिल्प-विधान अन्तर्मथन, विभीषिका और भावात्मक संघर्षों पर टिका है और यो उनमें मुख्यत घुटन और अमुक्त तनाव की स्थिति पैदा हो जाती है। चरित्रो के माध्यम से उनके स्वय के वैयक्तिक जीवन के खडो का तो उद्घाटन होना ही है, घोरतर प्रतिक्रियास्वरूप उनकी उलझी और जटिल सवेदनाएँ ऐसे-ऐसे 'पैटर्न' उभारते हैं जिससे लगता है कि जैसे चरित्रो का ढाँचा सर्वथा बिखर गया है।

किसी भी चरित्र का मूल्य नीति-अनीति की कसौटी पर निश्चित करना शक्य नहीं, किन्तु नित-नई कुंठाओ, वर्जनाओ, व्यग-विद्रूपो ने बढती हुई आधुनिकता और यन्त्रीकरण से उद्बुद्ध निर्बन्ध कल्पना को इतना अधिक उकसाया है कि वह मानसिक असतुलन और उलझनो के साथ सामजस्य स्थापित नही कर पा रही है। नितान्त बौद्धिक तत्त्वो से कथाकार का लगाव उसे ऐसे-ऐसे असतुलित तत्त्वो की ओर ठेल रहा है जहाँ कोरे अर्थ की सत्ता अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके विपरीत प्राचीन आचार-मर्यादाएँ एव रूढियाँ मात्र 'फार्म' के रूप में उभर कर चरित्र के मूल तत्त्वो को बरबस ग्रस रही हैं। भोग विषयक आसक्ति जब अनायास अतृप्तिमूलक होकर उभरती है तो असगत वैपरीत्य की सृष्टि होती है—मसलन आज के उपन्यासो में कुछ ऐसे नकारात्मक चरित्र उभारे जा रहे है जिससे हमारी भौंडी सौन्दर्य रुचियो की निष्प्राण, निर्मम जडता का प्रशमन होता है। मोहब्बत से जख्मी चेहरे को कोई अपने आँखो के गम में पाल रहा है तो किसी के जज़बाती सपनो में कोई चूनरी उडती, कजलायी पलको में बेबसी झाँकती, क्षीण कटि लचकती, दूध सी सफेद कलाइयो में चूडियाँ खनकती, ओठो की मिठास, गुलाबी कपोलो की लालिमा, मदमस्त मुस्कान और नारी की समस्त लज्जा समेटे जब कोई सुन्दरी बम्बई जैसे महानगर में—विशेषकर बिजली की बत्तियो की कृत्रिम रोशनी में झलमल-झलमल, इठलाते-मचलते वातावरण में सारी सारी रात जागती रहती है, जब उसके पेट की भूख उसकी आँखो में भर जाती है या उसकी बहशी आँखो के जिनस का बाजार इस भूख के नीचे दब जाता है

और उसके रंगीन सपनों में बुनी हुई रात मल दी जाती है, जबकि उसके कुंवारेपन के सदियों पुराने नक्श नई शक्लें अख्तियार करते हैं। जीवन का सौदा पटाती उसकी अस्मत—रात की घनता में और भी शून्य एवं भयावह—सिसकियाँ भर भर कर रोती है और पाठकों के दिल दहला देती है। यों आज के कुछ रूमानी मनचले उपन्यासों में स्त्रीत्व को इतना गर्हित, इतना वर्ज्य दर्शाया जाता है—जैसे ये पात्र नारी की महज गरिमा या शील संस्कृति के लिए नहीं, बल्कि फूलों जैसी हल्की फुल्की महकभरी हवा में रंगीन तितली के पंखों पर बैठकर उड़ने के लिए सिरज गये हों। आज की 'आधुनिका' के अंग-प्रत्यंग किस तरह तराशे जाते हैं, उसकी आँखों में कितनी लम्बी लकीरें आँकी जाती हैं और कौनसा लिबास उसे उढ़ाया जाता है। ऐसा लिबास जहाँ किसी का झीना दुपट्टा उड़ रहा होता है और यह झीना दुपट्टा हवा में उड़ती उसकी जुल्फों के साथ नाजुक खूबसूरत उँगलियों से थामने के बावजूद भी उसके कन्धों से बार-बार खिसक जाता है। कपोलों की लालिमा, नयनों की खुमारी का मादक नशा, काली भौंहें और उन पर आँजा गया सुरमा, स्निग्ध सुन्दर स्मित फैलाते ओष्ठद्वय और फिर उनके उच्छृंखल हाव-भाव, कार्य कलाप और विलास-मयी प्रवृत्तियों का खुला चित्रण, साथ ही इन सबको शह देती मदमस्त जवानी की परिमल जैसी सुर्खी न केवल उनकी सौन्दर्य-दीप्ति को नग्न रूप में उभाड़ती है, वरन् नौजवानों से लेकर प्रौढ़ों एवं वृद्धों तक की आँखों में कौंध पैदा करती है। इसके विपरीत अधिकांश पुरुष पात्र भी पार्टियों, क्लबों, रेस्त्राओं या सड़क के चौराहों पर घूमनेवाले वे 'चेप' हैं जो बावजूद कालेज की दोस्ती और थोड़ी सी हेल्मेल बढ़ जाने पर फुटपाथ या रेशमी पर्दों से सजे ड्राइंग रूम में किसी लड़की से मिल जाते हैं जो बातों ही बातों में इस क़दर तन्मय और सुधबुध खोकर अपलक मौन एक दूसरे को एक दूसरे की नजरों में तौलते रहते हैं और जब वह नटखट आँखों से कुहनी मेज पर टिकाये अनमनी और अलसायी भ्रम, कौतूहल, शोखी, शरारत, ज़िद्द और आक्रोश के उतरते-चढ़ते भावों को लिए उसकी कभी न खतम होने वाली बातों को सुनती रहती है, सुनती रहती है। ऐसे लोग न सिर्फ चाय और नाश्ते की गपशप व कह-कहों के बीच हर बौद्धिक हलचल के प्रति दिलचस्पी रखते हैं वरन् नीति कूटनीति और प्रत्यक्ष परोक्ष की सापेक्षता आदि गहन विषयों से लेकर क्रिकेट-फुटबाल, रेडियो सीलोन व सिनेमा जगत्, एटीकेट, कल्चर व मैनर्स पर कोई 'रिमार्क' अथवा किसी बुक-रिव्यू एवं विज्ञापनों की कतरनों के आधार पर चाँद सूरज और सितारों के वृहदाकार पिंडों तक पहुँचने की हिमाक़त रखते हैं। कोई फिल्मी गीत या किसी रोमांटिक कवि की कविता गुनगुनाते ये जीवन के सुनहरे सपने देखते हैं और 'जीनियस' बनने के नुस्खे इनके पास इतने सस्ते हैं जो परस्पर के शंका-समाधान या अदृश्य व्यवधान को एक झटके में तोड़ते हैं और जिनका हर लम्हा सीने में दर्द जगाता व दिल को बेचैन बनाये रखता है। वे निहायत ही इकतरफा व्यक्तित्व लिये अनेकानेक मनोवृत्तियों और कुण्ठाओं को समेटे, हवाई और छिछले, प्रतिक्रियावादी

और अजीबोगरीब राय रखनेवाले, कितनी ही पसन्दगी-नापसन्दगी, रुचि-कुरुचि, पक्ष-विपक्ष और कृत्रिम शालीनता व सभ्यता की खोल ओढ़ हुए जीवन से बेखबर आज की कुठाओ के शिकार हैं। फ्रायड, एडलर और युग के मतवादो पर कोई न कोई 'काम्प्लैक्स' आरोपित कर इन्हें निम्न से निम्न स्तर पर उतरने का अवसर रहता है।

मौजूदा कथाकारो को तीन श्रेणियो में विभक्त किया जा सकता है—पहले तो वे जो प्राचीन परम्पराओं का निर्वाह करते हुए केवल सद् को ही स्वीकारते हैं अर्थात् जीवन का उज्ज्वल, स्वस्थ और जीवन्त पक्ष ही जिन्हे ग्राह्य है। दूसरे वे जो जीवन के अच्छे-बुरे, श्लील-अश्लील सभी मे सामजस्य तो खोजते हैं, पर अन्तत सद् को ही महत्त्व देते हैं। तीसरी श्रेणी में वे आते हैं जिनकी दृष्टि केवल असद् पर ही टिकती है अर्थात् इस कोटि के कथाकार मानव की पाशविक वृत्तियो का नग्न और भयावह प्रदर्शन, साथ ही अनैतिक दुर्गुणो, घृणोत्पादक वर्जनाओ और ऐसे गर्हित मनोविज्ञान का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं जो हर प्रकार से एकागी, अतिवादी और गुमराह करने वाला होता है। उनमें आचार-नियमों का कोई नियन्त्रण नही होता, फलत आज का अधिकाश पाठक वर्ग भी ऐसा तैयार हो रहा है जिन्हे अश्लीलता और कुत्साओ में ही महान् कला के दर्शन होते हैं।

प्रेम की मूल भावना या प्रेम के स्रोत व उत्स भी पहले से बहुत कुछ भिन्न हैं। स्त्री-पुरुष की एकात्म्य स्थापना का जो सहज आनुपातिक सम्बन्ध है वह मौजूदा मनोविज्ञान में सवेगो की परिभाषानुसार उनके परस्पर प्रणय के स्वरूप का निर्धारण सर्वथा नये ढग से पेश करता है। असम्भाव्य कल्पना के आधार पर वह एक ऐसी अनहोनी इकाई बन गया है, अचेतन की अबूझ प्रक्रियाओ का एक ऐसा तनाव अथवा मानसिक द्वन्द्वो का एक ऐसा विघटन जिसके ओर-छोर का कोई मापदण्ड नही और न ही जिसके सर्वांग का कोई चित्र आंका जा सकता है। कारण—लेखक के मन की शतखण्ड अहंता ही इस तरह के छिछले प्रेम को पैदा करती है, अतएव भ्रामक धारणाओ और भोडी कल्पनाओं के सहारे यह अहजात दम्भ की दहक ही उनकी विकासमान शिल्प साधना को भस्म कर रही है। इसके विपरीत यथार्थवादियो में दैनन्दिन जीवन की निर्विशेष यथार्थमूलकता से टकराकर इसी अह ने चीत्कार उत्पन्न किया है। इस त्रस्त युग में पैशाचिक नग्न नाच की कोई सीमा नहीं है, ग़रीब बेवस की जैसे हर उमग पिस रही है। हर अरमान लाचारी बन कर वाष्प उगलती है और आंधियो, तूफानों और जलजलो का ऐसा समुन्दर सा उमड रहा है कि लगता है—मानव-चेतना का तो विस्तार हुआ है, परन्तु उसके जड तत्त्व अर्थात् 'पशुता' अभी ज्यों की त्यो विद्यमान है। कहना न होगा कि नई औपन्यासिक भावभूमि पर अतश्चेतनात्मक के अर्थ में मनोवैज्ञानिक सत्य बहुत कुछ रूढ हो गया है। परम्परावादियो ने उसे जैसा ऐकान्तिक और आत्यन्तिक रूप में लिया, यथार्थवादियो की रूमानी प्रतिक्रिया की धकापेल उससे भी अधिक एक ऐसे अनुदार नियत्रण की पराकाष्ठा तक पहुँच गई कि जहां कुछ भी वर्जित या अवर्ण्य नहीं। स्पष्ट है कि वर्ग

विशेष के जीवन की यह अवसादपूर्ण भ्रांति या झूठे समझौतों की अनुगूँज एक अवास्तविक प्रत्याभास मात्र है। उसमें सार्वजनीन आशय, स्वस्थ रोमांस और युगीन दायित्व नहीं है बल्कि पचीदा या उलझी संवेदनाओं को उकसाने वाली ऐसी सतही मनोवृत्ति है जो देहगत स्वभाव और सामाजिक व्यवस्थाओं में भारी विषमता के आधार पर टिकी लैंगिक अपरिपक्वावस्था में ही किसी क्रमिक प्रक्रिया द्वारा नहीं बल्कि अकस्मात्—रूमानी क्षण में—घृणित कामजन्य उद्वेगों का अनधिकार प्रवेश कराती है जिसकी झूमती मुर्दा छायाओं में गहरे अर्थ तो खोये हुए लगते हैं, पर अर्थहीन, छिछले, बेजान चित्र अधिकाधिक उभरते हैं।

तो क्या आज के साहित्य का 'व्यापक गल्प' हमारी वे परिस्थितियाँ और नित-नई समस्याएँ नहीं बनती जा रही हैं जिसने हमारे विचार और भावनाओं को अपने पाश में जकड लिया है और जिसकी वजह से सृजन-कल्पना आसानी से उस ऊँचाई को नहीं पहुँच पाती जहाँ श्रेष्ठता के प्रतिमानों को कोई मेधावी कलाकार ही यदा कदा छू पाता है?

इधर कुछ आंचलिक उपन्यास भी लिखने के प्रयत्न हुए हैं, परन्तु वे भी एक सकुचित वातावरण की यथार्थता से आगे उभर कर नहीं आ पाए। जमीन कहीं की भी हो, किसी भी प्रदेश या अंचल की, उसकी मिट्टी भी चाहे किसी रंग की हो, मगर लेखक में स्थानीय विशेषताओं को पहचानने और उन्हें ज्यों का त्यों वास्तविक बना देने की क्षमता तो होनी ही चाहिए। वहाँ की स्वभावगत चेष्टाएँ चारित्रिक अन्विति, कथ्य और समूची परिकल्पना के पूर्वापर सम्बन्धों को आँकने, उनके आचरण, परिस्थितिगत द्वन्द्व, श्रम सयोजन और परिवेश को सुनियोजित करने, उनमें रंग रूप भरने, उनकी जिन्दगी के सही कोण, सही पहलू, सही नाक-नक्श, भावमुद्राएँ, व्यवहार, चेष्टाएँ—यहाँ तक कि उनके पसीने की गन्ध पहचानने की भी बुद्धि होनी चाहिए, लेकिन बावजूद स्थानीय रंगों, पात्रों, घटनाओं और विविध प्रसंगों के प्रभाव ऐक्य की अभीष्ट सिद्धि के लिए उनकी जिन्दगी का रूप उनका इतना अपना हो जिससे दूर नहीं—हर मोड़ पर—सहज तादात्म्य स्थापित हो सके।

दरअसल, आज की प्रायोगिक प्रवृत्ति उपन्यास पर भी हावी होती जा रही है। नये प्रतीक, नये साम्य और नई टेकनीक बरती गई है, लेकिन फिर भी कोई खास शिल्पगत मौलिकता और मनोवैज्ञानिक निरूपण दृष्टिगत नहीं होता। उपन्यास के 'नये पैटर्न' के रूप में रहस्यमय, चमत्कारिक या जादुई वातावरण का निर्माण किया जा सकता है, पर मध्यवर्गीय अतृप्तियों के बहाने 'सेक्स' की भूख अथवा आत्म-प्रतारणा की द्योतक एक स्वप्निल पस्ती और वैवाहिक विपर्यय या सर्वहारा क्रान्ति के बहाने घिसे-पिटे के से नये 'क्लाइमेक्स', विषम परिस्थितियाँ और सबसे बढ़कर दैहिक बुभुक्षा के उत्तेजक सश्लिष्ट चित्र अर्थात् निचले वर्ग की अभिशप्त जिन्दगी के दिग्दर्शक वे ही घिसे-पिटे सिद्धान्त, पूर्व धारणाएँ या थोपी गई 'आईडोलोजी' ही

हमारी मुख्य समस्याओं का मूलाधार बनी हुई है।

कभी सोचती हूँ कि क्या हिन्दी के उपन्यासकार इस सब इसानी सडाध अर्थात् रोमांचक, सेक्सी और प्रचारात्मक दृष्टिकोणों से ऊपर उठकर सर्वथा भिन्न स्तर की नई चीज नही दे सकते जहाँ गहरी अनुभूतिमयी बारीकियाँ सांगोपांग सौन्दर्य, मर्यादा, अनुपात के साथ मानवीय सवेदना का ऐसा अत प्रवाह जगा दें जो अपनी असीमता में आप्लावित कर लेने वाला हो, तिस पर भी अहभाव, पक्षपात या पूर्वाग्रहो से मुक्त न हो सकने के कारण वे अपने सापेक्ष ज्ञान और व्यक्तिगत धारणाओं को ही औपन्यासिक चित्रण का माध्यम बनाना चाहते हैं तो वे मात्र चलती-फिरती परछाइयाँ न हों बरन् सनकी, छिछोरे, बेढंगे, गलीज, घृणित से घृणित और अदना से अदना —जिस तरह की भी रुचि, 'मूड' या टाइप के व्यक्ति हों—हाड मास के सच्चे, सप्राण मानव होने चाहिए। विश्व कलाकारों में—हार्डी, डिकेन्स, थैकरे, स्काट, बाल्जाक, पुश्किन, ह्यूगो, ड्यूमा, गोगोल, तुर्गनेव, मोपासाँ, चेखव, टालस्टाय, गोर्की आदि कितने ही ऐसे हैं जिनकी कल्पना की निष्ठा इतनी प्रबल और सूक्ष्म है कि उनकी सृजन-सृष्टि का मिथ्यात्व भी यथार्थ बन कर चेतना पर छा जाता है। उनके पात्रों और कथा-चरित्रों की भावनाएँ, बातचीत, कार्य-कलाप सभी कुछ इतने मनोयोग से आंका गया है जो स्वय पूर्ण है और जिनके व्यक्तित्व का सम्मोहन यथार्थ के जादू से भी बढकर है। कथा-साहित्य के सभी सम्भव सदर्भों को इन्होंने अपनी जादुई कलम से छूआ था। तो क्या भला निरवधि काल की सीमा इन महान् कलाकारों के प्रभाव को कम करेगी और क्या कभी भी—किसी भी परिस्थिति में—इनका देय अग्राह्य होगा ?

जैसे ईश्वर अपनी सृष्टि में ऐसे प्राणियों को सिरजता है जिनकी अपरिमित रहस्यमयी शक्ति नियति की डोर के सहारे नाचती है, उसी प्रकार उपन्यासकार द्वारा सृष्ट पात्रों के भी व्यावहारिक साँचे हैं जिन्हें सामाजिक उत्तरदायित्व की जवाबदेही बरतनी पडती है और जिनकी नियति एक दूसरे से जुडी हुई महत्तर पूर्णत्व की चुनौती स्वीकार करती है। जिस प्रकार ईश्वर प्रत्यक्षत मानव के प्रति विराट् अभियान-नाट्य में निजी सत्ता को एक नित-नवीन और असीम आकार प्रदान करता है उसी प्रकार लेखक का कथात्मक जगत् भी (भले ही कुछ लोग उसे मिथ्या कहें) वास्तविक जगत् है जिसका नियामक या सृष्टिकर्त्ता वह स्वय है, जिसकी आस्था एव अनास्था उसके चरित्रों के भाग्य से बँधी है और जो विभिन्न प्राणियों के मूलगत भेद को कथा-चरित्रों के रहस्यमय आयामों में संश्लिष्ट कर देता है। परन्तु किसके पास है यह निश्चित् कसौटी ? कौन है जिसकी सृजनशील कल्पना अन्दरूनी शक्ति सचय कर समूचे कृतित्व पर ऊष्म ज्योति बनकर छा जाती है और जहाँ समाधानहीन अनन्त आश्चर्य, नवोन्मेषशालिनी उत्सुकता बाह्य गतियों पर नहीं आतरिक चेतना की परतों और सूक्ष्म सवेदना पर थिरकती है। उपन्यास-कार को उसके अपने सृजन को सार्थकता देने का एक सम्भव उपाय यही प्रतीत होता

है कि वह जिन्दगी की धड़कन को महसूस करे, केवल अपने खातिर या अपने तईं ही न जिए अपितु चतुर्दिक् फैले जीवन में जो भी उसके सम्पर्क में आवे उसके अनुभवों को महत्तर चेतना में सश्लिष्ट करके आंके। जैसा कि हमने ऊपर कहा उपन्यासकार हर परिस्थिति और दृश्यबन्ध की परिकल्पना करने वाला शिल्पी भी है, अतएव वैसा ही दृश्यगत प्रभाव और वातावरण अंगीकृत करके उसे अंतरंग और बहिरंग की अखण्डता में पूर्ण सामंजस्य खोजना चाहिए, साथ ही उसे उन मूल तिन्तुओं का संरक्षण भी करना पड़ता है जो समूचे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की प्रवृत्तियों से एकरूप हो औपन्यासिक शक्ति का अक्षुण्ण स्रोत है।

विभिन्न प्रयोगों की एक लम्बी शृंखला के पश्चात उपन्यास का पाट आज बहुत चौड़ा हो गया है, किन्तु यांत्रिक सभ्यता की अतिबौद्धिकता के आग्रह ने निष्ठापूर्ण आस्था की विरासमान शक्तियों को डगमगा दिया है। उपन्यास के लिए जिस अंतर्दृष्टि, सूक्ष्म कल्पनात्मकता, सहजानुभूति और मूर्त चित्रात्मकता की अपेक्षा है—कौन है हिन्दी में जो ताल ठोक कर वाह्य और आंतरिक पक्ष के विशेष प्रौढ़तर कलात्मक संयम पर सर्जनात्मक क्षमता में सबको एक साथ समेटने का दावा कर सके। किसकी संवेदनाओं की सान्द्रता और सचाई—सांगोपांग रूप में—जीवन के वैविध्य और उसके समस्त आयामों से एकतान हो सकी है।

प्रेमचन्द को जाने दीजिए। गुजरी दास्तां है। मगर जैनेन्द्र, अज्ञेय व इलाचन्द्र जोशी, यशपाल, कृष्णचन्द्र व अश्क, राहुल सांकृत्यायन, वृन्दावनलाल वर्मा व चतुरसेन शास्त्री, भगवती चरण वर्मा व भगवतीप्रसाद वाजपेयी, डॉ० धर्मवीर भारती व डॉ० देवराज, मन्मथनाथ गुप्त व डॉ० रांगेय राघव अमृतराय व अमृतलाल नागर, फणीश्वरनाथ 'रेणु' व नागार्जुन साथ ही नये-नये प्रयोगों से चौंकाने की चेष्टारत कितनी ही नवोदित प्रतिभाएँ कब अपने लघु अह के वृत्त से उभर कर आगे आने पाईं। लेखक के टूट बिखरे, विशृंखल स्वप्नों की परिणति आज कुछ प्रतीकों, खण्डचित्रों और छिन्न अनुषगों तक ही सिमट कर क्यों रह गई? कहाँ है समष्टि को उसका सहज देय जो समय की दारुण चोट खाकर अदेय बन गया है और जिसकी अमिट खरोंचे ही औपन्यासिक दाँवपेंच या प्रायोगिक नव्यता की नई मौलिक उद्भावना की कसौटी मात्र है।

वस्तुत आज के हिन्दी उपन्यासकार की दृष्टि तत्स्पर्शी नहीं, आत्मप्रवंचक है। उसके आयासहीन कोरे समाधान छूछे हैं, ऊपरी हैं—जो समस्याओं की जड़ों को नहीं छू पाते।

५

नये काव्यग्रन्थ

किसी भी काव्यकृति के सौष्ठव को हम इस कसौटी पर नहीं परखते कि उसने हमारी भावनाओं को कहाँ तक उद्बुद्ध किया है, प्रत्युत् उसकी आत्मा में झाँक कर जीवन के मूलभूत सिद्धान्त एवं शाश्वत सत्य को हृद्गत करके ही हम उसके महत्त्व को आँक पाते हैं। सत्काव्य का आदर्श सामान्य भावभूमि से सदैव ऊँचा उठा रहना चाहिए। न केवल साहित्य एवं कला के उदात्त तत्त्व कवि की मुक्त राग चेतना से अनुप्राणित होकर उसके अनुभूत यथार्थ को व्यक्त करते हैं, वरन् जीवन और जगत् के सूक्ष्म प्रभाव—जिन्हें कि वह आत्मसात् करके वाणी द्वारा दूसरों तक पहुँचाता है—मानवीय मनोवेगों को आन्दोलित करते हुए हमारी कल्पना को भी चमत्कृत और अनुरंजित करते हैं।

कला अमर है और मानवीय मनोवेगों को तरंगित करने वाली यह रहस्यमयी शक्ति भी अमर है। सृष्टि के जिस दृश्यमान मूर्त की ओर साधारण लोगों की दृष्टि जाकर लौट आती है, वही कवि के कल्पना जगत् को आत्मप्रकाशानुरूप करती हुई अखण्ड, चिन्मय आनन्दानुभूति से भर देती है। चूँकि कवि की चेतना रागबोधात्मक है, उसकी अनुभूतियों की परिधि भी इतनी व्यापक हो जाती है कि वह दृश्यजगत् की अर्थवती छवियों में अपनी राग विराग की वृत्तियों को तद्रूप करके मद-विह्वल-सा जीवनमय उन्मद राग में डूबता-उतराता रहता है। अन्तरिक्ष पथ पर बिखरे अगणित तारे जो सामान्य दृष्टि को केवल चिनगारियों से प्रतीत होते हैं, रंग-बिरंगे पुष्प जो असमय में ही झड़कर मुरझा जाते हैं और वातायन पथ से छनने वाली सौरभसम्पन्न समीर की हल्की हल्की थपकियाँ जो शून्य में टकराकर विलय हो जाती हैं, कवि के अन्तर्देश में न जाने कितनी मदभरी कामनाकान्त भावनाओं को जगाया करती हैं। कवि की यह उन्मादपूर्ण मानसिक स्थिति ही वास्तविक प्राप्तव्य अवस्था है, क्योंकि इसी के द्वारा वह वस्तुगत सत्य तक पैठ पाता है। बाह्य परिवेश को अपने अनुभव का विषय बनाकर वह सौंदर्यासौंदर्य की विवृति करता है और आत्मा की मनन शक्ति द्वारा क्षुद्र संकुचित सम्बन्धों से ऊपर उठकर श्रेय की प्रेयरूपा शक्ति को उद्बुद्ध करता है। शेक्सपीयर ने एक स्थल पर लिखा है

"जिस प्रकार कवि की कल्पना अज्ञात वस्तुओं का रूप निर्धारित करती है,

उसी प्रकार उसकी लेखनी वायवी, तुच्छ पदार्थों को मूर्त करती हुई उनको सस्कार और स्थायिता प्रदान करती है।"

(As imagination bodies forth,
The form of things unknown, the poets' pen,
Turns them to shapes, and gives to airy nothings,
A local habitation and a name)

कवि की दृष्टि इतनी सवेदनशील और व्यापक होती है कि जीवन के सूक्ष्म तम भावो स उद्बुद्ध होकर अभिमत आदर्शों को उपलब्धि करती है और पुन अपने इन्ही मूर्त्त आदर्शों को, जो उसकी कल्पना से सजीव हो उठे हैं, वह उन्हें अणु अणु में स्पन्दित होत देखता है। विश्व में जो कुछ अन्तर्हित सत्य है उसे वह अपन ज्ञान स्फुल्लिगो स उद्भासित करता हुआ अपनी निस्सीम भाव परिधि में प्रतिष्ठित देखना चाहता है। विशिष्ट वस्तुओ का निरीक्षण करते हुए जो स्मृतियाँ उसके अन्तर में सचित हो जाती हैं वे ही रससिक्त होकर उसकी लेखनी की नोक पर थिरकने लगती हैं और तब, आत्म विस्मृति के क्षणो में, उसे यह समझ नहीं पडता कि यह सब कैसे हो जाता है। टैगोर ने लिखा है

"क्या कोई मनुष्य किसी बात को समझाने के लिये कविता लिखा करता है? बात यह है कि मनुष्य के हृदय को जो अनुभव होता है वही काव्य-रूप में बाहर आन का प्रयत्न करता है। यदि किसी कविता को सुनकर कभी कोई यह कहता है कि मै तो इसमें कुछ नही समझता तो उस समय मेरी मति कुठित हो जाती है। पुष्प को सूँघकर यदि कोई कहने लगे कि मेरी कुछ समझ में नही आता तो उसका यही उत्तर हो सकता है कि इसमे समझने जैसा है भी क्या? यह तो केवल प्रतीति या आभास मात्र है।"

कवि के लिए सौंदर्य विश्व का अन्तरतम सगीत है। उसमें उसकी सूक्ष्म चेतना अन्तर्निहित होती है। विश्व की विराट् रगस्थली में जब पार्थिव वस्तुएँ नित्य बनती और बिगडती है तो कवि को शाश्वत सौंदर्य और सत्यता की प्रकाशधारा दिग्दिगन्त में लहलहाती दीख पडती है। उसकी सौंदर्य की बोध-चेतना इतनी सूक्ष्म है कि वह अपने अभीप्सित को तीव्रता से स्पर्श करती हुई सत्य की समग्रता में खो जाना चाहती है। एक ओर उसकी महती आकाक्षा अन्तर्निष्ठ सौंदर्य की प्रेरणा का उत्स है तो दूसरी ओर विश्वात्मा की असीम व्याप्ति उसकी आँखो में आलोक के स्निग्ध कण बन कर ढुलकती रहती है।

यह सौंदर्य ही काव्य की वह शाश्वत शक्ति है जो 'सत्य, शिव' की चरम परिणति है। कवि की सौंदर्य भावना सत्य की जिज्ञासा बनकर जब भीतर के अरूप सौंदर्य को यत्र-तत्र छलकाती है तो काव्य की धारा फूट पडती है और काव्य का यह शिवत्व ही 'सत्य' और सुन्दर' बन जाता है। पाश्चात्य विद्वानो के अनुसार यह सौंदर्य दो प्रकार

का होना है। (१) भाव सौंदर्य (२) अभिव्यक्ति सौंदर्य। इन्हें ही अपने यहाँ अनुभूति पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष अथवा भाव पक्ष और कला पक्ष कहा गया है। प्रमुख रूप से कविता में कवि की अनुभूति की अभिव्यक्ति रहती है। वह जो कुछ देखता या सुनता है उसे ही आत्मसात् करके कविता द्वारा व्यक्त करता है। किन्तु जैसे शरीर के बिना आत्मा का अस्तित्व सम्भव नहीं है, उसी प्रकार अभिव्यक्ति के सौंदर्य के बिना केवल भाव का प्रकाशन ही कविता नहीं है। जब तक कवि अपने मनोभावों को व्यक्त करने वाली विविध कलाओं से अवगत नहीं होता तब तक कविता की परिपूर्ण और परिपक्व सत्ता सम्पन्न हुई दृष्टिगत नहीं होती। भारतीय आचार्यों ने भावों के स्वरूप-निरूपण और उनकी अनेक विधाओं की मार्मिक विवेचना की है, किन्तु भावों के अतस् में प्रवाहित होने वाले रस की निष्पत्ति तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि उन्हें अनूठे ढग से व्यक्त न किया जाय।

पाश्चात्य रीति से प्रतिपादित काव्य के चार तत्त्व (१) भावतत्त्व (रागात्मक तत्त्व), (२) कल्पनातत्त्व, (३) बुद्धितत्त्व और (४) शैलीतत्त्व—अनुभूति और अभिव्यक्ति—इन दोनों पक्षों के अन्तर्गत आ जाते हैं। काव्य का प्रमुख गुण रागात्मक तत्त्व भावनाओं को स्फुरित करता है, कल्पनातत्त्व सजीव तूलिका से अमूर्त को मूर्त्त करता हुआ नानाविध चित्र हमारे नेत्रों के सम्मुख लाकर खडा कर देता है, बुद्धितत्त्व हमारे तरगित मनोवेगों, कल्पना-प्राचुर्य और विषय-प्रतिपादन पद्धति में सामजस्य स्थापित करता है अर्थात् भावपक्ष और कलापक्ष दोनों को औचित्य की सीमा से आगे बढने नहीं देता। शैली तत्त्व हमारे आत्म-प्रकाशन का साधन है। वह हमारे आत्मभूत तत्त्व को बहिर्मुख करता हुआ उसे सुन्दर और सुचारु बना देता है। कुशल कवि अपनी अन्तर्निहित सूक्ष्म भावनाओं को सुन्दर भाषा में प्रस्तुत करता है। वह इस कला में जितना ही पारगत होता है उतना ही सफल समझा जाता है।

प्राय. प्रत्येक काव्यकृति में दो तत्त्व दीख पडते हैं—एक 'अर्थ' और दूसरा 'शब्द'। शब्द और अर्थ काव्य का शरीर है और रस उसकी आत्मा। हमारे आचार्यों ने भिन्न-भिन्न पद्धति से शब्द, अर्थ और रस की व्याख्या की है। उत्कृष्ट काव्य में सभी तत्त्वों का समावेश अनिवार्य है। जिस प्रकार अनन्त काल से मनुष्य में अपने विचारों को व्यक्त करने की प्रबल आकाक्षा है, उसी प्रकार उसमें सौंदर्य-भावना निहित होने के कारण अभिव्यक्ति का साधन अपनी भाषा को सजाने-सँवारने की सहज वृत्ति भी होती है। अलकार (शब्दालकार, अर्थालकार, उभयालकार), शब्दों के गुण (माधुर्य, ओज, प्रसाद), ध्वनि (अभिधा, लक्षणा, व्यजना), नाद और स्वर आदि भाषा-शास्त्रियों ने अनेक प्रकार से भाषा के गुण-दोषों का वर्गीकरण किया है। आत्मा की केन्द्रानुगामिनी शक्ति—सृजन की भावना से अनुप्राणित होकर—जब सुन्दर और सुचारु रूप में वाणी द्वारा प्रस्फुटित होती है, तो उत्कृष्ट काव्यकृति बन जाती है।

काव्य के भेद

प्रमुख रूप से काव्य के दो भेद किये गये हैं (१) भाव प्रधान और (२) विषय

प्रधान। भाव प्रधान कविता में कवि का आत्माभिव्यंजक रूप अर्थात् उसकी अपनी बात की प्रधानता होती है। इसके अन्तर्गत गीतिकाव्य और स्फुट कविताएँ आदि आती हैं। विषय प्रधान कविता में अपने से परे देश और समाज की बातें, विश्व भर के अखिल मानवों के हृदयावेगों का विशदतम रूप तथा जीवन की व्यापक संचालक शक्तियों एवं आशा-आकांक्षाओं की सफल अभिव्यक्ति होती है। "उसकी रचना उस बड़ वृक्ष की भाँति होती है जो देश के भूतल रूपी जठर से उत्पन्न होकर उस देश का आश्रयरूपी छाया देता हुआ खड़ा रहता है।" विषय प्रधान काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य, खंडकाव्य, जीवन वृत्त, पौराणिक गाथा और ऐतिहासिक आख्यान आदि आते हैं। इनमें कवि केवल अपने तक ही सीमित न रहकर दूर तक अपनी दृष्टि फैलाता है। वह किसी समय विशेष या देश विशेष की भावनाओं में न बँध कर विपुल मानव-जीवन को अतीत, वर्तमान और भविष्यत् के सन्दर्भ में अपने भीतर समेटे रहता है। जितने भी विश्व के बड़े-बड़े महाकाव्य अब तक लिखे गये हैं उनमें कवि का व्यक्तित्व तिरोहित होकर समग्र मानवता का रूप मुखर हो उठा है।

महाकाव्य की व्याख्या

यह तो निर्विवाद है कि महाकाव्य की परिधि अत्यन्त विस्तृत है। उसकी कथा किसी व्यक्ति विशेष की नहीं, वरन् मानवता का इतिहास, मानव जीवन की व्याख्या और मानवीय मनोवेगों का स्वच्छन्द प्रवाह उसमें मिलता है। वह अपने रचयिता की लोकोत्तर शक्तिमयी कल्पना-शक्ति का दिग्दर्शन कराता, विश्व भावनाओं को तरंगित करता और उन्हें दिव्य रस के प्रवाह में प्रवाहित करता है। महाकाव्य का उद्देश्य है—जीवन की घनीभूत, विशदतम, निगूढ़ अनुभूतियों को अपने महा-कलेवर में समेट रखना और मानवीय उच्चादर्शों को उद्भावित करना।

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के अनुसार जो सर्गों में बँधा हुआ हो वह महाकाव्य है। उसमें एक नायक होता है, जो देवता या उत्तम कुल का धीरोदात्त गुणों से युक्त क्षत्रिय होता है। एक वंश के कई राजा भी नायक हो सकते हैं। शृंगार वीर और शांत रस में कोई एक रस अंगी होता है, अन्य रस गौण होते हैं। नाटक की सभी संधियाँ रहती हैं। उसकी कथा ऐतिहासिक अथवा लोकप्रसिद्ध महापुरुष की होती है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस चतुर्वर्ग में से उसका एक फल दिखाया जाता है। आरम्भ में मंगलाचरण या वर्ण्य विषय का निर्देश होता है। कहीं-कहीं खलों की निन्दा और सज्जनों की प्रशंसा होती है। उसमें कम से कम आठ सर्ग रहने आवश्यक हैं। प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द होता है, किन्तु सर्ग का अन्तिम पद्य भिन्न छन्द का होता है, यद्यपि कहीं-कहीं अपवाद भी दीख पड़ता है। सर्ग के अन्त में अग्रिम कथा की सूचना भी होनी चाहिए। उसमें सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा रात्रि, प्रदोष, अन्धकार दिवस, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संयोग, वियोग, स्वर्ग, नर्क, यात्रा, संग्राम, अभ्युदय, पतन आदि विषयों का यथासम्भव सांगोपांग वर्णन होना चाहिए। उसका नामकरण कवि अथवा चरित्र नायक के

आधार पर होना चाहिए। प्रायः स्वतन्त्र नाम भी देखे जाते हैं।

पश्चिमी काव्यशास्त्र के अनुसार महाकाव्य में कोई सच्ची ऐतिहासिक अथवा लोकप्रसिद्ध बृहद् कथा वर्णित होनी चाहिए। वह कवि की कोरी मनगढंत कल्पना न हो, हाँ—अपने विचारों और आदर्शों के अनुसार वह उसे कुछ परिवर्तित अवश्य कर सकता है। महाकाव्य का विषय महत्त्वव्यंजक, उसके पात्र असाधारण और शौर्यगुण-सम्पन्न तथा नायक कोई महापुरुष होना चाहिए। कवि के लिए यह आवश्यक है कि वह कथा के मर्म में पैठ कर उसकी इस प्रकार कलात्मक अभिव्यंजना करे कि उसमें एकसूत्रता और महती गरिमा हो। वर्णन-शैली और भाषागत सौंदर्य भी अपूर्व होना चाहिए। उसमें एक ही छन्द का प्रयोग होना चाहिए। कथाओं, उपकथाओं और रोचक प्रसंगों के अतिरिक्त उसमें देवी देवताओं और नियति की भी प्रमुखता होती है। महाकाव्य की कथा किसी व्यक्ति विशेष की न होकर जातीय भावना को प्रतिबिम्बित करने वाली होनी चाहिए।

पाश्चात्य और पौरस्त्य दोनों के लक्षणों में—जहाँ तक महाकाव्य की उदात्तता और गरिमा का प्रश्न है—कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों में ही आधारभूत समानता यह मिलती है कि महाकाव्य में वर्णित विषय का उचित परिपाक, व्यंजना की प्रगल्भता और छलकता रसप्रवाह होना चाहिए। जिसमें उत्कृष्ट व्यंजना, वैलक्षण्य और महत्वविरल नहीं—वह आकार में बड़ा होने पर भी महाकाव्य कहलाने का अधिकारी नहीं है। महाकाव्य में जीवन-समष्टि की अभूतपूर्व झाँकी, पार्थिव कर्त्तव्यों एवं चेष्टाओं का अवसान, सत्य, सौंदर्य तथा उदात्त एवं मौलिक कल्पना-स्वातन्त्र्य का अनूठा सम्मिश्रण और बाह्य एवं अन्तर्जगत् को परिप्लावित करने वाली मंगलमयी निर्मल मन्दाकिनी निर्झरित होती है, जिसमें अद्भुत सौंदर्य-श्री के चरम अस्तित्व की विलक्षणताएँ और जीवन की सम्पूर्ण समग्रता व्याप्त रहती है।

महाकाव्य तत्त्वतः सार्वदेशिक है। भले ही बाह्याचारों से उसकी सृष्टि हुई हो अथवा अन्तर्वृत्तियों से उसकी एक विशिष्ट संस्कृति का विकास हुआ हो, फिर भी इस सृष्ट संस्कृति के मूलवृक्ष में जो लोक जीवन के अगणित तन्तु सिमटे हैं वे ही वस्तुतः उसके प्राणपोषक तत्त्व हैं। न केवल परिस्थितियाँ, घटनाएँ, दृश्यांकन, जीवन के अनगिन चित्र, सुख-दुःख, हास्य-रुदन, राग-द्वेष, प्रेम घृणा, ईर्ष्या क्रोध, तृप्ति-अतृप्ति, अभाव-वैभव, हठ-अविवेक, अज्ञान व्यामोह, बेबसी असमर्थता, वरन् जवानी के जोश का वलवला और प्यार-मुहब्बत की रंगीन शोख मस्ती के भी कितने ही रोचक कथानक जुड़े होते हैं। पात्र, कथोपकथन, वाक्-पटुता, स्वरभेद और वैविध्य, साथ ही पात्रानुकूल चरित्र-चित्रण, मन स्थितियाँ, आचार विचार, तथ्यान्वेषण और उसके अंतरंग भेद-प्रभेद—यों उसका विराट् रूप और व्यापकता उस अथाह समुद्र की नाईं है जो अपने अनल में न जाने कितना कुछ समेटे रहता है। व्यक्ति से कुटुम्ब, कुटुम्ब से समाज और समाज से राष्ट्र तक की रागात्मक अनुभूतियों को

संजोए महाकाव्य की विशेषता है कि वह अपने पात्रों और चरित्रों की एक नई दुनिया बसाता है, उन्हें अमर कर देता है, एक इकाई के रूप में—समग्र और मुक्त—मानव मात्र की सामूहिक एकता का वाहक और युग-युगांत तक उसके महान् अस्तित्व का गवाह है। यही कारण है कि काव्य रूढ़ियों, कथानक रूढ़ियों एवं उपलब्धियों की दृष्टि से पाश्चात्य-पौरस्त्य का भेद कृत्रिम माना गया है।

महाकाव्य के मूल तत्त्व

महाकाव्य के प्रमुख पाँच तत्त्व हैं—(१) सानुबंध कथा (२) वस्तु-वर्णन (३) भाव-व्यंजना (४) देशकाल और (५) शैली। महाकाव्य में कथा-प्रवाह पर विशेष ध्यान दिया जाता है। महाकाव्यकार किसी सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक गाथा को लेकर अपनी संघटित, सामूहिक शक्ति द्वारा मानव-आदर्श और विशिष्ट विश्वरुचि की स्थापना करता है। उसकी काव्य-सृष्टि के साधन किसी देश-विशेष अथवा काल-विशेष से सीमित हो सकते हैं, किन्तु उसके साधनों के भीतर वह प्रकाश छिपा रहता है जिससे प्रेरित होकर वह अपने अन्तर्बाह्य को उदात्त भावनाओं से रंजित करता हुआ विशद चिन्तन और विचार-बहुलता अपनाता है। वह प्रमुख इतिवृत्त के साथ गौण कथानकों, सर्वथा नवीन काल्पनिक घटनाओं, रसात्मक प्रसंगों और महत्त्वपूर्ण जीवन दशाओं को भी समाविष्ट कर सकता है।

महाकाव्य में मनोज्ञ वर्णनों पर भी कवि का ध्यान केन्द्रित होना चाहिए, किन्तु कहीं कहीं वर्णन-योजना पर उसकी दृष्टि इतनी सुस्थिर हो जाती है कि वह समुचित प्रतिपादन पद्धति की पर्वाह न करके विस्मयोद्बोधक, एवं चमत्कारपूर्ण प्रसंगों के वर्णन में ही अपनी सारी शक्ति व्यय कर देता है। विश्व-जीवन इतना जटिल और विविधता से पूर्ण है कि काव्यकार को उसके विराट् स्वरूप को हृदयंगम करने के लिये चारों ओर अपनी दृष्टि फैलानी पड़ती है। भाव-व्यंजना के अन्तर्गत समूचे कार्य-व्यापार, कथोपकथन और चरित्र-चित्रण आदि बातें आ जाती हैं। उसके चरित्र का अध्ययन जितना ही सूक्ष्म, जितना ही परिस्थितिजन्य और वैविध्य को स्पर्श करने वाला होगा उतना ही सफलता से वह चरित्र-चित्रण कर सकेगा।

जीवन के चित्रण के रूप में महाकाव्य का महत्त्व मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों के संघर्ष में है। महाकाव्य के पात्र किसी देश विशेष और समय-विशेष के होते हैं, किन्तु उनमें इस प्रकार जीवन-तत्त्वों का संघटन होना चाहिए कि वे किसी एक युग, एक समाज और एक देश के न होकर सार्वदेशिक और मनुष्य की सनातन एवं बहुविध प्रेरणाओं के प्रतीक बन जायें। युगों के संघर्षों के बीच टकराती अविच्छिन्न जीवन-धारा अनुभूत उपकरणों, रागात्मक क्रिया-प्रतिक्रिया और अनुगत सिद्धांतों के अशेष पटल सामने खोलकर रख दे तथा जीवन की निर्वैयक्तिक विराट् व्याख्या के अन्तर्गत तद्विषयक तथ्यों के रहस्य का हल भी सरलता से खोजा जा सके। मोटे रूप में उसके द्वारा जो भी प्रतिपादित किया जाय वह लोकोत्तर आनन्द की उद्भावना

और युगानुरूप रागबोध और निर्व्याज्य विश्वासो की व्यंजना करने वाला होना चाहिए।

महाकाव्य में आदर्श और उत्कृष्ट चरित्रों का चित्रण किया जाना ही अनिवार्य नही है। महान् से महान् व्यक्तियो में भी कुछ न कुछ त्रुटियाँ अवश्य होती हैं। चरित्र को सजीव और सहज गुणो से विभूषित करने के लिए उनमें अच्छाइयो, बुराइयो और जीवन के उन अगो पर प्रकाश डाला जाना चाहिए जिससे कि स्थायी रूप से वे हमारी भावना का विषय बन जायें। कथोपकथन पात्रो के अनुरूप और काव्य की उच्चाशयता को प्रकट करने वाला होना चाहिए।

महाकवि अपने महाकाव्य मे जिस कथा-खड और जीवन के उदात्त लक्ष्य को लेकर चलता है उसे *तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सास्कृतिक* वातावरण की सापेक्षता में रख कर ही देखता-जाँचता और अपने विषय का प्रतिपादन करता है। रामायणकालीन अथवा किसी भी युग विशेष की कथाओ, उप-कथाओं का चित्रित करते हुए लेखक को उस समय की परिस्थितियो और वातावरण का ठीक ठीक परिज्ञान अपेक्षित है। यदि वह इसका ध्यान नही रखेगा तो अपने ध्येय की पूर्ति न कर सकेगा। महाकाव्य को लिखने की शैली प्रभविष्णु और उदात्त होनी चाहिए *ताकि स्वानुभूति और लोकानुभूति के सर्वसामान्य* तत्वों को समन्वित किया जा सके। काव्यकार की महती कृति आत्मरुचि की भावना से अनुप्राणित होकर ही मगलमयी, वैभवसम्पन्न और चिरपोष्य बन सकती है।

महाकाव्यो की परम्परा

हमारे देश मे वर्तमान काल में ही नही वरन् वैदिक और पौराणिक युग के मध्यवर्ती समय अर्थात् ईसा से कई हजार वर्ष पूर्व से श्रीमद्वाल्मीकीय 'रामायण' और श्री वेदव्यास द्वारा रचित 'महाभारत' इन दो वृहद् महाकाव्यो का प्रचार है। ये महाकाव्य जितने प्राचीन हैं उतने ही समृद्ध भी हैं। साथ ही इनमे महाकाव्यो के से विलक्षण और ईश्वरप्रदत्त उपकरणो का चमत्कार भी दीख पडता है।

श्रीवाल्मीकि कृत रामायण में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम की कथा विशद रूप से वर्णित है। इसमें *इतिहास और कल्पना का सुन्दर सम्मिश्रण है।* क्या लोक-पक्ष, क्या आध्यात्म पक्ष—दोनो ओर इसकी गूढता, गम्भीरता और सरसता महान् है। राम की सामान्य जीवन-दशाओं को सामने रखकर उन्होंने अपनी कल्पना के उत्कर्ष द्वारा साधारण जनता के हृदय में उनका आदर्श मानव रूप प्रतिष्ठित किया। काव्य की उदात्त गम्भीरता एव दार्शनिक पुष्टता लोकोत्तर और मनुष्य की कल्पना से परे है। कथाओ, उपकथाओं और जीवन-वृत्तो द्वारा मानव की विराट् शक्ति का दिग्दर्शन कराया गया है।

महाभारत में श्रीवेदव्यास ने कौरवो, पाडवो के महायुद्ध की वृहद् कथा बडी

दक्षता और दृढता से चूल बिठाकर एक महागाथा के रूप में प्रस्तुत की। आख्यान की कितनी ही घटनाओं का अन्त में जाकर समाहार होता है और स्फुट कथाओं के अत्यन्त विस्तृत और अनूठे वर्णन इस सागर के भीतर लहरें मार रहे हैं। महाभारत में पार्थिव शक्ति की पराकाष्ठा के साथ-साथ अलौकिक तत्वों का समावेश भी है। कथा सृष्टि जटिल परम्परा प्राप्त और मंथर गति से आगे बढती है। इसमें कर्तव्या कर्तव्य और धर्माधर्म का बहुत ही सूक्ष्म विवेचन है और ईश्वर जीव सृष्टि, ईश्वर प्रेम जगत की निस्सारता आदि पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

इन दोनो महाकाव्यो में सदियो का इतिहास समाया हुआ है। न केवल इनका प्रभाव अपने देश तक ही सीमित है, वरन् इतर देशों, जातियों एव सस्कृतियो पर भी इनका प्रच्छन्न प्रभाव द्रष्टव्य है। दार्शनिक गूढता व्यापक अनुभूति और सृजन-सामर्थ्य म तो ये महाकाव्य ग्रीस के सुप्रसिद्ध होमर कृत 'इलियड' (Iliad) और 'ओडसी, (Odyssey) इटली के महाकवि वर्जिल और दाते के महाकाव्य 'इनियड' (Aeneid) और दि डिवाइन कामेडी' (The Divine Comedy) और मिल्टन का अग्रेजी महाकाव्य पैराडाइज लास्ट (Paradise Lost) आदि से भी बाजी मार ले जाते है। इनमे हमारे महर्षियो की साधना और सकल्प साकार हो उठे है, जो मानव जीवन के विभिन्न आदर्शों भावनाओं, अभावो पूर्तियो एव सख्यातीत विविधताओं का चित्राकन प्रस्तुत करते है। इन महाकाव्यों का विषय है मानव जीवन सम्बन्धी शाश्वत एव चिरन्तन मनोभाव, किन्तु ज्यो ज्यो लोगो ने नवीन विचारधारा को प्रश्रय दिया और साहित्य आदर्शवाद से यथार्थवाद की ओर झुका, त्यो त्यो मानव परिवेश के व्यापक तत्व घटने गये। प्राचीन आदर्श पिछले युगो की विरासत के रूप में चलते रहे किन्तु उनमे अत्युत्कृष्ट कला का सबल शिथिल और जीवन की समग्रता के पक्ष इनेगिने रह गये। सस्कृत में कुछ काल तक व्यक्ति प्रधान यथा—किरातार्जुनीय, 'शिशुपालवध' 'कुमारसभव आदि महाकाव्यो की परिपाटी चलती रही, लेकिन उनमें 'रामायण', 'महाभारत की भाँति विश्व चेतना का विराट् मर्मस्पर्शी स्पंदन न सुन पडा।

किसी भी राष्ट्र अथवा जाति के इतिहास में महाकाव्यो का उद्भव एक विशिष्ट युग में ही हुआ करता है। अपनी आदिम अवस्था में कवि जीवन को समष्टि रूप में अपनाकर उसमें अपनी भावनाओं का उन्मेष करता है। ऐसे युग में लोकोत्तर शक्ति में विश्वास, दैवी देवताओं में आस्था और नियति से बँधे रहने में ही उसे अपना कल्याण दीख पडता है। रामायण, महाभारत आदि महाकाव्यो में साहसिक कृत्य, सग्राम और दैवी दुर्घटनाओं का बाहुल्य है। मनुष्य देवताओं और नियति के हाथ का खिलौना है, उनकी दुर्दम्य शक्ति उससे खिलवाड करती है। जिसकी तह में वह नहीं घुस पाता उसे ही प्रारब्ध मानकर जीवन की विवश परिस्थितियो के आगे वह सिर झुकाकर स्वीकार करता है, किन्तु ज्यो-ज्यो उसका ज्ञान विकसित होता जाता है और समाज एव राष्ट्र द्वारा निर्धारित नियमों में उसकी बुद्धि बँधती है, त्यो त्यों अनेक समस्याएँ

उभरकर उसकी मघटित समूह शक्ति और आदिम भावना को नष्ट कर देती है।

हमारे प्राचीन महाकाव्यों में वृहत्तर भारतीय संस्कृति एक नई विराट् शक्ति के रूप में सदा सामने आई। पूर्णत्व की खोज और आध्यात्मिक आधार पर मानवीय सम्बन्धों के आधारभूत तत्त्व, भारतीय जीवन में जो कुछ भी दर्शन अथवा कर्म के रूप में विशिष्टता है उसका जीवन्त समन्वय की भावना अर्थात् भिन्न और असम्बद्ध अंगों को मिलाकर एक करने की चरम अनुभूति, ज्ञान, भक्ति और योग की अदृष्ट शक्ति का अन्तरावलम्बन, मोटे रूप में सर्वत्र व्याप्त तथ्यों को समझने-बूझने की अक्षुण्ण भावना के साथ-साथ मानवीय एवं व्यावहारिक पक्षों की भावना में पैठने के प्रयास चलते रहे। महाकाव्य युग और जीवन के अन्तर्बाह्य की झाँकी प्रस्तुत करता हुआ अटूट धरातल की उन्मुख चेष्टाओं का प्रतीक बना रहा। बुनियादी सांस्कृतिक एकता का सूत्रपात करते हुए भौतिक और बौद्धिक रूप से जो उसने दिया उसके मूल तत्त्व इस प्रकार हैं.

१. समग्र जीवन की एकतानता जिसने वैविध्य में समन्वय और प्रशस्त जीवन-सत्य को उद्घाटित किया।

२ जीवन अपने अर्थ का, उसकी हर परिस्थिति को, दिन-नई समस्याओं और गुत्थियों को काव्य के सन्दर्भों में उजागर करता रहा।

३. फिर व्यंजना भी उनमें कितनी उदात्त होती थी। न केवल भाव-समृद्धि, तन्मयता और मनोयोग, वरन् सरसता, ओजस्विता और भाव प्रवणता के भी सर्वत्र दर्शन होते थे। कल्पना की आँख ने अतीत, वर्तमान और भविष्य की दुर्भेद्य पर्तों में झाँका था।

४. दुर्दम्य धारा-प्रवाह की भाँति मार्ग बनाता, जीवन-संघर्षों की कठोर चट्टानों से टकराता, परिस्थितियों के कगारों को चकनाचूर करता महाकाव्य मूलगत प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्बित करता रहा। कितने ही वर्णित तथ्य सामूहिक द्वन्द्व-संघर्ष का साक्ष्य प्रस्तुत करते रहे।

५. काव्य की कल्पना अतिमानवी होते हुए भी उसकी भाव-व्यंजना मानव की अर्थ-परिधि को छूती रही, अतएव समग्र मानव-मन के अनन्त कालान्तरों का संचित स्मृतिज्ञान उसके पीछे है। युग-युगान्तर की राजनीति, इतिहास, समाज, धर्म, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, मनोविज्ञान, रीति-रूढि की पुञ्जीभूत अनुभूति और इस समग्र अनुभूति की अखण्डता में कितने ही दुःख-दर्द, द्वन्द्व-संघर्ष और समस्याएँ निगोहित हैं। इन तीव्रतम कशाघातों के आरपार झाँकने को उतनी ही अन्तर्निगूढ़ प्रक्रियाएँ भी हैं जिससे मूल कथा का तारतम्य टूट जाय तो उदात्त कल्पना से उसे संश्लिष्ट किया जा सकता है।

६. गतिमान जीवन में जो उतार-चढ़ाव या आशा-दुराशाएँ हैं उनसे परे भी कोई सत्य या नित्य-सनातन जीवन का आश्वासन है। जीवन और जगत् के वास्तविक स्वरूप को उसकी समग्रता में न बूझ सकने के कारण वह पग-पग पर इस द्वन्द्वात्मकता

स भयभीत और पारलौकिकता स पलायन की बात सोचता है। दरअसल, यह अनन्त गतिमान जीवन ही अपन आप में चरम सत्य है जिसके निर्द्वन्द्व निर्विकल्प साक्षात्कार का परिणाम ही य काव्य है।

७ असल्म मानो म काव्य ना वह है जो छल्कता रस नही वरन् भीतर ओत प्रोत रस का आस्वाद कराय जा आंशिक रूप में नही सार्वकालिक और सार्वभौम रूप म कुछ उपलब्धियाँ प्रदान करे अर्थात बाहर भीतर की वस्तुस्थिति में पैठकर गहरा उतर। काव्य म आत्महित और लोकहित—यह दो ही महान् तत्व अंतर्भूत हैं अर्थात जब को एकार अपनी निजता म डूबकर निर्वैयक्तिक हो जाता है उसमें तद्रूप या तत्सम हो जाता है दूसर शब्दो में काव्य लोकाबद्ध होकर भी लोकातीत है अर्थात जीवन-जगत का भद उन्हे दखकर और पहचान कर भी उनके अभद को पा लेन में है।

८ काव्य जितना ही तलस्पर्शी और निरपेक्ष है उतना ही अपने प्रस्तुतीकरण में तात्विक और सत्य का शोधक भी। अपन निजत्व को सत्य की शोध में लय कर देना ही उसकी खूबी है।

९ तत्कालीन प्रसगो एव घटनाओ का चित्रण करत हुए भी वह घटनात्मक सामयिकता से बँधा नही रह सकता, क्योकि एसी स्थिति में अहङ्कृत धारणाओ पर टिका काव्य सकीर्ण अथ का ही द्योतक होगा।

१० कवि में जब विधायक कल्पना का जन्म होता है तो यह प्ररणा ही उदात्त रूप में या कह कि उसकी भौतिक परिणति ही काव्य है। अपन मनोवेगो रागो और सस्कारो को उँडलन में वह जितना ही कमाल हासिल करेगा यानी उसका तन्मय भाव जितना ही घनीभूत हागा उसमें महाप्राणता का उतना ही पुष्ट बीज अतर्हित होगा अर्थात उसकी रसात्मकता उतना ही अलौकिक भावभूमि पर उसे प्रतिष्ठित करेगी।

११ कहन का तात्पर्य है कि काव्य म जीवन की गत्यात्मक सत्ता का समष्टि रूप हाना चाहिए अर्थात चतना क मत्रबल म उसे इस प्रकार उदभासित करना चाहिए ताकि आचार और विधि की महत्ता के साथ-साथ उसम मूर्त स्पदन जाग्रत हो सके। मानव म जो स्वभावत स्थायी भाव विद्यमान होते हैं वे सनातन सस्कारों के रूप में उभर कर सौदय और रमणीयता की प्रभावात्मक व्यजना करते हुए हमारी बाह्य इन्द्रिया को ता तृप्त करत ही है मानस जगत म भी आनन्द रस का सचार करते हैं।

१२ कालान्तर म शब्द और अथ में भले ही हरफर हो पर इन सनातन सस्कारा का भाव नही बदलता। जीवन की शाश्वत धारा से उनका अविच्छिन्न सम्बन्ध है और चूँकि वे समय की सीमा में नहीं बँधते, अतएव उनका अस्तित्व भी अचिन्त्य एव अवर्णनीय है वह त्रिकालाबाधित है। यही कारण है कि उसकी आप्त सत्ता के समक्ष सभी नत है।

१३ उस अचिन्त्य एव अनिवचनीय धारा का उन्नयन एक एसे कलात्मक

सौन्दर्य को प्रस्फुटित करता है जो अंतरंग को द्रवित कर कलाकार के द्वैत को अद्वैत की इकाई में परिणत कर देता है।

१४ वास्तविक काव्य के मूल में नित्य सत्य होता है। साधना के चरमोत्कर्ष पर पहुँच कर ही काव्यकार की चेतना स्फूर्त होती है और वह रूप और अर्थ की अपेक्षा न कर किसी भी क्षण कला की शाश्वत भूमि पर उससे तादात्म्य स्थापित करता है।

१५ सामयिकता की परिधि से परे उसकी दृष्टि व्यापक से व्यापकतर—अर्थात् उसके विराट् व्यक्तित्व की विपुलप्लाविनी प्रतिभा के विविध रूपों की ही प्रतिच्छाया है। वर्तमान या विगत मूल्य मर्यादाओं को सही रूप में वह आँक सका कि नहीं। सबसे बड़ी बात—वह अपनी विशालता में क्या कुछ समेट सका है, साथ ज्ञान और ज्ञेय के एकत्व की ओर वह कहाँ तक प्रवृत्त हुआ है।

यों पहले के काव्य आभ्यन्तरिक अनुष्ठान के प्रतीक हुआ करते थे और उसकी ति के लिए कवि को सच्ची साधना में प्रवृत्त होना पड़ता था। पर आज परिस्थि-यों ने जो मोड़ लिया है उससे जीवन वैषम्य की अनेकरूप झाँकियाँ उसे दिग्भ्रान्त थे हैं। आज के बड़े से बड़े कवि की दृष्टि का विस्तार मौजूदा जीवन के विस्तार साथ जुड़ा हुआ है, यही कारण है कि उसके अर्थबोध में इतनी प्रतिक्रियाएँ निहित कि पुराने काव्य का ढाँचा चरमरा उठा है।

किसी भी साहित्य से हमें युग की शक्तियों को परखने की प्रेरणा मिलती । बाह्य आवेष्टन के पहलू नित्य बदलते रहते हैं अतएव साहित्य के मानदंड और नुष्य के मन भी बदलते रहते हैं। पुरातन आदर्श महाकाव्यों के वर्ण्य विषय और ऐतिहासिक एवं पौराणिक आख्यानों के प्रति लोगों की आस्था घट गयी है। युग की वभिन्न माँगों, समस्याओं और शंकाओं में उनकी वृत्ति इतनी रम गई है कि जीवन नानाविध स्थायी पटलों पर उनकी दृष्टि टिक नहीं पाती। तात्कालिक भौतिक समस्याओं में उलझे रहने के कारण उनकी क्रियाशीलता और जीवन में आनन्द की अनुभूति जैसे जैसे कम होती जाती है वैसे वैसे उत्कृष्ट महाकाव्यों का युग भी एक प्रकार से समाप्त होता जाता है।

हिन्दी में पहला वास्तविक महाकाव्य चन्द बरदाई का 'पृथ्वीराज रासो' कहा जाता है। इससे पूर्व नरपति नाल्ह का 'बीसलदेव रासो' एक खंडकाव्य लिखा गया था, किन्तु इसके अधिकांश वृत्त काल्पनिक और अप्रामाणिक हैं।

'पृथ्वीराज रासो' ६९ सर्गों में ढाई हजार पृष्ठ का महत्त्वपूर्ण महाग्रंथ है। इसकी रचना संभवतः सोलहवीं शताब्दी में हुई, या 'रासो' में दिये गये संवतों आदि का ऐतिहासिक तथ्यों से सामंजस्य न होने के कारण इधर विद्वानों में मतभेद उत्पन्न हो गया है।

बुन्देलखंड के महोबे के चन्देल राजा परमाल (परमार्दिदेव जयचन्द) के

आश्रित जगनक नाम के एक भाट थे, जिन्होंने आल्हा और ऊदल वीरों के कृत्यों का वर्णन वीर प्रगीतात्मक काव्य पद्धति पर किया। आजकल जो गाया जाता है उसका पुराना मूल रूप बहुत कुछ विकृत हो चुका है और सामग्री भी अप्रामाणिक है। आल्हा की ही तरह 'ढोला' की भी स्थिति है जिसे सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आत्म ने लिखा था, किन्तु जो कुछ समय बाद जैन कवि कुशलाभ द्वारा लिपिबद्ध किया गया। ढोला' महाकाव्य मध्यभारत और मध्यप्रदेश में बहुत प्रचलित है। सूफी काव्य-परम्परा में मसनवी शैली पर लिखे गये 'मृगावती,' मधु मालती', मुग्धावती और प्रमावती आदि महाकाव्यों के अतिरिक्त मलिक मुहम्मद जायसी का सुप्रसिद्ध 'पद्मावत महाकाव्य मिलता है जो ईसवी सन् १५२० (९२७ हिजरी) के लगभग लिखा गया। इसमें अलाउद्दीन और पद्मावती के ऐतिहासिक आख्यान को लेकर लोकपक्ष और आध्यात्म पक्ष दोनों का सूक्ष्म सम्मिश्रित रूप प्रस्तुत किया गया है। भक्तिकाल में रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरित मानस' अभूतपूर्व वृहद् महाकाव्य है। काव्य के उत्कर्ष और समुचित विकास के लिये जितने उपकरणों, जीवन संश्लिष्ट चित्रों और कल्पना-वैभव की अपेक्षा है उतनी भावराशि और ज्ञात-अज्ञात भावनाएँ इसमें बिखरी हुई हैं। तुलसीदास जी ने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा और समन्वय बुद्धि से जीवन की सकुल सघनता में झांक कर मनुष्य की भीतरी वृत्तियों का वाह्य प्रकृति से सामजस्य घटित करते हुए दार्शनिक चिन्तन, लोक - कल्याण - भावना, उज्ज्वल उदात्त कल्पना, विलक्षण अनुभूति-क्षमता, अद्भुत काव्यशिल्प और युग-युग का शाश्वत सत्य प्रकट किया।

भक्तिकाल की अन्य स्फुट रचनाओं में लालचदास का 'हरिचरित्र', नरहरि का रुक्मिणी मगल' नरोत्तमदास का 'सुदामा चरित्र' और केशवदास के 'वीरसिंह देव चरित्र' और रामचन्द्रिका आदि आख्यान-काव्य भी लिखे गये हैं किन्तु पहले तो काव्य की कोटि में नहीं रख जा सकते, हाँ 'रामचन्द्रिका' इसमें अवश्य सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ है। केशवदास में सम्बन्ध निर्वाह और कथा के गम्भीर और मार्मिक स्थलों का पहचानने की क्षमता न थी। जीवन के अतरग पहलू, उदात्त कोमल-भावना और प्रकृति की सौंदर्य-सुषमा के प्रति उनका विशेष आकर्षण न था, यही कारण है कि उनमें काव्य का समुन्नत और व्यवस्थित रूप देखने को न मिला।

हिन्दी साहित्य के नवोत्थान में राम और कृष्ण की सरस लीलाओं को लेकर अनेक प्रबन्धकाव्य लिखे गये जिनमें महाराज रघुराजसिंह कृत 'रुक्मिणी परिणय' (१८५० ई०) और 'रामस्वयंवर' (१८७७ ई०) तथा बाबा रघुनाथदास रामसनेही का 'विश्रामसागर' (१८१४ ई०) उल्लेखनीय ग्रंथ हैं। उनमें साहित्यिक सौंदर्य न होते हुए भी वर्णनात्मक शक्ति और निर्माणमयी समन्वयकारी प्रतिभा द्रष्टव्य है।

नये काव्यग्रंथ उस प्राचीन परम्परा से सर्वथा विच्छिन्न से लगते हैं। न नई परिकल्पनाओं और विषम परिस्थितियों में कल्पना और सत्य का मेल बहुत क

अपनाया गया है। जीवन के सत्य, सुन्दर रूप को हृदयगम करके गुप्त जी ने अपनी परिष्कृत सूझ और समन्वित अभिरुचि का परिचय दिया है।

रामकथा प्रसग में उर्मिला की पीडा और व्यक्तित्व, जो अब तक तिरोहित था, उसे गुप्त जी ने नवीन रूप देकर अत्यन्त सरसता और कौशल से चित्रित किया है। उर्मिला जैसी पतिप्राणा नारी के वियोग की कसक, तूफानी हलचल और अनत प्रतीक्षा की नीरव व्यथा, जो परम्परागत प्रसगो के भार म अभी तक दबी पडी भीतर-ही-भीतर अभिव्यक्ति के लिये छटपटा रही थी, वह अनुकूल अवसर पाकर प्रकट हो गई।

वस्तुत प्राचीन और अर्वाचीन कवियो के भक्ति विषयक दृष्टिकोणो में भी पर्याप्त अन्तर है। भगवान राम के अपूर्व प्रेमरस से सिक्त श्रीमद्‌वाल्मीकि, तुलसी जैसे महाकवियो की लेखनी को इतना अवकाश ही कहाँ था कि वे भगवद् सत्ता से परे इतर मानवो के राग-विराग और सुख दु खो की गाथा कह सकें। राम-सीता से भिन्न लक्ष्मण उर्मिला के प्रेम की कल्पना और फिर बनवास के बाद प्रभु-वियोग के ताप के समक्ष वासनात्मक, ऐहिक प्रेम की प्रमुखता उन कवियो को कदाचित् रुचिकर न हुई होगी। अयोध्या में कौन ऐसा अभागा प्राणी था जो राम के दर्शनो की लालसा सँजोकर भीतर-ही-भीतर न घुट रहा था। भरत, माताएँ, अयोध्यावासी सभी तो राम वियोग में छटपटा रहे थे और फिर कौन जाने अल्पवयस्का नववधू उर्मिला राम की भक्ति में ऐसी विह्वल और आत्मविस्मृत हो कि उसे पति के अभाव की सुधि भी न रह गई हो अथवा राम और लक्ष्मण का पृथक्त्व मिटकर उसकी विराट् दृष्टि में व्यापक बनकर समा गया हो। जब व्यथा सघन होती है तो अनुभूति-शक्ति भी शिथिल और स्तब्ध हो जाती है, उसका न विश्लेषण अभीष्ट है और न उसकी व्याख्या ही सभव है। कदाचित् यही कारण है कि राम-सीता के व्यक्तित्व से लिपटे चिपटे लक्ष्मण-उर्मिला भी श्रीवाल्मीकि, तुलसी आदि कवियो की दृष्टि में धुँधले से बन कर रह गये हो और उन्होने उनके अतर्मन की सूक्ष्म प्रक्रियाओ एव जीवन-सूत्रो को सुलझाने की आवश्यकता न समझी हो।

'साकेत' और प्राचीन काव्यग्रथो के लक्ष्मण में भी भेद है। 'रामचरित-मानस' में लक्ष्मण के चरित्र के सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवन-तन्तु राम में सिमटे हैं, उनका 'स्व' मिटकर राममय हो गया है। राम जहाँ भी जाते हैं और जो भी करते या सोचते हैं—लक्ष्मण छायावत् उनका अनुसरण करते है। बनवास के समय लक्ष्मण को राम के साथ जाने की आज्ञा नहीं है, तो भी क्या वे उनके बिना जीवन की कल्पना कर सकते हैं ?

> 'गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥
> जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
> मोरे सबई एक तुम स्वामी। दीनबन्धु उर अतरजामी॥'

राम जब लक्ष्मण को देशकाल और राजकुल परम्परा की रीति-नीति का उपदेश देते हैं तो लक्ष्मण का मुख कुम्हला जाता है और वे अधीर हो उठते हैं।

'सिअरे बचन सूखि गए कैसे, परसत तुहिन तामरस जैसे।
उतरु न आवत प्रेम बस गहे चरन अकुलाइ।
नाथ दास मे स्वामी तुम तजहु त काह बसाई।'

साथ जाने की आज्ञा प्राप्त करके लक्ष्मण राम के आग्रह से माता सुमित्रा से मिलने जाते हैं किन्तु उनका मन उधर नहीं राम के साथ ही रहता है।

'जाइ जननि पग नायउ माथा। मनु रघुनन्दन जानकि साथा।'

माता से विदा मांगते हुए भी उनके मन में आशंका बनी रहती है—ऐसा न हो यह स्नेहवश मना कर दे। माता सुमित्रा राम के वन गमन की बात सुन कर सहम जाती हैं उनके मुँह का रंग उड़ जाता है। लेकिन लक्ष्मण सोचते हैं कि यह मेरे कारण तो दुखी नहीं, कहीं यह मुझे वन जाने से तो न रोक लेगी ?

'मांगत विदा समय सकुचाहीं, जाई संग विधि कहिहि कि नाहीं।।'

आशा के विपरीत साथ जाने की आज्ञा पाकर भी शंका बनी रहती है, वे दौड़ कर इस प्रकार राम के पास जाते हैं, जैसे रस्सी में बँधा हुआ मृग भाग्यवश फंदा तोड़कर-नौ-दो ग्यारह होता है।

'मातु चरन सिर नाइ चले तुरत संकित हृदय।
बागुर बिषम तोराइ मनहुँ भाग मृग भाग बस।।

ऐसी स्थिति में लक्ष्मण-उर्मिला के मिलन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जिसको पल पल भारी है जिसने अपना समस्त तन, मन, धन राम के चरणों में समर्पित कर दिया है उस नारी का बंधन कैसे बाँध सकता है ?

'छिनु छिनु लखि सिय राम पद जानि आपु पर नेहु।
करत न सपनेहुँ लखन चितु बधु मातु पितु गेहु।।'

यह एक मोटा सिद्धांत है कि जगन्नियंता प्रभु के चरणों में जिसका मन रम जाता है उसके लिए स्त्री-कलत्र जैसी सांसारिक वस्तुएं नितांत घृणास्पद और त्याज्य हैं

'रमा विलास राम अनुरागी,
तजत बमन जिमि जन अनुरागी'

इसके विपरीत 'साकेत' के लक्ष्मण में आधुनिकता का पुट है। प्रथम सर्ग में ही लक्ष्मण उर्मिला का प्रेमालाप बीसवीं शताब्दी के नवयुवक-नवयुवती सा सरस और कहीं कहीं अश्लील भी हो उठा है। वे उग्र और स्वभाव के रूखे हैं। वन-गमन

के समय लक्ष्मण ऊपर से शान्त किन्तु भीतर से अशान्त हैं। मन में कुछ-कुछ चुभता और कुलकता-सा है

'लक्ष्मण का तन पुलक उठा, मन मानो कुछ कुलक उठा।'

'साकेत' के लक्ष्मण 'मानस' के लक्ष्मण की भाँति निःस्पृह भी नहीं है। वे कई बार उर्मिला का ध्यान करते हैं, एकान्त-शान्त वातावरण में उन्हें प्रिया की बरबस सुधि हो आती है। वन में सीताहरण के पश्चात् राम का विलाप सुनकर उन्हें भी उर्मिला की याद आ जाती है और राम के अश्रु देखकर उनका भी क्षुब्ध मन खोया-खोया और रोया-रोया सा हो जाता है।

'मिला उसी दिन किन्तु तुम्हें मैं खोया-खोया
जिस दिन आर्या बिना आर्य का मन था रोया,
आँखों में ही नहीं अभी तक तुम थीं मानो
अतस्तल में आज सचल निज आसन जानो।'

गुप्त जी ने प्राचीन कथानक में भी हेरफेर किया है। भरत, कैकेयी और सीता को उन्होंने अधिक वाक्पटु और व्यवहारकुशल चित्रित किया है। वन-मार्ग में जब ग्रामीण नारियाँ सीता जी से प्रश्न करती हैं—'शुभे, तुम्हारे कौन उभय ये श्रेष्ठ हैं!' तो वे सरल, स्वाभाविक ढंग से उन्हें उत्तर देती हैं—'गोरे देवर श्याम उन्हीं के श्रेष्ठ हैं।' उनमें आज की नारियों की सी स्पष्टता है, रनिवास में रहने वाली सलज्जा नववधू का सा मुग्धाभाव नहीं। इसी प्रकार 'मानस' में जहाँ भरत अत्यन्त विनम्र, गम्भीर और सकोची स्वभाव के हैं, वहाँ 'साकेत' में अधिक मुखर हो उठे हैं। राम से अयोध्या लौटने का आग्रह करते हुए उनमें वाद-विवाद और तर्क की प्रवृत्ति अधिक लक्षित होती है। कैकेयी भी अपेक्षाकृत सजग, वाचाल और सक्रिय है, 'मानस' की कैकेयी की भाँति गहन-गम्भीर और दुर्भेद्य नहीं'। कैकेयी-हठ के प्रसग में जिस मनोवैज्ञानिक भित्ति पर गुप्त जी ने कैकेयी द्वारा राम को वनवास दिलाया है वह भी 'मानस' से कुछ और भिन्न ढंग का है। 'मानस' की कैकेयी की तरह 'साकेत' की कैकेयी राम के राजतिलक से अनभिज्ञ नहीं है। मथरा दासी से वार्त्तालाप के सिलसिले में उसके दिल पर गहरा आघात होता है। जाने या अनजाने दासी मथरा ऐसी बात कह जाती है जो राम वनवास की मूल प्रेरणा बन जाती है'

'भरत से सुत पर भी सदेह, बुलाया तक न उसे जो गेह।'

पुत्र के अपमान की चोट से कैकेयी की समस्त दर्प-भावना और क्रूरता सजग हो उठती है। पुत्र-प्रेम उसके विवेक को नष्ट कर देता है और उसके मस्तिष्क में विचारों का ऐसा भीषण तूफान उठता है जो उसकी कोमल भावनाओं को समेट ले जाता है।

इसी प्रसग को तुलसीदास जी ने बड़ी मनोवैज्ञानिक बारीकी से आँका है।

कैकेयी राम को सदा भरत से अधिक मानती आई है, छोटे भाई से बड़े भाई का महत्त्व भी उनकी दृष्टि में अधिक है। यदि दशरथ ने सब बातें पहले ही बता दी होती तो वे सहर्ष अनुमति दे देती और कोई झंझट-बखेड़ा न होता। लेकिन यहाँ तो सयोग ही कुछ ऐसा बन गया कि ज्यो ही उन्हे मथरा द्वारा राज तिलक का शुभ-सवाद मिला त्यो ही उनमें सौतिया-डाह के बीज बो दिए गए। मथरा तरह-तरह से समझा-बुझाकर, अच्छा-बुरा और ऊँच-नीच सुझाकर और अनेक दुष्ट सपत्नियो के दृष्टान्त देकर उनमें प्रचड द्वेष-भावना जगाता है। तिस पर भी उनका सरल मन बहुत देर बाद परिस्थिति की गम्भीरता में पैठ पाता है। यह सुनकर कि भरत राम द्वारा बन्दी बना लिए जायगे और वे स्वय भी दूध की मक्खी की भाँति निरादृत होगी उनका रोम-रोम सिहर उठता है 'तन पसेउ कदली जिमि काँपी' और फिर उनमें जो अन्तर्द्वंद्व और भावों का आलोडन-विलोडन होता है वह बड़ा ही स्वाभाविक और 'भरत से सुत पर भी सन्देह, बुलाया तक न उसे जो गेह' से अधिक सबल कारण है। 'मानस' की कैकेयी के समक्ष राम और भरत के मानापमान का प्रश्न नही है, उन्हे दुख है अपने विरुद्ध कौशल्या के षड्यत्र का, अपने आत्म सम्मान की दारुण क्षति का और पति की दृष्टि में उपेक्षिता हो जाने का, जो नारी जीवन का सबसे बडा अभिशाप है। युग-युगान्तर से सौतिया डाह का जो विष नारी-जाति के सिर पर चढ कर बोला है वही राम बनवास का भी कारण है। ऐतिहासिक परम्परा की लीक से हटकर उसमें पुत्र की मानरक्षा जैसा कोई हल्का कारण निहित नही है।

'मानस' की कैकेयी के अन्तर्भावो में क्रमश उतार-चढाव होता है। दो वरदान माँगने की बात भी मथरा के सुझाने से ही उसके दिमाग में आती है, जबकि 'साकेत' की कैकेयी पुत्र-स्नेह के आधार पर सब काड स्वत ही रच डालती है। 'मानस' की कैकेयी की व्यथा भी अधिक गहरी है। एक हद तक वह अपने में ही लीन है। बाहर की प्रतिध्वनियाँ उसे प्रकम्पित नही कर पाती। हठ ठान कर वह भीतर ही भीतर घुट रही है। सौतिया डाह का विष चढ गया है और वह उसके नस नस में पैठ गया है, क्योकि नारी की क्लान्त, दुसह स्थिति के साथ-साथ यह ऐसा भयानक विष है जहाँ से जघन्य से जघन्य कर्म की सूझ निकल आ सकती है, यानी भीतर के इसी असत् में से, इसी द्वन्द्व में से विस्फोट हुआ करता है। परन्तु पुत्र की प्रतारणा से वास्तविकता का बोध होने पर उसके पश्चात्ताप में भी एक भारी काठिन्य और अवसाद है जो उसकी अन्तर्वेदना एव घनीभूत पीडा को अधिकाधिक दारुण और विषम बनाकर उसके दर्प को कुचल डालना चाहता है 'गरई गलानि कुटिल कैकेई, काहि कहै केहि दूषन देई।' 'साकेत' की कैकेयी को बातो की राहत है, वह वाक्पटु है और श्रोता को प्रभावित कर लेती है। इसके विपरीत 'मानस' की कैकेयी की व्यथा गहरी और सघन है, जो भीतर ही-भीतर उमड-घुमड कर रह जाती है। भाव स्तब्ध और शब्द मूक होकर उसे भीतर-ही-भीतर कचोटते हैं। वह उन्मनी, अवमग्न और जडवत् हो गई है, जैसे आसपास का वातावरण अयथार्थ है, अस्तित्व-

हीन और वह स्वय निरी अपदार्थ बनी शून्यस्थ अधर में लटकी है । पराजय और घोर पश्चात्ताप के कारण वह मृत्यु की कामना करती है—'अवनि जमहि जाचति कैकेई, महि न बीच विधि मीच न देई ।' कहने की आवश्यकता नही कि गुप्त जी का मनोवैज्ञानिक आधार हल्का, साथ ही आधुनिकता के रंग मे रँगा है, यो अपने नारी पात्रो को नए साँचे मे ढालकर उन्होने उन्हे गतिमय और गुणानुरूप चित्रित किया है । कैकेयी की यह उक्ति बहुत मर्मस्पर्शी है

'युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी
रघुकुल में थी एक अभागिन रानी ।'

परन्तु क्या उसमें तत्परता और बचाव की अपेक्षा का भाव नहीं है ? साहसी उसे हम अधिक कहेंगे, क्योकि भीतर का सामना वह भले ही न कर सके, पर क्या किसी का सामना होने पर वह जड और निस्पन्द बनी बैठी रहे ? उपेक्षिता उर्मिला का चित्र भी विरहिणी नारी का अत्यन्त सजीव रूप है, जो अब तक कवियो की लेखनी से अछूता ही रह गया था । विरह के प्रसग में नारी हृदय की समस्त कोमलता और विह्वलता मूर्तिमान् हो उठी है । करुणा से अभिभूत उर्मिला प्रोषितपतिकाओ का निमन्त्रण भेजती है

'प्रोषित पतिकाएँ हो
जितनी भी सखि उन्हें निमन्त्रण दे आ,
समदुखिनी मिलें तो
दुख बटे जा, प्रणय पुरस्सर ले आ ।'

गुप्त जी ने प्रकृति की सहायता से उर्मिला के विरह-वर्णन में सजीवता भर दी है । विरह में एन्द्रिय पक्ष गौण, मानसिक पक्ष की प्रमुखता है । विपन्न क्षणो में उर्मिला पुष्पो, लताओ पशु-पक्षी और अन्यान्य प्राकृतिक उपादानों में एकात्म्य अनुभव करती है । प्रकृत रूपो और व्यापारो के समक्ष जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से हटकर अपनी चित्तवृत्तियो को उनके भीतर केन्द्रित कर देती है तो उसके व्यक्त प्रेम की फुलझरियाँ छूटकर अनन्त में एकाकार-सी दीखती है ।

'सखि ! नील नभस्सर से उतरा
यह हस अहा ! तरता तरता,
अब तारक मौक्तिक शेष नहीं
निकला जिनको चरता चरता ।
अपने हिम बिन्दु बचे तब भी
चलता उनको धरता धरता,
गड जाएँ न कण्टक भूतल के
कर डाल रहा डरता डरता ।'

बाह्य विश्व का सघात विरहिणी के प्राणो को क्षण-प्रतिक्षण झकझोरता है और वह न जाने कितने ऊहापोह पीडाओ और मानसिक द्वन्द्वो में अपनी कचोटती वेदना के साथ चौदह वर्ष पूरे करती है 'तिल तिल काट रही थी दृग जलधार।'

'साकेत' का नवम सर्ग उर्मिला के विरह गीतो से भरा है। कही कहीं उद्गार इतने शृगारिक और प्राचीन परिपाटी पर साधारण स्तर के हो गए है जो महाकाव्य की नायिका और प्रसग की उदात्त भावभूमि के अनुरूप नही है और साधारणत ऊब पैदा करने है।

'साकेत' का नामकरण आध्यात्मिक महत्त्व लिये है, यो भी समस्त कथा सूत्र 'साकेत' में गुँथ गए है। काव्य की नायिका उर्मिला का जीवन तो 'साकेत' में सिमटा हुआ है ही, वन म घटित अनेक घटनाएँ भी 'साकेत' में ही उल्लिखित हुई है। प्रथम सर्ग में लक्ष्मण-उर्मिला के प्रेमपूर्ण सलाप से बारहवें सर्ग में उनके परस्पर मिलन तक की लम्बी कथा का एक ही स्थल पर सुन्दर समाहार हुआ है।

बीच में राज-तिलक, कैकेयी की वरदान-याचना, वन गमन, दशरथ की मृत्यु, भगवान राम का चित्रकूट म वास, भरत का अयोध्या-आगमन, राम-भरत मिलन, सीता हरण, लक्ष्मण-मूर्च्छा, राम-रावण युद्ध की घटनाएँ आदि प्रसग भी सब वर्णित है।

काव्य-रचियता---कृत्रिम परिधियाँ तोडकर—हर स्थिति और हर दिशा में अपनी उन्मुक्त चेतना का विकास किया करता है। वर्तमान हो या अतीत, क्षणिक हो या चिरन्तन, सत्य हो या काल्पनिक, आधुनिक हो या परम्परित, किन्तु तत्कालीन वातावरण मे व्यक्ति-चरित्रो मे परस्पर सामजस्य स्थापित करने के लिए उसे पूर्व परम्परा की प्रामाणिकता सिद्ध करनी पडती है।

इसमें सन्देह नही कि साकेतकार ने प्राचीन और अर्वाचीन दोनो परम्पराओं को बखूबी निभाया है। इस आस्तिक कवि द्वारा लिखा उक्त काव्यग्रन्थ नूतन युग धर्म और आस्थाओ को लेकर मौजूदा चेतना स्तर पर लिखा गया है। अतएव नई सामाजिक और बौद्धिक परिस्थितियाँ उसकी भावात्मक गहराई को काफी हद तक प्रभावित करती है। जैसा कि प्रत्यक्ष है---'साकेत' की समूची कहानी उर्मिला की मर्मान्तिक पीडा और उसके अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धो की जटिलता और वैविध्य से जुडी है सही, पर उसकी प्रेमानुभूति की गहराई जिस हद तक व्यापक परिवेश और मानवीय सवेदना को छूती है, उसके अपने सूक्ष्म चारित्रिक पहलू कितनी भूमियो पर उद्घाटित हुए है, साथ ही हर मन स्थिति और अनुभूति का आवेग किस प्रकार रागात्मक तथ्यो पर टिका है---यह सब देखना है।

'साकेत' की उर्मिला की व्यथा सहज सवेद्य न होकर वैयक्तिक अधिक हो गई है, वह अपने तई ही उमडती-घुमडती है। उसके प्राण-स्पन्दन में वैसी अनुगूँज नहीं जो व्यापक स्तर पर रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर सके। चाहे कैसी ही परिस्थिति हो ---जब व्यक्ति-जीवन मे भावो के आरोपण की दुर्जेय छायाएँ घनीभूत हो जाती है

तो न वैसी चकोट होती है और न वैसा मर्मस्पर्शी प्रभाव। अनेक स्थलों पर उर्मिला की विकलता मन को छूती है, पर मुझे लगा है कि उसके विरह के मूर्त चित्र कहीं-कहीं ऐसे अन्तर्विरोधों और झुठला देने वाली हठवादिता का परिचय देते हैं कि दर्द के बिन्दु पर केन्द्रित उसकी व्यथा मात्र सकीर्ण अनुभूति को प्रश्रय देती है और मूल भाव की आत्मा को आच्छन्न कर लेती है।

प्राचीन काव्यग्रन्थों की कथावस्तु दो भागों में विभक्त होती थी—आधिकारिक (मुख्य) एवं प्रासंगिक (गौण)। मुख्य कथा और चरित्रों के विकास के लिए अनेक प्रसंगों का उल्लेख होता था, साथ ही ऐसे-ऐसे लघु प्रसंग एवं घटनाएँ भी उनमें जुड़ी होती थीं जो मुख्य चरित्र को उदात्त बनाने में सहायक होती थीं। उनमें ऐसे विषयों को गौण बनाकर या काट-छाँट करके रखा जाता था जो मुख्य कथा-प्रवाह की रोचकता और औचित्य के अनुकूल न होते थे या कथा-संगठन की दृष्टि से उससे तालमेल न बैठा पाते थे। श्रीवाल्मीकि या तुलसीदास ने ऐसे प्रसंगों एवं अन्तर्कथाओं का समावेश किया है जिनमें व्यापक स्तर पर मानवीय विकास की प्रेरक शक्तियाँ एक महागाथा के रूप में प्रस्तुत की गईं। न केवल उनके कथा-साहित्य का आन्तरिक पक्ष ही सुदृढ़, सशक्त एवं कलात्मक उत्कर्ष में प्रौढ़तर था, अपितु चरित्र-चित्रण और काव्यात्मक अभिव्यक्ति भी उनकी बड़ी ही उच्चस्तरीय थी। गुप्तजी ने सांस्कृतिक परम्पराओं की निष्ठापूर्ण आस्था के बावजूद भी आज की बौद्धिक प्रतिक्रिया को परीक्षित करके प्राचीन तथ्यों को नया रूप दिया। उर्मिला का कथानक लेकर 'साकेत' में जो उदात्त सांस्कृतिक चित्र खींचा गया है वह उस पर हावी-सा लगता है और चरित्रों की स्वाभाविकता पर भी उसका अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ा है अर्थात् जहाँ किसी एक व्यक्ति की प्रधानता होती है वहाँ व्यापक मानवीयता और भू-संस्कृति के लिए चेतना का विकास गौण हो जाता है। फिर भी, अनेक परिवर्तनों से गुजर कर 'साकेत' में जो सामाजिक विघटन दर्शाया गया है वे उक्त विघटित तत्त्वों के बीच एक संतुलित भूमि खोजने के लिए क्रियाशील हैं।

गुप्तजी की भाषा सुसंस्कृत, प्रौढ़ और साहित्यिक होते हुए भी बोधगम्य है। प्रसंगानुकूल अलंकारों, छन्दों और रसों का प्रयोग भी हुआ है। आज के युग की नवजाग्रत चेतना में गुप्त जी ने उपेक्षित उर्मिला को अपनाकर एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है।

'कामायनी'

प्रसाद की वृहत्तम कृति 'कामायनी' में न केवल कवि की सृजन-सामर्थ्य और प्रबुद्ध चेतना के दर्शन होते हैं, वरन् व्यक्त-अव्यक्त मानवीय मूलाधारों की आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी मिलती है। देवसृष्टि के जल-प्लावन के दृश्य से इस काव्य का आरम्भ होता है। जल-प्लावन से बचे हुए आदि मानव वैवस्वत मनु इस विध्वंसकारी दृश्य के मध्य एकाकी, चिन्तित और निराश बैठे हुए हैं। अतीत वैभव

और सुखों की याद करके उन्हें अनन्त में विषाद रेखाएँ सी खिंची दीखती हैं। सृष्टि के दुर्जेय प्रसार का अवलोकन करते करते जब उनका अकिंचन चैतन्य विशृंखल-सा हो रहा है तभी सहसा उन्हें उषा का नव, चारु आलोक फूटता नजर आता है। उनमें आशा का संचार होता है और वे मानस लोक की उस मधुमती भूमिका में पहुँच जाते हैं जहाँ उन्हें एसी विचित्र लोकोत्तर अनुभूति होती है कि रस तो चहुँ ओर छलक रहा है ग्राह्य-शक्ति होनी चाहिए। उस विराट् की अनन्त सत्ता में रागात्मक वृत्तियों का लय साथ ही प्रकृति की अनिर्वचनीय सौंदर्य-सुषमा में सभी कुछ जैसे उन्हें एकाकार सा लगा। मनु की एकांत नीरवता सौंदर्य के उस मूर्तिमान विहँसते वातावरण की मनोमुग्धकारी गूँज में बिखर गई। इस नये रहस्य से अभिभूत सहसा उनमें कौतूहल और जिज्ञासा जगी। तीव्र विराग से उपजी कर्म की रागमयी अंतर्प्रेरणा का साकार रूप है श्रद्धा जो उन्हें अचानक मिल जाती है और उनमें आस्था और अनुरक्ति जगाती है

> 'कर रही लीलामयी आनन्द
> महाचिति सजग सी व्यक्त,
> विश्व का उन्मीलन अभिराम
> इसी से सब होते अनुरक्त।'

मानव मन जब निराशा और अवसाद के कुहरे में खो जाता है तो उसे कर्म की ओर प्रवृत्त करने की आवश्यकता होती है। श्रद्धा के साहचर्य से मनु के शुष्क हतचेत जीवन में रस की धारा बहने लगती है। कुछ दिन दोनों सुखपूर्वक रहते हैं, फिर मनु उद्विग्न रहने लगते हैं। मनु श्रद्धा के समस्त सद्भाव और प्रेम पर अपना एकमात्र अधिकार चाहते हैं यहाँ तक कि उन्हें श्रद्धा के गर्भस्थ शिशु और पालित पशु पक्षियों से भी चिढ़ हो जाती है। एक दिन वे उसे हिमालय की निर्जन कन्दरा में छोड़कर चल देते हैं।

सारस्वत प्रदेश में मनु का इड़ा से साक्षात्कार होता है। दोनों एक-दूसरे पर आसक्त हो जाते हैं और इड़ा मनु को सारस्वत प्रदेश का शासक बना देती है। किन्तु वे अपने को स्वतन्त्र नियामक मानकर मनमानी करना चाहते हैं। इड़ा 'बुद्धि' का प्रतीक होने के कारण मनु पर नियन्त्रण करती है, लेकिन मनु उसी पर बलप्रयोग करना चाहते हैं। इससे प्रजा बिगड़ जाती है और मनु पर आक्रमण कर देती है। मनु मूर्च्छित होकर गिर पड़ते हैं। इधर श्रद्धा स्वप्न में सभी घटित घटनाओं का पूर्वाभास पाकर मनु की खोज में चल पड़ती हैं और ऐन मौके पर घटनास्थल पर पहुँच जाती है। वह अपने कोमल कर-स्पर्श से मनु की पीड़ा हर लेती है। मनु अत्यन्त लज्जित होते हैं और पिछले उन सुखी दिनों की याद करके व्याकुल होते हैं जब श्रद्धा के साहचर्य ने उनमें नवीन स्फूर्ति और सजग कर्म-चेतना उत्पन्न कर दी थी। उनका मन ग्लानि से भर जाता है और वे रात्रि में चुपचाप उठकर चल देते हैं।

श्रद्धा अपने पुत्र 'कुमार' को इडा को सौंप मनु को ढूँढती हुई उसी पर्वत-उपत्यका में पहुँच जाती है जहाँ मनु ध्यानमग्न चिद्ध्वनि का अन्तर्नाद सुन रहे थे और नटराज शिव का नर्तन देख रहे थे। श्रद्धा आगे-आगे उनका हाथ पकड़कर हिमालय पर चढ़ा ले जाती है और अत्यन्त ऊँचे चढ़कर इच्छा, कर्म, ज्ञान के समन्वित ज्योतिर्मय त्रिपुर के दर्शन कराती है।

सर्वप्रथम 'इच्छा' के माया-राज्य का दर्शन होता है जहाँ पर अरुण पराग की पटल छाया में इठलाती और सिहरती कोमल ध्वनियाँ मधुर स्पन्दन-सा भर रही थीं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध की पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियाँ रंग-बिरंगी तितलियों-सी थिरकती हुई नर्तन कर रही थीं तथा रागारुण उषा के कन्दुक-सा आलोक-पिण्ड अपनी दिव्य आभा बिखेरता हुआ चलचित्रात्मक संसृति-छाया के साथ झूल रहा था। कहीं बसन्त, कहीं पतझड़, कहीं सुख, कहीं दुःख ऐसे विषम द्वन्द्वों की भरमार थी। वहाँ पर रागारुण चेतन की उपासना में मत्त कुछ मतवाले विह्वल से छायामय सुषमा में विचर रहे थे।

इसके पश्चात् धुँधला-धुँधला श्यामल कर्मलोक दीख पड़ा। वहाँ पर नियति की प्रेरणा से कर्मचक्र अनवरत घूम रहा था। कहीं क्षण भर भी विश्राम न था। तृष्णाजन्य वासना, ममता, कोलाहल, मानसिक संघात, एषणाएँ, संघर्ष, विफलता और लालसाओं की लोहित ज्वालाएँ पंचभूत के अणु-अणु में समाहित थीं। कर्म के मनोमय राज्य में अन्ध-प्रेरणा से परिचालित समस्त प्राणी क्षणिक भोग लालसा के लिए मर रहे थे।

किन्तु इसके विपरीत ज्ञान-क्षेत्र में निरन्तर बुद्धिचक्र घूम रहा था। सुख-दुःख की अनुभूति से परे वहाँ निर्मम न्याय, अनुशासन और अनास्था थी। न्याय, तपस और ऐश्वर्य में पगे प्राणी जीवन-रस के कण-कण को बटोर लेने के इच्छुक थे। वहाँ ज्ञान की गरिमा थी, पर तृप्ति नहीं। वे अजर-अमर और मोक्ष के साधनों से सदैव सशंकित रहते थे, सन्तुष्ट नहीं। किन्हीं दुरन्त मूल स्वत्वों का चिंतन करते हुए वे इच्छाओं को सुलझाते और सामंजस्य के बहाने विषमता फैलाते थे।

इसके उपरान्त श्रद्धा इन तीन ज्योतिर्मय बिन्दुओं की स्थिति का बोध कराती है। ज्ञान दूरस्थ है, क्रियाएँ भिन्न, मन की अभीप्सा पूर्ण नहीं होती—यही जीवन की विडम्बना है।

यह कहते ही श्रद्धा के ओठों पर बिखरी मुस्कान से आलोक-रेखा फूटकर तीनों ज्योतिर्बिन्दुओं को एक में मिलाकर प्रज्ज्वलित कर देती है और चहुँ ओर शृंग और डमरू का निनाद गूँज उठता है। इस दिव्य अनाहत नाद में मनु तन्मय हो जाते हैं।

'स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो,
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे।
दिव्य अनाहत पर निनाद में,
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।'

अन्तिम सर्ग में इडा और कुमार भी प्रजा के साथ मानस-तट पर मनु और श्रद्धा के पास पहुँच जाते हैं और आनन्द सागर में थाह सी लेते हुए समरस हो जाते हैं।

'समरस थे जड या चेतन
सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था।'

'कामायनी' में मनु मन', श्रद्धा 'रागात्मिका वृत्ति' और इडा 'बुद्धि' है। मन की गति चचल है, वह सदैव उद्वलित होता रहता है। आशा निराशा, राग-द्वेष, सुख-दुख आदि भाव उसमें जगते हैं। विश्वास-समन्वित रागात्मिका वृत्ति से जब तक मन का सयोग नही होता तब तक आनन्द रस की उपलब्धि नही होती। बुद्धि मन की अनियन्त्रित शक्तियो को अनुशासित करती है किन्तु बिना सवेदना और कोमलता के वह निरी शुष्क और तर्कमयी है।

इस प्रकार 'कामायनी' में मनु, श्रद्धा, इडा—इन तीन ऐतिहासिक पात्रो की कथा के साथ साथ तीन मनो की रूपक रचना भी प्रस्तुत की गई है। मानव इतिहास के आदि पुरुष मनु की अनेक कथाएँ ऋग्वेद, छान्दोग्य उपनिषद्, शतपथ-ब्राह्मण, पुराण और प्राचीन आर्यग्रन्थो आदि में बिखरी पडी हैं। कथा के बिखरे सूत्रो को जोडने के लिए प्रसाद जी ने कुछ ऐतिहासिक, कुछ प्राचीन आधार और कुछ परम्परागत जनश्रुतियो का सहारा लेकर अपनी बहुमुखी प्रतिभा और कल्पना के योग से यह अभूतपूर्व काव्यात्मक अनुष्ठान प्रस्तुत किया।

कवि ने कहीं-कहीं बहुत ऊँची उडान भरी है और जीवन और जगत् के परोक्ष-अपरोक्ष रहस्यो का उद्घाटन किया है।

मनु के चरित्र चित्रण में प्रसाद की भावनाएँ साकार हो उठी हैं। श्रद्धा में नारी-जीवन की समस्त कोमलता, माधुर्य, सवदना और करुणा व्याप्त हैं। बिना प्रेम, त्याग और समर्पण के स्त्रीत्व का मगलमय पूर्णरूप व्यक्त नहीं होता। मानव की कोमल अतर्वृत्तियां केवल बुद्धिवाद से नियन्त्रित नही की जा सकती। यही कारण है मनु के उद्विग्न मन को श्रद्धा वश में कर सकी है, इडा नही। इच्छा, कर्म और ज्ञान के सामजस्य से आनन्द की उपलब्धि होती है, केवल एकागी दृष्टि और तर्क वितर्क विषमता उत्पन्न करते हैं।

महाकाव्य में जिस गाम्भीर्य, परिष्कृत अभिरुचि और उदात्त भावनाओ का समावेश होना चाहिए वह 'कामायनी' में सहज रूप में विद्यमान है। प्रसाद जी ने काव्य की विस्तृत पटभूमि पर उस विराट् सधी तूलिका से अपने चित्र आँके हैं जिनके रग न कभी धुँधले हो सकते हैं और न कभी रेखाएँ ही मिट सकती हैं।

'साकेत-सत'

डॉक्टर बल्देवप्रसाद मिश्र का 'साकेत सत' काव्यग्रन्थ के रूप में हिन्दी-साहित्य

के एक नवीन आवर्त्तन को लेकर प्रकट हुआ, जिसमें प्राचीनता के साथ-साथ आज का प्रजातन्त्रवाद, सामन्त साम्राज्यवाद और समाजवाद आदि का भी सुन्दर समन्वय किया गया।[1] जिस प्रकार मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' में समयानुकूल और रामकथा में रूढ हुई घटनाओं को किंचित् परिवर्तित करके नूतन रूप दिया था, उसी प्रकार मिश्र जी ने भी गुप्त जी के पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए राम और भरत के प्रसग को अपनाया। काव्य का प्रथम सर्ग भरत-माण्डवी के प्रेमपूर्ण सलाप से आरम्भ होता है। कही-कही बातचीत के सिलसिले मे शृंगारिकता का किंचित् पुट आ जाता है, जो भरत की गम्भीर प्रकृति के अनुरूप नही।

द्वितीय सर्ग मे भरत माण्डवी सहित अपने मामा युधाजित् के साथ केकय देश की ओर प्रस्थान करते हैं। एक दिन वहाँ प्रकृति के रम्य प्रसार से खिचे हुए वे युधाजित् के साथ मृगयार्थ गए। उनके लक्ष्यभेदी तीर से एक सुन्दर मृग का वध हो गया। मर कर भी उस निरीह भोले पशु की दृष्टि में कुछ ऐसी करुणा और कातरता झलक रही थी कि भरत का हृदय द्रवित हो उठा। युधाजित् ने अवसर पाकर उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया।

> 'सघर्ष जगत् का क्षय है,
> सघर्ष जगत् की इति है,
> सघर्ष केन्द्र पर निर्भर,
> अपनी उन्नति की स्थिति है।'

युधाजित् ने बातो ही बातो में भरत को जतला दिया कि वे ही राजसिंहासन के उत्तराधिकारी हैं और कैकेयी इसी शर्त पर राजा दशरथ से ब्याही गई है। उन्होंने मथरा की ओर भी सकेत किया, जिसे उन्होंने इसी प्रयोजन से कैकेयी के पास रख छोडा था। भरत सारी बातें सुनकर उद्विग्न हो जाते है और उन्हें शका होती है कि कहीं अयोध्या में कुछ षड्यन्त्र तो नही रचा जा रहा। रात्रि में भयकर दुःस्वप्नों से उनकी चिन्ता और भी बढ जाती है और वे नित्य 'लौट चले साकेत' यही सोचते रहते हैं। इसी बीच मुनि वशिष्ठ के भेजे हुए दूत उन्हें लेने के लिए आ पहुँचते हैं और भरत मरुतवेग सी गति वाले घोडे पर सवार होकर साकेत-धाम के लिए प्रस्थान करते हैं।

[1] यहाँ यह लिखना अप्रासगिक न होगा कि जाने या अनजाने में लेखक द्वारा यहाँ कई त्रुटियाँ रह गई है और प्रचलित कथा में भी व्याघात हुआ है। यह सर्वविदित है कि केकय प्रदेश में भरत के साथ माण्डवी नहीं, शत्रुघ्न गए थे। शत्रुघ्न सदैव भरत के साथ रहते थे और फिर राम-वनवास के समय तो वे अयोध्या में थे ही कहाँ? प्रस्तुत काव्य के प्रथम दो सर्गों में शत्रुघ्न का कहीं भी कोई उल्लेख नहीं है। फिर यदि यह मान भी लें कि भरत के साथ माण्डवी केकय देश गई थी तो वह उनके साथ अयोध्या लौट कैसे आई? भरत तो इतनी शीघ्रता और त्वरा से अयोध्या लौटकर

आए थे कि उनके साथ माण्डवी का आना यों भी सम्भव न था। इसके अतिरिक्त भरत का केकय देश प्रस्थान करते हुए माता-पिता, राम-लक्ष्मण, स्वजन-सम्बन्धी आदि किसी से भी न मिलना अत्यन्त अस्वाभाविक है। मथरा दासी भी युधाजित् द्वारा तत्काल अयोध्या नहीं पहुँचाई गई थी। वह कैकेयी के साथ विवाह में आई थी और भरत की परिचारिका होने के कारण उनके प्रति उसका विशेष ममत्व था।

कवि ने भरत को षड्यन्त्र का पूर्वाभास कराके भी उचित नहीं किया। इससे उनके उदात्त और निर्मल चरित्र पर मैल आता है, जबकि 'रामचरितमानस' में भरत कहते हैं

'तजि श्रुति पथु बाम पथ चलहीं। बचक बिरंचि वेष जगु छलहीं।
तिन्ह कै गति मोहि शकर देऊ। जननी जो मह जानो भेऊ।'

तीसरे सर्ग की कथा सहज गति से चलती है। भरत अयोध्या आकर माता से मिलते हैं और सब घटित घटनाओ को सुनकर क्षोभ और ग्लानि से भर जाते हैं। चौथे सर्ग में भरत के अन्तर्द्वन्द्व का मार्मिक विश्लेषण हुआ है। पांचवें सर्ग में राज-मन्त्रागार मे भरत राम के दर्शनो की इच्छा प्रकट करते हैं और मुनि, प्रजा, माताएँ सभी का अनुमोदन प्राप्त करते हैं। इधर कैकेयी अत्यन्त दुखी है, उसे स्वयं ही इतना कलक और मानसिक सक्लेश हुआ। छठे सर्ग में वह मुनि वशिष्ठ के यहाँ जाकर राजा दशरथ को योगबल से पुनर्जीवित करने की प्रार्थना करती है और उसमें असफल होकर शव के साथ सती होने को उद्यत होती है। सातवें सर्ग में दशरथ की अन्त्येष्टि-क्रिया सम्पन्न करने के पश्चात् भरत पुरजन, परिजन और सैनिक समुदाय के साथ वन की ओर प्रस्थान करते हैं। मार्ग में अनेक व्यक्तियो को यह भ्रम हो जाता है कि भरत राज्य के लोभ में राम का बध करने जा रहे हैं। अयोध्या के कुछ नागरिक, शृगवेरपुर के निषाद और भरद्वाज आश्रम के तपस्वी भरत के सद्भाव पर सन्देह करते हैं। उक्त तीनो स्थलों में काम, क्रोध और लोभ, रजोगुण, तमोगुण और सतोगुण तथा क्षत्रिय, शूद्र और ब्राह्मण इन तीन शक्तियों का पृथक्-पृथक् सामना करना पड़ता है। वे सभी सम विषम परिस्थितियो को चीरते-रौंदते अपने गन्तव्य की ओर बढ़ते रहते हैं और अन्त में राम के पास पहुँच कर शान्ति-लाभ करते हैं।

वन में पहुँच कर भरत राम से सीधे घर लौटने का आग्रह न करके प्रेम और कर्त्तव्य के सघर्षजन्य परिणाम की बात पूछते हैं। राम उन्हें इसी बहाने शासन व्यवस्था, लोकसेवा-व्रत और चौदह वर्षों की लम्बी अवधि को शान्तिपूर्वक व्यतीत करने का उपदेश देते हैं।

सभा जुड़ती है और सभी अपना-अपना निर्णय देते हैं। भरत अपने समस्त स्वार्थ परमार्थ को राम के चरणो में समर्पित करते हुए और उनके अयोध्या लौट आने के आदेश को शिरोधार्य करते हुए चरण-पादुका की याचना करते हैं।

'चरण - पीठ करुणा - निधान के
रहें सदा आँखों के आगे
मैं समझूँगा प्रभु - पदपकज
हो हैं सिंहासन पर जागे।'

चरण-पादुका प्राप्त करके भरत नन्दिग्राम में आकर साधनारत हो जाते हैं। उनका रोम-रोम, अणु-अणु राममय है। निरन्तर राम राम की ध्वनि उनके अन्तर्बाह्य को झंकृत करती रहती है। न केवल पादुका पूजन और आत्मचिन्तन में ही भरत रत रहते हैं, वरन् शासन-व्यवस्था, प्रजा के सुख-दुख और सामूहिक समुत्थान में भी भाग लते हैं। नन्दिग्राम के प्रवास मे ही उनके द्वारा हनुमान जी को शरविद्ध करने की दुर्घटना भी घटती है, किन्तु उनसे सीताहरण, लक्ष्मण मूर्च्छा आदि समाचार जानकर वे योगबल द्वारा राम के पास पहुँचने की बात सोचते हैं। उस अवसर पर वशिष्ठ उन्हें दिव्य दृष्टि प्रदान करके यथार्थ स्थिति का बोध कराते हैं। अन्तिम चौदहवें सर्ग में राम के वन से लौट आने पर भरत उन्ह उनकी धरोहर सौंप देते हैं।

'प्रभु-चरणो में अर्पित कर दी,
ब्याज सहित सारी थाती,
आज भरत की परा शान्ति में,
शान्ति स्वय सिमटी जाती।'

प्रस्तुत महाकाव्य में भरत के जीवन में भोग-योग का आदि अवसान देखने में आता है। अन्त में जाकर उनके मन की उद्विग्नता पराशान्ति और समरसता में परिणत हो जाती है। कहीं-कहीं किन्हीं स्थलो पर भरत एकान्तिक से सामाजिक और प्रेमिक से व्यावहारिक अधिक हो गए हैं। उनमें तुलसीदास के भरत की-सी विह्वलता और दैन्य नही है—'राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात।'

'साकेत सन्त' के चरित्र चित्रण अथवा पात्र-कल्पना में कोई नवीनता नही है। नाटकीय सलाप और उत्तर-प्रत्युत्तर के चमत्कारपूर्ण प्रसगो की अवतारणा भी बहुत कम हुई है। कथानक के सृजन में मिश्रजी श्रीमैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' के बहुत ऋणी हैं। उनकी पद्धति और प्रेरणा पर काव्य की रचना हुई है। नन्दिग्राम में हनुमान जी के मुख से सीताहरण, लक्ष्मण-मूर्च्छा आदि का प्रसग जानकर भरत के वन जाने की तैयारी की दृश्ययोजना जो मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' में की है उसे भी साकेतसन्तकार ने ज्यो का त्यो ले लिया है यो यदि गहराई और बारीकी से सोचा जाय तो इससे भगवान राम की भरत के लिए चौदह वर्ष की अवधि तक अयोध्या में रहने और शासन-व्यवस्था करने की आज्ञा का उल्लघन, साथ ही प्रभु के पौरुष में अविश्वास और अनास्था झलकती है।

कल्पना उदात्त न होते हुए भी काव्य की भाषा सहज और हृदयग्राहिणी है। महाकाव्य के सर्ग-बन्धादि लक्षणो के निर्वाह के साथ-साथ प्रबन्धगत विशेषताओं का समन्वय बहुत सुन्दर और सुरुचिपूर्ण ढँग से हुआ है।

'रामचरित-चिन्तामणि'

श्रीबाल्मीकि रामायण के आधार पर पच्चीस सर्गों में रामकथा को लेकर उक्त महाकाव्य की रचना हुई है। खडीबोली के पद्य-विधान पर जो पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी का शुभ प्रभाव परिलक्षित था उसी रूप को सुस्थिर करने का प्रयास रामचरित उपाध्याय ने अपने काव्य म किया। भाषा की स्वच्छता और प्रसाद गुण पर भी इनका-ध्यान केन्द्रित था। उस स्वरूप में न बँधकर, जो चिरकाल से काव्य का साध्य था, इनकी भाषा बोलचाल के चलते रूपों को लेकर चली है। कथा में निगूढ विशाल भावनाओ और वर्णन-पाटव की ओर ही इसमें विशेष ध्यान दिया गया। कल्पना की उडान पद लालित्य भावो की वेगवती व्यजना और शब्द प्रयोग के वैचित्र्य में समस्त शक्ति व्यय नही की गई।

प्रथम सर्ग से तेईसवे सर्ग तक रामजन्म, धनुपयज्ञ, विवाह, बनवास, सीता-हरण, युद्ध और राजतिलक आदि की छोटी बडी कथाएँ विशद रूप से वर्णित हैं। कोई-कोई स्थल बडे मर्मस्पर्शी बन पडे हैं और कथा भी सहज निर्वाध गति से चलती रहती है। चौबीसव सर्ग से सीता का परित्याग और लव कुश की कथा आरम्भ होती है। दोनो कथाओ के सूत्र कवि ने इस कौशल से जोड दिए हैं कि कथा खण्डित नही हो पाती।

> 'राज करते थे अवधपुर में अमरपति से सुखी,
> एक नर भी स्वप्न में भी था नहीं कोई दुखी।
> किन्तु दूतों से स्वय रघुनाथ ने पूछा कभी,
> मम विषय में ज्ञात है, क्या कह रहे हैं जन सभी।'

सीता-परित्याग जैसी दारुण घटना के पश्चात् लव-कुश का जन्म और दोनों बालको का राम से मिलन आदि का प्रसग अत्यन्त सक्षेप में वर्णित है। सीता का पुन राम से साक्षात्कार नही होता और न उनके पृथ्वी में समा जाने का ही वर्णन है, किन्तु बीच में विच्छिन्न होकर भी कथा पूर्ण सी हो गई है।

सवादो में स्वाभाविकता और प्रवाह होते हुए भी कही-कही वे अनुपयुक्त और असामयिक हो गए हैं। सीता के परित्याग जैसी कारुणिक, विवश परिस्थिति में राम के ये वचन

> 'लक्ष्मण तुम्हें मेरी शपथ है बात खुल जावे नहीं,
> जिस भाँति हो कल, गृह से सीता निकल जावे कहीं।
> दर्शन तपोवन का उसे भी इष्ट है, इस व्याज से,
> उसको निकालो गेह से, मुझको बचाओ लाज से।'

विद्रूप वत्, निर्मम अट्टहास से करते प्रतीत होते हैं।

इसके अतिरिक्त रामकथा जैसे केन्द्रस्थल से निर्झरित होती हुई भावात्मकता और

व्यापक भावना भी इन्हें तुलसी की भाँति प्राप्त नहीं है। न 'मानस' का-सा हृदय-द्रावक राग है, न तल्लीनता, न भक्ति-रस की अजस्र धारा प्रवाहित हो रही है और न कहीं उद्देश्य और कला समान स्तर पर ही दिखाई देती है। आरम्भ से अन्त तक इतिवृत्तात्मक वर्णन शैली अपनाई गई है। चरित्र-सृष्टि अमनोवैज्ञानिक और अत्यन्त साधारण है और न काव्य का उदात्त, सुष्ठु रूप ही कहीं प्रकट हुआ है।

'वैदेही वनवास'

हिन्दी साहित्य में काव्य परम्परा को जीवित रखते हुए श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'प्रियप्रवास' के पश्चात् 'वैदेही वनवास' की रचना की और प्रबन्ध-काव्य के आदर्श पर चलते हुए राम कथा में सीता-परित्याग की खण्डकथा को लेकर करुणा और वियोग की अन्तर्दशाओं का विधान किया। 'वाल्मीकि-रामायण' 'रघुवंश' और भवभूति कृत 'उत्तररामचरित' में करुणा और दुःखवाद को लय करके कथा को मधुमय बनाया गया। 'वैदेही वनवास' में सुख-दुःख के समन्वित रूप में एक सुन्दर जीवन-मीमांसा प्रस्तुत की गई और उपाध्याय जी ने 'प्रियप्रवास' की भाँति ही इसके कथानक में भी पर्याप्त हेरफेर किया। 'वाल्मीकि-रामायण,' 'रघुवंश' और 'उत्तर-रामचरित' में सीता-निर्वासन की घटना कुछ ऐसी दारुण बन गई है जो सज्जनों के हृदय को सदैव कचोटती रही है। लोक-अपवाद के फलस्वरूप जगज्जननी सीता का परित्याग और वह भी उनसे बिना कुछ कहे-सुने तपोवन और तपस्वियों के दर्शन के मिस लक्ष्मण द्वारा अकेले जंगल में छुड़वा देना कुछ ऐसी निर्मम क्रिया है जो मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम के उदात्त, गम्भीर चरित्र के अनुरूप नहीं। लोगों ने इस कृत्य को अमान्य ही नहीं, निंद्य भी ठहराया है। तुलसीदास जी को तो 'रामचरितमानस' में इस प्रसंग का उल्लेख तक न रुचा। किन्तु 'वैदेही-वनवास' में यह घटना बहुत ही स्वाभाविक हो गई है। अयोध्या के राजमन्दिर में प्रातःकाल घूमते हुए राम दुर्मुख नामक सेवक द्वारा सीता के सम्बन्ध में फैली लोक-निंदा की बात सुनते हैं। इस अप्रत्याशित चर्चा से एकबारगी धर्मधुरन्धर राम भी विचलित हो जाते हैं। उनके अन्तर्मानस में भीषण द्वन्द्व मचता है। वे भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न आदि अपने भाइयों से सलाह लेते हैं और गुरु वशिष्ठ की आज्ञा प्राप्त करके सीता जी को वाल्मीकि-आश्रम में छोड़ने का निश्चय करते हैं। वशिष्ठ राम से कहते हैं :

> 'किन्तु आप से यह विशेष अनुरोध है।
> सब बातें कान्ता को बतला दीजिए॥
> स्वयं कहेंगी वह पतिप्राणा आप से।
> लोकाराधन में विलम्ब मत कीजिए॥'

'वैदेही-वनवास' में राम ने सीता को पहले ही सब कुछ बतलाकर उनके मान और गौरव को बढ़ाया है, उन्हें मिथ्या आश्वासन नहीं दिया और न उन्हें बिलखती

और प्रसव पीडा में तडपती हुई अकेले जगल में ही छोडा है, अपितु, राजकुल की मर्यादा के अनुरूप वशिष्ठ द्वारा एक ऐसी प्रथा का उल्लेख कराया है जिससे सीता का वनगमन बहुत ही स्वाभाविक और वाछनीय-सा प्रतीत होता है।

'आर्य जाति की है चिरकालिक यह प्रथा।
गर्भवती प्रिय पत्नी को प्राय नृपति ॥
कुलपति पावन आश्रम में हैं भेजते।
हो जिससे सब मगल, शिशु हो शुद्ध मति ॥'

इसके अतिरिक्त 'वैदेही वनवास' में न केवल रजक और पुरवासियो की निंदा के आधार पर ही सीता का परित्याग किया गया है, प्रत्युत् लवणासुर के द्वेष और गधर्वों के प्रसग को लेकर कुछ राजनीतिक कारणो की भी उद्भावना की गई है। राम बहुत सहज ढग से सीता को सब बातें समझाकर उन्हें कुछ समय के लिए स्थानान्तरित करने का प्रस्ताव सामने रखते हैं।

'इच्छा है कुछ काल के लिए तुमको स्थानान्तरित करूँ।
इस प्रकार उपजा प्रतीति मैं प्रजा पुज की भ्रान्ति हरूँ॥
क्यों दूसरे पिसें, सकट में पड, बहु दुख भोगते रहें।
क्यों न लोकहित के निमित्त जो सह पाएँ हम स्वय सहें॥'

अयोध्या से वन के लिए मगलयात्रा का दृश्य भी बडा ही शानदार और कारुणिक है। नगर की शोभा और सीता-राम की मधुर छवि मानो सदैव के लिए अन्तर्पट पर अकित हो जाती है, किन्तु आज के बौद्धिक युग के प्रभाव के कारण सीता-राम की विरह-वेदना और विवश भाव बहुत हल्का चित्रित किया गया है। उसमें हृदय को द्रवित कर देने वाली कोमलता और करुणा नही है। राम तो कर्त्तव्याभिमुख और सुस्थिरचित्त हैं ही, सीता भी आज की सघर्षप्रिय नारी की भाँति सजग और क्रियाशील है। पति, देवर, सास और भगिनियो से विदा लेते हुए वे स्वय सबको ढाढस दती हैं।

'मत रोना भूल न जाना।
कुल-मगल सदा मनाना॥
कर पूत साधना अनुदिन।
वसुधा पर सुधा बहाना॥'

वन में सीता से विदा होते हुए जब लक्ष्मण अत्यन्त विह्वल हो उठते हैं तो वे अविचलित रह कर उन्हें कर्तव्य पथ की ओर उत्प्रेरित करती हैं :

'सर्वोत्तम साधन है उर में
भव हित पूत भाव का भरना॥
स्वाभाविक सुख लिप्साओं को।
विश्व-प्रेम में परिणत करना॥'

प्रकृति चित्रण द्वारा भी यत्र-तत्र विरह-वेदना की व्यंजना हुई है। किन्तु वह हृदय को छूनेवाला न होकर जीवन की अनेकरूपता में अधिक खो गया है।

श्याम-घटा को देखकर राम के शरीर की कान्ति स्मृति रूप में विषाद बन जाती है और सभी सुखप्रद वस्तुएँ विरूप होकर उनकी आँखों में खटकती हैं।

'दिवि-दिव्यता अदिव्य बनी अब नहीं दिग्वधू हँसती थी।
निशा-सुन्दरी की सुन्दरता अब न दृगों में बसती थी॥
कभी घन पटल के घेरे में झलक कलाधर जाता था।
कभी चन्द्रिका बदन दिखाती कभी तिमिर घिर आता था॥'

शान्तिनिकेतन के पुष्पों की छटा उनमें रागात्मक भावना जगाती है।

'शान्तिनिकेतन के सुन्दर उद्यान में।
जनकनन्दिनी सुतों सहित थी घूमती॥
उन्हें दिखाती थी कुसुमावलि की छटा।
बार-बार उनके मुख को थी चूमती॥'

'वैदेही वनवास' में गांधीवाद का भी स्पष्ट प्रभाव है। भगवान् राम शान्ति और अहिंसा के जबर्दस्त समर्थक हैं। उन्हें दमन-नीति अभीष्ट नहीं है.

'दमन है मुझे कदापि न इष्ट।
क्योंकि वह है भयमूलक नीति॥
चाह है लाभ करूँ, कर त्याग।
प्रजा की सच्ची प्रीति प्रतीति॥'

रावण को एक ही सिर का बताया गया है 'एक बदन होते हुए भी जो दश बदन था।' वर्तमान सभ्यता की जटिलताओं ने मनुष्य की जिज्ञासा-वृत्ति को तीव्र कर दिया है। प्रस्तुत काव्यग्रन्थ में राम-सीता विषयक लोकोत्तर कथानक होने हुए भी जिज्ञासा वृत्ति की तृप्ति का व्यापक क्षेत्र मिल जाता है। अत दुःखमय है, तो भी आनन्द में बाधक नहीं होता। सुख-दुःख से परे आतमभाव की परिधि इतनी व्यापक हो गई है तथा 'मैं' और 'तुम' से अतीत प्रणय का भाव इतना गहरा और उच्च भावभूमि पर स्थित है कि दुःखवाद का भौतिक आधार नष्ट हो जाता है।

'ज्यों ही पतिप्राणा ने पति-पद्म का।
स्पर्श किया निर्जीव मूर्ति सी बन गई।
और हुए अतिरेक चित्त-उल्लास का।
दिव्य-ज्योति में परिणत वे पल में हुई॥'

स्वार्थ-त्याग मन की वह मुक्त क्रिया है जो आत्मा का विस्तार करती है। सीता के उदात्त, पावन चरित्र का आलोक आज भी दिग्दिगन्त में उद्भासित है—यही इस काव्य का निष्कर्ष है।

प्रस्तुत काव्य की भाषा सरल और स्वाभाविक होते हुए भी अनेक स्थलो पर सस्कृतमयी है। करुण रस और विरह-वेदना का प्राधान्य है, किन्तु दाम्पत्य प्रेम का उल्लसित भाव है। प्रेम की अनन्यता, परोपकार और कर्त्तव्य की दृढ़ता सर्वत्र विद्यमान है। खण्डकाव्य होते हुए भी यह ग्रन्थ महाकाव्य की-सी गरिमा और उदात्तता लिये है।

'सिद्धार्थ'

श्री अनूप शर्मा कृत महाकाव्य 'सिद्धार्थ' में भगवान् बुद्ध का लोकपावन चरित्र विशद रूप में वर्णित है। जन्म से लेकर निर्वाण तक का सारा आख्यान आ गया है, साथ ही तत्कालीन परिस्थितियों, प्रसगो और वातावरण का भी सम्यक्रूपेण चित्रण हुआ है। कथा इस प्रकार चलती है :

प्रथम सर्ग में कपिलवस्तु नगरी, वहाँ की श्री-समृद्धि और राजा शुद्धोधन का गुणवर्णन है। समस्त सुख-शान्ति और अक्षय वैभव होते हुए भी राजपरिवार में कोई सन्तति नही जिससे राजा प्रजा दोनो चिन्तित हैं। एक दिन रात्रि में राजा-रानी को स्वप्न होता है और गिरि कन्दराओ से बुद्धावतार की उद्घोषणा होती है।

दूसरे और तीसरे सर्ग मे महारानी माया के गर्भस्थ शिशु का प्रताप, भगवान् बुद्ध का जन्म, ज्योतिषियों द्वारा नवजात बालक की प्रशसा, बाल-लीलाओ का वर्णन, यज्ञोपवीत-उत्सव, शिक्षा दीक्षा और मृगया आदि का वर्णन है। चतुर्थ सर्ग से ही राजकुमार सिद्धार्थ में उस वैराग्य-भावना के अकुर प्रस्फुटित होने दीख पडते हैं जो उन्हें सुख-दुखात्मक अनुभूति से परे श्रमद कल्याण-मार्ग और निर्विशेष आनन्द-धाम तक पहुँचाकर समरस बना देते हैं। एक दिन प्रभातबेला में सिद्धार्थ अपने साथियो सहित मृगया के लिए वन में प्रस्थान करते है, किन्तु अपने साथी के बाण से आहत हस को दुर्दशा देखकर उन्हें मर्मान्तिक पीडा होती है। सुख-वैभव में पले राजकुमार ने कभी दुख की छाया भी न देखी थी। बाहर निकलकर उन्हें चहुँ ओर विषाद ही-विषाद बिखरा दीख पडा। कही वृद्ध कृषक बैल को पीटता हुआ ले जा रहा था, कही पक्षी अन्य छोटे जीवो का भक्षण कर रहे थे, कही रुदन था और कही उत्पीडन। इस प्रकार समस्त विश्व उन्हें त्रि-ताप से पीडित दीख पडा। तत्क्षण अतर्ज्ञान जाग्रत हुआ, सुप्त-चेतना सजग हो उठी, मानस-तिमिर में ज्योति-स्फुलिंग विकीर्ण हो गए और उनकी समाधि लग गई।

> 'दोनों लोचन मध्य दृष्टि अचला, पद्मासनस्या दशा,
> नासा के स्वर-साम्य से सहज ही आधार दे प्राण को,
> अतर्भूत प्रभूत ज्योति विभु को साकार हो आ गई,
> शून्याम्भोधि-निमग्न बुद्ध जग को सद्धर्म संबोध दे !'

पचम सर्ग में कुमार सिद्धार्थ के विराग को जानकर राजा शुद्धोदन को चिंता होती है। वे बसतोत्सव की तैयारी करते हे और समस्त सुन्दरी नागरिक कन्याओ को आमन्त्रित करके राजकुमार के आमोद-प्रमोद की व्यवस्था करते हैं। यशोधरा के

सौन्दर्य पर कुमार आसक्त हो जाते हैं।

छठे सर्ग में *यशोधरा के पिता सुप्रबुद्ध स्वयम्बर में शस्त्र-स्पर्द्धा का आयोजन* करते हैं, जिसमें सिद्धार्थ विजयी होते हैं। सिद्धार्थ और यशोधरा का पाणि ग्रहण-सस्कार धूमधाम से सम्पन्न हो जाता है। सातवें और आठवें सर्ग मे नव-दम्पति की विविध केलि क्रीडा, आमोद प्रमोद, नृत्य-सगीत, वाद्य और वन-उपवन-वाटिका जैसे *मनोरम स्थलो में विहार विचरण आदि वर्णित है। श्रावण,* वर्षा आदि ऋतुओ का वैभव और प्रकृति-सौन्दर्य दम्पति के चित्त को कुछ दिन लुब्ध किय रहता है। किन्तु एक दिन मध्यान्ह म अलस भाव से लेट हुए कुमार सहसा चौंक कर उठ बैठते हैं। उनके मुख पर वही दिव्य आभा और अतर्ज्ञान की रेखाएँ विकीर्ण हुई दीखती हैं जो कुछ समय पूर्व मृगया के अवसर पर फूटी थी। गवाक्ष में रखी हुई वीणा के मूक तार सहसा झकृत हो उठते है। कुमार को ध्वनित तारो में से दिव्यवाणी सुन पडती है, जो उनके अतर्बाह्य को विचित्र झकृति से भर देती है।

नवम सर्ग में उपरामता और वैराग्य भाव उत्तरोत्तर पुष्ट होता जाता है। *महलो का अनन्त वैभव और भोग विलास कुमार सिद्धार्थ के मन को बाँधने में असमर्थ* है। वे उद्विग्न हो उठते हैं और राजाज्ञा प्राप्त करके छन्दक के साथ ग्राम-दर्शन के लिए चल पडते हैं। कुमार के स्वागत में समस्त गृह-द्वार, गली सडकें, बाजार-चौराहे आदि सजाए जाते हैं। स्त्री-पुरुष, युवक-युवतियाँ सभी सुसज्जित वेष में आनन्दोत्सव मना रहे हैं, किन्तु तभी न जाने कहाँ से एक नितात जर्जर वृद्ध मनुष्य झोपडी से निकल कर राजकुमार के चरणो में गिर पडता है और अन्न की याचना करता है। उसे देखते ही कुमार का चित्त द्रवित हो उठता है और वे जीवन और जगत् के मिथ्यात्व की चिन्ता में विभोर हो जाते हैं। जिस प्रकार प्रकाश म पहुँचने से पूर्व अधकार को पार करना पडता है उसी प्रकार किसी वस्तु की सत्ता को सिद्ध करने के पहले न जाने कितने ऊहापोहो, विषम परिस्थितियो आदि का सामना करना पडता है। सद्-विचार विवेक, सद्बुद्धि, कर्त्तव्य पालन, सत्य की जिज्ञासा, पीडितो और दुखियो की सहायता करन की हृदयान्तर्गत अनुभूतियो का जाग्रत करना अत्यन्त कठिन है। सुख-दुःख का चक्र रथ के पहिए के समान निरन्तर घूमता रहता है, अतएव ससार के क्षणभगुर वैभव पर कभी गर्व न करना चाहिए।

दशम सर्ग में राजा शुद्धोदन को अनेक रहस्यमय स्वप्नो द्वारा सिद्धार्थ के भावी जीवन का पूर्वाभास हो जाता है। कोई अपरिचित साधु स्वप्न फल वताता है, जिसे जानकर राजा और भी सतर्क हो जाते हैं और सिद्धार्थ को मायापाश में अविरत बाँधने की अधिकाधिक चेष्टा करते हैं।

ग्यारहवें सर्ग में पुनः सिद्धार्थ छद्म वेष मे छन्दक के साथ नगर भ्रमण के लिए निकल पडते हैं। वहाँ उन्हें एक और अत्यन्त कृशकाय वृद्ध मनुष्य मिलता है, जो बहुविध व्याधियो से ग्रस्त मृत्यु को प्राप्त हुआ ही चाहता है। सिद्धार्थ कुतूहल

और क्षोभवश छन्दक से इसका कारण पूछते हैं और जीवन की अस्थिरता से विचलित हो उठते हैं। कुछ दूर चलकर उन्हें जलता हुआ शव और रुदन करते नर-नारी दीख पडते हैं। उनमे घोर विरक्ति जगती है और बारहवें सर्ग में माता-पिता, प्रिय पत्नी, गर्भस्थ बालक, राजपाट और समस्त सासारिक बन्धन विच्छिन्न करके वे महा-पथ की ओर अग्रसर होते हैं।

'दिगत कपि, हिल वायु भी उठा
खगोल डोला, बहली वसुन्धरा,
उठा जभी पाँव शकाधिनाथ का
प्रगाढ़ निद्रा सब में समा गई।'

तेरहवें सर्ग में सिद्धार्थ के वियोग में राजा, प्रजा और यशोधरा की दीन दशा वर्णित है। चौदहवें सर्ग में कुमार का भिक्षु वेष में अनेक स्थलो में भ्रमण, सेनाग्राम के निकट कठोर तपश्चर्या, कठिन उपवास, सुजाता से भेंट और अन्त में बोधिवृक्ष की ओर प्रयाण, जहाँ उन्हें दिव्य ज्ञान की प्राप्ति होती है। पन्द्रहवें सर्ग में भगवान् बुद्ध को आत्मप्रेरणा होती है और वे काशी, ऋषिपत्तन, मृगदाव और विभिन्न आश्रमो में घूम घूम कर अपने धर्म का प्रचार करते हैं। एक दीन, निराश्रिता विधवा का मृत पुत्र भी भगवान् के चरणो पर गिरते ही पुनर्जीवित हो जाता है। राजा बिम्बसार के नगर में पहुँच कर तथागत ने यज्ञ में पशुबलि आदि का निषेध करके अहिंसा का भी प्रचार किया। सोलहवें सर्ग में यशोधरा का करुण विलाप और हस द्वारा पति को सदेश भेजने का वर्णन है। अन्तिम दो सर्गो में भगवान् का कपिलवस्तु में आगमन, पिता, पत्नी एव नगर-वासियो से मिलन और उनके दिव्य अन्तर्ज्ञान से प्रभावित होकर उन्ही का अनुयायी हो जाना, भगवान् का अन्तिम उपदेश देकर कपिलवस्तु से प्रस्थान, पैंतीस वर्ष तक इतस्तत पर्यटन, पुन कुशिग्राम में प्रवेश और अन्त में महासम्बोधि की दीप्ति बिखेरते हुए महानिर्वाण आदि प्रमुख प्रसगो के बाद इस महाकाव्य का उपसहार हो जाता है।

'कर स्वप्राण निमज्जित जीव में,
निलय जीव किया निज रूप में,
उदधि-वाष्प-समान खगोल में
प्रभु सदेह तिरोहित हो चले।'

उक्त महाकाव्य इतिवृत्तात्मक होते हुए भी बडी ही रजनकारी कल्पना और गूढ व्यजना से युक्त है। भगवान् बुद्ध के रूप में मनुष्य की आत्मा का चरम विकास दिखलाया गया है, जहाँ बाह्य और अन्तरग चेतना एकाकार हो जाती है और जीवन की ज्वलन्त जाग्रत परिधि से परे किसी अरूप रूप की सत्ता स्थापित हो जाती है। राजा शुद्धोदन, यशोधरा, छन्दक आदि के चरित्र बहुत ही उत्कृष्ट बन पडे हैं, कहीं-कहीं हृदयोद्गारों की व्यजना इतनी मर्मस्पर्शी और करुणा का उद्रेक करने वाली है कि पाठक भावो के प्रवाह में बहने लगता है। नवीनता का समावेश होने पर भी

प्राचीन परम्परा, संस्कृति और वातावरण की उपेक्षा नहीं की गई।

संस्कृत वर्णवृत्तों में 'प्रियप्रवास' की पद्धति पर प्रस्तुत महाकाव्य की रचना हुई है, किन्तु भाषा में वह सरसता नहीं है जो 'प्रियप्रवास' की विशेषता है। भाषा कई स्थलों पर दुर्बोध और दार्शनिक गम्भीर्य से समाच्छन्न है।

'आर्यावर्त'

श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी' ने विश्वासघाती जयचन्द द्वारा उसकी अपनी जघन्य प्रतिहिंसा की पूर्ति के लिए मोहम्मद गोरी का साथ देकर पराक्रमी पृथ्वीराज को पराजित करना और इस प्रकार चिरकाल के लिए आर्यभूमि को परतन्त्रता की शृंखला में आबद्ध कर देने आदि की प्रसिद्ध ऐतिहासिक दुर्घटना को 'पृथ्वीराज-रासो' के कथानक के आधार पर उक्त महाकाव्य में उल्लिखित किया है। गोरी का आक्रमण और पृथ्वीराज की हार न केवल दो राजाओं की जय-पराजय का प्रश्न है, प्रत्युत् दो देशों, दो प्रमुख जातियों और दो विभिन्न संस्कृतियों के ध्वस-निर्माण की करुण गाथा है। आर्यावर्त्त और आर्यवीरों के देशप्रेम एवं राष्ट्रीय भावनाओं की ध्वस्त नींव पर उस समय विधर्मियों के राज्य-वैभव का प्रासाद खड़ा किया गया था, जिसके फलस्वरूप न जाने कितने लज्जाजनक दृश्यों को आवृत्त और अनावृत्त किया गया था। तत्कालीन लोगों की रागद्वेष पूर्ण भावनाओं का यह दुर्द्धर्ष चित्र, जो हमारे सामने उपस्थित हो जाता है, एक ओर आर्यवीरों की हीनभावना का द्योतक है तो दूसरी ओर उनके शौर्य और उज्ज्वल चरित्र का परिचायक भी।

प्रथम सर्ग में ही हमें कवि चन्द और राणा समरसी जैसे दो योद्धाओं का दर्शन होता है जो रण से हताश और खिन्न महाकाली के जीर्ण मन्दिर में लौटकर विजय का वरदान चाहते हैं। वह रात बड़ी भयावह और कष्टप्रद है। इसी निःस्तब्ध निर्मम रात्रि में पृथ्वीराज और गोरी के भाग्य का निपटारा हुआ था। पृथ्वीराज पराजित होकर बन्दी बना लिए गए थे और आर्यभूमि का सौभाग्य सिन्दूर सदैव के लिए पुँछ चुका था।

प्रथम सर्ग के पश्चात् अवशिष्ट बारह सर्गों में कथा क्रमशः विकसित होती चलती है। सिंह के समान लौह-शृंखलाओं में बद्ध वीर पृथ्वीराज की आँखें फोड़ दी जाती हैं। उधर पृथ्वीराज के समकालीन सखा और सामन्त महाकवि चन्द, जो इस प्रबन्धकाव्य के नायक हैं, पृथ्वीराज को ढूँढने के लिए युद्धभूमि का चक्कर काटते हैं, किन्तु वहाँ के वीभत्स और हृदयद्रावक दृश्यों को देखकर उनके श्रांत-क्लांत मन में ज्वाला-सी धधक उठती है। वे अपने पुत्र जल्ह को महाकाव्य का शेषांश पूर्ण करने का आदेश लेकर स्वयं महानाश का खेल खुलकर खेलने के लिए तत्पर हो जाते हैं। महारानी संयोगिता पति की पराजय के समाचार से विचलित नहीं होती, वरन् क्रुद्ध सिंहनी-सी सजग होकर सभी को युद्ध के लिए ललकारती है। तत्क्षण वह अपने पिता जयचन्द को भी पत्र लिखती है और उसके दुष्कृत्य के लिए उसे धिक्कारती है।

—

'देशद्रोहियों को अधिकार है न जीने का,
इनसे घिनाता है मरण भी इसीलिए
अब तक घृणित शरीर यह आपका,
जीवित है, जीवित पिशाचवत् खेद है ।'

कवि चन्द महारानी का पत्र लेकर जयचन्द के पास जाते हैं, वहीं उन्हें पृथ्वीराज के जीवित रहने और उनकी आँखें फोड़ दी जाने का समाचार प्राप्त होता है। हर्ष-शोक का भाव लिए वे दिल्ली लौट आते हैं और युद्ध के लिए प्रस्थान करते हैं।

भयकर युद्ध होता है। आर्यवीर शत्रुओं की सेना से डटकर लोहा लेते हैं और उन्हें परास्त कर देते हैं। पश्चात्ताप में गलता हुआ जयचन्द समरभूमि में बाण खाकर धराशायी हो जाता है और छटपटाता हुआ प्राण छोड़ देता है। कवि चन्द मौन, निःस्तब्ध से घूमते हुए घटना-चक्र को देखते है, किन्तु पृथ्वीराज के न मिलने से उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता। उनका अणु-अणु पीड़ा से कराहता रहता है। अर्द्ध-रात्रि में दीपक के धुँधले प्रकाश में जब कवि चन्द व्याकुल, विवश और हतचेत से बैठे थे तो अकस्मात् उन्हें देवी अम्बिका की प्रेरणा से एक मार्ग सूझ पड़ता है।

कवि चन्द शाह फकीर के वेष में गोरी को अपने वश में कर लेते हैं और इस प्रकार बन्दी पृथ्वीराज से भीषण कुम्भीपाक कारागार में मिलते हैं। पृथ्वीराज को सभी भावी व्यवस्था से अवगत कराके शाह फकीर गोरी को पृथ्वीराज से मन मन भर के सात लोहे के तवे एक शब्दवेधी तीर से तोड़ने की विद्या सीखने का आदेश देते हैं। गोरी बड़ा खुश होता है और बड़े समारोह के साथ पृथ्वीराज को दरबार में आमन्त्रित करता है। तवो पर हल्की चोट की गूँज के शब्द से पृथ्वीराज एक बाण से सातों तवे तड़ातड़ तोड़ देते हैं और जैसे ही सुलतान गोरी के मुँह से 'वाह वाह' के शब्द निकलते हैं वे ध्वनि का अनुसरण करते हुए दूसरे बाण से उसका प्राणान्त कर देते हैं। सारे दरबार में खलबली मच जाती है। लोग भयभीत होकर इधर उधर भागते हैं और सेना छिन्नभिन्न हो जाती है। कवि चन्द भी तलवार निकालते हैं और एक तलवार पृथ्वीराज को दे देते हैं। दोनों परस्पर कट कर आर्य-भूमि की रक्षा और आर्यवीरों के धर्म के पालन में अपने प्राण विसर्जित कर देते हैं। जल्ह द्वारा उसी समय अन्तिम पंक्ति लिखी जाती है।

उक्त महाकाव्य में सर्वत्र वीर-रस की प्रधानता है, यों अन्य रस भी न्यूनाधिक रूप में समाविष्ट हुए हैं। चरित्र चित्रण की दृष्टि से महाकाव्य का महाकाव्यत्व और भी वृद्धि पर है। वीरोचित क्रियाकलाप और उदात्त चरित्र-चित्रण कवि की प्रतिभा के परिचायक हैं, साथ ही सजीव वार्त्तालाप नाटकीय तत्वों को विकसित करता चलता है। नारी-चरित्र भी इतने उत्कृष्ट बन पड़े हैं जो भारतीय ललनाओं

के अनुरूप और उन्हें कर्त्तव्य-पथ निश्चित करने में एक नवीन प्रेरणा प्रदान करते हैं। युद्ध में पृथ्वीराज की पराजय और उनकी अनिश्चित मृत्यु का सवाद पाकर महारानी सयोगिता अपने अनुपम साहस और धैर्य का परिचय देती हुई निम्न उद्गार व्यक्त करती हैं जो आर्य रक्त की महानता के द्योतक हैं।

'आज पतिहीना हुई शोक नहीं इसका
अक्षय सुहाग हुआ, मेरे आर्य पुत्र तो
अजर अमर हैं, सुयश के शरीर में।
कायरों की मृत्यु साँस-साँस पर होती है
काँपता हैं मरण पराक्रमी की छाया से।'

कवि चन्द, राणा समरसी, महाराज पृथ्वीराज, पराक्रमी और योद्धा कन्हदेव आदि सभी वीरता के प्रतीक और चिर समर-विजयी हैं, यहाँ तक कि देशद्रोही जयचन्द का दूषित चरित्र भी पश्चात्ताप की आँच में तप कर निखर गया है। अनेक स्थलों पर उसके हृदयमथन का बहुत ही मर्मस्पर्शी विश्लेषण हुआ है।

'जानता हूँ कल इतिहास लिखा जायगा
जब आर्य-भूमि का, तो मेरे इस कृत्य का
वर्णन रहेगा वहाँ और उसे पढ के
युग-युग पाठक घृणा से धिक्कारेंगे।'

'हल्दीघाटी'

सत्रह सर्गों का उक्त महाकाव्य महाराणा प्रताप के शौर्य, पराक्रम, स्वातन्त्र्य-प्रेम और साथ ही राजपूत वीरों के दर्प और गौरव-भावना से भरा है। हल्दीघाटी की रक्त-रजित मेदिनी, जहाँ अगणित भारतीय वीरों के शोणित-कण धूलिसात हैं, आज भी दर्शकों के हृदयान्तराल में नूतन उन्माद जगाती है। हल्दीघाटी का समरागण भारतीय स्वतन्त्रता की तीर्थभूमि है और उसकी करुण गाथा वीरों के हृदय में उल्लास और अतीत स्मृति-चिन्हों को जाग्रत करती रही है।

भारत के इतिहास में यह वह समय था जबकि अकबर की धर्म सम्बन्धी कूटनीति का चक्र सारे राजपूत वीरों के सिरों पर घूम चुका था और उसकी चपेट में बडे-बडे वीर नतमस्तक हो मुगल सम्राट् के चरणों में बिछ चुके थे। केवल महाराणा प्रताप ही एक ऐसा सुदृढ सेनानी था जो सबके विरुद्ध मस्तक ऊँचा किए खडा था और जिसका हृदय गर्व और देश प्रेम से उफना पड रहा था। अकबर उसके इस दम्भ को चूर चूर कर देना चाहता था। वह उसे धूल में मिलाकर उसके गर्वोन्नत भाल पर पदाघात करना चाहता था। महाराणा के अन्य प्रतिद्वंदी राजा भी उसे पराजित देखना चाहते थे। महाराणा का भाई शक्तसिंह क्षुब्ध होकर शत्रुओं से जा मिला था। राजा मानसिंह, जिसके साथ महाराणा ने खाने से इन्कार कर दिया था, अपनी अवज्ञा से तिलमिला कर उस पर गहरी चोट करना चाहता था। फलस्वरूप

दोनों ओर युद्ध की तैयारियाँ होने लगी। विशाल मुगल सेना को लेकर मानसिंह ने खमनौर से थोडी दूर रक्त तलैया के समीप शाहीबाग में पडाव डाल दिया। इधर महाराणा प्रताप भी हल्दीघाटी के निकट ही उपत्यका में बाईस सहस्र राजपूत वीरो के साथ छिपे हुए युद्ध का सुअवसर ढूँढ रहे थे। एक दिन पर्वतो और जगलों के मनोरम दृश्यो को देखते हुए मानसिंह भीलो द्वारा घेर लिया गया और वे उसे मारने को उद्यत हो गए। किन्तु राणा न जाने कहाँ से आ पहुँचे और उन्होने उसके बन्धन खोलकर भीलो को धिक्कारा

'मेवाड देश के भीलो,
यह मानव धर्म नहीं है।
जननी-सपूत, रण-कोविद,
योधा का कर्म नहीं है।
अरि को भी धोखा देना,
शूरों की रीति नहीं है।
छल से उनको वश करना,
यह मेरी नीति नही है।'

श्रावण मास में हल्दीघाटी का घमासान युद्ध प्रारम्भ हुआ। राजा मानसिंह हाथी पर और महाराणा अपने प्रिय घोडे चेतक पर चढ कर युद्ध का सचालन कर रहे थे। तलवारो की चकाचौंध और वीरो की लाशो से सारी भूमि पटी थी। खून की नदियाँ बह रही थी। शत्रु सेना आग बरसाने वाली तोपो से अग्नि वर्षा कर रही थी, किन्तु राजपूत वीरों ने धधकती प्रचड अग्नि के मुँह में घुसकर तोपो के मुखो को विपरीत दिशा में मोड दिया। महाराणा ने मानसिंह पर आक्रमण किया, किन्तु वह कौशल से बचकर भाग निकला। शत्रु-सेना ने राणा को चारो ओर से घेर लिया। वे अपने घोड़े पर सवार अपनी सेना के व्यूह से बहुत दूर थे। काटते-काटते राणा के हाथ थक गए थे, चेतक शिथिल हो गया था और मेवाड का सूर्य अस्त हुआ ही चाहता था। किन्तु वीर झालामान्ना घोडा दौडाते हुए वहाँ पहुँच गए और उन्होंने झटपट महाराणा का मुकुट अपने सिर पर रख लिया, विजय पताका बरबस हाथों से छीन ली, शत्रुओ ने उन्हें महाराणा समझकर मार डाला। महाराणा को चेतक ले दौडा और तब तक दौडता रहा, जब तक कि उसके शरीर में चेतना का एक भी स्फुलिंग अवशेष था। फिर शरीर शिथिल होकर पृथ्वी पर गिर पडा और चेतक ने दम तोड दिया। महाराणा का देशद्रोही भाई शक्तसिंह वीरता के इस रोमाचकारी दृश्य को दूर से देख रहा था। वह विचलित होकर भाई के चरणों पर आ गिरा और दोनो भाइयो ने गले मिल कर अपने अन्तर में घुमडती व्यथा को शान्त किया। चौदहवें सर्ग तक हल्दीघाटी की लडाई का यही करुण दृश्य अकित है। पन्द्रहवें सर्ग में महाराणा प्रताप का दर-दर भटकना, राजपरिवार की दुर्दशा और अनेक आपत्ति-विपत्तियो का वर्णन है।

कई दिन तक भूखे रह कर महाराणा को सपरिवार जगलो की खाक छाननी पड़ती है। राजमहिषी और महाराणा की अबोध कन्या, जिन पर कभी स्वप्न में भी दुख की छाया न पड़ी थी, भूख से तड़पते हैं। कष्टों की पराकाष्ठा हो जाती है, यहाँ तक कि एक दिन बालिका के हाथ से एक जगली बिलाव घास की रोटी छीन ले जाता है। अपनी प्रिय पुत्री के रुदन और अश्रुओ से महाराणा का धैर्य विचलित हो जाता है। वे संधि-पत्र लिखने बैठ जाते हैं, किन्तु महारानी आकर हाथ रोक देती है। क्या इतनी तपस्याओ और कष्टों का यही उपसहार, यही परिणाम वाछनीय होता ? नही, ऐसा विधाता को मन्जूर न था।

सोलहवें और सत्रहवें सर्ग में भामाशाह की सहायता और धन-दान से महाराणा पुन अपनी सेना सगठित करते हैं और पहले देवीर, फिर कुभलगढ पर आक्रमण करके विजय प्राप्त करते हैं। मेवाड स्वाधीन हो जाता है।

> 'मेवाड हँसा, फिर राणा ने
> जय-ध्वजा किले पर फहराई।
> माँ धूल पोछ कर राणा को
> सामोद फूल-सी मुसकाई॥'

इस प्रकार प्रस्तुत महाकाव्य बडी ही ओजस्वी और स्फूर्त भाषा में लिखा हुआ है। राजपूत सैनिकों की बहादुरी और महाराणा का मूर्तिमान शौर्य आर्य-रक्त की महानता का द्योतक है। जहाँ राष्ट्र की सुरक्षा और कर्त्तव्य-पालन का प्रश्न है वहाँ वैयक्तिक सुख-सुविधाओ की चाह गौण हो जाती है। महाराणा का ओजस्वी रूप आज भी शिथिल प्राणों में नवीन चेतना और उत्साह भर देता है।

काव्य के प्रारम्भ में कवि ने महाराणा का ऐसा जीता जागता चित्र खीचा है, जो न केवल अतीत की महानता का द्योतक है, अपितु भविष्य के लिए भी उसमें जीवनमय ज्वलन्त सन्देश छिपा है। 'हल्दीघाटी' के लेखक श्यामनारायण पाडेय ने महाराणा प्रताप की टीस, वेदना और निर्भीक आत्मा की पुकार को अनुभव किया है और अनुपम शक्ति से प्रस्तुत महाकाव्य में उभार कर दर्शाया है। यहाँ वर्णित ऐतिहासिक कथानक, चरित्र-चित्रण, सलाप और छोटे छोटे दृश्य कवि की जागरूक चेतना और कभी न बुझ सकने वाली अग्नि से धधक रहे है, जो आज भी मानवीय प्रच्छन्न शक्तियो को उद्बुद्ध करते है।

'नूरजहाँ'

'नूरजहाँ' महाकाव्य का मुख्य आधार जहाँगीर-नूरजहाँ की प्रसिद्ध ऐतिहासिक प्रेमकथा है। एक अत्यन्त छोटी सी प्रणय घटना ने उनके जीवन में जो उथल-पुथल और क्रान्ति सी मचा दी थी, वही उनके जीवन की विकास दिशा और आकर्षण का प्रमुख केन्द्र बन गई थी। प्रेम का न ओर छोर कही है, न उसकी जिज्ञासा की कही तृप्ति ! एक दिन दूर देश से आई उस भोली बालिका मेहरुन्निसा ने शाहजादा

सलीम के अन्तर को झकझोर दिया था। शाही उद्यान में वे दोनों खेल रहे थे। उसके निरीह सौंदर्य और अल्हड़पन में कुछ ऐसी मादकता थी जो मन को मुग्ध किये बिना नही रहती थी। खेलते-खेलते शाहजादा सलीम को पुष्प-कलियाँ तोड़ने की प्ररणा हुई। तभी दो नये कबूतर उसके हाथ लगे थे, उन्हें मेहर के कोमल करों में सौंपते हुए उसने कहा, 'देखो, जरा सँभालो, कहीं उड न जायँ।' जैसे ही सलीम उधर मुडा कि एक कबूतर सम्भ्रम में उसके हाथ से छूटकर उड गया। इतने में सलीम ने लौटकर

एक कबूतर देख हाथ में पूछा कहाँ अपर है?
उसने कहा अपर कैसा? वह उड गया स-पर है।
उत्तेजित हो पूछा उसने, उड़ा! अरे वह कैसे?
'फड़' से उड़ा दूसरा बोली, उड़ा देखिए ऐसे।'

बस उस समय की उसकी यही भोली भावभंगी सलीम के अन्तर्पट पर सदैव के लिए अंकित हो गई और वह मन, प्राण उस पर न्यौछावर कर बैठा। किन्तु जमीला की कुटिल और द्वेषमयी प्रवृत्ति ने इस सुखान्त नाटक पर पर्दा डाल दिया। द्वेष और प्रतिकार भावना से प्रेरित होकर उसने मेहर और सलीम को पृथक् करने का षड्यन्त्र रचा।

जमीला के भडकाने से अकबर ने मेहर का विवाह शेर अफगन से कर दिया और दोनों को दूर भेज दिया। सलीम को यह वियोग किसी प्रकार भी सह्य न हुआ। सूनी, निःस्तब्ध रात्रि में वह छद्म वेष में मेहरुन्निसा के शयनागार में घुस गया और शेर अफगन को मार कर कहीं अन्यत्र भाग जाने का प्रस्ताव अपनी प्रेमिका के सम्मुख रखा। मेहर की तो इसी बीच जैसे कायपलट हो गई थी। कर्त्तव्य-वेदी पर उसने अपने प्रेम को ही नहीं वरन् अपनी समस्त आकांक्षाओं, उल्लास और आनन्द को भी न्यौछावर कर दिया था। वह किंचित् भी विचलित नहीं हुई और उसने शाहजादा सलीम के प्रेम को ही नहीं ठुकराया बल्कि उसकी कडी भर्त्सना भी की।

किन्तु सलीम के दिल का घाव कभी न भरा। उसमें छटपटाहट, तड़पन, प्रणय पिपासा बनी ही रही। सम्राट् होते ही उसने शेर अफगन का वध करा दिया और मेहर को दिल्ली बुला भेजा। चार वर्षों तक मेहर के मन में द्वन्द्व मचता रहा। प्रेम और कर्त्तव्य में कशमकश सी रही, किन्तु अन्त में वही हुआ जो होना था, जो विधि का विधान बन चुका था। जहाँगीर और नूरजहाँ की प्रणय-कथा आज भी इतिहास के पृष्ठों में रगीन पेन्सिल से अंकित है। इतिहास का विद्यार्थी भले ही नूरजहाँ को मुगल-सम्राट् जहाँगीर की अधीश्वरी और सुशासिका के रूप में जानता हो, किन्तु उसके मानसिक संघात और द्वन्द्वात्मक जीवन का परिचय बहुत कम लोगों को विदित है। बालिका रूप में जो आकर्षण उसने अनुभव किया होगा वह सम्भव है दाम्पत्य जीवन में सघन होकर दुर्जेय हो गया हो। यह भी समव है कि वह

अपने वैवाहिक जीवन में उन भग्न सपनों को पुनः साकार देखना चाहती हो जो नियति के क्रूर थपेड़ों से असमय में ही छिन्नभिन्न हो गये थे। शेर अफगन जैसे क्रूर और रूखे पति से प्यार की प्रत्याशा करना जीवन के उन एकाकी, द्वन्द्वात्मक अनुभवों को सजीवन और गति देना रहा होगा जो दुर्भाग्य के अंधड़ में इतस्ततः छितरा कर बिखर गये थे। रागात्मक भाव—सामंजस्य के अभाव में—जब विशृंखल हो जाते हैं तो व्यष्टि को समष्टि में और स्वात्म को अखिलता में परिणत कर देने की आकांक्षा जगाते हैं।

विवाह के पश्चात् सुन्दरी मेहर के भीतर भी कुछ ऐसी ही आन्तरिक समग्रता व सुस्थिर संतोष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अपने पति के प्रति उसमें वही अपनत्व और एकात्म्य भाव है जो किसी प्रकार भी अविश्वस्त नहीं कहा जा सकता और न मिथ्या आश्वासन ही।

> 'दूर नगर से नदी-कूल पर पर्णकुटी हम छायेंगे।
> चिड़ियों के स्वतन्त्र कलरव में गला फाड़कर गायेंगे॥
> जो मलयानिल मुश्किल से जाने पाता महलों भीतर।
> उसी पवन संग वन-उपवन में मैं अब विहरूँगी सानन्द।
> दूषित वातावरण बीच यों मैं अब नहीं रहूँगी बन्द॥'

विवाह होते ही मनोद्वन्द्व आरम्भ हो जाता है और दाम्पत्य जीवन की अवधि में तथा उसके समाप्त होने के पश्चात् भी चार वर्षों तक मेहर के प्राणों में उथल-पुथल और हलचल सी होती रहती है। प्रेमी का दुराग्रह पुनः उन प्रसुप्त मधुर भावों को जगाता है जो क्षारवत् से हो गए थे। उसके समग्र जीवन में प्रेम एक ओर है और कर्त्तव्य दूसरी ओर। नूरजहाँ का मन कभी इधर झुकता है और कभी उधर। एक बार उसके मन में पति से सम्बन्ध-विच्छेद करने की बात भी उठती है, किन्तु वह क्षणिक दुर्बलता है। वह पतिव्रता नारी सी कठोर कर्तव्य को अन्त तक निबाहती है। पति की मृत्यु के पश्चात् भी उसका संकल्प शिथिल नहीं होता। वह उसी की स्मृति को लेकर जीवित रहना चाहती है, वरन् इस मोड़ पर आकर तो उसका अन्तर्द्वन्द्व और भी तीव्र हो जाता है। जिसे वह प्रेम करती है उसी से उदासीन। जहाँ उसका मन खिंचता है वहीं से नाता तोड़ कर उपेक्षित रहना। कैसी घोर विडम्बना है? अन्त में अकस्मात् उसकी धारणा बदलती है, वह भी प्रेमी के आग्रह से और तब जबकि उसका हठीला मन विद्रोह करते-करते शांत हो जाता है।

नूरजहाँ के सजीव जीवन-नाटक को उतारने में लेखक गुरुभक्तसिंह को मानसिक वृत्तियों के सूक्ष्म विश्लेषण और विचार-प्रक्रिया के ऊहापोह भरे स्पष्ट चित्र अंकित करने पड़े हैं। जहाँगीर प्रेमी है, किन्तु ऐसा प्रेमी नहीं जो प्रेम के नाम पर तड़प-तड़प कर मर मिटे। उसे स्थूल आधार चाहिए। प्रेम उसे उद्यम-शक्ति और उद्‌बुद्ध कर्म चेतना भी प्रदान करता है। अनारकली के प्रेम प्रसंग में भी वही बात

देखने को मिलती है। वह अपने प्रयत्न में हताश न होकर उसे किसी न किसी प्रकार ढूँढ लेता है और मरते दम तक साथ नहीं छोड़ता। मेहर के प्रति जब उसका आकर्षण और मन खिंचता है तो भी वह किसी की पर्वाह नहीं करता। शेर अफगन से विवाह होने के पश्चात् वह बिना भय और आशंका के मेहर के महलों में घुस जाता है और सम्राट् होने पर तो अपनी प्रेमिका तक की अप्रसन्नता पर ध्यान न देकर उसके पति को कत्ल करा देता है। मेहर की उदासीनता और उपेक्षा से भी वह हताश नहीं होता। आखिर उसके विद्रोही मन को परास्त करने में वह सफल हो ही जाता है।

जमीला इस काव्य में अत्यन्त कुटिल और नीच नारी है। वह विषमता का विष बोने में सदैव सतर्क है और मिथ्या प्रेम की भित्ति पर दूसरे के जीवन को बर्बाद कर देने में अत्यन्त निर्भीक। प्रारम्भ में वह अनारकली के प्रेम को रौंदकर विजयी बनती है और बाद में मेहर के प्रणय-स्वप्नों को क्रूरता से कुचल देती है। उसका समस्त जीवन छल और प्रपंचों से भरा है। अनारकली का प्रेम प्रसंग हृदयस्पर्शी है, किन्तु अप्रासंगिक-सा हो गया है। प्रमुख चरित्रों के अतिरिक्त दूर तक चलने वाले सामान्य चरित्र भी सुन्दर बन पड़े हैं।

पुस्तक में प्रकृति मनुष्यों की कहानी के लिए सुरम्य वातावरण बन गई है। प्रकृति और मानव जीवन में गहरा तादात्म्य है। मनुष्य दुखी है तो प्रकृति भी उदास और विषादमयी दीख पड़ती है। उनके मनोभाव परोक्ष अपरोक्ष रूप में प्रकृति के स्पन्दनों में यत्र-तत्र मुखरित हो उठे हैं। कहीं पुष्प हँस रहे हैं, कहीं भौंरे उन पर मधुर गुंजन कर रहे हैं कहीं पक्षी वृक्षों पर अठखेलियाँ करते हुए चहक रहे हैं और कहीं सुगंधित भीनी हवा मदमत्त बनाती हुई मन को झकझोर जाती है।

गुरुभक्तसिंह ने भाषा को सुघड़ता से ढाला है, पर कहीं कहीं फारसी-अरबी शब्दों के प्रयोग खटकते हैं।

'कुरुक्षेत्र'

श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' का 'कुरुक्षेत्र' महाभारत के युधिष्ठिर भीष्म संवाद को लेकर लिखा हुआ एतिहासिक काव्यग्रन्थ है, जिसमें मानवता के रक्त रंजित इतिहास पर दृष्टिपात करते हुए युद्ध की समस्या का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। लेखक के शब्दों में—'युद्ध एक निंदित और क्रूर कर्म है, किन्तु इसका दायित्व किस पर होना चाहिए? उस पर, जो अनीतियों का जाल बिछाकर प्रतिकार को आमन्त्रण देता है? या उस पर, जो इस जाल को छिन्नभिन्न कर देने के लिए आतुर है?' ये ही दो महत्त्वपूर्ण चिरन्तन प्रश्न हैं जो प्रत्येक राष्ट्र और मानवता के सम्मुख मूर्त हो उठते हैं। प्रायः प्रत्येक युद्ध में शुरू होने के पूर्व परस्पर विरोधी वृत्तियों में संघर्ष हुआ करता है, कशमकश-सी होती है.

'हर युद्ध के पहले द्विधा लड़ती उबलते क्रोध से,
हर युद्ध के पहले मनुज है सोचता, क्या शस्त्र ही—

उपचार एक अमोघ है,
अन्याय का, अपकर्ष का, विष का, गरलमय द्रोह का।'

मनुष्य लड़ना नहीं चाहता, वह मूलतः शान्ति, सद्भाव और समता का इच्छुक है, किन्तु उसमें मनोद्वन्द्व और राग, द्वेष, घृणा, ईर्ष्या, अभिमान आदि दुष्प्रवृत्तियाँ, विद्रोहाग्नि और प्रतिशोध की भावना जागती है।

'विश्व-मानव के हृदय निर्द्वेष में,
मूल हो सकता नहीं द्वेषाग्नि का,
चाहता लड़ना नहीं समुदाय है,
फैलती लपटें विषैली, व्यक्तियों की साँस से।'

आखिर विध्वंस से लाभ क्या है? मनुष्य-मनुष्य को भक्ष्य बनाकर उसका उष्ण रक्त पीकर किस चिर पिपासा को शान्त करना चाहता है? किस आनन्द के शीतल रस से आप्लावित होकर जी की जलन मिटाना चाहता है?

कुरुक्षेत्र के भीषण रक्तपात और हृदय-विदारक दृश्यों को देखकर युधिष्ठिर के मन में भी यही एक प्रश्न बार-बार गूँजता है

'किन्तु, इस विध्वंस के उपरान्त भी,
शेष क्या है? व्यंग्य ही तो भाग्य का?'

ऊहापोह और शंकाकुल मन स्थिति में युधिष्ठिर भीष्म के पास जाते हैं और अहिंसा का प्रतिनिधित्व करते हुए युद्ध के विरुद्ध मनोबल और आत्मिक शक्तियों का पक्ष लेते हैं।

'जानता कहीं जो परिणाम महाभारत का
तनबल छोड़ मैं मनोबल से लड़ता,
तप से, सहिष्णुता से, त्याग से, सुयोधन को
जीत नई नींव इतिहास की मैं धरता
और कहीं वज्र जलता न मेरी आह से जो
मेरे तप से नहीं सुयोधन सुधरता,
तो भी हाय, यह रक्तपात नहीं करता मैं
भाइयों के संग कहीं भीख माँग मरता।'

'कुरुक्षेत्र' को पढ़ते हुए हमें यह न विस्मृत कर देना चाहिए कि वह आज के युग की सृष्टि होते हुए भी महाभारतकालीन युद्ध की धारणाओं को लेकर लिखा गया है। भीष्म के युद्ध-सम्बन्धी निकट निष्कर्ष आज के युद्ध की समस्याओं का समाधान नहीं वरन् उस युग के हिंसात्मक साधना के अनुभवसिद्ध तथ्य हैं। उन दिनों सामाजिक समता सद्भावना और अन्याय के विरुद्ध न्यायोचित व्यवस्था के लिए युद्ध हुआ करते थे, यों स्वार्थ-लोलुपता, कुटिल द्रोहाग्नि, प्रतिशोध-भावना और भीतर ही भीतर घुमड़ता जहर भी इसका कारण होता होगा। उन दिनों युद्ध की अनिवार्यता

बहुत कुछ प्रारब्ध और अज्ञात सत्ता के हाथों में ही थी। विध्वसक और नीति विरुद्ध जानते हुए भी विवश होकर समरांगण में कूदना ही पडता था। सामूहिक प्रतिशोध उन दिनो पापपूर्ण नही समझा जाता था। वह पाप-पुण्य की परिधि से परे था।

भीष्म ने अपने कथन में प्राय इन्ही उपर्युक्त मतवादो की पुष्टि की है। उन्होंने युद्ध की तुलना उस तूफान से की है जो प्रकृति के विस्फोटक तत्त्वो को समेटे कुछ ऐसे प्रचड वेग से आ धमकता है और प्रकृति की विकृतियो एव जराजीर्ण वस्तुओ को अपने साथ उडा ले जाता है। ऐसे तूफान से उन वृक्षो को किंचित् भी हानि नही होती जो सशक्त और सुस्थिर है। जैसे तूफान अनिवार्य और प्राकृतिक है, उसी प्रकार युद्ध का उत्तरदायित्व भी किसी एक व्यक्ति अथवा राष्ट्र पर नही, वरन् वह सामूहिक विस्फोट है। यह किसी के रोके नही रुक सकता।

भीष्म के मत से तप, त्याग, विनम्रता, अनुराग, दया, क्षमा मानवीय गुण होते हुए भी सामाजिक जीवन के अनुपयुक्त हैं। जब तक असत् पक्ष का प्राधान्य होगा तब तक युद्ध अवश्यम्भावी है, वह होगा ही। लेखक ने आधुनिक साम्यवादी दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया है

> 'जब तक मनुज-मनुज का यह,
> सुख भाग नहीं सम होगा।
> शमित न होगा कोलाहल,
> सघर्ष नहीं कम होगा।'

सातवें सर्ग में जीवन-दृष्टि को लेकर समता-विधायक ज्ञान और मानव-धर्म की व्याख्या की गई है। मनुष्य सदैव मनुष्य पर अविश्वास ही करता रहा है। आज तक वह कभी द्वेष द्रोह से मुक्त न हो सका। करोडो मनुष्य आयु पर्यन्त मानव का कल्याणकारी रूप खोजते रहे हैं, किन्तु किसी को मनुष्यता के लिए निराश होने की आवश्यकता नही है। मनुष्यता का नव विकास सदैव होता आया है। हमें निष्क्रिय नहीं सक्रिय होना चाहिए। युद्ध शमन का समाधान है—दुष्प्रवृत्तियो का दमन और सद्प्रवृत्तियो का उद्रेक।

> 'रण रोकना है तो उखाड विषदन्त फेंको,
> वृक व्याघ्र भीति से मही को मुक्त कर दो।'

एक दूसरा समाधान भी कवि ने प्रस्तुत किया है -

> 'अथवा अजा के छागलों को भी बनाओ व्याघ्र
> दाँतों में कराल कालकूट-विष भर दो।'

कवि के मत से युद्ध, हिंसा और विनाश हेय है, वह मनुष्यता के ह्रास और पतन का सूचक है, किन्तु साथ ही वे आततायी और जन शोषक भी अक्षम्य हैं जो दूसरा की सुख-शांति का अपहरण करते है। कवि ने इन्ही दोनो पक्षो का जोरदार समर्थन किया है। यह आश्चर्य है कि समयुगीन होकर भी कवि ने महात्मा गाधी की

अहिंसा दृष्टि और असहयोग की नीति की उपेक्षा क्यों की है। न तो आधुनिक दृष्टि से युद्ध-सम्बन्धी समाधान प्रस्तुत किए गए हैं और न महाभारत के भीष्म-युधिष्ठिर संवाद को सुदृढ़ पौराणिक आधार-भूमि ही मिली है। दोनों की अधर में लटके हुए की-सी डांवाडोल स्थिति है। इन सब असंगतियों के बावजूद भी यह काव्यग्रन्थ अपनी निजी विशेषताओं के कारण हिन्दी साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसका आख्यान प्राचीन और ऐतिहासिक तत्त्वों से पूर्ण है। अपने युग की राजनीतिक परिस्थितियों और विचारधारा को प्रस्तुत करते हुए इसमें आज के मत-वादों की भी सुन्दर विवेचना हुई है। युद्ध का विषय नीरस है, किन्तु इसी शुष्क और नीरस विषय को रुचिकर और जीवन-तत्त्वों से समन्वित कर दिया गया है। काव्य की भाषा भी अत्यन्त ओजपूर्ण और प्रवाहमयी है। न तो कल्पना की कोरी उडानें भरी गई हैं और न कृत्रिमता का सहारा लेकर पाठकों को वास्तविक तथ्य से ही दूर रखने की चेष्टा की गई है। विषय की महत्ता, निरीक्षण की सूक्ष्मता और वर्णन की स्पष्टता से भी अधिक स्वाभाविकता और सरसता सराहनीय है, जो मानवीय मनोवेगों को उद्वेलित करती हुई पाठकों पर अपना स्थायी प्रभाव छोड जाती है।

'मेधावी'

हिन्दी के प्रगतिशील लेखक डॉक्टर रांगेय राघव का 'मेधावी' कुछ नई परम्पराओं को लेकर चला है। लेखक के शब्दों में—'प्रस्तुत काव्य इतिहास की तरह बद्ध नहीं है। अनुभूति और विचार के कारण कहीं-कहीं इतिहास की तिथियों का ध्यान नहीं रखा गया, क्योंकि तिथियों का महत्त्व भी स्वयं अनुभूति में है, इस प्रकार का काव्य लिखते समय मात्र। एक नायिका—एक नायक के चरित्र में इतना रूप समाना असंभव है। इस काव्य के नायक और नायिका इतिहास और गति हैं, और मेधावी के द्वारा वे प्रकट हुए हैं।'

ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि मेधावी ही प्रस्तुत काव्यग्रन्थ का एक मात्र नायक है, जिसका चैतन्य ज्ञान अणु-अणु में बिखरा है। युग-युगान्तर से मानव की तृष्णा समय के स्तर को भेदकर निर्मम अट्टहास-सा कर रही है। न जाने कितने अरमान, वासनाएँ, उन्माद, जन्म, मृत्यु और अपराजित जीवन शक्तियाँ युग-युग की निर्बाध गति में समाहित हो गई हैं। इतिहास परिवर्तनशील है और मानव समय की गति के साथ सापेक्ष रूप में बद्ध है। उसके ध्येय का ओर-छोर अनन्त है। मेधावी उद्भ्रान्त और चिंतित बैठा हुआ अनन्त प्रसार को आँखें फाडे देख रहा है। सूर्य, चन्द्र, तारे, नक्षत्र सभी महानृत्य में सल्लग्न हैं। निस्सीम नभ में ज्ञान-विहग कल्पना के पंखों पर उडकर थाह पाने में असमर्थ है। रवि, शशि और तारे उसकी निस्सीमता में बिन्दुवत् हैं। ग्रह-उपग्रह सभी अविश्रांत गति से चल रहे हैं, किन्तु उसका आदि और अन्त अज्ञात ही है। मनुष्य का अहंकार शिरा-शिरा में निनादित हो रहा है, किन्तु तो भी मनुष्य को शांति और तृप्ति नहीं है।

द्वितीय सर्ग में मेधावी अगणित नक्षत्रों और सौर-चक्र के अविरत नर्तन को देखकर चकित हो जाता है -

'तारों का प्रिय सुन्दर नर्तन
गति का नर्तन
नूपुर छन-छन
कितना विराट है शून्य खिला
जिसमें हम अणु मकरन्द अमल
परिवर्तन के झोंको से उड
दिशि-दिशि में फैले हैं खिल-खिल।'

तीसरे और चौथे सर्ग में मेधावी को सम्पूर्ण सृष्टि महानृत्य में संलग्न दीख पड़ती है। पृथ्वी और आकाश का अगम्य विस्तार उसके दृष्टिपथ के सम्मुख आकर बिछ जाता है। पाँचवें सर्ग में मेधावी को नभमंडल में सौर-चक्र बनते दीख पडते हैं मानो महाशून्य में ग्रह-उपग्रहों का भीषण द्वन्द्व मचा हुआ है। उसे लगता है जैसे विराट् का अणु-अणु चैतन्य हो उठा है और पृथ्वी सूर्य को देखकर मुस्करा रही हो।

छठे सर्ग में मेधावी को पृथ्वी पर प्राणचिन्ह स्पंदित हुए दीखते हैं और अमित शक्ति शत-शत धाराओं में उच्छल हुई जान पड़ती है। यों मानव-शक्ति सदैव प्रकृति से संघर्ष करती रही है, तो भी मेधावी विस्मय-विमुग्ध हो देखता है कि मनुष्य का इतिहास कितना अल्प है, कितना नगण्य है। मानव कितना लघु है—अथाह समुद्र में केवल बिन्दुवत्, किन्तु तो भी मानव होने के नाते उसमें अपने प्रति प्यार जगता है। वह आदिम मानव से शनैः शनैः उन्नति की ओर अग्रसर होता है। उसका ज्ञान क्रमशः विकसित होता है। संघर्ष करता हुआ वह आगे बढ़ता जाता है। वह उस राह का पथिक है जहाँ कोई व्यवधान नहीं, जहाँ ईश्वर और अमरत्व नहीं। जो कल सत्य था वह आज भी सत्य है व्यर्थ के झमेले में भूलकर प्रगति को अवरुद्ध करना है।

नवें सर्ग में मेधावी को आकाश में उषा फूटती नजर आती है। सहसा उसकी आँखों में सिहरन-सी भर जाती है और वह आनन्द विभोर हो उठता है :

'व्याकुल नयनों की कारा में
यह हरित आभ क्यों जाग उठी ?'

पृथ्वी के रंगमंच पर उसे रोते और हँसते मानव दृष्टिगत होते हैं। कभी प्राणों की नीरवता प्रकृति में लय होकर आँसू बहाती है और कभी अविराम दृश्यरूपों की मादकता में विभोर हो चंचल हो उठती है। हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् सभी महाप्रकृति में समरूप हैं, किन्तु अकस्मात् मेधावी का वह स्वप्न भंग हो जाता है और वास्तविकता उसकी आँखों में नाच उठती है :

'ओ मूर्तिमान प्रश्नोत्तर तू
अपनी सत्ता का खेल देख,
चल उठा समय के बीच आज
इतिहास पृष्ठ में उलट चला
रे मेधा का राही अबाध
मैं अपनेपन को खोज चला।'

इतिहास के पृष्ठ उलटते चलते हैं और युग-युग की ऐतिहासिक घटनाएँ एक-एक करके उसकी आँखों के समक्ष बिछ जाती हैं। आदिम जातियाँ द्रविड, कोल, मंगोल तथा प्राचीन भाषा, संस्कृति और कला सभी कुछ कल्पना में सजग हो उठते हैं। सोचते-सोचते मेधावी श्रांत हो जाता है, तब समय में से प्रतिध्वनि उठती है:

'कौन हो तुम उन्मत्त विभोर,
दुखी होकर करते संघर्ष
युगांतर से पथ पर चल किंतु,
रुद्ध हो जाता विमल अमर्ष ?'
'अरे मैं हूँ मानव, अभिराम
चला था स्वप्नों का ले भार
किंतु अब देख रहा हूँ भ्रांत
नहीं मिलता मुझको सुखसार।'

अंतिम चौदहवें सर्ग में मेधावी न्याय और अन्याय के घोर संघर्ष को देख कर मुस्करा उठता है। मजदूर, निम्न मध्यवर्ग, कवि, दार्शनिक, वैज्ञानिक—सभी अपनी-अपनी धुन में लीन हैं और फासिस्टवाद, साम्राज्यवाद, प्रगतिवाद तथा भिन्न-भिन्न मत-मतांतरों का बोलबाला है। काव्य के अंत में कवि उन्मुक्त और सुखमय जीवन की कामना करता है।

'एक घर सी होगी यह भूमि
और भौतिक के दुख का चूर
बनायेंगे मानव वह पथ
जहाँ शोषण का रहे ना नाम
जहाँ का सत्य वास्तविक सत्य
जहाँ स्वातन्त्र्य साम्य सुख शांति
करेंगे निशि दिन नृत्य
और परिवर्त्तन-पथ पर सतत
ज्ञान का पकड़े हाथ
चलेंगे जगमग मुक्त...।'

प्रस्तुत काव्यग्रन्थ में अनूठी कल्पना और विषयों की अनेकरूपता के साथ-साथ उनके विधान का ढंग भी निराला है। कवि प्रगतिशील है और उसने पुरातन बन्धनों को विच्छिन्न करके नवीन काव्य-पद्धति अपनाई है। अभिव्यंजना की प्रगल्भता और भावनाओं की ऐसी सुकुमार योजना मिलती है कि पाठक विस्मय-विमुग्ध हो वर्णन-वैचित्र्य में खो जाता है। दर्शन, भूगोल, इतिहास, काव्य, समाजशास्त्र आदि सबका इसमें समाहार हो जाता है, अतएव विषय प्रसार व्यापक है। लेखक ने लिखा है:

"मैंने किसी अन्त को ध्येय या लक्ष्य साबित नहीं किया—जीवन की गति ने अपने आपके निष्कर्ष प्रतिध्वनित किये हैं।"

'कुणाल'

प्रस्तुत खण्डकाव्य का उद्देश्य सुप्रसिद्ध अशोक के पुत्र कुणाल का महत् चरित्र अंकित करना है। साम्राज्ञी तिष्यरक्षिता की कलंक-कालिमा कुछ ऐसी सघन होकर इतिहास के पृष्ठों में समा गई है जिसका सर्वथा लुप्त हो जाना असम्भव ही है। प्रथम तीन सर्गों में मगध की राजधानी पाटलिपुत्र का वैभव, कुणाल का जन्म, बालक्रीडा और उसके तारुण्य की लावण्यमयी छवि वर्णित है। राजकुमार अत्यन्त सौम्य और सुन्दर है। उसका अंग प्रत्यंग सुडौल और कान्तिमय है, किन्तु सबसे शोभन और विमुग्धकारी उसके विशाल नेत्र हैं जो बरबस सबका ध्यान आकर्षित कर लेते हैं।

'था सभी शोभन मनोरम
किन्तु लोचन पद्म
थे बड़े ही हृदयस्पर्शी
स्वर्ग-सुख के सद्म।'

चौथे सर्ग में कलिंग देश को जीतने के उपलक्ष्य में एक बृहद् उत्सव मनाया जा रहा है। प्रशस्त ललाट, विशाल नेत्र, आजानु बाहु और हवा में थिरकते उत्तरीय एवं चकाचौंध करते आभूषणों और वस्त्रों से सुसज्जित सम्राट् अशोक इस प्रकार सिंहासनारूढ़ हैं मानो •मौर्य-वंश का सौभाग्य-सूर्य अपने समस्त वैभव और कान्ति को बिखेरता हुआ विराजमान हो। चहुं ओर आनन्द और उल्लास कौतूहल-सी दौड़ी पड़ रही है। सभी आनन्दमग्न हैं और नृत्य, गायन आदि तरह-तरह के अभिनय दिखाए जा रहे हैं। मंत्री, सभासद, प्रजा और समस्त रनवास भी उपस्थित है। सहसा युवराज कुणाल नाट्य मंच पर कामदेव का वेष बनाए और हाथों में पुष्पबाण लिये प्रविष्ट होता है। उस समय की उसकी मधुर भावभंगी पर रानी तिष्यरक्षिता मुग्ध हो जाती है। गवाक्ष में से झांकते हुए उसके नेत्र मचल से उठते हैं। हृदय विचलित हो जाता है और प्राणों में सिहरन सी भर जाती है। महलों में लौटने पर कुछ देर रानी अर्द्ध-मूर्च्छित-सी पड़ी रहती है। पांचवें सर्ग में रानी का अंतर्मंथन बड़ी मार्मिकता से चित्रित किया गया है। प्रेम का ऊहापोह बड़ा ही स्वाभाविक है, किन्तु माता का पुत्र के प्रति गंदी वासना का उद्रेक कुछ ऐसा घृणित और जघन्य

अपराध है जिसका मार्जन नहीं किया जा सकता। लेखक ने जितनी ही सरलता और निर्विकार भाव से रानी के उफनते कुत्सित प्रणय का प्राबल्य दिखलाया है उतनी ही तीव्रता से पाठकों के हृदय में विद्रोह और घृणा का भाव जाग्रत होता है। छठे सर्ग में प्रणय-निवेदन का प्रसग है। रानी जब इठलाती, मचलती और अपनी कचन सी काया को नाना आभूषणों और सुन्दर वस्त्रों से आवृत्त करके युवराज कुणाल से प्रणय की भीख माँगती है तो स्वय लज्जा भी लजा जाती है। राजकुमार का उत्तर कितना स्वाभाविक है, साथ ही कितना सामयिक और सक्षिप्त :

'मर्माहत से थे अब कुणाल
अद्धानत प्रणत बने अस्थिर।
'आर्ये'। तुम हो जननी मेरी।
सोचो तो क्या कहती हो फिर?
कैसे यह साहस हुआ तुम्हें।
माता! अब राजभवन जाओ।
कुछ पूजन-यजन करो जिससे
हलचल में परम शान्ति पाओ।'

मर्माहत और चोट खाई हुई सर्पिणी-सी रानी भीतर ही भीतर विष उगलती है। अपमान की आँच से उसका अन्तर धधकता है और वह प्रतिशोध के लिए सजग और सचेष्ट हो उठती है। सम्राट् अशोक से सप्ताह भर के लिए वह शासन-भार अपने हाथों में ले लेती है। राजा-रानी का मान-मनौवल का दृश्य कैकेयी-दशरथ प्रसग से प्रेरित है, उसमें किंचित् नई उद्भावना कर दी जाती तो वह शायद अधिक स्वाभाविक और हृदयस्पर्शी बन पडता।

वासनामिश्रित प्रतिशोध की लपटें क्रमश अधिक उग्र हो उठती हैं :

'मैं इस छल का बदला लूँगी।
प्रतिहिंसा बनकर धधकूँगी।'

रानी छद्म रूप से एक पत्र लिखती है जिसमें तक्षशिला स्थित अमात्य को कुणाल की आँखें निकालकर पत्नी सहित निर्वासित करने का आदेश है। नवम सर्ग में चर के मन का द्वद्व चित्रित किया गया है, किन्तु यह समझ में नहीं आता कि दन्तमुद्रा से मुद्रित और बद पत्र को चर ने कैसे खोल कर पढा होगा अथवा षड्यन्त्र की जानकारी प्राप्त करने के बाद भी वह अमात्य और राजकुमार के समक्ष मूक क्यों बना रहा। अच्छा होता यदि उसे ऐसे ही अनजान रहने दिया जाता।

दशम सर्ग में कुणाल और उनकी पत्नी काचन का निर्वासन पढकर राम, सीता, लक्ष्मण का वनगमन याद आ जाता है। राजकुमार कुणाल चलते हुए अपनी बीन ले लेते हैं और वन-उपवन, पर्वत-प्रदेश और बीहड स्थानों में पदगीत गाते हुए आगे बढते रहते हैं। छोटे-छोटे गीत जीव की निस्सारता और समय-परिवर्तन का

करुण संदेश दे जाते हैं। अन्तिम चार सर्गों में राजकुमार का प्रत्यागमन, सम्राट् अशोक से भेंट, पश्चात्ताप रानी की दुर्दशा, किन्तु कुणाल के आग्रह से क्षमादान और फिर कुणाल के राज्याभिषेक के पश्चात् सम्राट् का काषाय वस्त्र धारण करके राजधानी से प्रस्थान आदि का प्रसंग है जिसके साथ ही साथ काव्य का उपसंहार हो जाता है।

कथानक की दृष्टि से घटनाओं का संयोजन सुन्दर हुआ है, किन्तु कहीं-कहीं केन्द्रस्थ विषयों की गति विशृंखल-सी लगती है। चरित्र चित्रण की दृष्टि से रानी तिष्यरक्षिता और कुणाल के चरित्र सुन्दर उतरे हैं। रूपगर्विता, उच्छृंखल, प्रसाधन की पुजारिणी, अतृप्त वासनाओं की समष्टि और अपनी शत-शत कुत्सित मनोवृत्तियों से घिरी नारी कितनी खूंख्वार और भयावह हो जाती है इसका बारीकी से अंकन हुआ है। कुणाल का चरित्र असाधारण दृढ़ता, धैर्य और सहनशक्ति का परिचायक है जो गरिमामय और उदात्त होकर उसकी गम्भीर प्रकृति के अनुरूप ही है। किन्तु सम्राट् अशोक जैसे दुर्द्धर्ष नरेश को इतना अकर्मण्य, समस्त कार्य-व्यापारों से अनभिज्ञ और स्त्रैण चित्रित करना ठीक नहीं। दूसरे सर्ग के पश्चात् कुणाल की अपनी माता का भी कहीं उल्लेख नहीं है। राजकुमार आँखें निकालने, पत्नी सहित निर्वासित होने और राजा व प्रजा के बिना किसी विरोध विग्रह के वन वन भटकना आदि घटनाएँ कुछ ऐसी ऐकान्तिक हो गई हैं जो अस्वाभाविक सी लगती है।

श्री सोहनलाल द्विवेदी ने प्राचीन सामन्तकालीन रुचि, संस्कारों और वातावरण का यथातथ्य चित्रण किया है। काव्य की भाषा सरल और प्रवाहमयी है। शान्त और करुणरस का उचित पर्यवसान, साथ ही इतिहास प्रसिद्ध घटना का काव्यगत निर्माण कुछ ऐसा अनूठा बन पड़ा है जो कवि की कलात्मक रुचि और गुणग्राही प्रतिभा का द्योतक है।

'कैकेयी'

सामाजिक धारणाओं में चाहे कोई कवि कितना ही अग्रगामी क्यों न हो, किन्तु किसी भी कृतित्व में ऐतिहासिक मर्यादा और क्रमागत कथानक की परम्परा को सर्वथा विच्छिन्न करके आगे नहीं बढ़ा जा सकता। नूतनता के फेर में कवि ने जिस आधार-भूमि पर कैकेयी के चरित्र चित्रण का यह साहस किया है, वह अमनोवैज्ञानिक और समस्त रूढ़ मर्यादाओं के क्रम को उलट देने वाला है। प्रथम सर्ग में ही कैकेयी न जाने कितनी कितनी काल्पनिक यन्त्रणाओं और ज्वलन्त वेदनात्मक भाव-समूहों से आक्रान्त हो रही है। उसके अंग प्रत्यंग में सिहरन है, प्राणों का अणु-अणु क्रन्दन कर रहा है, हृदय के दग्ध मरुस्थल में विकलकारी मौन व्यथा व्याप्त है और वह निःस्तब्ध रात्रि में रो रोकर अपनी हाहाकारमयी, घुमड़ती भावनाओं का मनुहार कर रही है।

"कैसे उन भावों को बाँधूं
स्मित के सुरभित तारों में

कैसे तोलूँ रागिनियों को
विह्वल आर्त्त पुकारों में।
आज आँधियों के समूह में
इच्छाएँ कम्पित-गाता
टकराती हैं इच्छाओं से,
ज्यों ग्रह से ग्रह टकराता।
ज्वालाओं के कोलाहल में
कैसे लिए रहूँ मन को
बन्द करूँ कैसे पलकों को
आँसू विह्वल क्रन्दन को।'

प्रथम तीन सर्गों तक रानी की इस अज्ञात छटपटाहट का कोई कारण उल्लिखित नहीं किया गया। यह भी स्पष्ट नहीं है कि रानी क्या चाहती है और उसमें किस दैवी प्रेरणा से ये मनोभाव जाग्रत हुए हैं। चतुर्थ सर्ग में राम के राज्याभिषेक की तैयारी है, अयोध्या में आनन्द उमड़ा पड़ा रहा है, नगर का कोना कोना प्रकाश से जगमगा रहा है। सहसा कैकेयी के सूने, अन्धकारमय हृदय में भी आशा का दीपक टिमटिमा उठता है और वह जैसे भीतर ही भीतर अपने को टटोलती है। उसके मन में भीषण द्वन्द्व होता है।

'कर्त्तव्य! तुम्हारी वाणी
बजती है अब भी मन में,
पर एक करुणतम ममता
पथ रोक खड़ी जीवन में।'

रानी का वरदान माँगने का ढंग भी निराला है।

"राजतिलक हक जाय राम का
हो आदेश अयोध्या छोड़ें,
राजतिलक की बेला में वे
सिंहासन का बन्धन तोड़ें।"

अन्तिम सर्गों में राम का वन-गमन, दशरथ की मृत्यु और भरत का अयोध्या लौटने आदि का प्रकरण बिल्कुल एक नये रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो अत्यन्त अस्वाभाविक और विचित्र-सा लगता है। क्या ही अच्छा होता कवि ने इस काल्पनिक वृत्त के मोह में न पड़कर अपनी प्रतिभा का रामायण की कैकेयी को ही मनोवैज्ञानिक पद्धति से चित्रित करने में उपयोग किया होता। सौतिया डाह की तीव्र ज्वाला, घुमड़न, कुत्सित मोह, प्रेमान्ध नारी की धधकती लालसाएँ उसे अनचाहे ही कितने निम्न स्तर पर ले आती हैं—इसका मार्मिक विश्लेषण अधिक समीचीन हो

सकता था। मन्थरा की प्रेरणा से कैकेयी के मस्तिष्क की जो एक विशेष स्थिति बन गयी थी, उसकी विचारधाराएँ जिस दिशा और घृणित लक्ष्य पर आ टिकी थी और अवश एवं दुर्दम्य मोह के फलस्वरूप वह जो अनुचित हठ पकड बैठी थी, उसकी यदि सच्ची तसवीर यहाँ प्रस्तुत की जाती तो वह पाठको को अधिक रुचिकर हो सकती थी। कैकेयी के हठ मे कितना मनोवैज्ञानिक तथ्य है, आशा और विश्वास के विरुद्ध पुत्र द्वारा तिरस्कृत होने पर उसमें कैसे कैसे दारुण मनोभाव जाग्रत होते हे, मोह और अज्ञान का आवरण हटते ही किस प्रकार वास्तविकता उसकी भीतरी चेतना में कौंध जाती है तथा इसके पश्चात् उसकी असह्य अन्तर्व्यथा, अनुताप, ग्लानि, आजीवन कलक-कालिमा की कुत्सा आदि इस चिरस्मरणीय गाथा का हूबहू चित्र यदि हमारी कल्पना पर उतार दिया जाता और सभी क्रमिक घटनाओ का सूक्ष्म अकन कवि की लेखनी से हुआ होता तो वह अधिक उपादेय और अभिनन्दनीय हो सकता था।

कारण—ऐसे कथानक, जिनका सम्बन्ध इतिहास से जुडा रहता है, लोक-प्रचलित धारणाओं को लेकर यदि वैसी ही परम्परागत रूढियों में ढाले जाते हे तो विशप सफल होते हे अर्थात् ऐसे तथाकथित ऐतिहासिक आख्यान न्यूनाधिक अशो या काल्पनिक तथ्यो का सहारा तो ले सकते हैं, पर कहानी का मूल ढाँचा—जो रूढि या परम्परा के रूप में जन-जीवन में धँस चुका है—निजी कल्पना के आधार पर सर्वथा नये ढग से रूपान्तरित नही किया जा सकता। कैकेयी की परम्परागत, लोक-प्रचलित धारणाओं की एक इकाई है जो अपनी सीमाओं में चलती आई है। सीमा निरन्तर बढती है, पर किसी भी सीमा में उतना निरकुश होना उचित नही जहाँ कि ऐतिहासिक तथ्यों को अस्वाभाविक रूप में तोडा-मरोडा जाता हो।

> 'स्पर्श कर गई कैकेयी के
> प्राणों को कोमलता एक
> ममता जिसका नाम, स्नेह से
> होता है जिसका अभिषेक।
> साँसों में बज पडा बीन सा
> मगल उत्सव का मधुमास
> शत-शत धाराओं में उमडा
> मन का वाष्पाकुल उल्लास।'

कैकेयी का यह सर्वथा नया परिवर्तित रूप बडा ही विचित्र और अकल्पनीय प्रतीत होता है। यो तो परिस्थितियों और भवितव्यता वश कैकेयी के हाथो जो कुछ गुजरा उसका अन्तत परिणाम अच्छा ही हुआ और अनजाने ही आसुरी शक्तियो के ध्वस से लोकमगल कार्य सम्पन्न हुआ, किन्तु इसके ये मानी नही कि युगीन परिवेश को अगीकार न करके हम प्राचीन कथा की प्रचलित मर्यादाओं को भग कर,

अथवा तत्कालीन परिवेश की प्रयोजनीयता को समझे बगैर ऐसे मतवादों की स्थापना करें जो यथार्थ से पूर्ण तादात्म्य स्थापित न कर सकती हो। किसी भी कथा को हम चाहे जिस परिदृश्य में देखें, जिस मर्यादा में बाँधें, पर नई विचारणाएँ, नये नैतिक मान या नए जीवन-मूल्यों की स्थापना निरी वैयक्तिक स्वतन्त्रता अथवा मौलिक विवेक की निरपेक्ष सत्ता पर ही निर्भर नहीं करती। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में, मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से, सामाजिक संघर्षों या विधि-विडम्बना से उपजी परिस्थितियाँ और उन समूचे वैविध्य में किसी भी लोक-प्रचलित परम्परागत कथानक का सर्वांग सावयव चित्र विकृत नहीं किया जा सकता।

कैकेयी में अनायास ही जिस द्वन्द्व की सृष्टि होती है उसका न केवल आध्यात्मिक और नैतिक स्तर है, वरन् व्यावहारिक पहलू भी है। प्रतिभाशाली कलाकार उन मूल भूमियों को सहज ही उपलब्ध कर लेता है जहाँ जीवन दर्शन में *मानव-अनुभूतियों के मौलिक तत्वों की व्याख्या प्रस्तुत की जाती है।* किसी भी पात्र या व्यक्ति के व्यक्तित्व का आत्यन्तिक विघटन अथवा उसे बिल्कुल ही दूसरे रूप में प्रस्तुत करना, मेरी दृष्टि में, उपयुक्त नहीं है। कैकेयी का व्यक्तित्व आज चरित्र-विकास के लिए इष्ट नहीं, अपितु अपनी रूढ़ि-परम्पराओं के बल पर पनप रहा है। रागद्वेष से प्रेरित और समकालिक परिस्थितियों के संघर्ष और कचोट की उलझने सुलझने या सकल्प-विकल्प कैकेयी के व्यक्तित्व में समाहित हैं। रचना प्रक्रिया की दृष्टि से कल्पना-स्वातन्त्र्य का महत्त्व इस बात पर निर्भर करता है कि हम असल ज्ञान के सत्यासत्य को बिना कथा विकृत किये पहचानने व गुनने की चेष्टा करें। काव्य की भाषा प्रसाद गुण सम्पन्न और प्रवाहमयी होते हुए भी कथा-प्रसग मन के संस्कारों में न रम सकने के कारण किसी प्रकार भी ग्राह्य नहीं है, जो इस पुस्तक को अप्रामाणिक तो बना ही देता है, प्रचलित धारणा के विपरीत भी सिद्ध करता है।

'वर्द्धमान'

जैन-धर्म के उन्नायक भगवान महावीर ने सासारिक प्रपचो से परे समष्टिगत कल्याण की भावना से प्रेरित तथा जरा, मृत्यु, व्याधि आदि के भयानक नागपाशों से मुक्ति पाने के लिए श्रेय-प्रेय के समन्वय हेतु भगवान बुद्ध की भाँति ही निर्वाण, नैष्कर्म्य एवं अहिंसा की चिरतन साधना की थी। यहाँ तक कि तथागत से भी अधिक नैतिवाद, कठिन वैराग्य, भोग का अतिक्रम करके त्याग के मार्ग का अवलम्बन तथा अनित्य, दुस्कर, मिथ्या व विपरीतगामी प्रवाहों के भँवर में न पड़ नित्य क्रियाशील विशिष्ट दृष्टिभगी को उजागर किया। भगवान महावीर के गुण विशिष्ट, सच्चिदानन्दघन, लीलारसमय विग्रह रूप का आकर्षण कितना दिव्य, अलौकिक व वर्णनातीत है उसकी झाँकी जरा देखिए—

"अपूर्व था बालक गौर रंग का,
कपोल दोनों ऋतुराज पुष्प से,
लसे सिलौने कर में सुवर्ण के

अजस्र संचालित पाद युग्म थे।
मनोरमा आनन की प्रसन्नता
अवर्णनीया छवि युक्त सोहती,
अनूप सद्यागत स्वर्ग की प्रभा
प्रतीत प्रत्यग विराजती हुई।"

ऐसा लगता था मानो भगवान का प्राकट्य—

"हृदय की प्रतिमूर्ति वहिर्गता
भवन की सुषमा, छवि ईश की,
तनय हो अवतीर्ण हुई अहो !
शुभ विदेह धराधिप-धाम में।"

उक्त महाकाव्य के आठवें सर्ग में बालक महावीर ने जन्म लिया। जन्म पूर्व के कथानक और प्रसग में राजा सिद्धार्थ और महारानी त्रिशला (भगवान के माता-पिता) को मुख्य नायक-नायिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिससे पूर्वार्द्ध के समक्ष उत्तरार्द्ध का कथा-भाग गौण-सा लगता है। मुख्य प्रसग के लिए जिस परिपाटी का निर्वाह आज तक महाकाव्यो में किया जाता है उसमें गौण विषय और आख्यानो को इस ढग से सश्लिष्ट किया जाता है जो प्रतिपाद्य प्रकरण को अधिकाधिक उभार कर रखने में सहायक होता है। दूसरे शब्दो में समूची प्रबन्ध कल्पना का केन्द्रबिन्दु जहाँ कोई मुख्य चरित्र होता है उसी के सदर्भ मे अथवा उसी के सस्कारो, रुचि और जीवन-गति को दिशा देने के लिए अन्य चरित्रो की अवतारणा की जाती है। किन्तु प्रारम्भिक सर्गों में महारानी त्रिशला के मातृ रूप की गरिमा को भग कर उसे प्रणयिनी के रूप में चित्रित करना श्रृगारिक रस की विडम्बना ही कहा जा सकता है।

"शरीर की यष्टि लता समान थी
उरोज थे श्रीफल से लसे जहाँ
प्रसून से अंग विलोक भूप भी
मिलिन्द से मुग्ध बने अहर्निशा।

नितम्ब से स्थूल, कृशा सुमध्य से,
उरोज से उन्नत भार संयुता,
समायता लोचन युग्म से
सुरागना सी त्रिशला मनोरमा।"

जहाँ तक जैन धर्म के सर्वोच्च सिद्धान्त, तत्वज्ञान और आचार-परम्परा का प्रश्न है उस दृष्टि से भी अनेक सर्गों तक इस प्रकार की केलि-क्रीडा और विलास विभ्रम सर्वथा अनुपयुक्त है। ऐसे रूमानी चित्र यथार्थ को एक नये सिरे से पकडने की चेष्टा करते है और शुद्ध आधुनिक धरातल पर आ टिकते है। महान् तपस्वी, त्यागी

और सयमी महावीर की जननी के वर्णन में ऐसा उन्मुक्त भाव और खुलापन इसलिए भी निषिद्ध है चूँकि मातृकुक्षि में जहाँ ऐसी चिन्मय प्राणसत्ता का विकास होता है और जो नौ-दस मास तक अखण्ड भाव से दिव्य शरीर के सस्थान को प्रश्रय देती है उसकी एक सीमा और मर्यादा है। मन और पचभूतो के एकीकरण से ही शरीर का निर्माण होता है। विश्व में शक्ति के जितने स्वरूप है उन सब में विशिष्ट और रहस्यमयी मातृशक्ति है जो बाहर से नया जीवन-रस ढालकर उसके अपने शरीर के भीतर जो चैतन्ययुक्त प्राण शक्ति है उसका नित-नया पोषण और सवर्द्धन करती है। अतएव उसमें मोहक और हृदय को आलोडित करने वाले अभिराम चित्रो के अल्बम के समान पाठको को अभिभूत करने वाली त्वरा न होकर नारीत्व की महिमा को प्रतिष्ठित करने वाला सम्पूर्ण मातृत्व मुखर होना चाहिए।

यो भी भगवान महावीर के माता-पिता तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ की परम्परा के अनुयायी थे। अहिंसा, त्याग, अपरिग्रह और सासारिक प्रपच की विडम्बनाओ से परे उन्होने अनासक्ति और सयमशीलता का ऐसा वातावरण सृष्ट किया था जहाँ उनकी समूची आतरिक शुचिता के ज्वलत प्रमाण स्वरूप भगवान् महावीर का प्राकट्य हुआ।

बाल्यावस्था से ही उनके जीवन का ध्येय सुखोपभोग नहीं बल्कि ज्ञान की पिपासा, ज्ञान की खोज और ज्ञान की चरम साधना थी। अपने उद्दाम यौवन काल में भी वे कभी ऐहिक सुखो के व्यामोह में नही पडे और उनकी जन्मजात सात्त्विक प्रवृत्ति उन्हें अधिकाधिक अलिप्तता और अनासक्ति की ओर ले गयी।

"चला गया शैशव सर्वकाल को
प्रवृत्त कौमार्य्य हुआ जिनेन्द्र का,
परन्तु आती लख यौवनाग्नि को
विचार में था जठरत्व आ गया।

प्रकाशिता यद्यपि ज्ञान-रश्मियाँ
जिनेन्द्र शीर्षस्थ प्रभूत हो गईं,
परन्तु कादम्बिनी भाव मेघ की
क्षण-प्रभा ले हृदयाब्धि में उठी।"

उस समय जबकि सामाजिक और धार्मिक रूढियाँ अन्धानुसरण के गर्त में कैद थी, वैदिक कर्मकाण्डो ने हिंसा और अतिचार का रूप धारण कर लिया था, तब भगवान् महावीर ने ही आत्मचिंतन और जीवनमुक्ति द्वारा आत्मा और ब्रह्म का अद्वैत सिद्ध किया। अर्थात् आत्मा क्या है, देह क्या है, परलोक क्या है, निर्वाण क्या है—इसी के समाधान में उन्होने उस तार्किक चिंतन को प्रश्रय दिया जिससे आत्मा अमरत्व प्राप्त करती है। मनुष्य को बहुत-सी बातो की जानकारी तो है, पर उसका ज्ञान अज्ञान से आच्छादित है। उसका अहकार फलासक्ति के कारण उसे कर्म की

ओर प्रेरित करता है और इसी चक्रव्यूह में फँसा वह निरंतर कर्मजनित भोगों का शिकार बना रहता है। किन्तु जीवन की तृप्तातृप्त आकांक्षाओं से मुक्त जो शाश्वत और चिरंतन आत्मरस के छलकते प्याले का आकण्ठ पान कर लेता है वह काल-भँवर के परे उस कूल किनारे पर जा लगता है जहाँ संसार-सागर की उत्ताल तरंगें टकराकर उसे विचलित नहीं करती। ज्वाज्ज्वल्यमान ज्योति समुद्र की आलोकमयी अनन्तता के मंथर मंद्र तालमेल के माधुर्य में डूब उसके चित्तचक्र के रुकने पर कालचक्र भी अनायास थम जाता है अर्थात अंतःकरण में जब सम्यक् दर्शन की उपलब्धि होती है तो अनादिकालीन अंधकार मिट जाता है और समग्र तत्त्व यथार्थ रूप में उद्‌भासित होने लगते हैं। ऐहिक सुख और ऐन्द्रिय भोग नीरस प्रतीत होने लगते हैं और निवृत्ति की अविचल आस्था का पथ प्रशस्त हो जाता है।

तेजस्वी तरुण राजकुमार अपने असाधारण तपश्चरण द्वारा अल्पकाल में ही तत्त्वज्ञान का निरूपण करते हैं और एक सच्चे साधक की भाँति बाहर भीतर सर्वत्र एक ही बोधस्थिति में रमण करते हुए कभी भी तत्त्वच्युत नहीं होते। यहाँ तक कि कलकलनिनादिनी महानदी की पावन धारा उनके मन में कोई भी विकार उत्पन्न नहीं करती, *अपितु उसकी पारद जैसी धवल फेनराशि मन-बुद्धि हृदय से अभेद ज्ञान* और आत्यन्तिक आनन्द की चरम परिणति को उजागर करती है

"कुमार प्रायः उसके समीप जा
विलोकते तुंग-तरंग-भंगिमा,
प्रतीत होती मुख नेत्र बिम्ब से
सरोज शोभा जल में प्रफुल्लिता।

मनुष्य-साधारण वक्ष से कहीं
महाधिका थी सुषमा मुखाब्ज की,
तटस्थ-शाखी-खग देख देव को
अशक्य साक्षी इस तत्त्व के हुये।

नितान्त एकान्त निवास सस्पृही
कुमार को थी सरि मोद-दायिनी,
कभी कभी आ उसके समीप वे
विचारते जीवन का रहस्य थे।

कुमार निस्संग नदी समीप में
सदा महा चिंतनशील भाव से
विरक्त निःश्वास समेत देखते
तटस्थ पुष्पावलि धर्म मूर्छिता।"

समूचे दसवें सर्ग में राजकुमार की उत्तरोत्तर बढ़ती वय के समानान्तर उनके मनन, चिन्तन, निदिध्यासन और निष्काम भाव की सस्थिति का दिग्दर्शन कराया गया है—जिसमें स्वतः प्रश्न उठते हैं और उनके समाधान का भी स्वतः प्रयत्न किया

गया है। जीव और ईश्वर का स्वरूप क्या है ? जीवात्मा किस तत्त्व से बना ? क्या ईश्वरत्व से भी उसका कुछ सयोग है ? देह और देही, जन्म-मृत्यु, काल कर्म, नियति-स्वभाव, लोकवाद-आत्मवाद, कर्मवाद-क्रियावाद—इन सबमें मध्यस्थ भाव कौन है ? कैसे उसका कल्याण हो सकता है ? समता, वैराग्य, उपशम, निर्वाण, शौच, ऋजुता, निरभिमान, कषाय, अप्रमाद, निर्वैर, अपरिग्रह आदि गुणो के विकास के लिए उसे क्या करना चाहिए। ऐहिक सुखो के पीछे दौडना एक शाश्वत स्वभाव है और अनेक महत्त्वाकाक्षाओ, झूठे सुखों और बडा बनने की ख्वाहिश लिये वह किन-किन मिथ्याचारो और कुप्रवृत्तियों की साधना करता है । त्याग और अहिंसा ही सर्वोपरि है। 'मा हणो'—किसी को न सताओ और आचार में अहिंसा, बुद्धि में समन्वय और व्यवहार में अपरिग्रह का आदर्श साकार करते हुए अहकार का दमन और व्यामोह का गला घोटना ही श्रेयस्कर है। सोलह वर्ष की कोमल अल्पायु में ही—जबकि तारुण्य की उद्दाम लरग चित्त को डांवाडोल करती रहती है—उन्होंने विश्व-प्रपच से परे सम्यक् दर्शन प्राप्त कर लिया था :

"कुमार को षोडश वर्ष हो गये,
विलोकते सर्व प्रपच विश्व के,
मनुष्य के जीवन की प्रतिक्रिया
हुई तदा मानस-मध्य विंबिता ।"

ज्यो-ज्यो कुमार की उम्र बढती है उनकी मनोमय अनुभूति और आतरिक सघात का सम्मोहन भी बढता जाता है। चूंकि आत्मा ज्ञानमय है और ज्ञान चैतन्य-स्वरूप है, अतएव आत्मा और ज्ञान का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। आत्मा ज्ञाता तो है ही, अपने ज्ञान गुण से अभिन्न होने के कारण ज्ञान रूप भी है, साथ ही स्वप्रकाश्य होने से ज्ञेय भी है। कठिन सयम और इन्द्रिय निग्रह द्वारा कर्म से आच्छादित मिथ्यावरण जब हट जाता है तो ज्ञान का प्रकाश बढता जाता है और अन्तत: आत्मा का सर्वज्ञ रूप प्रकट होता है। भगवान् महावीर ने इन्द्रियजन्य और मनोजन्य सारी कमजोरियों को जीतकर आत्म मन्थन द्वारा मुक्ति-साधना का पथ प्रशस्त किया था। जीवन की सीमाओ में क्षण-प्रतिक्षण उपस्थित होने वाले भावावेग जब मन को दोलायमान करते हैं तब आग्रह की जडता और भेदकारी वृत्ति का परित्याग करके जो आत्मोपलब्धि के प्रति सचेष्ट और मुखर बना रहता है वही दरअसल निर्मुक्त और सर्वदर्शी है।

"मनुष्य तू मर्त्य, अत: विचार ले
अवश्य तेरी कल ही समाप्ति है,
परन्तु धर्माचरणार्थ सोच तू
अवश्य तेरी शत वर्ष आयु है ।
धरित्री है बुद्बुद्, और जीव का
अदीर्घ है जीवन, दीर्घ काल है.

तरग में लेखन तुल्य व्यर्थ है
अदूरदर्शी नर की क्रिया सभी ।
स्वकर्म ही किन्तु न मास वर्ष है,
विचार ही किन्तु न श्वास मात्र है,
विभावना ही न कि मूर्त्त देह है
मनुष्य का जीवन मापदण्ड है ।
विचार में जो सब भाँति लीन हो,
निगूढ़ हो सतत स्वानुभूति में,
सदैव जो उत्तम कार्य लग्न हो,
प्रशस्त जीना उसका यथार्थ है ।"

मनुष्य के क्षण भगुर जीवन की मीमासा में कहा गया है--

"मनुष्य का जीवन एक पुष्प है
प्रफुल्ल होता यह है प्रभात में
परन्तु छाया लख साध्यकाल की
विकीर्ण होके गिरता दिनान्त में ।
मनुष्य का जीवन रंगभूमि है,
जहाँ दिखाते सब पात्र खेल हैं,
अभी हिलाया कर सूत्रधार ने
हुआ पटाक्षेप तुरन्त मृत्यु का ।
निसर्ग ने दिव्य विभूति जीव को
प्रदान की जीवन की अदीर्घता,
परन्तु जो जीवन मृत्यु ने दिया
सुदीर्घ है, शाश्वत है, समस्त है ।"

ग्यारहवें सर्ग से तेरहवें सर्ग तक भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित दर्शन और तत्त्व विवेचन उस सतह पर जा खडा हुआ है जहाँ सैद्धान्तिक चेतना और व्यावहारिक चेतना---दोनो के परे अतजिज्ञासा की बहुत ही गहरी उद्भूति है । श्रमण सस्कृति की मूल प्रेरणा और अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह तथा तृष्णा-निवृत्ति, साथ ही अनेकान्तवाद का सिद्धान्त तथा पवित्र द्वादश भावनाओ का उदय--यों स्वयकथित या स्वानुभव-वर्णन में उनकी आत्मा के तार जिस निष्ठा से बज उठते हैं उनमें मनुष्य-जीवन का सच्चा मूल्याकन करने की सामग्री मिल जाती है ।

बाद के सर्गों में वैवाहिक प्रसग, किन्तु उसका आध्यात्मिक समाधान, श्रमण होकर ऐसे समारोह के साथ गृह त्याग मानो मोक्ष रूपी वधू के परिणय हेतु उन्होने प्रयाण किया हो ·

"सजे हुए भूषण और मालिका
पवित्र पाटाम्बर युक्त देह में

प्रतीत थे श्रीवर-से कुमार यों
चले जभी मोक्ष-वधू विवाहने ।"

फिर भगवान् की कठोर तपश्चर्या, प्रेम और अहिंसा का सन्देश देते हुए देश-देशान्तरो का भ्रमण, याज्ञिक हिंसा, जडवाद, जातिवाद और उस समय फैली धार्मिक विडम्बनाओ से परित्राण पाने के लिए विश्व की सन्त्रस्त मानवता को आत्म-शासन का सम्बल प्रदान करना, ध्यान में लीन, मौनव्रती, मन वचन-कर्म से सावद्य योगमय आचरण करते हुए, ध्यान की भूमिकाओ और सर्वोच्च स्थिति में पैठ, सघ-स्थापना और अगणित शिष्य-प्रशिष्यो द्वारा धर्म का व्यापक प्रसार---इस प्रकार प्रस्तुत महाकाव्य में भगवान् महावीर की समूची जीवन-कथा और साधना-कथा का बडा ही सुन्दर विशद वर्णन है। जैन धर्म में बौद्ध धर्म से भी अधिक देह-दमन और कठोर व्रतो का परिपालन है। भगवान् महावीर का दीक्षा लेकर प्रव्रज्या का महान् सकल्प, उनकी विलक्षण प्रज्ञा, उनकी उच्च मानसिक भूमिका, वासनाओ के तुमुल द्वन्द्व में से समाधानकारक निरूपण तथा समस्त पूर्वाग्रहों से मुक्त भीतर-बाहर की आध्यात्मिक शुद्धि का बडा ही रोमाचकारी और कलामय चित्र खीचा गया है।

प्राचीन काव्य-परम्परा का निर्वाह करते हुए 'वर्द्धमान' के कवि श्री अनूप शर्मा ने यद्यपि रूढ कल्पनाओ और बोझिल प्रतीको का सहारा लिया है, तथापि काव्य की उदात्तता तथा उपलब्धियो का जहाँ तक सवाल है उसमें न सिर्फ गम्भीर बौद्धिक मथन वरन् अनेक कोण और अनेक कोणो के सदर्भ में विविध रगो को पकडने और उनकी साकेतिक अन्विति का प्रयास किया गया है। जैन धर्म सम्बन्धी विभिन्न मत-मतान्तर और दिगम्बर-श्वेताम्बर विचारधारा में समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने की भी भरसक चेष्टा की गई है।

काव्य का रसास्वादन करते हुए अनेक बार पाठक उदात्त भाव धारा में मग्न होने का अवसर पाता है। विशेषकर बाद के सर्गों में आत्म विस्मृति और महान् सत्ता का सा आभास होने लगता है। पाठक के मन को पवित्र धरातल पर जा टिकाना यही इसकी खूबी है जो नि सन्देह काव्य के यथार्थवाद से बहुत ऊपर की वस्तु है।

'अङ्गराज'

उक्त महाकाव्य महाभारत के महादानी कर्ण के जीवन-प्रसग को लेकर लिखी गई २५ सर्गों की प्रौढ़ काव्यकृति है। अपनी चारित्रिक विशेषताओ के कारण कर्ण का व्यक्तित्व-निरूपण स्वय महाभारत में भी आकर्षण का केन्द्रबिन्दु रहा है। पर उक्त काव्यग्रन्थ की कथा उसके अतरग जीवन को छूती, उसके अनेक प्रसगो में नये अर्थ भरती और प्रतिपाद्य विषय एव विचारों को अधिकाधिक प्राणवान बनाती चलती है।

कर्ण का जन्म प्रसग ही ऐसा है जो मन को पीडा पहुँचाता है और विवश नारी की करुण कथा के एक सर्वाधिक समस्यापूर्ण पहलू को सामने उभार कर रखता है। महाभारत के अनुसार कर्ण कुन्ती के गर्भ से उसकी अविवाहितावस्था में ही उत्पन्न

हुए थे। भयकर अधियारी रात्रि में जब सघन तमिस्रा ने समस्त शून्य को ढक लिया था तब कुंती ने तडपते दिल से लोक लज्जावश अपने सद्य जात शिशु को गंगा की उत्ताल तरगो में फेंक दिया था। सारथि अधिरथ की पत्नी नि सतान राधा ने बडे ही लाड-प्यार से बच्चे का लालन-पालन किया, पर वह उस कलक को न धो सकी जिसने उच्च कुलोत्पन्न, राजवशीय बालक की पद-प्रतिष्ठा पर मृत-पुत्र के रूप में—इन अदृश्य परिस्थितियों में —सहसा पदाघात किया था। इसका दुष्परिणाम बालक के भावी उत्थान और जीवन के विकास में रोडे अटकाता रहा, किन्तु फिर भी हर अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति ने हिमाचल की तरह अडिग कर्ण के हृदय को अमर वीरत्व का दर्प प्रदान किया था। अपनी जननी की भीरुता के विष को वीर पुत्र ने अपनी साहसिकता और ओजस्विता के अमृत से उज्ज्वल बनाया था। यही कारण है कि महाभारत के सग्राम के पूर्व जब कुती ने अपनी असहाय मातृत्व की कहानी कर्ण के सम्मुख रखी तो साम्राज्य की लिप्सा और जय पराजय से परे छाती खोलकर और अन्त तक उसने वीरतापूर्ण मृत्यु को वरण करने की ही इच्छा व्यक्त की।

यों आर्य मर्यादा के प्रतीक कर्ण की कथा उक्त काव्यग्रन्थ में विस्तार से वर्णित है यद्यपि अनेक स्थलो पर घटनाओ के क्रम, विषय चित्रण और सवाद एव कथोपकथन में मौलिक आख्यानो से बेहद वैषम्य और विपर्यय है। अपने आर्योचित आचरण, पौरुष एव पराक्रम तथा अपनी सत्यवादिता और ओजस्विता के कारण वीर व सत्यवादी कर्ण सूर्य पुत्र कहलाए। अतएव 'अङ्गराज' की कथा का सूत्रपात *सूर्यलोक की स्वर्णमडित आलोकधारा की असीम तेजोमयी भव्य उज्ज्वलता के देदीप्यमान* प्रकाश में होता है।

> "निश्चय मानो बन्धु, सदन है यह सविता का।
> शुद्ध मूर्ति प्रत्यक्ष देवता जीव पिता का॥
> लोक बन्धु का आलोकित यह दिव्यलोक है।
> तिमिर अज्ञताहारी हरि का सत्यलोक है॥
> प्राचीपति का विभव-विभूषित राज्य यही है।
> महाकाल शासित अनन्त साम्राज्य यही है॥
> जगद्वन्द्य नारायण का यह क्रीडास्थल है।
> आदिदेव का कर्मक्षेत्र यह रविमडल है।"

कर्ण की जन्म कथा से लेकर अर्थात् कुमारी कुन्ती द्वारा तुरन्त पैदा हुए बालक को पेटिका में रखकर गगा में जल-प्रवाह, अधिरथ-राधा द्वारा कर्ण का पुत्रवत् पालन, द्रोणाचार्य के गुरुकुल में आगमन, कौरव पाडव राजकुमारो से टक्कर, अङ्ग राज्य की प्राप्ति और कर्ण-दुर्योधन-मित्रता, तत्पश्चात् कर्ण का विप्र वेष में महेन्द्र पर्वत पर परशुराम से धनुर्विद्या सीखना, कर्ण के बाण से अकस्मात् तपस्वी की गाय का प्राणान्त, भेद खुलने पर कर्ण को परशुराम का शाप, कलिंग का स्वयवर-वर्णन, कर्ण से शिशुपाल और जरा-

सन्ध आदि का घोर संग्राम, कर्ण-जरासन्ध का महायुद्ध, दुर्योधन का राज्याभिषेक, लाक्षागृह दाह, द्रौपदी स्वयंवर, युधिष्ठिर का इन्द्रप्रस्थ मे राज्य-सिंहासनारूढ होना, जरासन्ध-वध, राजसूय यज्ञ, दुर्योधन का अपमान, जुए का दृश्य और पाडव-वनवास, गगा-तट पर कर्ण का याचको को मुक्तहस्त दान, विप्र-वेष में भगवान् कृष्ण द्वारा कठिन परीक्षा और बाद में सुरराज इन्द्र का कवच-कुंडल ले जाने का कुचक्र और बदले में एकघ्नी शक्ति देना, पाडवो के वनवास की अवधि समाप्त होते ही दोनो पक्षो में तनातनी, युद्ध का निश्चय, सन्धि हेतु कृष्ण का दूत-वेष में हस्तिनापुर-आगमन, वाद-विवाद, असफल होकर कृष्ण का लौटना, मार्ग में कृष्ण और कर्ण की भेंट, क्रीडागन में कर्ण और पत्नी की विनोद-वार्त्ता, कुन्ती की पुत्र से भेंट और बदले मे अर्जुन को छोडकर चार पाडवो का जीवन दान, भीष्म-कर्ण विवाद, कुरुक्षेत्र में भीष्म पितामह के नायकत्व में युद्ध, जयद्रथ-वध, घटोत्कच-वध, द्रोण-वध, कर्ण के नायकत्व में महाभारत का घोर सहार, कर्ण-पार्थ का द्वैरथ युद्ध, कर्ण का वीरगति प्राप्त करना, समरागण में कर्ण-पत्नी का विलाप, शल्य के नायकत्व में युद्ध, दुर्योधन-भीम का गदा-युद्ध, दुर्योधन की मृत्यु, अश्वत्थामा का पराभव, कर्ण के जन्म का रहस्य जानकर युधिष्ठिर का पश्चात्ताप और सिंहासनासीन होना, कृष्ण का द्वारिका-गमन, अन्त में कर्ण की नैतिक विजय, युद्ध के प्रसग में कर्ण का सूर्य का उपदेश, महाभारत की मरचना, आत्मविजय का महत्त्व, पाडवो का देश-निर्वासन आदि—इन सभी प्रमुख आख्यानो और कथा प्रसगो को बडे ही श्रम और कौशल से इस महाग्रन्थ के कलेवर में समेटा गया है। अनेक स्थल बडे ही मार्मिक और हृदयस्पर्शी बन पडे है। अनब्याही माँ का करुण चित्र कितना सजीव है .

"अश्रु नेत्र में, कर में शिशु, अन्तर में ज्वाला।
लेकर निकली वह करवीरा वह नरपति बाला॥
बाल कर्ण को अंक में लिये चली द्रुतगामिनी।
क्षीण कलाधर युक्त ज्यो जाती प्रातः यामिनी॥
शकित लज्जित व्यथित कुमारी जननी।
अश्व नदी तट पर लाई अंचल निधि अपनी॥
वहाँ कूलिनी के अचल में एक चेटिका।
खडी हुई थी लिये एक नव काष्ठ पेटिका॥
बार-बार मुख देखती चुम्बित करती भाल को।
मंजूषा-शायित किया कुन्ती ने निज बाल को॥"

पन्द्रहवें सर्ग में माँ का एक दूसरा ही चित्र देखने को मिलता है। महाभारत का युद्ध होने वाला है। प्रतिहिंसा की ज्वाला भाई-भाई को सर्वनाश की ओर ठेल रही है। विधुर, वृद्धा कुन्ती माँ का हृदय दहला उठता है। इस घोर सकट के समय वह अपने बिछुडे खोये लाल को हृदय से लगा लेने को तड़प रही है।

"थी विषदा मति से वह प्रस्फुट नीरज-सी उसकी अभिलाषा।
भृंग-समान घिरी दल में वह थी उसकी हृदयस्थ दुराशा॥
गर्जन था न, परन्तु नकारमयी वह थी, सुत की प्रतिभाषा।
इंगित थी सबसे अनुमानित निष्फलता भवितव्य निराशा॥
विह्वलतामय वेग भरी वह पुष्टिकरी तट ऊपर आई।
शम्बुक राशि जहाँ सिकता पर दर्शित थी सब ओर बिछाई॥
जीवन था क्षितिधेनुक सार समान पड़ी रसधार दिखाई।
और वही सुरसिन्धु अनूप सुदृश्य हुआ उसको सुखदायी॥"

मुझे यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य और क्षोभ हुआ है कि 'अङ्गराज' का लेखक न सिर्फ भाषा और काव्य रूढ़ियों में एक संकीर्ण आदर्श को लेकर चला है, अपितु महाभारत के उदात्त चरित्रों और कथा प्रसंगों को भी उसने बड़ी ही बेरुखाई और दुस्साहसिकता से एकदम उलट-पलट दिया है। महाभारत की ऐतिहासिक कथा में कौरव-पाण्डवों का प्रारम्भ से ही द्वन्द्व-संघर्ष है। समूचा राजकुल एक है, सभी में एक रक्त, एक प्राणधारा प्रवहमान है, पर जैसा कि सृष्टि का नियम है सहोदर भ्राताओं तक की सन्तति तक में अनेक मतभेद और स्वभाव वैपरीत्य होता है। दुर्योधन प्रारम्भ से ही कुटिल और षड्यन्त्रकारी मनोवृत्ति का है। उसकी हिंसा भावना, राज्याधिकार की अनधिकार चेष्टा, दुर्नीति और अदूरदर्शिता ने पाण्डवों को अनेक कष्ट और यातनाएँ दीं जिसका अन्तिम दुष्परिणाम महाभारत का भयंकर और विनाशक युद्ध था। ऐसे जाने-बूझे, इतिहास-प्रसिद्ध कुपात्र को सुपात्र दर्शाना और सभी पाण्डवों के कथा-चरित्र में विपर्यय उपस्थित करना नितान्त हास्यास्पद और अशोभनीय है। लेखक का सबसे अधिक आक्रोश युधिष्ठिर पर है। धर्मराज के उज्ज्वल चरित्र पर कीचड़ उछालकर लेखक ने भयङ्कर अपराध किया है, यहाँ तक कि द्यूत क्रीडा—जो उन दिनों राजाओं के आमोद प्रमोद का एक सहज, निर्द्वन्द्व साधन था और धूर्त दुःशासन की कुटिल नीति ने जिसका आयोजन कर युधिष्ठिर को फँसाया था—उस सबके लिए पाण्डवों के नैतिक चरित्र पर भीषण कुठाराघात किया गया है। द्रौपदी के चीरहरण की कहानी को इतनी शर्मनाक और स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति से प्रस्तुत किया गया है कि देखकर अवाक् रह जाना पड़ता है। आर्यमर्यादा के प्रतीक, महावीर, महादानी कर्ण के मुख से क्या ये शब्द शोभा दे सकते हैं

"सुनकर नृप भारती कर्ण ने कहा—सुनो हे मित्र।
नारी का आवरण वस्तुतः होता शुद्ध चरित्र॥
किया भोगिनी बनकर जिसने सदाचार को भग्न।
प्रगट महानग्ना होगी और अधिक क्या नग्न॥"

किसी भी दीन हीन, संकटापन्न नारी की आर्त पुकार सुनकर विवेकी, वीर पुरुष का बिना सोचे विचारे उसकी रक्षा करना फर्ज हो जाता है। किन्तु द्रौपदी की

दीन याचना और असहायावस्था को ठुकराकर जो कर्ण के मुख से कठोर और अकथनीय वचन कहाये गये हैं वे किसी भी पाठक को लज्जा और सकोच के गर्त्त में डाल देते हैं—

"सप्रहास तब कहा कर्ण ने—री अनार्यता मूर्ति ।
सूत पुत्र से कभी न होगी तेरी इच्छापूर्ति ॥
होती यदि तू सत्य हो तो यह सूत कुमार।
तेरा प्रथम सहायक होता सुनकर आर्त्त पुकार ॥

री पणागना, सती नाम का व्यर्थ न कर उपहास
तव चरित्र में कहीं न मिलता है सतीत्व आभास
पच भोगिनी तू वेश्या है, कुल मर्यादा-भ्रष्ट
और युधिष्ठिर, भीम, पार्थ सब मूढ़, पढ़ हैं स्पष्ट।"

ऐसा प्रतीत होता है लेखक अपने कथा-चरित नायक के विपक्षी दल को नीचा दिखाने के लिए इतना कटिबद्ध और तत्पर है कि उसने उत्साह में महाभारत के उदात्त चरित्रो का बेमतलब शीलभग किया है। हीनत्व भावना से पीडित उसके भीतर की दुर्दम्य उद्दण्डता और भयकर विष शुरू से अत तक इस काव्य-ग्रन्थ में व्याप्त है जिसने इसके काव्य-रस को विषाक्त बना दिया है। क्या सचमुच किसी लेखक को इस प्रकार के ऐतिहासिक कथाख्यानो को विकृत दर्शाकर प्रस्तुत करने का अधिकार है ? क्या इससे किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति सभव हो सकती है ? किन्हीं भी ऐतिहासिक प्रसगो पर कलम उठाते हुए लेखक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह युगधर्म के अनुकूल हो, साथ ही हमारी सभ्यता और सस्कृति में आस्था रखने वालो को उससे प्रोत्साहन मिले। आसुरी प्रवृत्तियो के दमन और अनाचार के समूलोच्छेद के लिए उदात्त चरित्र वाले महामानवो की अवतारणा हुआ करती है। 'अङ्गराज' के लेखक ने इन सभी चरित्रो के प्रति घोर अनास्था और विष-वमन करके जो कर्ण का चित्र उभारा है उससे हित नहीं, वरन् जबर्दस्त अहित हुआ है। यह काव्यग्रन्थ न सिर्फ युवक-पीढ़ियो को गुमराह करेगा बल्कि आस्थावान लोगो की कोमल भावनाओ पर भी कुठाराघात करता रहेगा।

'रश्मिरथी'

शिल्प-विधान और भाव-व्यजना की दृष्टि से 'रश्मिरथी' कर्ण पर लिखे काव्य-ग्रन्थो में सर्वश्रेष्ठ है। आज जबकि इतिहास अपने भीतर ही सिमटता जा रहा है, विगत की कोई सार्थकता नही और आगत जैसे नियन्त्रण से दूर—बहुत दूर हटता जा रहा है तो ऐतिहासिक पात्र भी भ्रान्तियो के शिकार बने हुए हैं। जीवन की निरर्थक रस्साकशी की होड में उनके अस्तित्व की सार्थकता के तत्व भीतर ही भीतर खण्डित और निरुपाय से हैं। 'दिनकर' ने भ्रान्ति की इस लीक से हटकर महाभारत का एक ऐसा उद्दाम और ओजस्वी व्यक्तित्व उभार कर सामने रखा है जिसने विषम परि-

स्थितियों में भी एक महान् नैतिक क्रान्ति की अवतारणा की, एक ऐसी क्रान्ति जो जीवन में एक नये अर्थ की खोज में सदा निरत है।

जाति, वर्ण और कुल परम्परा की झूठी प्रतिष्ठा का पर्दाफाश करके कर्ण ने यथार्थ का—असली रूप में—सामना किया, उस कटु यथार्थ का जो उसके अपने जीवन की समस्या था और जिसे इस जानकारी के बावजूद अपने अकेलेपन में बड़ी आत्म-तुष्टि के साथ उसने जाना सीखा।

"तेजस्वी सम्मान खोजते नहीं गोत्र बतलाके,
पाते हैं जग से प्रशस्ति अपना करतब दिखलाके।
हीन मूल की ओर देख जग गलत कहे या ठीक
वीर खींचकर ही रहते हैं इतिहासों में लीक।
मूल जानना बड़ा कठिन है नदियों का, वीरों का,
धनुष छोड़कर और गोत्र क्या होता रणधीरों का!
पाते हैं सम्मान तपोबल से भूतल पर शूर,
जाति-जाति का शोर मचाते, केवल कायर, क्रूर।"

मानव जीवन की समस्याएँ कुछ ऐसी हैं जो सर्वकालव्यापी और चिरन्तन हैं। चूँकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है देश-काल की परिस्थितियाँ और कुल-मर्यादाएँ उसके लिए विशेष महत्त्व रखती हैं। कुंती के गर्भ से कर्ण का जन्म कुमारी अवस्था में हुआ और उसने अपनी लज्जा को ढकने के लिए उस सद्य जात बालक को जल में प्रवाहित कर दिया। इस असंगत व्यवस्था से आहत अज्ञात कुलशील व्यक्ति की अनुभूति और प्रतिक्रिया कैसी होती है? उसका मनोविज्ञान क्या है? उसके उन सम्बन्धों का मूल्य कहाँ तक है जो उसके तात्कालिक अस्तित्व के सत्य को प्रकाश में लाता है? राधेय को (जो वस्तुतः कौन्तेय है) इस अपमान की विभीषिका में—बाल्यावस्था से ही—तपना पड़ता है। रंगभूमि में एक दिन कौरव-पांडवों की परस्पर शस्त्रास्त्र प्रतियोगिता में जब अर्जुन अपना हस्त-कौशल दिखा रहा था और चतुर्दिक् अनोखा समाँ बँधा था तो उसी समय अपने पौरुष और वीरत्व के दर्प को समेटे कर्ण सामने आ खड़ा हुआ। उसने ललकार कर अर्जुन को जबर्दस्त चुनौती देते हुए कहा—

"तूने जो जो किया उसे मैं भी दिखला सकता हूँ
चाहे तो कुछ नई कलाएँ भी सिखला सकता हूँ।
आँख खोलकर देख, कर्ण के हाथों का व्यापार,
फले सस्ता सुयश प्राप्त कर, उस नर को धिक्कार।
इस प्रकार कह लगा दिखाने कर्ण कलाएँ रण की,
सभा स्तब्ध रह गई, गई रह आँख टँगी जन-जन की।
मन्त्रमुग्ध सा मौन चतुर्दिक जन का पारावार
गूँज रही थी सिर्फ कर्ण की धन्वा की टंकार।"

किन्तु इस शौर्य के प्रदर्शन और उपस्थित जनसमूह के अभिनन्दन के बीच जब कर्ण ने द्वन्द्व-युद्ध के लिए पार्थ का आह्वान किया तो किशोर बालक के समस्त उत्साह और कोमल भावनाओं को मसोसने वाला भीषण व्यंग-विद्रूप का निर्मम प्रहार भी उसे सहना पड़ा जिसने सहसा उसकी यथार्थ स्थिति को नग्न रूप में उघाड़ कर सामने रख दिया।

कृपाचार्य ने कहा—"सुनो हे वीर युवक अनजान!
भरत-वंश-अवतंस पांडु की अर्जुन है संतान।
क्षत्रिय है, यह राजपुत्र है, यों ही नहीं लड़ेगा,
जिस-तिससे हाथापाई में कैसे कूद पड़ेगा!
अर्जुन से लड़ना हो तो मत गहो सभा में मौन,
नाम-धाम कुछ कहो, बताओ कि तुम जाति हो कौन!

दूसरे सर्ग में महत्त्वाकांक्षी और जिज्ञासु कर्ण को हम परशुराम के शिष्य के रूप में पाते हैं। हरे-भरे विशाल वन प्रान्तर मध्य—जहाँ शुभ्र निर्झर, दूर तक लहलहाते खेत, पशु-पक्षियों का अपूर्व कोलाहल और यज्ञ धूम की भीनी-भीनी गन्ध से समूचा वातावरण तरोताजा और प्राणों मे मादकता उँडेल रहा है, परशुराम की कुटिया का दृश्य बड़ा ही मनोरम और चित्ताकर्षक है। एक ओर तो कमण्डल, स्रुवा और हवन-सामग्री रखी है, दूसरी ओर धनुष-बाण तुणीर, भीषण तीर-बरछे और तलवार लटक रही हैं।

"आई है वीरता तपोवन में क्या पुण्य कमाने को?
या सन्यास साधना में है, दैहिक शक्ति जगाने को?
मन ने तन का सिद्धि-यन्त्र अथवा शस्त्रों में पाया है?
या कि वीर कोई योगी से युक्ति सीखने आया है?"

वहीं कर्ण की जंघा पर मस्तक रखकर वृक्ष की छाया तले महामुनि परशुराम सोये पड़े हैं। कर्ण मुग्ध और तन्मय भाव से गुरु की सेवा में तत्पर है। विवश परिस्थितियों में अक्षय यश-कीर्ति कमाने और धनुर्विद्या सीखने की लालसा में छद्म ब्राह्मण कुमार के रूप में वह अनवरत शौर्य-साधना में लगा है। मन में जबर्दस्त महत्त्वाकांक्षा, किंतु उधर गुरु से छल करने की ग्लानि और पश्चात्ताप है। इसी बीच एक विषैला कीड़ा कर्ण की जंघा के मांस को कुतर कुतर कर खाने लगता है और भीतर घाव बनाकर घुसता जाता है।

"किन्तु पाँव के हिलते ही गुरुवर की नींद उचट जाती,
सहम गई यह सोच कर्ण की भक्तिपूर्ण विह्वल छाती।
सोचा उसने अत, कीट यह पिये रक्त, पीने दूँगा,
गुरु की कच्ची नींद तोड़ने का पर पाप नहीं लूँगा।
बैठा रहा अचल आसन से कर्ण बहुत मन को मारे,
आह निकाले बिना, शिला-सी सहनशीलता को धारे।

किन्तु, लहू की गर्म धार जो सहसा आन लगी तन में,
परशुराम जग पड़े, रक्त को देख हुए विस्मित मन में।"

परशुराम को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि क्या कोई ब्राह्मणकुमार सचमुच एसी असह्य पीड़ा को सहता हुआ चुपचाप देर तक बैठा रह सकता है। उस महा-मनीषी के मन में फौरन बात कौंध गई—हो न हो इसमें कोई रहस्य है ? तभी भेद खुल गया। साधना अधूरी रह गई। कर्ण को शापग्रस्त भी होना पड़ा और ब्रह्मास्त्र के परम तेज से वंचित भी। जीवन में यह एक और दारुण चोट थी

"परशुराम के चरण की धूलि लेकर, उन्हें अपने हृदय की भक्ति देकर,
निराशा से विकल, टूटा हुआ सा, किसी गिरि शृंग से छूटा हुआ सा,
चला खोया हुआ सा कर्ण मन में,
कि जैसे चाँद चलता हो गहन में।"

तीसरे सर्ग में भगवान् श्रीकृष्ण के साथ भेंट में कर्ण को अपने जन्म का रहस्य ज्ञात होता है। वह दरअसल राधेय नहीं कौन्तेय है, राजवंशी और पाडवों का ज्येष्ठ भ्राता। यह बात यदि युधिष्ठिर को विदित हो जाय तो इस साम्राज्य का अधिकारी कर्ण ही होगा और दुर्योधन की समूची युद्ध-योजना उल्ट पलट जायगी। पर राज्य का यह प्रलोभन उसके अडिग मन को विचलित न कर सका और किन्हीं भी परिस्थितियों में उसने संकट के समय मित्र के साथ विश्वासघात करने से इंकार कर दिया। इतनी दूर—मँझदार में आकर—फिर वापिस लौटना समझदारी का काम नहीं है।

"यह बीच नदी की धारा है
सूझता न कूल किनारा है
ले लील भले यह धार मुझे,
लौटना नहीं स्वीकार मुझे।
मैत्री की बड़ी सुखद छाया,
शीतल हो जाती है काया,
धिक्कार-योग्य होगा वह नर
जो पाकर भी ऐसा तरुवर,
हो अलग खड़ा कटवाता है
खुद आप नहीं कट जाता है।"

चौथे सर्ग में और भी कठिन परीक्षा के क्षण आ उपस्थित होते हैं। कसौटी पर खरा उतरना ही असली मनुष्य की पहचान है। अमोघ व्रतधारी और पराक्रमी कर्ण का चिरकाल से यह प्रण था कि सूर्य-आराधना के समय कोई याचक उसके सम्मुख आकर यदि किसी वस्तु की याचना करता था तो वह तुरन्त मुँह माँगा वर-

दान पाता था। कर्ण की इस दानशीलता की ख्याति दूर दूर तक फैल चुकी थी। सुरराज इन्द्र ने इसका अनुचित लाभ उठाया और विप्र-याचक के छद्म वेष में उसका जन्मजात कुंडल और कवच माँग लिया। सुरपति को पहचान कर और उसकी समस्त कपट-लीला को समझ लेने के पश्चात् भी कर्ण किंचित् नही हिचका। बडे ही उदात्त भाव और वीरोचित स्वाभिमान के साथ उसने जीवन-सरक्षक कवच और कुंडल का भी परित्याग कर दिया।

"मैं ही था अपवाद, आज यह भी विभेद हरता हूँ,
कवच छोड अपना शरीर सबके समान करता हूँ।
अच्छा किया कि आप मुझे समतल पर लाने आये,
हर तनुत्र दैवीय मनुज सामान्य बनाने आये।

अब न कहेगा जगत्, कर्ण को ईश्वरीय भी बल था,
जीता वह इसलिए कि उसके पास कवच-कुंडल था।
यह कह, उठा कृपाण कर्ण ने त्वचा छील क्षण भर में,
कवच और कुंडल उतार, धर दिया इन्द्र के कर में।"

कर्ण का यह अपूर्व दान सुरराज को भी विस्मित कर देता है। उसका सुरत्व मनुजत्व के सामने पराजय स्वीकार करता है। स्वर्ग से पृथ्वी श्रेष्ठ है, देवता से मानव कही बढ़कर है।

"तेरे महातेज के आगे मलिन हुआ जाता हूँ,
कर्ण! सत्य ही आज स्वयं को बडा क्षुद्र पाता हूँ,
आह! खली थी कभी नहीं मुझको यों लघुता मेरी,
दानी! कहीं दिव्य है मुझसे आज छाँह भी तेरी।

तू दानी, मैं कुटिल प्रवचक, तू पवित्र मैं पापी,
तू देकर भी सुखी और मैं लेकर भी परितापी।
तू पहुँचा है जहाँ कर्ण, देवत्व न जा सकता है,
इस महान् पद को कोई मानव ही पा सकता है।"

पाँचवें सर्ग में उस विवश माँ की समूची करुणा और अतर्व्यथा मुखर हो आई है जो किसी अँधियारी रात्रि की शून्यता में अपनी कलक-कालिमा को ढकने के लिए अपने हृदय के टुकडे और प्राणो के अश नवजात बालक को काष्ठ मजूषा में रख जल प्रवाह में छोड देती है और पश्चात्ताप की अग्नि में जन्म भर जलती रहती है। निर्दोष, वाणीविहीन नन्हे शिशु की स्मृति मातृत्व के रोम-रोम में धँसकर—क्षण-प्रतिक्षण, उठते-बैठते—उसकी अतरात्मा को कचोटती रहती है और किसी प्रकार भी चैन नही लेने देती। कितनी दारुण है ऐसी माँ की कहानी, उस असफल मातृत्व की तस्वीर जो उस शून्य अँधियारी रात्रि से भी अधिक भयानक काली परछाइयाँ उभारती है।

"क्या समाधान होगा दुष्कृति के क्रम का ?
उत्तर दूँगी क्या निज आचरण विषम का ?
किस तरह कहूँगी पुत्र ! गोद में आ तू,
इस पाषाणी जननी का हृदय जुड़ा तू ?"

माता का छलछलाता प्रेम बालक के लिए अमृत है, पर जब वह उसी के कुकृत्य से संहारक और जहर बन जाता है तो मर्माहत माता के हृदय की वेदना का क्या ठिकाना ? शक्ति और तेजस की प्रतीक नारी तब कितनी दीन-हीन हो जाती है ? उसके मन के विकल्प जब उसकी भीरुता का उपहास करते हैं, वात्सल्य भीषण चीत्कार कर उठता है और अन्तर की फूटती रसधारा लहू बरती प्रचंड कुत्सा की विषधारा में परिणत हो जाती है तब नारी के हृदय की मर्मांतक टीस और प्राणों की कचोट को कौन समझ सकता है ?

"बेटा ! धरती पर बड़ी दीन है नारी,
अबला होती, सचमुच, योषिता कुमारी।
है कठिन बन्द करना समाज के मुख को,
सिर उठा न पा सकती पतिता निज सुख को।"

किंतु कर्ण अवसरवादी नहीं है। माँ की करुण, लाचार दीनता भी उसे कर्त्तव्य पथ से विचलित नहीं करती। उसका दुर्दम्य पौरुष सजग और अपराजेय है, इतने दिन तक जिस रास्ते पर चला, जो रास्ता उसने स्वयं—अपने पुरुषार्थ से—तय किया वहाँ से मुँह मोड़ना असम्भव है। नारी अपने स्वार्थ के लिए, भावी जीवन को सुखमय बनाने के लिए, गार्हस्थ्य सुख और दूसरों की नजरों में सती-साध्वी कुल-वधू बनने के लिए उस अबोध दुधमुँहे के साथ अनाचार करती है जो उसके समस्त पापों और दुष्कृत्यों से परे नितांत निर्दोष और पवित्र है। क्या कोई अनब्याही माँ इतना साहस बटोरकर कह सकती है ?

"सुन लो, समाज के प्रमुख धर्मध्वज धारी,
सुतवती हो गई मैं अनब्याही नारी।
अब चाहो तो रहने दो मुझे भवन में,
या जातिच्युत कर मुझे भेज दो वन में।

पर, मैं न प्राण की इस मणि को छोड़ूँगी,
मातृत्व धर्म से मुख न कभी मोड़ूँगी।
यह बड़े दिव्य उन्मुक्त प्रेम का फल है,
जैसा भी हो, बेटा माँ का सबल है।"

कर्ण जैसे वीर पुत्र की माँ भीरु क्यों हुई ? क्यों नहीं वीरमाता के रूप में आगे बढ़कर उसने अपने चरित्र को उजागर किया ? कर्ण के शब्दों में :

"पर, हाय, हुआ ऐसा क्यों वाम विधाता ?
मुझ वीर पुत्र को मिली भीरु क्यों माता ?
जो जमकर पत्थर हुई जाति के भय से,
सम्बन्ध तोड भागी दुधमुँहे तनय से।"

छठे और सातवें सर्ग में महाभारत के अनेक दृश्यचित्र सामने से गुजरते हैं। कवि ने बडी ही परिपक्व, सुष्ठु शैली में जीवन के अनेक व्यावहारिक पहलुओं की मीमांसा प्रस्तुत की है। मानव-विकास की गति कितनी धीमी है ? लगता है जैसे सहस्रों वर्ष पूर्व आदिम गुफावासियों की सभ्यता थी, वही ज्यों का त्यों—उसी स्तर पर—आज भी मनुष्य खडा है। वह आगे बढने को आकुल-व्याकुल तो है, पर वासनाएँ और दुष्प्रवृत्तियाँ पद पद पर अवरोध उपस्थित करती हैं। द्वेष-दम्भ, हिंसा-प्रतिहिंसा, कलह विग्रह और पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता व राग-द्वेष ने हर युग, हर काल में युद्ध को उकसाया है। युद्ध का विस्फोट कब होगा, विनाश की लपलपाती जिह्वाएँ कब मानवता को निगल जाएँगी, दुर्द्धर्ष पाशविकता उभरकर किस समय उसके मानसिक सतुलन और धर्म-भावना को डाँवाडोल कर देगी—कहा नहीं जा सकता। धर्म क्या है ? वह कौन से साधन में निहित है ? हिंसा, विग्रह या युद्ध—वह धर्म का साध्य नहीं हो सकता। युद्ध तो सत्पथ से विचलित कर तत्क्षण अधर्म-पथ पर ले जाता है।

"हो जिसे धर्म से प्रेम कभी
वह कुत्सित कर्म करेगा क्या ?
बर्बर, कराल, दंष्ट्री बन कर
मारेगा और मरेगा क्या ?"

हार और जीत, जय और पराजय—आखिर यह सब है क्या ? इसकी परिसीमा कहाँ तक है ? इससे हासिल ही क्या होता है ? कवि अन्ततः इस निष्कर्ष पर पहुँचता है

"नहीं पुरुषार्थ केवल जीत में है,
विभा का सार शील पुनीत में है।
विजय क्या जानिए बसती कहाँ है ?
विभा उसकी अजय हँसती कहाँ है ?
भरी यह जीत के हुकार में है,
छिपी अथवा लहू की धार में है ?"

'पार्वती'

साक्षात् सच्चिदानन्दमयी शिव की आद्या शक्ति श्री पार्वती के चरित्र-योग की सात्त्विकता के सन्दर्भ में अनत व्यापक रसतत्त्व का समन्वय और नारीतत्त्व की एकनिष्ठ चरम परिणति है। पार्थिव भूमिका पर उनकी सच्ची सर्वांगीण निष्ठा क्रियात्मक रूप में हमेशा एक नया अर्थ, एक नया महत्व प्राप्त करती गई है। नटेश्वर

नारी के बिना अर्धाङ्ग है अर्थात् प्राणदात्री और सृष्टि के सृजन-कार्य को सुचारु रूप से संचालित करने वाली वे ही जगज्जननी जगदम्बिका है। द्वैत में अद्वैत की भावना अथवा पुरुष एवं प्रकृति के अन्तराय को मिटाने के लिए या कहूँ कि आत्मलीन निस्संग अन्तर्भाव के कारण वैचित्र्य प्रसविनी महाशक्ति का मातृ-रूप इतना वंदनीय हुआ जो कालान्तर में सौंदर्य, माधुर्य एवं ऐश्वर्य का सम्पुंजन बन कर महामानवी आद्याशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। सृष्टि स्थिति एवं प्रलयकरी—उसके विविध रूप हैं, अतएव उसके विराट विग्रह में महादुर्गा, महालक्ष्मी, महासरस्वती—तीनों का लय, साथ ही जिसकी विभिन्न अन्तर्भूत सृजना शक्तियाँ न केवल रूपान्तरित मन, प्राण, शरीर में सामंजस्य और ऐक्य का अनुष्ठान करने वाली सिद्ध हुईं, अपितु उसके इस त्रिधा रूप में पार्थिव लीला के सभी क्रीडा-कौतुक अतर्हित हो नई शक्ति और प्रेरणा के उत्स बने। शनैः शनैः उसकी चैतन्य स्पंदित ऊर्जस्वी प्राणधारा भगवती के अपरिमित, बहुविध और विगलित सौंदर्य के समवाय का एकत्र और पुंजीभूत प्रतीक बनती गई जिसके परिणामस्वरूप आज के नवजागरण क्रान्तिकारी युग में भी उसका उदात्त रूप उसी प्रकार सर्वजन संवेद्य भाव लिये हुए है।

इसी अनन्यता और निष्ठा से प्रेरित 'पार्वती' महाकाव्य के लेखक श्री रामानन्द तिवारी ने अत्यन्त परिश्रम और प्रयत्न से पार्वती की शान्त और सतेज प्रतिमा गढ़ी है जो अनन्त और सर्वत्र व्याप्त पूर्णता की रूप-श्री के अर्थ में अपने अंतरंग पुंजीभूत शक्ति स्रोत से पुनर्जीवन देने वाली, ध्वंस के साथ सृष्टि, नाश के साथ निर्माण, अपनी अशेष सम्पदा से संरक्षण और पालन करने वाली, प्रकृति के रूपान्तर और नव-निर्माण को वहन करने वाली, एकत्व के संस्पर्श से अखिल विश्व ब्रह्माण्ड को धारण करने वाली, जीव-जगत् के गुण-दोष जिसके प्राण तन्तुओं में संग्रथित हैं और दोनों को एक साथ समेट लेन की जिसमें अद्भुत क्षमता और प्राणवत्ता है—इस रूप में भिन्न-भिन्न कर्म प्रेरणाएँ, आदान प्रदान, प्रवृत्ति निवृत्ति, शक्ति सामर्थ्य—सभी की आश्रय या अधिष्ठात्री बनी क्योंकि वह निरन्तर दूसरों के लिए मंगल-साधना में लय होकर अपनी परिमितियों से संघर्ष करती रहती है। इस ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर उसके व्यष्टि और समष्टि रूप की अभ्यर्थना की गई है

"दिव्य शक्ति का तेज अग्नि बन उतरा रवि मंडल से,
प्राण वायु संचरित हो उठी स्पन्दन के सम्बल से,
श्री की प्राण - विभूति विश्व में पंचभूत बन आई,
ज्ञान, काल, गति में जीवन ने अपनी सत्ता पाई।

संसृति के सागर के तट पर आदि सर्ग की ऊषा,
चिर्हँस खोलती पूर्व क्षितिज पर जीवन की मंजूषा,
खिले अपूर्व रहस्य राग से रंजित रत्न - निचय - से,
उत्कण्ठित हो उठी प्रकृति किस वसुधा के विस्मय से।

जीवन की जागृति के अविदित पावन उदय प्रहर में,
छवि के कमल अनन्त खिल उठे संसृति के सागर में;
जीवन की विभूति बन श्री के रूप राग, रस बिखरे,
उनकी आभा में संसृति के तत्व पूत हो निखरे।
श्री के तन का तेज रूप बन खिला विश्व की छवि में,
अंतर का स्वर अमृत छन्द बन जगा विश्व के कवि में,
आत्मा का रस वह उर-दृग से बना अमृत की धारा,
हुआ अंग के सुरभि राग से आमोदित जग सारा।"

मंगलाचरण और अर्चना के पश्चात् प्रथम सर्ग हिमालय की सौरभ-श्री और वहाँ की दृश्यावली की मनोरम छटा, दूसरे सर्ग में हिमाचल-कुमारी श्री पार्वती जी की जन्म-कथा, तीसरे सर्ग में योगीश्वर श्री शिव का अविकल्प और निर्विकार रूप, चौथे सर्ग में स्वर्ग की पुकार अर्थात् तारक असुर के दुर्दमनीय अत्याचारों से त्रस्त देवताओं, गंधर्वों, किन्नरों को ब्रह्मा का वरदान, पाँचवें सर्ग में काम-दहन अर्थात् कामदेव का शिवजी के तीसरे नेत्र से भस्म किये जाने का प्रसंग, छठे सर्ग में तपस्विनी उमा, सातवें सर्ग में शिव-दर्शन, आठवें सर्ग में शिव-पार्वती का परिणय-प्रसंग, नौवें सर्ग में परिणय समारोह, दसवें सर्ग में शिव-समाज प्रयाण अर्थात् शिव की विचित्र बारात का वर्णन, ग्यारहवें सर्ग में पार्वती-परिणय, बारहवें सर्ग में विवाह के बाद कैलास प्रयाण, तेरहवें सर्ग में दोहद विहार अर्थात् युगों बाद अनादि दम्पति का पुनर्मिलन और प्रणय-प्रसंग, चौदहवें सर्ग में षड्वदन कुमार कार्तिकेय का जन्म, पन्द्रहवें सर्ग में कुमार-दीक्षा, सोलहवें सर्ग में देवोद्बोधन, सत्रहवें सर्ग में तारक-वध, अर्थात् कार्तिकेय द्वारा अत्याचारी और महाबलशाली अवध्य तारकासुर को मार कर देवताओं को निर्भय करने का प्रसंग, अठारहवें सर्ग में जयन्त-अभिषेक अर्थात् तारकासुर की मृत्यु के पश्चात् शोणितपुर में इन्द्र एवं शचीपुत्र जयन्त के राज्यसिंहासनासीन होने का वृत्तान्त, उन्नीसवें सर्ग में विजय पर्व, बीसवें सर्ग में रजतपुर वर्णन, इक्कीसवें सर्ग में आयसपुर-वर्णन, बाईसवें सर्ग में कांचनपुर-वर्णन अर्थात् उक्त तीनों सर्गों में तारक असुर के तीन औरस पुत्रों का ऐश्वर्य-वर्णन और पिता-वध के प्रतिशोध के लिए तैयारी, तेईसवें सर्ग में त्रिपुर-उपचार अर्थात् असुरों की शक्ति और प्रचण्डता देख कर जयन्त का ब्रह्माजी के आदेश से कैलास की ओर प्रयाण और राक्षसों की अनीति, अधर्म, दर्प, अतिचार और मद-विमोह को नष्ट करने की शिव-पार्वती से शक्ति एवं प्रेरणा प्राप्त करना, चौबीसवें सर्ग में त्रिपुर-उद्धार, पच्चीसवें सर्ग में शिव-धर्म वर्णन, छब्बीसवें सर्ग में शिव-नीति वर्णन, सत्ताइसवें सर्ग में शिव-संस्तुति वर्णन—इस प्रकार उक्त महाग्रन्थ में शिव-पार्वती का माहात्म्य, विशेषकर अपनी अन्तरात्मा के निवेदन को लेखक ने कविता और कथा के संगम पर नवीन कथातत्व द्वारा व्यक्त किया है। काव्य की आत्मा के रूप में यथाप्राप्य रस, अलंकार, रीति और रस-व्यंजना और काव्यशास्त्रीय

निरूपण की बहुलता दृष्टिगत होती है।

छदो में एक प्रकार की शिथिल स्वरमयता है, तथापि तथ्यकथन में विचार गत प्रौढता और अलंकृति मे सादगी व सचाई है। बालक कुमार के चपल क्रीडा-कौतुक की कुछ पंक्तियाँ

"मुक्त क्रीडा से बिखरता भुवन में आनन्द,
रुचिर रोदन हास-रव में गूँजते मधु छन्द,
सरल दृग की श्यामता में विश्व का विश्वास,
स्वप्न-स्मिति में स्वर्ग के आलोक का उल्लास।
लगा घुटनों से विचरने कुटी में स्वच्छन्द,
मोद भर माता-पिता के हृदय में प्रिय स्कन्द।
पास आते पुत्र की सुन हर्षमय किलकार,
उमडता उनके हृदय में प्रेम पारावार।
सहज लीला में जगाकर नया नित्य विनोद,
स्कन्द भरता हृदय में सबके अपूर्व प्रमोद,
विविध क्रीडाएँ कुतूहल पूर्ण औ' स्वच्छन्द,
भर रही मन में, भवन में, विपिन में आनन्द।"

पार्वती के समूचे विकसित व्यक्तित्व में षडश विभवन भगवान् शिव की निर्विशेष सत्ता का सहज समाहार भी है। वस्तुत दोनो के एकात्म्य, अविच्छिन्न सयोग से देवी के क्रियाकलापो का प्रवर्त्तन और उद्यापन होता है। अनन्त, अव्यय भाव की वह एसी अभिन्न इकाई है जिसमें नि श्रेयस की प्राप्ति का आनन्दोल्लास और भागवत समन्वय निचय का अगम्य रहस्य छिपा है। गौरी का अरिमर्दन भयकर रूप ही कालिका चण्डी के नाम से विख्यात् हुआ। उन्होंने धूम्रलोचन, चण्डमुण्ड, रक्तबीज, निशुम्भ शुम्भ आदि बड बडे दैत्यो का सहार करके समूचे जगत् का कल्याण किया, इसलिए वे आदिशक्ति महामाया भी कहलाईं।

"बन शिव के तप योग प्रेम से विधिवत् वृता भवानी,
करती सून स्वर्ग-अवनी के सरक्षक सेनानी,
प्रलय-शिखा-सी कभी तेज से होकर दीप्त कराली,
असुरों के विनाश हित बनती काल निशा सी काली।
दर्पवती दुर्गा बन करती ध्वस असुर का रण में,
मानवती लक्ष्मी बन गिरती वज्र सदृश पाहन में
जिन हाथों में रही सुशोभित जीवन की जयमाला,
हुई दीप्त करवाल उन्हीं में बन प्रलयकर ज्वाला।
अखिल देवताओं के अर्जित दिव्य तेज को सारी,
एकीभूत समष्टि शक्ति ने छवि दुर्गा की धारी,

अखिल देवताओं के दीपित दिव्य तेज से ढाली,
एक मूर्ति वह बनी अखण्डित श्री-सरस्वती-काली।"

इस ग्रन्थ में कथात्मक उपलब्धि के अतिरिक्त नये भावबोध के उन्मेष के साथ-साथ काव्य शिल्प की अनेक दिशाओं और सम्भावनाओं का भी संकेत मिलता है। हिन्दी में इस विषय पर इससे अधिक महत्त्वपूर्ण और उत्कृष्ट काव्यकृति नहीं है। आज के आस्थाहीन युग में जबकि वैज्ञानिक और यथार्थवादी जीवन दर्शन अधिकाधिक विकसित हो रहा है भगवती पार्वती का आदर्श—अपने ऊर्ध्वगामी विकास के सृजनात्मक पक्ष से जुड़कर—आने वाली पीढ़ियों की आस्था और प्राणवत्ता को खंडित न होने देगा। समय की रगड़ खाकर यद्यपि धर्म की मर्यादाएँ शिथिल पड़ गई हैं और विश्वास के बाँध टूट गए हैं, पर कवि ने अपने श्रम और अध्यवसाय से इस विश्वास को पुनर्जीवित किया है जिससे इस महाशक्ति रूपिणी माँ भगवती का रूप सदैव अक्षुण्ण है और सनातन है।

'मीरां'

परमेश्वर 'द्विरेफ' कृत 'मीरां' महाकाव्य की कथा का प्रारम्भ बालिका मीरा के बाल्यकाल की कुछ ऐसी अविस्मरणीय घटनाओं से होता है जिन्होंने कृष्ण-भक्ति के अमिट संस्कार उसके कोमल मन और अन्तर्प्राणों में जागृत किये थे। धूल धूसरित आँगन में मीरा अपने छोटे-छोटे पैरों में नूपुर बाँधे और झीने रेशमी वस्त्रों को मलिन बनाती हुई तथा हाथों में बजते कंकणों की मधुर झंकार के साथ मिट्टी का घर बना रही थी

"कितना सुन्दर था वह लघु घर
यह नहीं कहा जा सकता, पर
सब कुछ भूली उसको पाकर
वह बाला।
वह भाव भरा ले अन्तराल
करती थी प्रतिपल देख भाल
ऊपर रवि, भीतर तिमिर-जाल
सगुम्फित।
जानें क्यों फिर उसने पग धर
कर दिया खड़ा अपना घर!
सो गई नींद में फिर पीकर
ज्यों हाला।"

मीरा की माँ मीरा सहित पड़ौस के विवाह में सम्मिलित होने गई। भोली बालिका वहाँ की धूमधाम, क्रीड़ा-कौतुक, नाच-गान और समूची चहल पहल को देखकर इतनी अभिभूत हो गई कि वह अकस्मात् अपनी बाल-सुलभ जिज्ञासा से माँ

से पूछ बैठी :

"है कौन, कहाँ, मा ! मेरा वर ?
मैं किसको दुलहिन बनी अमर ?
यो सुन आया माँ का जी भर
रोमांचित ।"

इकलौती बच्ची के इस प्रश्न से माँ सहसा कुछ गम्भीर हो उठी। किन्तु उसे तो कुछ बताना ही था

"जिस नारी के हो एक सुता
केवल, वह क्या रे, सके बता
वर कहाँ चिरन्तन, कौन पता ?
भावुकता ।
फिर सहसा हँसते हुए, मधुर
दे दिया स्वरों में यह उत्तर
तेरा पति तो नटवर नागर
गो-पालक !"

इतना सुनते ही बालिका के मन पटल पर नटवर-नागर की मूर्ति अमिट बनकर समा गई। यद्यपि मीरा के अतरग हृदय में भगवान् कृष्ण का प्रेम और आकर्षण बहुत बचपन से ही—न केवल अपनी सीमा के अतर्गत कोमल आवेगों और अति सुकुमार भावनाओं के विस्तृत धरातल को परिवद्ध करता है, अपितु इस अमृततत्व की उपलब्धि अर्थात् दैवी नित्य विधान की पूर्ति भी करता है। किन्तु प्रेम की एक खास स्थिति और उसकी सबसे सघन एव विशिष्ट व्यक्ति-केन्द्रित भावना का भी कोई समय या परिसीमा होनी चाहिए। प्रेम के अनुभव की क्रमिक प्रक्रिया में—जिसमें कि अकस्मात् किसी कल्पना चित्र से मुग्ध व मनोग्रस्त होने की अनिवार्यता आ घेरती है—लेखक ने बालिका के मानसिक सघर्षों में जिन नैतिक निर्णयों की स्थापना की है वह बड़ी ही बेतुकी और अस्वाभाविक बन पडी है। मीरा की कान्तासक्ति आन्तरिक द्वन्द्व-सघर्ष का प्रतिफलन तो हो सकता है, पर उसमें सच्ची निष्ठा, आत्मपूर्णत्व की भावना और तन मन के एकीकरण की गहरी भावना ही निहित है। इसके विपरीत तारुण्य की अपरिपक्वावस्था में ही प्रेम की नई अनुभूति के रूप में उसका असमय हो अनधिकार प्रवेश अथवा व्यावहारिक व्यवस्था में मर्यादित न होने वाली बुद्धि की सीमा और तर्क के दायरे के परे की चीज बड़ी ही छिछली और बचकानी होकर उभरी है। भोली अल्हड बच्ची की मस्त और चपल बाल्यावस्था में ही कुछ ऐसा चित्र उभारा गया है जो उसके अचेतन की अविकसित मन स्थिति में अतिरजित सवेदनाओं का स्फुरण मात्र है :

"पर वह बाला तल्लीन हुई
मिल गई उसे अनुभूति नई

वह नटनागर गोपाल - मयी
चिर चिंतित ।

दिन गया, निशा भी गई बीत
खोये नभ में भी प्रणय - गीत
पर उसकी निश्छल प्रणय - प्रीत
परिवर्द्धित ।

सोते चिन्तन, जगते चिन्तन
नटनागर में उलझा था मन
जग से उदास, घर से उन्मन
अन्तर्तम ।

अस्पष्ट रूपरेखा सुन्दर
नयनों के आगे रह रह कर
देती थी भावों से भर भर
अतस्तल ।"

कवि को शायद इस बात का ज्ञान नहीं है कि विशुद्ध प्रेम की अनुभूति और कामावेगों से उमड़े दिमागी फितूर में कितना अन्तर होता है, तिस पर भी इतनी छोटी अवस्था में अपरिहार्य रूप में अनर्गल इच्छाओं और प्यार का मादक रंगीनियाँ उभारना किसी भी प्रकार शोभनीय नहीं है ।

इसमें सन्देह नहीं कि मीरा के ऊहापोह भरे जीवन के साथ अनेक असंगतियाँ भी जुड़ी हैं तथापि कितने ही स्थलों पर कवि का नया भाव और नया अर्थभरा मन मीरा के संयत आचरण को उसकी एकरस भीतरी निष्ठा से एकाकार नहीं कर पाया है । इसके विपरीत जहाँ कहीं उच्छृंखल आचरण और अतिमानवीय क्रिया-व्यापार हैं वह कवि की अतिशय रूमानी कल्पना-प्रियता का परिणाम है । उदाहरणार्थ—मीरा के माता-पिता के प्रसंग में निष्प्रयोजन ही प्रेम की यह उद्दामता दर्शाना—

"भुज पाशों में बद्ध कर लिया
कहकर यों प्रियतमा वक्ष को ।"

मीरा का प्रेम कुछ ऐसा अनन्य और लोकोत्तर है कि उसने अपने प्रणय-देवता को रिझाने के लिए कुछ उठा न रखा, पर फिर भी वह पूरी तरह स्वयं उसके रहस्य को कभी समझ न पाई, मन की दिव्य भावना के शृंगार में वह निरन्तर मिलन-मुहूर्त की बाट जोहती रही, पर फिर भी उसकी आकांक्षाएँ अतृप्त बनी रहीं । समाज, धर्म और आचार मर्यादाएँ प्रेम-पथ पर अग्रसर होने से उसे रोक न सकीं, फिर भी न जाने कितनी ठोकरें उसे खानी पड़ीं । कैसी-कैसी उत्ताल तरंगें मीरा के मन में उठती हैं, जिसके जीवन का आधार ही वह छोटे-छोटे क्षण और अनुभूतियाँ हों उसकी हर घड़ी की उपासना से मन की वृत्ति उस शुद्ध तत्व से मिलकर तद्रूप हो जाती है ।

श्रीकृष्ण स्वरूप की आल्हाद शक्ति के संयोग से शुद्ध सत्त्व का आविर्भाव होता है और यह तथाकथित अगम्य प्रेम ही गाढ होता हुआ, उत्कर्ष की ओर बढता हुआ क्रमश स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग के रूप में परिणत होता है। इस अनुराग की चरम परिणति ही मीरा की वाणी का परम पुरुषार्थ है। उसकी घनीभूत अनुभूति के सहज उद्वेलनो और एकमात्र श्रीकृष्ण प्रेम की रसभीजी शत-सहस्र आनन्दधाराओ के उन्मेष को दर्शाने के लिए बडी ही दक्षता और रचना चातुरी की अपेक्षा है। प्रस्तुत पुस्तक को पढकर मुझ लगा कि कवि की भाषा में गत्यवेग और प्रवाह तो है, पर उस महाभाव की छाया तक को भी वह छू नही पाया है। शृगार और रूमानी मादकता को सिरजने के शौक में कवि ने यत्रतत्र आचार मर्यादाओ का उल्लघन किया है।

> "व्यथित सारस मे निरतर नवलतम घनश्याम
> श्रान्त होकर भी गगन में लें न कुछ विश्राम
> निकट आ चुपके स्थिरा के स्पर्श करते गात
> दौडती विद्युत्, हँसे कुच तुग टोल दात।
>
> हस्त-कुच-मर्दन सुलज्जित, क्रुद्ध सी गत धाम
> भू लगे ज्यो स्मर प्रपीडित नवल प्रियतम वाम
> देख प्रिय के पास भू को बोलते हँस मोर
> व्यग्य में अविरल चिढाने प्रखर करते शोर।"

मीरा के पति को आवश्यकता से अधिक भोगलिप्सु और उन्मादी चेष्टाओ का व्यक्ति दिखलाया गया है। उसके शब्दो में

> "ऊषा की लाली सा जीवन
> चुम्बन सा यौवन है
> अलि के गुजन सी तन्मयता
> मृग तृष्णा सा मन है।
>
> आओ आओ यो न गँवाओ
> थोडे से यौवन को
> छोड चला जाएगा यों ही
> एक दिवस इस तन को।"

प्रकृति वर्णन खासकर मरुभूमि के दृश्यावलो के चित्र सुन्दर उतरे है। कवि की भावमुग्ध, कल्पना-प्रवण और कोमल अनुभूति ने कही कही जीवन की समस्याओ पर भी दृक्पात किया है। राजस्थानी रीति-रिवाज, आचार मर्यादाएँ और सामाजिक रीति रुढिया का भी चित्रण है, किन्तु उनमें आधुनिक पुट अधिक है। मीरा राजकुल की इकलौती बालिका थी। उसके माता पिता के समक्ष पुत्री के जन्म और दान दहेज की समस्या उतनी उग्र नही हो सकती जितनी कि सामान्य स्थिति वाले परिवारो में।

मनोवैज्ञानिक भूमिका पर लेखक को देशकाल और समयोचित विवरणों का सदैव ध्यान रखना चाहिए। फिर भी तरह सर्गों के इस महाकाव्य में कवि ने अपनी विशेष-युक्त यथार्थवादी धारणाओं को मीरा के कथातन्त्र के मंगलमय सामंजस्य में गूँथकर उसे अनूठी और आकर्षक पद्धति में काव्यगत सौन्दर्य से मंडित किया है।

'तारक-वध'

गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' का उक्त महाकाव्य भौतिक जीवनानुभूतियों का ऐसा सुगठित और सुव्यवस्थित एकीकरण है जिसमें कथा-प्रवाह की एकोन्मुखता मिलती है। वर्तमान समय में कितनी ही बड़ी-बड़ी समस्याएँ नित्य जन्म ले रही हैं। काव्य के माध्यम से इन स्थितियों का यथातथ्य चित्रण उपस्थित करते हुए उनमें एक नई संवेदना विकसित की गई है।

काव्य का कथानक षण्मुख कार्तिकेय के माहात्म्य और अत्याचारी तारकासुर के हनन को एक दूसरे ही रूप में सामने रखता है। वर्णित घटनाओं एवं पात्रों का रूपान्तर भी अकल्पित रूप में होना है—जैसे ब्रह्मा के आत्मसंहरण से उत्पन्न कार्तिकेय और शारदा चिर युगल हैं, पर भ्रम वश कार्तिकेय अपनी युग-युगान्तर की सहचरी प्रिया का स्वयं अपने हाथों ही सर्वनाश करते हैं। जब उन्हें इस बात का एहसास होता है तो उनमें गहरी अंतर्व्यथा जगती है और अमर लोक से मर्त्यलोक में आना पड़ता है।

कार्तिकेय और शारदा—दो पृथक् सत्ताएँ होने के बावजूद ऐसी अविभाज्य इकाई हैं जिसमें पूर्ण एकात्म्य और अंतरंग भावात्मकता है। उनका स्थायी संयोग और व्यक्तियों की चरम परिणति अतत द्वन्द्वातीत मुक्तिभूमि में पहुँच जाती है जिनका मानव-संस्करण शृंगी ऋषि और शान्ता का पुनर्मिलन है। दोनों के मन प्राणों का एकत्व और तादात्म्य भाव की निष्ठा समन्वय, समवाय और संप्रीति के मूलमंत्र का प्रतीक है। शारदा रुद्र की महाशक्ति की अंशीभूता वह शक्ति है जिसमें कारणभूत आद्याशक्ति के समस्त सत्त्वगुण विद्यमान हैं। स्थूल-सूक्ष्म, दृश्य-अदृश्य और व्यक्त-अव्यक्त, साथ ही शक्ति से संयुक्त जो मूल अद्वैत रहस्य-साधना है वह शृंगी ऋषि और शान्ता के बिछोह और उनके मिलने की आकुलता की दैहिक चेतना से परे जो अगम्य प्रेम समाधि है उसका भी एक ऐसा आयाम व्यक्त हुआ है जिसने नानाविध भावचित्रों के पारस्परिक सुघात को सुदृढ़ आधार प्रदान किया है।

> "यह कह दौड़ पड़े शृंगी ऋषि मिलन मोद में माते।
> अविरल वाहित अश्रुधार में सहित सनेह अन्हाते।
> रहे भुजाएँ फैलाये वे जिनमें प्रिया न आयी।
> ज्यों ज्यों वे धाये आगे को वह पीछे को धायी।
> वन सीमा से बढ़े मिला तब अरुण सुमनमय उपवन।
> 'शान्ता-शान्ता' सम्बोधन कर शिथिल किया निज तन मन।

प्रति पुकार में अधिकाधिक थी आर्ति, प्यास औ तड़पन।
प्रतिध्वनि में होता था उत्तर 'शाता-शाता' झन झन।'

समय, स्थान और घटना के ऐक्य को इस प्रकार संश्लिष्ट किया गया है कि अनेक युग एवं कल्पान्तों को सम्बन्ध सूत्र में बाँधकर तरह-तरह की उद्भावनाएँ की गई हैं। समची प्रकृति को मानवीय व्यापारों की पृष्ठाधार मानकर सानुकूल रहस्यावरणों में अधिकतर आलम्बन रूप में ग्रहण किया गया है। विरहिणी वनदेवी प्रियतम की अभ्यर्थना में प्राणिक संघर्षों में तपकर जीवन-सत्य का उद्घाटन करती हुई विभिन्न धर्मी घटनाओं तथा परिस्थितियों का तारतम्य मिलाती चलती है और कितने ही ऊहापोह संश्लेषण विश्लेषण घात प्रतिघात, जड़ चेतन सम्बन्धी धारणाएँ और क्लिष्ट गुत्थियों को सजीव कथानक में गूँथकर यह कल्पना पट बुना गया है।

'महाशक्ति वैचित्र्यमयी वह नव नव चित्र बनाती।
किसी भाव के वश होकर फिर उन्हें तुरन्त मिटाती।
क्यों उखाड़ देती वे पौधे जिन्हें प्रेम से पाले।
जाने कौन रहस्यमयी के भेद अतीव निराले।"

अनेक स्थलों पर विरह और आकुल भावावेगों की बड़ी ही अलौकिक रहस्यमयी व्यंजना है। दशरथ पुत्री और शृंगी ऋषि की भार्या शान्ता को तारकासुर अपहरण कर ले जाता है और कारागार में बन्दी बनाकर रखता है। वियोग की इस स्थिति में उदात्त प्रेम का पूर्ण परिपाक हुआ है। शान्ता की स्वयम्भू मनोवृत्तियाँ और आकुल प्राणों की अव्यक्त चेतना के महत्तत्त्व का उदय होता है। तब उसकी विरह वेदना में डूबी कितनी ही रहस्यात्मक भावनाओं का उद्घाटन होता है।

'प्रबल चित्त विक्षेप दृष्टि नव लाया।
जड़ भी चेतन रूप सहज हो आया।"

प्रियतम के अचिन्त्य एकान्त मिलन की चाह दिव्य प्रेम को जाग्रत करती है और उसके लीलामाधुर्य की प्रत्येक चेष्टा और भावभंगी में विस्तार पाती है। आकाश पृथ्वी सूर्य चन्द्र पुष्प लताएँ, पशु पक्षी यहाँ तक कि भ्रमर जैसे छोटे से जीव तक को सम्बोधित कर चहुँ ओर प्रणय भावनाएँ निनादित हो रही हैं। शान्ता मन ही मन कल्पती है

"मैं प्रियतम के पास कौन विधि जाऊँ।
सन्देशा हो जाय धन्यता पाऊँ।
मधुकर! विरह विषाद सहज अवसादित।
प्रिय देखेंगे दृश्य बने उन्मादित।
पायेंगे संदेश आप ही मेरा।
जानेंगे सब क्लेश आप ही मेरा।
कमल व्यथा से व्यथित सहज देखेंगे।

मुझको भी यो विकल कान्त लेखेंगे।
घेरेंगे जब मेघ तुम्हें घिर घिर कर।
देखेंगे वे आप विकल हो प्रियवर।"

उधर शृंगी ऋषि के प्राण भी अपनी प्राणाधिक प्रिया के लिए छटपटा रहे हैं। प्रणय-सुधा से सिक्त हो भावसिन्धु में तरगे उठन लगती है और भाव के आवर्त्त बन जाते हैं। दरअसल, अनुराग की चरम परिणति ही 'भाव' है और उसके 'आवर्त्त' प्रेम-विभावित उमडन को मानो अपन आप में समेट नही पाते है। अतएव इस भाव-सिन्धु में अगणित हिलोरें-सी उठती है और जड चेतन व चराचर के अदृश्य प्रसार में उनकी व्यथा अंकित हो रही है। ऋषि की विरहाकुल वदना और मानवेतर प्रकृति म पूर्ण साम्य दर्शाया गया है। घायल मन की यन्त्रणा की तडप से दिव्य अनाहत निनाद फैल जाता है और वातावरण से मुक्त प्रेम-रहस्यों को अधिकाधिक उद्घाटित करता चलता है। वस्तुत उनके प्रेम की परिधि इन सभी दृश्य वस्तुओं को अपनी सीमा में आ घरती है।

"ऊब रही थी सांस देख यह दृश्य करुण उर दारक।
दिखलाये उसने भी पीडित नयन वारिकण तारक।
अन्धकार ने काला परदा ऋषि शरीर पर डाला।
रहा अभागा पडा वहीं पर परम प्रेम मतवाला।"

भावाकुलता और स्वानुभूति के कारण यथार्थ की पकड इतनी दृढ है कि सर्वत्र चैतन्य की अव्याहत सत्ता प्रकट होकर प्राणभाव और मन का अधिष्ठान करती है। धर्म और सत्य की मूर्तिमान् संस्कृति के दिक् विस्तार की अनन्त सीमाएँ हैं। परम सत्य म विलय के लिए उन्मुख होता हुआ शिवत्व जगता है तो उसका तेज दिग्-दिगन्त को आलोकित करता हुआ सवत्र छा जाता है। किन्तु विकृत हिंसा का परिणाम जो दानव की परम्परा को सदा अक्षुण्ण बनाये रखता है उसका सहार करने वाली रुद्र-शक्ति विलोम स्थिति में अत्यन्त सक्रिय और भयावह रूप धारण कर लेती है। दानव स्वय बलशाली और शक्तिपुंज है, पर रक्तपात, हिंसा, नारी-अपहरण और पर पीडा के निमित्त उसकी शक्ति का दुरुपयोग होता है। दानवता का जड मूल से सहार करने के लिए रुद्र के महारास्त्र भिन्न-भिन्न उपचारा की योजना करते हैं, पर उक्त ग्रन्थ में तारकासुर का वध नहीं वरन् हृदय परिवर्तन द्वारा उसे अद्वैत साधना की ओर उन्मुख किया गया है। दनुज अत में पश्चाताप करता हुआ दर्शाया गया है।

"लाखों ही के प्राण सताये निशिदिन मैंने।
लाखों ही को हाय रुलाये निशिदिन मैंने।
दुर्जन ही को नित्य चढाया सिर पर मैंने।
नित्य सुजन अपमान कराया हँसकर मैंने।
चिंतन यह अविकार हृदय मथन करता था।
युग युग के सब कलुष सहज सत्वर हरता था।

चमत्कार लो देख आग पानी में सोती।
तारक नयन कराल आज बरसाता मोती।"

सच पूछा जाय तो देवत्व और दानवत्व का संघर्ष केवल आज की ही समस्या नहीं वरन् चिरपुरातन है। भीतरी कुत्सा या अहम्भाव सम्पूर्ण चेतना से अलग कटकर जब अपने लिए सीमाबद्ध अथवा दूसरे शब्दों में उसकी व्यक्तिगत चेतना बन जाता है तो इसी कुत्सा व अहं की पृथगात्मिका चेतना चरम बिन्दु पर पहुँचकर—उन सीमाओं का भंग करती हुई—एकमय अखंड चेतना के साथ पुनः एकत्व स्थापित करती है। ग्रन्थ में मूलतः सर्वत्र इसी एक चेतना को उस अखंड चेतना से एकाकार कर व्यष्टि का समष्टि में विलय दर्शाया गया है। भाषा सरस और प्रवाहपूर्ण है। पर कहीं-कहीं क्लिष्ट कल्पना और विभिन्न प्रकार की मूर्तिमान विचित्र अभिव्यक्तियों के कारण दुरूहता आ गई है। रचना समयानुकूल आदर्शों को सम्मुख रखकर की गई है, पर रहस्य-वादी व्यंजनाएँ उतनी स्वाभाविक नहीं, बल्कि आयासपूर्ण और अतिरंजित-सी लगती हैं।

'दमयन्ती'

ताराचन्द्र हारीत का 'दमयन्ती' महाकाव्य नल-दमयन्ती की रूढ़िसिद्ध भावाधार सम्पत्ति की लोकाभिव्यक्ति को प्रस्तुत करता है। चौदह सर्गों में अतीत की इस ऐतिहासिक महागाथा को वर्तमान में मूर्तिमान कर सर्वथा नये और मौलिक ढंग से प्राणवत बनाया गया है। भाषा में सहज आकर्षण है और कवि की भावना से ओतप्रोत काव्यचित्र उतरते चलते हैं। विदर्भ देश के राजा भीष्मक की राजकन्या दमयन्ती के अप्रतिम रूप और सौन्दर्य, यौवन और तरुणावस्था के साथ-साथ निषध नरेश नल के प्रति उसका आकृष्ट होना, उधर दिव्य हंस द्वारा राजा नल के समक्ष दमयन्ती का बखान और प्रणय संदेश, तत्पश्चात दमयन्ती के पास उद्यान वापी में जाकर हंस का मानवी भाषा में नल का गुण कथन, दोनों की परस्पर अनुरक्ति और गहरा आकर्षण, विवाह योग्य पुत्री को जानकर विदर्भ नरेश द्वारा दमयन्ती की स्वयंवर योजना, समाचार पाकर इन्द्र, वरुण, यम, अग्नि का बिना निमन्त्रण के ही स्वर्ग से पृथ्वी लोक पर अवतरण और दिव्य कान्ति व लोकोत्तर शक्ति सम्पन्न नल को देखकर उन्हें प्रतिज्ञा में आबद्ध कर इस बात के लिए विवश करना कि वे देवदूत बनकर राज-महल में जायें और दमयन्ती को देवताओं में से ही पति चुनने को बाध्य करें, देवताओं से अन्तर्धान विद्या सीखकर राजा नल का बरोकटोक महल में प्रवेश और दमयन्ती से साक्षात्कार, राजा का दमयन्ती से देवताओं को वरण करने का आग्रह, पर उसकी निष्ठा और गहरे प्रेम से प्रभावित होकर लौटना और देवताओं से सभी ठीक-ठीक बातें बताना, विवाह मंच पर इन चारों देवताओं का नल के रूप में उपस्थित होकर संशय में डालना, किन्तु अन्त अपने अटूट अनुराग, दृढ़ निश्चय, सत्य प्रेम और आत्मशुद्धि द्वारा असली नल को पहचान लेना और पति रूप में वरण करना आदि पूर्वार्द्ध के इन कथा-प्रसंगों का विस्तारपूर्वक सात सर्गों में वर्णित किया गया है।

उत्तरार्द्ध के सात सर्गों में उतने ही विस्तार और कौशल से राजा नल की कथा के उस सुप्रसिद्ध अंश की भी नियोजना है जिसमें नल का राजैश्वर्य, दम्पति का सुख-भोग, किन्तु बाद में कलियुग की प्रेरणा से जुए में राजपाट और सर्वस्व हारकर वन में दर-दर भटकना और एक दिन सोती दमयन्ती को छोड़कर राजा नल का चले जाना, विरह-कातर दमयन्ती की दुरवस्था, व्याध से मुठभेड़, तदनन्तर अनेक प्रकार के कष्ट भोगती और जंगलों को पार करती दैवयोग से पहले चेदिराज्य और पुनः अपने पितृगृह पहुँच जाना, राजा नल की खोज, बाहुक के रूप में साकेतपुरी के राजा ऋतुपर्ण के यहाँ राजा नल का छिपकर सेवा-कार्य, किन्तु अन्ततोगत्वा दमयन्ती को सब बातों का पता लग जाना और स्वयंवर के बहाने उन्हें बुला भेजने की योजना बनाना, फिर अन्त में दोनों के मिलन की बड़ी ही अपर्व करुणा विगलित झाँकी प्रस्तुत की गई है।

"बैठे थे बाहुक तभी सामने देखा—
आती है कपिल खिंची स्वर्ण की रेखा।
वे उठे कि जब तक नेत्र सुधा से सींचे—
तब तक छाया आ रुकी स्व-तरु के नीचे।

नत वदन, सती का उठा, दृष्टि खंजन सी—
वह तपोपूत निष्पाप, ताप-भंजन सी—
बाहुक मुख पर पड़ी, कुतूहल जागा,
सुख फूल उठे से, स्वयं भीत भय भागा।

बाहुक हो गये विलीन, प्रगट अब नल थे,
उस सती-दृष्टि से घुले महौषध छल थे।
नृप वदन पुष्पमय हुआ, पाद थे सुखमय,
करते थे ऊपर देव, सती की जय जय।"

विरहावस्था में प्रेम और भी अधिक पल्लवित होता है। प्रेम की एकान्त विमूर्च्छना में जो भाव अब तक मदहोश थे वे हृत्तन्त्री के किंचित् से स्पर्श से जाग उठते हैं और उनकी अनुगूँज दिग्दिगन्त में व्याप्त होकर समा जाती है। आलिंगन पाश में बद्ध दो प्रेमी समस्त दुख-द्वन्द्वों से परे अखण्ड ऊर्ध्वगामी स्थिति में पहुँच जाते हैं।

"करतीं विरहानल शान्त, अश्रु जल से ही,
वे स्नेह सिन्धु में मग्न, युगल थे स्नेही।
मिल गए परस्पर हृदय खण्डता भागी,
यह स्नेह धार बह चली, ज्योति सी जागी।"

प्रारम्भ से लेकर अन्त तक रचना-शैली में एक स्थिरता है। यद्यपि कहीं-कहीं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से कथोपकथनों में अस्वाभाविकता आ गई है, किन्तु चरित्र का प्रतिपादन यथातथ्य हुआ है। ऐसे बहुत से पात्र हैं जो दमयन्ती और राजा नल के चरित्र को विकसित करने में सहायक होते हैं। प्रकृति मानव-सहचरी और हृद्गत भावों की प्रतिरूप होने के कारण उस क्रियाकलाप को प्रेरित करती है, जिसके

फलस्वरूप वर्णन सादृश्य द्वारा प्रस्तुत विषय नेत्रो के समक्ष चित्रवत् खिच जाते हैं। दमयन्ता उद्यान म हस के क्रीडाकौतुक को देखकर पूछती है

'हे सखी ! यह हस देखो तो सही,
देखती अब तक कि मे, जिसको रही,
हसनी उस ओर जाती दौडकर।
और, यह इस ओर लाता मोडकर
दे रहा इस भांति उसको कष्ट है,
क्या कहूँ कितना अरी! यह धृष्ट है।"

सखि के इस उत्तर मे प्रम की बडी ही सुन्दर, उन्मुक्त व्यजना होती है

"प्रेम का यह खेल, आलि! न कष्ट है,
देखलो ! इस युगल का मुद स्पष्ट है।
है गुणज्ञे ! नियम यह अभिसार का,
मौन है सकेत स्वीकृत प्यार का।"

न केवल परम्परागत काव्यशास्त्रीय मूल्यो की सम्यक् स्थापना, अपितु मौलिक अन्त स्पर्श और नवोन्मेष की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ उपादेय है।

'उर्वशी'

'उर्वशी' न केवल दिनकर की तेजोद्दप्त अन्तर्निहित कल्पना शक्ति एव काव्य शिल्प की जीवन्त अभिव्यक्ति है, अपितु लगता है कि कोई ऐसी दुनिवार और विदग्ध आकुलता कवि के प्राणो म जाग उठी है जिसके ससर्ग और रसानुभूति के अद्भुत योग से समस्त बिखरी लावण्यराशि को अन्तर के किसी शून्य प्रदेश में पुञ्जीभूत कर वह सार्वभौम मानव-आत्मा के एकत्व और मिलन की परम आनन्दमयी भूमिका का स्पर्श किया चाहता है। शाश्वत युगल का यह चरम मिलन ही कहीं शृगार और कहीं प्रेमयोग की समाधि है। मनुष्य की जिज्ञासा और चेष्टारत दृष्टि ने इन प्रेम-रहस्यो में पैठते हुए जिन सूक्ष्म विपर्ययो और विचित्र गूढ सामजस्यो के सूत्र पाये हैं उनकी सहज मीमासा और विश्लेषण अन्तरचेतना के गुह्यतम स्तरो में झांककर ही उक्त काव्य-ग्रन्थ में हुआ है।

उर्वशी जैसी नारी का अप्रतिम रूप और विचित्र तरग भग देखकर कवि की कल्पना अनायास विस्मय विमुग्ध उस आतरसत्ता पर जा टिकती है जिससे प्रेरित एक अभिनव आत्मविह्वल समर्पण का भावोदय हुआ है। प्रेमातिरक्ता में मन के सशयों को छिन्न करने वाले बहिरग प्रश्नो की व्याख्या और चिरन्तन समस्याओ का समाधान नहीं होता। प्रेम प्रवर्षिणी की रसधारा की उन्मद लहरियाँ न रुकने वाली होती हैं, उनके लय का विन्यास चाहे जितना भी कोमल क्यों न हो, पर अन्तर की गहराइयों मे टकराती लहराती वे नुकीली नोक सी भीतर धँस कर भाव-पटलो को उकसाती हैं। प्रणय का ऐसा कसमसाता उफान भी—यदि अपराध के बोध से परे है—तो वह

निष्पाप और निरापद है। प्रेम-धर्म की पराकाष्ठा अर्थात् मानव-चित्त की निर्द्वन्द्व स्थिति में जब समूचे रस एक कान्त मधुर रस के पारावार में नि शेष हो जाते हैं तब मानवात्मा चिदात्मा के साथ लय होकर देह, प्राण, इन्द्रिय, मन की भोग सीमा का अतिक्रमण करती हुई अपनी ही भीतरी उद्दामता से ऊर्जस्व हो आत्म-चेतना के स्तर पर अमर अनन्त मिलन की अभीप्सा से सम्पूर्त हो उठती है।

राजा पुरुरवा और उर्वशी के आकुल उन्मेष और तदाकार परिणति के रूप में नर-नारी की मिलन-उत्कण्ठा की अनायास अनुभूति और संवेदना का जो निरन्तर योग चल रहा है उसको किस कौशल से शब्दों में बाँधा गया है, साथ ही यह काव्य शिल्प किस कोटि का है उस पर दो कोणों से यहाँ दृष्टिपात किया जा सकता है—दैहिक या पार्थिव, आध्यात्मिक या अलौकिक।

सामान्य भावभूमि पर ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, पुराण आदि प्राचीन धर्म ग्रन्थों और तत्पश्चात् महाकवि कालिदास, श्री अरविन्द और टैगोर रचित कथाख्यान से प्रेरित जो मौलिक उद्भावना कवि को हुई उसी के आधार पर बड़ा ही सीधा-सादा संक्षिप्त विवरण उक्त ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय के रूप में पाँच अंकों में प्रस्तुत किया गया है। स्वर्गलोक में एक दिन कुबेर के घर से लौटते हुए एक भयंकर दैत्य उर्वशी पर झपटा और अप्सराओं के बीच से उठा ले गया। उसकी करुण चीत्कार सुनकर राजा पुरुरवा ने उर्वशी की रक्षा की, किन्तु इस प्रक्रिया में दोनों में परस्पर प्रेम और आकर्षण हो गया। स्वर्ग सुखों को लात मार कर इस नये मोह से खिंची उर्वशी पृथ्वी पर उतरी और एक वर्ष तक दोनों गन्धमादन पर्वत पर विचरण करते रहे। इस दौरान उर्वशी के एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ, किन्तु महर्षि भरत के शापवश पति और पुत्र के एक साथ सुख से वंचित होने के कारण उर्वशी ने च्यवन ऋषि की पत्नी सुकन्या को पालन-पोषण के लिए उसे चुपके से सौंप दिया जहाँ सोलह वर्ष तक राजा से छिपाकर उसे रखा गया। इतने अर्से बाद अकस्मात् एक युवक के रूप में राजा पुत्र को पाकर जब हर्षमग्न और प्रणय-विह्वल हो रहा है तभी उर्वशी सहसा भूलोक छोड़कर अन्तरिक्ष में अन्तर्ध्यान हो जाती है। राजा पुरुरवा भी उसकी वियोग व्यथा न सह सकने के कारण समूचा राजपाट पुत्र को सौंप नगर से वन्य प्रदेश की ओर चल देता है। राजमहिषी औशीनरी के दर्द और परिताप की हूक और मधुर टीस भी प्रारंभ और अन्त के अंकों में द्रष्टव्य है।

इस नव्य रूप में कितनी ही अनखोजी, अनजानी अनुभूतियों के वातायन कवि ने खोल दिये हैं और कितने ही छिपे तथ्य प्रकाश में आए हैं। दैवी सौन्दर्य का अल्हड़ उल्लास लिये उर्वशी मानव-चित्त के लययुक्त, क्रान्तिकालीन पलों के अमूर्त रूप का साकार चित्र है। जीवन के संघर्ष से दूर प्रियतम के एकाकी सान्निध्य में उसकी आत्मा इस तरह छटपटा उठी है जहाँ जड़ता की सीमा को छू आकर ही प्रेम वास्तव में शुरू होता है और व्याकुल अतृप्त 'अहं' अपने विराट् रूप में लय होने के लिए टकराता और निरन्तर संघर्ष करता रहता है। इस आनन्द संस्पर्श के उन्मादकारी

मधु क्षणो में प्रेम, सौंदर्य और अनन्यता की जो त्रिवेणी लहरा रही है उससे रसभीना उनका रोम रोम अभिसिंचित हो उठा है। पुरुरवा के शब्दो में

"आरती की ज्योति को भुज में समेटे
मै तुम्हारी ओर अपलक देखता एकान्त मन से
रूप के उद्गम अगम का भेद गुनता हूँ।
सांस में सौरभ, तुम्हारे वर्ण में गायन भरा है,
सींचता हूँ प्राण को इस गन्ध की भीनी लहर से,
और अगो की विभा की वीचियों से एक होकर
मै तुम्हारे रग का सगीत सुनता हूँ।"

अन्तर में दिलदार की रूप-श्री का अक्स उतर आया तो फिर रह क्या गया? उसे फिर ख्वाहिश ही किस बात की है?

'कौन कहता है,
तुम्हें मै छोडकर आकाश में विचरण करूँगा ?"

यह प्रणयजन्य आत्मविस्मृति की दशा खण्ड, सीमा, परिवर्त्तन और भिन्नताओ से परे वास्तविक आत्मसत्ता का साक्षात्कार है। प्राणों के रेशे रेशे में ओतप्रोत उसका निजी अस्तित्व भी उसी अपार आनन्दराशि में लय हो जाना चाहता है

"यह अगाध सुषमा, अनन्तता की प्रशान्त धारा में,
लगता है, निश्चेत कहीं हम बहे चले जाते हैं।"

गन्धमादन पर्वत की उपत्यकाओ और विशाल प्रान्तर के अचल में प्रेमराग के य मदहोश अभिसार-लहराते रहते हैं। अद्वितीय रूपसी उर्वशी की छवि को आंकने वाली रग-रेखाएँ बडी ही प्रखर व प्रौढ है। उसकी भावभगिमा, मुद्राएँ, शरीर की सर्वांग सुकुमारता, छन्दमय और लयकारी चित्रण इतना सजीव और जादू का सा आकर्षण लिये है कि भौतिक स्तर से उठकर कल्पना आकाश में मँडराने लगती है।

"लाल-लाल वे चरण कमल से, कुकुम से, जावक से,
तन की रक्तिम कान्ति शुद्ध, ज्यों, धुली हुई पावक से।
जग भर की माधुरी अरुण अधरों में धरी हुई सी।
आंखों में वारुणी-रग निद्रा कुछ भरी हुई सी।
तन प्रकान्ति मुकुलित अनन्त ऊषाओ की लाली सी
नूतनता सम्पूर्ण जगत की सचित हरियाली सी।
पग पडते ही फूट पडें विद्रुम प्रवाल धूलों से,
जहाँ खडी हो, वहीं व्योम भर जाय श्वेत फूलों से।"

उर्वशी साधारण मानवी नही, अपितु अग-अग में लहरलास्य का राग जगाने वाली ऐसी मोहक छवि है जो समन्वित नारी-श्री का प्रतीक है।

"दर्पण, जिसमें प्रकृति रूप अपना देखा करती है
वह सौन्दर्य कला जिसका सपना देखा करती है
नहीं, उर्वशी नारी नहीं, आभा है निखिल भुवन की,
रूप नहीं, निष्कलुष कल्पना है सृष्टा के मन की।"

मनोवैज्ञानिक स्तर पर प्रेम की बडी ही गूढ अभिव्यजनाएँ इसमें मिलती है। मानवी प्रेम क्या है, उसमें कितना छिछलापन और उद्विग्नता है, पर साथ ही कितनी गहरी कचोट और छटपटाहट। उसकी तुलना में दैवी प्रेम निरुद्विग्न है, पर उस निरामय, एकरस स्थिति में तीव्र सघातो की उद्दामता कहाँ है। प्रेयसी नारी, पतिप्राणा नारी, साध्वी नारी और वात्सल्य व अपत्य स्नेह की साक्षात् प्रतीक जननी के रूप में नारी के विभिन्न चित्रो की व्यजना बडी ही अपूर्व है। जिस किसी भी रूप में उससे अन्तर्साक्ष्य होते ही नई सम्भावनाओ का उद्घाटन हुआ है।

'उर्वशी' महाकाव्य कवि के 'स्व' की मौलिक और यथासाध्य परिणति है। कहीं-कहीं कथोपकथनो में अतिरजना तो है, पर काव्यबोध की अर्थवत्ता अतिम सीमा को स्पर्श कर रही है। भाषा के मार्दव, परिष्कार और शिल्प ने लेखक की सवेदनाओ को प्रतिफलित किया है, लगता है एक एक शब्द जैसे खराद पर गढा गया हो। ऐसी दृश्यानुभूतियाँ जो अतिशय मादक और उन्मत्त करने वाली है उसमें गरिमा और प्रभविष्णुता के साथ कवि का अनाहूत 'अह' विराट् का अवगाहन करता हुआ जैसे मचल रहा है।

खडी बोली के उपर्युक्त प्रमुख काव्य-ग्रन्थों के अतिरिक्त मैथिलीशरण गुप्त का 'यशोधरा', 'द्वापर', 'नहुष' और 'सिद्धराज', गुरुभक्तसिंह के प्रसिद्ध 'नूरजहाँ' के अलावा 'विक्रमादित्य', प्रतापनारायण पुरोहित का 'नल नरेश', उदयशकर भट्ट का 'तक्षशिला', सोहनलाल द्विवेदी का 'वासवदत्ता', राजेश्वर नारायणसिंह का 'अम्बपाली', पोद्दार रामावतार अरुण का 'विदेह', श्रीलालधर त्रिपाठी 'प्रवासी' का 'छत्रसाल' और विद्याधर महाजन का 'श्रीगाधी चरित मानस' तथा आचार्य विनयमोहन शर्मा का अनूदित 'गीत गोविन्द' आदि खण्डकाव्य भी विशेष उल्लेखनीय है। ऐतिहासिक और पौराणिक उपाख्यानो का प्रश्रय लेकर इनकी रचना की गई है। सत-चरित्र परम्परा में सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' का 'तुलसीदास' उच्चकोटि का काव्य-ग्रथ है जिसमें इस महाप्राण कलाकार की विराट् चेतना मूर्त हो उठी है।

ब्रजभाषा के काव्य-ग्रथो मे बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर का 'उद्धवशतक' और 'गगावतरण' तथा रामचन्द्र शुक्ल का 'बुद्धचरित' उत्कृष्ट काव्य कृतियाँ है। जिन दिनो खडीबोली में अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'प्रिय प्रवास' प्रसिद्ध हुआ उन्हीं दिनों रत्नाकर जी के 'उद्धव शतक' का भी दिल खोलकर स्वागत किया गया। गोपी-उद्धव सवाद की कथा भक्तिकालीन कवियों द्वारा पिष्टपेषित होते हुए भी अलौकिक बन पडी है। श्याम के बिछडने पर गोपियो की जो दशा है और उद्धव के ज्ञानोपदेश से

उनमें जो करुणा और विह्वलता फूट पड़ी है उसका दिग्दर्शन सुन्दर ढग से हुआ है।

"सहिहैं तिहारे कहै सांसति सबै पै बस
एतौ कहि देहु कै कन्हैया मिल जायगो।

टूक-टूक ह्वै है मन मुकुर हमारो हाय
चूकि हू कठोर बैन पाहन चलावौ ना।

एक मन मोहन तौ बसिकै उजारयौ मोहि,
हिय में अनेक मनमोहन बसावौ ना।"

निम्न पक्तियों में गोपियों का दैन्य और पीडा कितनी गहरी हो उठी है :

"उझकि-उझकि पद-कजनि के पजनि पै,
पेखि-पेखि पाती छाती छोहनि छ्वै लगीं।
हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा,
हमकौं लिख्यौ है कहा कहन सबै लगीं।"

'उद्धव शतक' में गोपियों के रागात्मक आलोडन और भाव विह्वल कोमलता, नानाविध भावावेगो की ऊर्जस्वी प्राणवत धारा और भावोल्लास की उन्मद, उच्छल लहरियाँ तरगित हो रही है। वह प्रसुप्त भावनाओ को मुखरित करती हुई माया-ब्रह्म, पुरुष-प्रकृति तथा जड-चेतन के द्वैत का समाहार कर भक्ति की सुरसरि बहा जन मानस को शराबोर कर देती है।

रत्नाकर जी की व्यजक शक्ति भी अपूर्व है। उन्होने रूपात्मक कल्पना, लाक्षणिक प्रयोग, नए-नए अलकार, चमत्कार प्रदर्शन वाले छद, अनुरजनकारी भाषा और हास्य-व्यग्य का भी अनूठा पुट दिया है। दृश्यो की सश्लिष्ट योजना द्वारा व्यक्त मूलवर्ती व्यापारो की मनोमय सृष्टि हुई है। 'गगावतरण' की यह चित्रोपमता कितनी सजीव है?

"जल सो जल टकराइ कहूँ उच्छरत उमगत।
पुनि नीचे गिरि गाजि चलत उत्तग तरगत॥
मनु कागदी कपोत गोत के गोत उड़ावै।
लरि अति ऊँचे उलटी गोति गुथि चलत सुहावै॥
कबहुँ सुधार अपार वेग नीचे को धावै।
हरहराति लहराति सहस योजन चलि आवै॥
मनु विधि चतुर किसान पौन निज मन को पावत।
पुन्य खेत उत्पन्न हीर की रास उसावत।"

रामचन्द्र शुक्ल ने 'बुद्ध चरित' प्रबन्धकाव्य की रचना 'दि लाइट ऑफ एशिया' (The Light of Asia) के आधार पर की और अपनी आतरिक गरिमा को बुद्धावतार के निरपेक्ष सत्य में ढालकर शाश्वत बनाया।

'कृष्णायन'

कृष्ण भक्तिपरक काव्य ग्रंथों में द्वारिकाप्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन' आज के युग की एक वृहद् कृति है जिसमें काव्योत्कर्ष और प्रबन्धगत व्यापकता है। अब तक भगवान श्रीकृष्ण की किन्हीं विशिष्ट जीवन कथाओं, उप कथाओं को लेकर ही खण्ड-काव्य लिखे गए थे, उनमें सम्पूर्ण जीवन-वृत्त न आ पाया था, किन्तु 'कृष्णायन' में पहली बार महाभारत के आधार पर विच्छिन्न कथा सूत्रों को ग्रथित किया गया और इस प्रकार विषय और कलेवर की दृष्टि से भी यह वृहत्तर काव्य बन गया।[१]

'कृष्णायन' की सब से बड़ी विशेषता जो ग्रंथ पर दृष्टि पड़ते ही मस्तिष्क में आ कौंधती है वह यह कि तुलसीदास की रामायण से प्रभावित उसी आकार, उसी पद्धति, अवधी भाषा, मिलता जुलता वस्तुविन्यास एवं भाव-व्यंजना और उसी के अनुकरण पर दोहे चौपाई-सोरठा आदि छंदों में लिखा यह महाकाव्य ऐसा जँचता है जिससे बरबस इसे देख, पढ़, सुनकर उक्त दोनों ग्रंथों का परस्पर तुलनात्मक भाव मन में जाग्रत हो जाता है। पाण्डित्य, अनुशीलन, बहुज्ञता, चरित्र-कल्पना और कथा-सृष्टि की दृष्टि से ठोस होते हुए भी इसमें रामायण जैसा भक्ति प्रवाह, सरलता और तल्लीनता नहीं है। रामायण की स्मृति जगते ही यह ग्रंथ फीका लगता है और मन के साथ कोई लगाव नहीं हो पाता। यह भी एक प्रमुख कारण है जिससे 'कृष्णायन' का विशेष प्रचार न हो सका। अन्य विषय, भाषा और पद्धति में लिखा यह महाकाव्य अधिक उपादेय और लोकप्रिय हो सकता था। अनेक प्रकीर्णक विषय, विशाल कलेवर, बहुसंख्यक घटनाओं, पिष्टपेषित व जाने बूझे विषयों और ऊहापोह भरे चित्रणों से भी जो एक बौद्धिक काठिन्य इस काव्य में आ गया है उससे इसे पढ़ना अथवा आसानी से इसके कथा-प्रसंगों से गुजरना बड़ा ही कष्टकर प्रतीत होता है।

प्रथम काण्ड में बाल-वर्णन और राधा कृष्ण की बाल-लीला के विविध प्रसंग, द्वितीय मथुरा काण्ड में कंस बध और जरासंध की कथा-विस्तार, तृतीय द्वारिका काण्ड में श्रीकृष्ण के विवाह प्रसंग और गीता का उपदेश, चतुर्थ पूजा-काण्ड में राजसूय-यज्ञ और श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य-वर्णन, पंचम जय काण्ड में महाभारत का युद्ध-प्रसार, समर भूमि में अस्त्र शस्त्र के विविध प्रयोग, छलप्रपंच और युद्धकौशल, अन्तिम आरोहण काण्ड में भीष्म का शरशय्या-शयन और उनके द्वारा दिए गए उपदेश—इस प्रकार इस महाग्रन्थ में राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और व्यावहारिक पहलुओं का सम्यक् विवेचन, भारतीय जीवन-दर्शन, रीति-नीति और विविध घटनाओं, परिस्थितियों, प्रसंगों का उचित समाहार हुआ है। अलंकार, छंद, रस, शब्दों की ओज-शक्ति, विषय-विभाजन और विभिन्न काव्य-पक्षों का भी अपूर्व संघटन इसमें देखने को मिलता है, पर इस सब के बावजूद भी इसमें हृदय को रमानेवाला वह गुण नहीं है जो तुलसीदास की रामायण में है। अनेक स्थलों पर ऊब सी होती है और धैर्य छूट जाता है।

'कृष्णायन' की विशेषता है कि इसमें न सिर्फ श्री कृष्ण-चरित्रांकन और भक्ति का उन्मेष है, अपितु उनके ऐश्वर्य, तेज, यश, उनके पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन तथा अन्य सभी प्रकार की मनोमुग्धकारी प्रचुर लीलाओं का विशद वर्णन किया गया है। राधा और कृष्ण का प्रेम सनातन है, उनके मन और प्राण एक दूसरे में समाये हैं जन्म जन्मांतर से वे एक दूसरे के साथी हैं, पर भटके हुए हैं। अचानक इन बिछुड़े बाल साथियों की जब रास्ते में मुठभेड़ होती है तो दोनों के प्रणय-तार झनझना उठते हैं। उनके प्रथम मिलन का एक दृश्य

"एक दिवस खेलत ब्रज खोरी,
देखी श्याम राधिका भोरी।
जनु कछु क्षीर सिंधु सुधि आयी,
औचक मोहित भये कन्हाई।
पूछत श्याम—"काह तुव नामा ?
को तुव पिता ? कवन तुम ग्रामा ?
पहिले कबहुँ न परी लखायी,
आज कहाँ ब्रज खेलन आयी ?"
"पितु वृषभानु विदित ब्रज नामा
बरसाना कछु दूरि न ग्रामा
राधा मैं, तुम कहँ भल जाना,
चोर ! चोर ! कहि जग पहिचाना !"
मुदित श्याम कह मधु मुसकायी—
"लीन्हेउँ काह तुम्हार चोरायी ?"
समुझे बचन न राधिका, लखति हरिहि अनिमेष,
बूड़ति उबरति दृष्टि जनु, सुषमा सिंधु अशेष।"

बालक कृष्ण के अकृत्रिम सरल व्यवहार पर भोली राधा मुग्ध हो गई। जीवन के इस नये अनुभव ने उस में प्रणयाकांक्षा भर दी और मनमोहन चितचोर ने सचमुच ही उसका मन चुरा लिया

"बरजति जननी कुँअरि नहिं मानी,
श्याम मूर्ति हिय माँहि समानी।
आतुर पहुँची खरिक किशोरी,
लखे न श्याम विकल मति भोरी।
कबहुँ इत कबहुँ उत डोलति,
लेति उसांस, कृष्ण मुख बोलति।"

वस्तुत राधा-कृष्ण में कोई अन्तर नहीं है, दोनों के प्रेम की परिणति दैहिक चेतना से परे अचिन्त्य और अगोचर है। राधा योगमाया है और हरि सच्चिदानन्द

घन परब्रह्म परमेश्वर। दोनों एक है

"राधा माधव मिलन अनूपा
हरि राधा, राधा हरि रूपा।"

भगवान् श्रीकृष्ण की समस्त विभूतियों का बड़ा ही व्यापक और कलात्मक समावेश इस ग्रन्थ में मिलता है। वीर रस और शृंगार-रस की प्रधानता के साथ-साथ सभी रसों का सुन्दर समन्वय और परिपाक इसमें दृष्टव्य है। श्रीकृष्ण की चारित्रिक विशेषताओं और उनकी बहुमुखी प्रवृत्तियों का इतना सम्यक् विवेचन इसमें मिलता है कि कवि के इस वृहद् प्रयास के अन्तर्गत कोई भी पहलू अछूता नहीं रह गया है। भगवान् नटनागर की बाल लीलाओं के बाद उनके विवाह, राजसी ठाठबाट और विलास-वैभव का वर्णन है। किन्तु श्रीकृष्ण केवल प्रेमिक और रसिक ही नहीं हैं, बल्कि एक महान् नीतिज्ञ, कर्मनिष्ठ योगी और गीता-प्रवक्ता भी हैं। मिश्र जी की मर्मभेदी दृष्टि ने उन सभी मार्मिक स्थलों पर दृक्पात किया है जो उनकी अनोखी सूझों, मौलिक उद्भावनाओं, अपूर्व कथन और विदग्ध कल्पनाओं का परिणाम हैं। महाभारत कालीन राजनीति और समस्याओं का दिग्दर्शन भी इस में हुआ है। एक *स्थल पर मृत्यु के सम्बन्ध में कितनी सहज, पर कितनी ऊँची बात कह दी गई है :*

"निश्चित मृत्यु मुहूर्त जो, सकत ताहि को टारि?
जो नहिं निश्चित, जानि को, कब केहि जइ है मारि?

दुहु विधि व्यर्थ मृत्यु हित शोचू,
धरत भीति उर मनुजहि पोचू
तेज, नीति, धृतियुत नरराया,
कालहु सकत सयुक्ति हराया।"

आत्मतोष, संयम और इन्द्रिय-निग्रह यही मनुष्य को ऊँचा उठाता है और भगवान् की ओर ले जाता है। आध्यात्मिक आनन्द नित्य और शाश्वत है। चैतन्य के ऊर्ध्व गमन की वृत्ति ही विवेक उपजाती है। आत्मा को कर्माणुओं ने अच्छादित कर लिया है। इन कर्म-बन्धनों के मिथ्यावरण को पहचानो और तोड़ दो।

"नित्य तृप्त, आश्रय रहित, जो न कर्मफल-लग्न,
करत कबहुँ कछु नाहि सो, कर्मन जदपि निमग्न।

चित्त संयमन जेहि निज कीन्हा,
आशा ग्रहण त्यागि सब दीन्हा।
देहहि तासु कर्म अनुरागी,
होत कबहुँ नहि सो अघ भागी।
द्वन्द्व विहीन, विमत्सर जोई,
लहत जो, तुष्ट ताहि मँह होई।

सिद्धि-असिद्धिहु दोउ सम जाही,
कृत-कर्महु—बांधत नहिं ताही।"

मनुष्य की इच्छा-आकांक्षाओं का उद्दाम वेग असीम और अनन्त है। वह उनकी पूर्ति की लालसा में उनके पीछे-दौड़ता है और दौड़ता ही रहता है, उसका गत्यवेग कभी-कभी इतना प्रचण्ड रूप धारण कर लेता है कि इस भाग-दौड़ में उसकी अंत शक्ति चुक जाती है और वह आत्मस्वरूप को पहचानने से वंचित रह जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण पार्थ से कहते हैं

"योगाभ्यास विसुद्ध चित, लहत जहाँ विश्राम
आत्मा लखि आत्मा, लहहिं आत्म तोष जेहि ठाम

बुद्धिगम्य, इन्द्रिय • अग्राही,
सुख अत्यंत मिलत जहँ ताही,
भय सों थिर, जहँ एकहु बारा,
टरत तत्त्व ते पुनि नहिं टारा।

संकल्पज वासना अनेका,
कीजै त्याग, रहहिं नहिं एका।

मन बल निखिलेन्द्रिय समुदायी
सबं दिशन ते निज मन लायी
बुद्धि धैर्य संयुक्त दृढ़ायी
क्रम क्रम शान्त होत नित जायी

सव्यसाचि ! निज मानसहि, थापहिं मानस माहिं,
आवन देय विचार पुनि, अन्य कोउ मन नाहिं।"

जो भगवान् में निर्व्याज्य तल्लीनता और विश्वास करता है उसकी आत्मा निर्मल, निष्कलुष और निर्विकार हो जाती है। भक्ति-तत्त्व की मीमांसा करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण पार्थ से कहते हैं

"पार्थ ! श्रेष्ठतम युक्त, योगि वृन्द हू माहि सो
जो श्रद्धा संयुक्त, भजत मोहि लवलीन ह्वै।

मन आसक्त माहि यहँ कीन्हे,
साधत योग ममाश्रय लीन्हे।

संशय हीन पूर्ण मम ज्ञाना,
लहि हौ जेहि विधि करहुँ बखाना।

कहहुँ ज्ञान विज्ञान अशेषा
जानि जाहि कछु ज्ञेय न शेषा।

मनुज सहस्रन महँ इक कोई,
करत प्रयत्न सिद्धि हित जोई।

सिद्धहु करत यत्न जे मह हित,
जानत तत्त्व रूप मोहि कञ्चित।"

ज्ञान और भक्ति के इस विवेचन को पढ़कर तुलसीकृत 'श्रीरामचरित मानस' के उत्तर काण्ड की याद आ जाती है। आज के कवि की आस्था और विश्वास, भावना व शिल्प, प्रवृत्ति निवृत्ति, राग-विराग, सरकार और सौंदर्य-सवेदना की गहरी अनुभूतियो से सिरजा गया यह महाकाव्य किसी से पीछे नही है।

नि:सदेह, मिश्र जी ने विलक्षण प्रतिभा और समन्वित बुद्धि से जो यह काव्यात्मक अनुष्ठान प्रस्तुत किया है, यह परिश्रमसाध्य, मौलिक और उनकी अद्भुत सृजन-सामर्थ्य का द्योतक है जिससे पाठक को आश्चर्य हुए बगैर नही रहता। 'कृष्णायन' इस युग की बेजोड और विस्मयकारी कृति है, जिसका अभी तक उतना प्रचार नही होसका जितना अपेक्षित है।

'श्रीभागवत चरित'

भगवान् श्रीकृष्ण की अचिन्त्य लीलाओ की कोई थाह नही है। समस्त रूढियो, वर्जनाओ, जडताओ, मिथ्यावरणो, गतिरोधो से परे मुक्त मानवात्मा के चिर चैतन्य और चिर प्रगतिमान प्रेरणा के स्रोत वशीधर श्याम की लीलाओं से उद्वेलित होते रहे है। आज भी वे उसी प्रकार तन्मय और रस-विभोर कर देते है। भक्तों ने उन्हें अपने-अपने निराले ढग से गाया है। श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी लिखित उक्त काव्य-ग्रन्थ में कोरा पाडित्य-प्रदर्शन नही, प्रत्युत् मनोगत भावनाओ की निर्व्याज्य और अकृत्रिम अभिव्यक्ति है। जिस गुण-कीर्तन से भक्त का हृदय पवित्र हो जाता है वही उपास्य व इष्टदेव की आदर्श भक्ति है। उसके गुणानुवाद से उसकी कभी तृप्ति नही होती। किन्ही साहित्यगत विशेषताओ अथवा काव्यात्मक सौंदर्य को प्रकट करना ही उक्त ग्रन्थ का उद्देश्य नही है, वरन् इसके विपरीत सीधीसादी, आकर्षक और सरस गीति-पद्धति में स्वच्छन्द भक्ति-प्रवाह है जिसमें अलकरण या साजसज्जा की सायास चेष्टा नही, बल्कि वे स्वत ही उसमें सन्निविष्ट है। फलत इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय को काव्यकला के आडम्बर से मुक्त कहा जा सकता है।

शुद्ध ब्रजभाषा में आदि से अन्त तक भगवान् की कथा सरस पदों में चलती रहती है। अधिकतर दोहा और छप्पयो का प्रयोग किया गया है। साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक पारायण के दृष्टिकोण से इसे लिखा गया, यही कारण है कि इसमें क्लिष्ट शब्दों, भाषागत रूढियों और सामासिक पदो की नीरसता नही है। इतने बड़े

ग्रन्थ में बड़े ही विस्तार के साथ प्राय सभी वर्णित कथाओ उपकथाओ में गत्यवेग और प्रवाह है। कहीं-कहीं रात-दिन बोलचाल की भाषा के प्रयोग से बड़ी ही स्वाभाविकता और सहज आकर्षण आ गया है। ध्रुव की माँ के ये शब्द

"बोली इक दिन मातु—बहू अब बेटा आवै।
मेरे पूजे पैर तोड़ भोजन करवावै॥
रुनझुन रुनझुन करति फिरै मन मोद बढ़ावै।
बहू सग लखि तोहि सफल जीवन ह्वै जावै॥
हँसे जननि ममता लखी, मुदित मातु मन अति भयो।
कन्या भ्रमि शिशुमार की, सग ब्याह ध्रुव करि लयो॥"

शारदीय रासोत्सव के अवसर पर शीतल स्निग्ध चन्द्र ज्योत्स्ना स्नात मध्य रात्रि में नटनागर श्री कृष्ण जब सहसा राधा की दृष्टि से ओझल हो जाते हैं तो उस समय नृत्य में थिरकती, मतवाली और प्रियतम के प्रमासव में बेसुध उस भोली बाला के मन में गर्व का उदय होता है।

"उनके हू मन मान बढ्यो सोचें हौं सरबस।
अखिल भुवनपति श्याम करे अब मैंने निज वश॥
जहाँ मान तहँ वास करैं कैसे गिरधारी।
परवश तब घनश्याम लखे तब बोली प्यारी॥
पैदर अब नहीं चलि सकौं, कितव कहाँ लै जात हैं?
पग चांपो घोड़ा बनो, प्यारे! पाँइ पिरात हैं॥"

पर भगवान् तो बड़े खिलाड़ी हैं। तरह-तरह के क्रीड़ा-कौतुक और लीला-लास्य द्वारा प्रेम और भक्ति की अजस्र स्रोतस्विनी बहाते रहते हैं। अचानक अन्तर्ध्यान होकर वे राधा को छकाते हैं। प्राणप्यारी को प्राणवल्लभ का एक क्षण के लिए भी ओझल होना असह्य है। प्रणय की रसभीजी मनुहारो के मध्य·

"तब हँसि बोले श्याम—चढ़ौ कन्धा पै प्यारी।
सुनि अति हरषित भईं चढ़न की करी तय्यारी॥
त्यों ही अन्तर्धान भये हरि वे पछतावें।
इत उत खोजहिं फिरहिं डरहिं रोवहिं विललावें॥
नाथ! रमन! प्रियतम परम! जीवन धन! अशरन शरन!
देहु दरश अब दुख हरन, विश्वभरन! भव भय हरन!

हाय कहाँ तजि गये रमन! मुख कमल दिखाओ।
भयो दर्प मम दलन दयानिधि आओ आओ॥
भ्रमरी भूली फिरहि कमल! मधु अधर पिआओ।
मरत चातकी प्यास श्याम घन रस बरसाओ॥

यों प्यारी प्रिय विरह महँ, कुररी सम रोवति फिरति।
सन्मुख निरखति चर अचर, पूछति पति बिलखति गिरति॥"

राधा के व्याकुल प्राण विरह से छटपटा रहे हैं। कृष्ण के मोहपाश ने उस महाप्राण राधा को शत शत बन्धनों में जकड़ रखा है। उसका समूचा अपनापन, उसका निजत्व तो हरि में ही समाया है, अतएव उनके बिना सब कुछ सूना और वीरान है। उनकी अनुपस्थिति में प्रणयोन्माद सा उस पर सवार हो गया। तन डूबने लगा, मन डूबने लगा और देखते-देखते उसकी दशा बदल गई।

"करि करि सुमिरन संग श्याम को रोवति राधा।
बन बन विहरत विकल विरह की बाढ़ी व्याधा॥

दीखति दशमी दशा दुखी दरसन बिनु प्यारी।
व्याकुल बिलखति विरह माँहि तनु दशा बिसारी॥

इत प्यारी मूर्छित परी, उत आई ढूँढ़त सखीं।
अति अचेत आकुल अधिक, राधा जी सबने लखीं॥"

युगल लीला की अधीश्वरी, उस महान् नृत्य-नर्तक से तदाकार और उसके प्राणों में समायी भुवन मोहिनी व्याकुल है। मदहोश चाँदनी से फेनिल और पुष्प गन्ध से सुवासित इस शुभ बेला में जबकि मिलन का महापर्व चल रहा है दैहिक-प्राणिक भूमिका से परे आत्मदान की लौ अनुराग के अनिवार वेग से ऊर्जस्व होकर आनन्द के प्रकाश में दीप्त हो उठी है, तभी सहसा यह वज्रपात कैसा ? इस दारुण चोट से राधा सँभल नहीं पा रही है और गोपियाँ अपनी विरह वेदना को भूल राधा की सेवा-सुश्रूषा में लगी हुई हैं

"गोपी बैठीं घेरि प्रिया कूँ सब समुझावैं।
गोदी माँहि लिटाई कमल-दल व्यजन डुलावैं॥

कछु चेतना भई रसिक की बात चलाई।
अपु बीती सब बात दुखित ह्वै प्रिया बताई॥

एक प्रान मन मिलि सकल, मान रहित अति दीन सब।
गावत गुन गोविन्द के, भईं ध्यान महँ लीन सब॥"

भागवत् श्री कृष्ण की कथा के साथ-साथ उक्त ग्रन्थ में नौ अध्यायों में श्री राम चरित का भी विस्तार से वर्णन है। इसके अतिरिक्त अनेक पौराणिक कथाख्यान और धार्मिक प्रसंग—जैसे कपिल चरित, सती कथा, ध्रुव-चरित, वेन चरित, पृथु-राज्याभिषेक, पुरंजन मोक्ष, प्रचेता चरित, भरत चरित, जड भरत चरित, अजामिल चरित, दधीचि-प्रसंग, वृत्र चरित, चित्रकेतु चरित, मरुत चरित, प्रह्लाद चरित, समुद्र मथन, वामन

अवतार,उपेंद्रावनार,मत्स्यावतार शिवक्रीडा,प्रद्युम्न चरित,च्यवन-सुकन्या चरित, त्रिशंकु कथा प्रसग, हरिश्चन्द्र चरित, श्री गगावतरण—आदि सभी विवरणों में उचित मर्यादा का निर्वाह किया गया है। कहीं भी लेखक की भावना व्यक्तिनिष्ठ या भक्तों के वर्ग तक ही सिमट कर नहीं रह गई है, अपितु साहित्यिक कसौटी पर भी यह ग्रन्थ उन सगुण भक्तिमार्गी परम्परा में समयोचित विश्लेषण और उदात्त व्यजना प्रणाली द्वारा असाधारण गौरव प्रदान करने वाला है।

भगवान की लोकरजनकारी लीलाओं की कथा उन्हीं की भावनानुरूपिणी सरस, प्राजल भाषा में जो कि इतने परिश्रम और मनोयोग से लिखी गई है, भक्तों के हृदय को तन्मय करने वाली और किसी भी क्षण, किसी भी स्थिति में उनकी चिरन्तन भावना को सतत प्रेरित करने वाली है।

'दैत्यवश'

ब्रज भाषा में अठारह सर्गों में हरदयालुसिंह लिखित 'दैत्यवश' दैत्यों के जीवन पर हिन्दी में एक नव्यतम प्रयोग है। दैवी और आसुरी शक्तियों का द्वन्द्व हमारे प्राचीन धर्मग्रन्थों की विशेषता रही है। जिस प्रकार जीवन के हर क्षेत्र में धर्म और त्याग, प्रवृत्ति और निवृत्ति, श्रेम और द्वेष का समन्वय रहा है, उसी प्रकार युगानुरूप समस्त अन्तर्बाह्य विधान में सात्विक और तामसी तत्वों ने उभरकर आकर्षण और विकर्षणमय विरोधाभास उत्पन्न किया है। 'भिन्न रुचिहिं लोका' की उक्ति चरितार्थ करते हुए लेखक ने तस्वीर के दूसरे पहलू को चुना। भयकर और विकराल दानवों और राक्षसों को, जिनके बडे ही दुर्द्धर्ष और वीभत्स चित्र रामायण आदि में मिलते है, उनमें शौर्य, साहस एव अपराजेय पौरुष आदि लोकोत्तर गुणों का समावेश करके एक दूसरे ही रूप में उन्हें प्रस्तुत किया गया है।

मानव और दानव की परिभाषा से व्यक्ति के स्वभाव और व्यवहार का गहरा सम्बन्ध जुडा है। दुराग्रही, सहानुभूतिहीन और परपीडक प्रवृत्ति, जिनमें भयकर यौन विकृतियाँ दुर्वासनाओं के पैशाचिक अनुष्ठान की पूर्ति और अनैतिक क्रूरताओं को जन्म देती है, दानवों की श्रेणी के अन्तर्गत परिगणित होते हैं। 'रामचरित मानस' में राक्षसों की बहुत सुन्दर सक्षिप्त व्याख्या की गई है

"मानहि मातु-पिता नहीं देवा, साधुन सन करवावहिं सेवा।
जिनके यह आचरन भवानी, ते जानहुँ निसिचर सब प्रानी॥"

दैत्यवश के कथानक की समूची पृष्ठभूमि में असुर-सृष्टि का विकास और उत्कर्ष दिखाया गया है। कश्यप की दिति अदिति दोनों पत्नियों से जो सन्तान हुई वो सतोगुण प्रधान होने से अदिति की सन्तान देव और तमोगुण प्रधान होने से दिति की सन्तान दैत्य कहलाई। प्रारम्भ से ही दोनों में घोर सघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता हो गई। प्रमुख रूप से इसमें हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु, भक्त प्रह्लाद, राजा बली, महाबली बाणासुर, राजा स्कन्द, दैत्यवश के गुरु शुक्राचार्य तथा नारी पात्रों में सिन्धुजा और

ऊषा आदि के चरित्र वर्णित है।

प्रकृति विकास के अन्तर्गत उक्त महाकाव्य में कितने ही स्थलों पर प्राकृतिक उपादानों की मनोरम छटा के साथ-साथ छयों ऋतुएँ और बारहमासा भी गाया गया है। शृंगार, वीर, करुण, हास्य, रौद्र, वीभत्स आदि सभी रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है। समूचे वर्णनों में प्राचीन परिपाटी का निर्वाह किया गया है और किसी न किसी पुराने कवि की उक्ति या कथन-शैली का अवश्य प्रभाव पड़ा है। यथा निम्न पद तुलसीकृत रामायण में भूत प्रेत, पिशाच पिशाचिनियों के वर्णन का एकदम भाष्य-सा लगता है

"जोगिन भूत पिशाच पिशाची, मारु काटु धुनि बोलहि नाची।
भच्छहि मांस रुधिर धुनि पीवहि आसिक देहि वीर दोऊ जीवहि।।
कोऊ हार आंतन के धारत
कोऊ करे जो फारि निकारत।
कोऊ मुण्डन की माल बनावत,
कोऊ सचोप चरबी तन लावत।"

जनक-सभा में स्वयंवर के समय लक्ष्मण-परशुराम के संवाद से प्रभावित कुछ पंक्तियाँ

"तोरि धरों दिग दन्तिन दन्त,
कहो भुज ठोंकि सुमेरु हलाऊँ।
सारे सुरारि समूहनि को,
अब ही रन अंगन में विचलाऊँ।
जो न करों इतो कारज तो,
तुहि लौटि न आनन मातु दिखाऊँ।"

और रामायण के किष्किन्धा काण्ड की वर्णन पद्धति पर :

"वर्षा विगत शरद ऋतु आई।
पके धान चहुँ ओर सुहाई।।
चहुँ दिसि लसत धवल छवि कासा।
घन विहीन भो विमल अकासा।'

शृंगार और वियोग वर्णन में प्रायः रीतिकालीन कथन-पद्धति अपनाई गई है। प्रिय वियोग में ऊषा छटपटा रही है और उसका हाल बेहाल है

"परयक पै लोटे बिहाल उषा,
मुरझाय गई मानों फूल छरी।
घनसार उसीर को लेप कियो
मिल कुंकुम लौं सो परी बिसरी।

विजना करते रहो, सोसहि लाई,
गुलाब को नाइ दई सिगरो
बनि धूम उड़यो सोई, फूट्यो हरी,
विरहानल में इमि जात जरी।"

कुछ स्थलों पर नितान्त मौलिक अभिव्यंजना और शब्दों में सजीव चित्र उभर आए हैं। बालिका उषा की चंचल बालदशा और हठीली भंगिमा के दर्शन निम्न पद में होते हैं

"एक नौ सात पनामा पढ़ै कबौ लेखनी कौ उलटी मसि बोरें,
आँगुरी सों पटिया पै लिखें, खरिया तेहि माहि मिलाय के घोरें।
नेकु बुलाये न बोलें कबौ कबौ खीझि केतो मचावतो सोरें,
मूरति लौ गडी रहै, पै पुकार सुने ही भगै वर जोरें।।"

'रावण'

ब्रजभाषा में इन्ही कवि महानुभाव द्वारा दूसरे महाकाव्य 'रावण' की सत्रह सर्गों में रचना की गई। जैसा कि नाम से स्पष्ट है दैत्यकुल शिरोमणि रावण की कथा और जीवन-संदर्भ को इस काव्य का विषय बनाया गया। यों रावण का चरित्र एक बड़ी ही हिमाकत और हठधर्मी का प्रतीक कहा जा सकता है, पर आज की आस्थाहीन विरोधी परिस्थितियों में अपने निरपेक्ष संकल्प के अनुसार हर इंसान स्वतंत्र है। वह अपना मार्ग, अपना गन्तव्य स्वयं निश्चित करता है। मानव-मन की अमगत प्रक्रियाओं सूक्ष्मतम वृत्तियों और ऐसे आत्मघातक तत्वों का भी उद्घाटन करना चाहता है जो किसी भी मनचले बुद्धिजीवी की जिज्ञासा का विषय हो सकता है। ऐसे चरित्रों का जब समाज के संदर्भ में नियोजन किया जाता है तो लेखक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ऐसे व्यक्ति-चरित्रों का वह किस सीमा तक नया उत्कर्ष दिखा सका है। सामाजिक और वैचारिक समस्या के रूप में वे हमारे मन में जितनी जगह अब तक घेरे हुए थे वे अब निजी और वैयक्तिक रूप में कितनी प्राणान्वित शक्ति को लेकर ऊपर उठे हैं? उनमें उभारे गए चारित्रिक तत्व किसी द्विधा या आशंका का रूप तो धारण नहीं कर गए हैं? प्रायः ऐसी परिस्थिति में लेखक सन्तुलन खो बैठता है और अनेक अतिवादिताओं का शिकार बनकर औचित्य की परिसीमा का उल्लंघन कर जाता है।

प्रस्तुत महाकाव्य में लेखक द्वारा अपने कथा चरित नायक रावण का उत्कर्ष दिखाने के चाव में मकत प्रवर विभीषण और सुग्रीव के चरित्रों का अपकर्ष दिखाया गया है। यहाँ तक कि रावण के अनाचार और दुर्नीति में सहायक न बनकर राम के शरण में जाने तक की घटना को विश्वासघात, कुचक्र और बन्धु विद्रोह बताया गया है। आत्मीय, जन-परिजन, बन्धु बांधव और नाते रिश्तेदार इन सभी का निर्वाह

करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उनके साथ ही अनीति और कुपथ्य का मार्ग अपना लिया जाय अथवा आतंकमयी विचारधारा के भय से उचित-अनुचित विधि-निषेधों का उल्लंघन किया जाय। यदि कोई भाई चोर-डाकू है अथवा प्रतिकूल परिस्थिति में फँसकर कुराह पर चल पड़ा है तो अच्छे या विचारवान भाई का यह कदापि फर्ज नहीं है कि वह उसके चरण-चिन्हों पर चलने को बाध्य हो। समझाने-बुझाने या उसकी दुष्प्रवृत्तियों को बदल देने के भरसक प्रयत्नों में असफल होने पर तो अन्ततोगत्वा उसका परित्याग करना ही श्रेयस्कर और मर्यादा विहित है।

"जाके प्रिय न राम वैदेही—
तजिए ताहि कोटि वैरी सम, जद्यपि परम सनेही।"

विभीषण के चित्रण में अपने मतवाद की एकाग्रिता पर स्थिर रहने के लिए गलत रुख अपनाया गया है। महाबली पवनकुमार सीता की खोज के दौरान लंका को भारी अहित करके जब भगवान श्रीराम के पास लौट जाते हैं तो दूसरे दिन प्रातः अचानक विभीषण रावण की सभा में समझाने के लिए पहुँच जाता है। आठ पदों में बड़ी ही नीरस और अमनोवैज्ञानिक पद्धति अपनाकर—इस कथा-प्रसंग को विरूप करके पेश किया गया है।

"उतै रावण सभा में प्रातहिं विभीषन जाय।
कहन लागे बैन इमि दसकंध को समुझाय॥
राम की वर वाम तुमने हरी है उठ ठाय।
बहुत का हम कहें वाको देहु अब लौटाय॥
अपर मन्त्री जदपि कीन्ह्यौ तासु प्रबल विरोध।
करत तौहूँ रहे बारम्बार वे अनुरोध॥

लंक के आतंक को है कितो मार्मं हानि।
जान तौहूँ निज हिये नहिं करत रेचक कानि॥
जुपे हो तुम कहत ऐसो राम सो भय खाय।
रहो तो चुप कै, सभा मत जनि बिगारहु आय॥
कह्यौ तब दसकन्ध ने निज बन्धु सों यह बात।
करत प्रबल विरोध पै नहि नेकु हिये सकात॥"

मदांध और प्रपंचरत प्राणी जब मर्यादा-च्युत हो जाते हैं तो सज्जन लोग दुर्जनों का साथ छोड़ देते हैं। दुष्ट प्रवृत्ति और महा अभिमानी रावण से पादताडित विभीषण जब लंकापुरी छोड़कर भगवान राम की शरण में जाता है तो उसका चरित्र न्यायोचित और समयानुरूप मर्यादा के ज्वलन्त प्रतीक के रूप में ऊपर उठ जाता है। उस समय संसारासक्ति से परे त्याग, प्रेम, धर्म, नीति, ज्ञान-वैराग्य—सब उसमें पूर्ण है। किन्तु गुप्तचर की मनगढंत कल्पना द्वारा उसके भागने के प्रसंग को बड़े

ही अपमानजनक और बेढंगे तर के से इस पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है

"गुप्तचर हनुमत विभीषन में भई जो बात।
आय रावन सों चलाई कुटिल वाको घात॥
सुनत प्रबल प्रसंग दसमुख तब रह्यो गहि मौन।
जानि कै मध्यान आयो लौटि सो निज भौन॥
कह्यो बानै लौटि के तब लंकपति सों आय।
भगि गयो निसि में विभीषन लंक सौध विहाय॥
रहे सरमा और तरनीसेन अति घबराय।
अबहि आयौ हौं इतै प्रभु तिनहि धीर बँधाय॥"

राम और विभीषण की भेंट और शरणागति प्रसंग को भी अत्यन्त विकृत रूप में प्रस्तुत किया गया है

"उत विभीषन राति ही में कियो सागर पार।
वह, लजात डरात आयो राम-सेन मँझार॥
मिलि गये हनुमान घाते बनि गयो सब रंग।
लै गए रघुवीर के ढिग ताहि अपने संग॥
जानि रावन बन्धु प्रभु ने दियो तेहि बहु मान।
तिलक दै तेहि आपु लंकापति कियो भगवान॥
अरु बँधायो सिन्धु पै इक सेतु राम उदार।
कियो सेना सहित या विधि अम्बुनिधि को पार॥"

इसी प्रकार रावण की कुलटा और षड्यन्त्रकारी बहिन शूर्पणखा के चरित्र को भी बड़ा ही तूल देकर एक सर्वथा दूसरा रूप दे दिया गया है। समस्त बनवासी ऋषि-मुनियों और राम-लक्ष्मण पर यह आरोप लगाया गया है कि वे शूर्पणखा और राक्षसों से प्रतिशोध लेने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील हर उचित-अनुचित तौर तरीके को अपनाने के लिए तत्पर रहते थे। शूर्पणखा में कोई कुत्सित भावना पूर्ति या चारित्र्य-दोष नहीं था, बल्कि लक्ष्मण ने जानबूझकर उसके विरूपीकरण की योजना बनाई थी।

"टहरन चली सुपनखा निसि में अंग-रक्षकन बिहाई।
मारग भूलि राम कुटिया लौं मंद-मंद चलि आई॥
दूरहि तै घूमत लखि वाको लखन लियो पहचानी।
और सुधारि कटारि आपनो कह्यो कड़क इमि बानी॥
"अधमा! सँभरु बुलाउ सहायक काल आयगो तेरो।
भूलिहि गयो तोहि कुलटारो! कियो भयो प्रन मेरो॥"

यों कहि बढ़ि मृगपति लौं सहसा दीन्ह्यो ताहि पछारो ।
जाहि निपातन हेतु हाँथ में लीन्ह्यो कोपि कटारो ॥"

किसी भी मौलिक लेखक को विचार-स्वातन्त्र्य और अपने दृष्टिकोण से प्रतिपाद्य विषय को प्रस्तुत करने का तो अधिकार है, पर बिना कारण परम्परा विहिन और लोक प्रचलित दुष्ट पात्रो–(जैसे कि शूर्पणखा का चरित्र) को अतिरंजित दर्शाना उचित नही है । इससे लेखक के किसी मतव्य की पूर्ति भी सभव नही है ।

जहाँ तक भाव और भाषा का प्रश्न है लेखक ने अनेक स्थलो पर निस्सकोच दूसरे कवियो के भावों और रचना-शैली को अपहृत किया है, यह अवश्य है कि उनमें मौलिक व्यजना का सा आनन्द आता है । छद, अलकार और रस-नियोजन की दृष्टि से रीतिकालीन पद्धति अपनाई गई है । चन्द्रोदय, सध्या, प्रभात आदि के भी इसी प्राचीन परिपाटी पर कुछ सुन्दर चित्रण हुए हैं । प्रभात पर लिखी पक्तियों में सरसता के साथ-साथ नूतनता और अनूठापन है .

"चन्द्रिका सों ससि रीतो भयो,
छनदा छन में अब चाहत चाली ।
लागे विहगम-वृन्द उड़ान,
चहूँ दिसि कूजि उठि चटकाली ॥
मन्द बहै लागी सीरी समीर,
औं' व्योम में छाय रह्यो कछु लाली ।
भाल पै प्राची दिसा के मनो
धरि सिन्दुर बिन्दु दियो उषा-आली ॥"

कवि ने प्रकृति को जिस दृष्टिकोण से देखा है उसमें रचना-चातुर्य और भाषा-लालित्य तो है, पर अनोखी सूझें और विभिन्न कल्पनात्मक कथन उतने हृदयस्पर्शी और स्वाभाविक नही बन पड़े हैं । पलाश-पुष्प का वर्णन जरा देखिए :

"ताहि डिग सोहत पलास को प्रसून लाल,
दीसत वियोगिनी यकन सम कारो है ।
अर्द्ध चन्द्र विसिख समान ह्वै लखात जोई,
कामिनी करेजनि किरच करि डारो है ॥
खायो भरि पेट मांस केतै कृस पंछिन को,
याही ते पलास निज नाम इन धारो है ॥
होत है कठोर अति जानि मन माँहि याते,
यह पल खण्ड नाँहि खाइबो विचारो है ॥"

सेमल के वृक्ष की परछाईं जल में पड रही है । उसके हिलने-डुलने की क्रिया

और लहरों के मध्य अठखेलियाँ करती डालियाँ और पत्ते कवि के मन में एक दूसरे ही प्रकार की कल्पना जगाते हैं :

"उदधि समान याही सर के निकट लाग्यो
सेमर विटप एक परत लखाई है॥
ताके वारि - धारन के प्रखर प्रवाहनि में,
तरु प्रतिबिम्ब यों परत जल आई है॥
मानो मयनाक - महीधर - सरनागत कौ,
सागर ने लीन्ह्यौ निज हीतल छिपाई है।
अजहूँ सुराधिप के कुलिस - प्रहारनि सौं
मानो भय मानि रह्यौ पखनि हिलाई है।"

उपर्युक्त काव्य और काव्य ग्रंथो के विवेचन से स्पष्ट है कि जो कवि जितना ही सौंदर्य के शाश्वत स्वरूप को हृदयगम कर पाता है, वह उतनी ही खूबी से अपनी प्रतिभा और अन्त शक्ति का उपयोग करता है। चूँकि भावनाओ का सचरण सर्वदेशीय है, अतएव काव्य के विषय भी सर्वदेशीय और समान महत्ता वाले होते हैं। कवि अपनी मौलिक प्रतिभा एव अन्त शक्ति से निर्जीव को भी सजीव, और साधारण को भी लोकोत्तर बना सकता है। आज महाकाव्य का स्तर अपेक्षाकृत घट गया है। उक्त सभी महाकाव्य, जिनका विवेचन हम ऊपर कर चुके हैं, सही मानो में महाकाव्य कहलाने के अधिकारी नही हैं। रामायण महाभारत जैसे संस्कृत महाकाव्यों की सी उदात्तता उनमें नहीं आ पाई है, तो भी इस वैज्ञानिक युग के शुष्क मरुस्थल में जो सरल भावधारा की स्रोतस्विनी वहा गये हैं, हिंदी ससार उनका चिर ऋणी रहेगा।

६

शरच्चन्द्र के नारी पात्र

यथार्थ का तकाजा है कि उपन्यासो में जिन परिस्थितियो और वातावरण का चित्रण हो वह जीवन की खुली धूप, हवा और मिट्टी से सिरजा गया हो। शरच्चन्द्र अपनी पीढी के अकेले ही ऐसे लेखक थे जिन्होने मानव अतश्चेतना को सर्वथा नये स्वर पर स्थापित करने का प्रयास किया, साथ ही अत्यन्त साधारण रोजमर्रा के जीवन से अपने उपन्यासो के 'प्लाट' ले यथार्थ व्यवहार-चेष्टाओ का उद्घाटन किया। आकाश को आच्छन्न करने वाले बादल जिस वेग से उमडते घुमड़ते हैं ठीक वैसी ही उद्दाम वैयक्तिकता का विस्फोट और हर रहस्य एव अज्ञेय को चुनौती के रूप में चीरफाड कर देखने की उनकी जबर्दस्त ख्वाहिश थी। प्राचीन सस्कार एव मर्यादाओ के छिछले भावावेशो की क्षणिक लहरो और बुदबुदो की पकड में आते-आते स्वय फिसल कर गिर पडने वालो में से वे नही थे, अपितु उनकी लेखनी की साघातिक कचोट से कितनी ही प्राचीन मान्यताएँ खण्ड-खण्ड हो गई, असभाव्य और अतिरजित—जिसने मनुष्य की अतृप्तियो और वासनाओ पर मुलम्मा चढा रखा था—चकनाचूर हो गया, कुतूहल के भाण्डार छूँछ पड गए और चिरकाल से आत्मा को जकडने वाले बधन तार तार हो गये।

अपने उपन्यासो के नारी-पात्रो में भी उन्होंने 'वास्तव' को ही अपनी कल्पना, अपनी रूमानियत का प्रखर आधार बनाया। समकालीन आलोचको ने ऐसे चरित्र और प्रसगो की कडी भर्त्सना की और उन पर एक असगत जबर्दस्ती का आरोप लगाया, पर व्यक्ति और परिस्थितियो को जीवन-सत्य के दो पहलू मानकर वे सदा आगे बढे। परिणाम यह हुआ कि सद्-असद्, अच्छा-बुरा, आबरू-बेआबरू, त्रस्त और बहिष्कृत तथा औसत दर्जे के पतितो एव पापियो को उन्होंने अपनी व्यापक मानवीयता और सहानुभूति से कला की परिधि में संजो लेने की सतत चेष्टा की। उन्होने स्वय लिखा है—"नाना परिस्थितियो के विपर्यय में एक समय नाना व्यक्तियो के सम्पर्क में आना पडा था। उससे कोई क्षति नही हुई है, ऐसी बात नही। मगर उस समय जिन्हें देखा था, उन्होने मेरी सारी क्षति की पूर्ति कर दी है। वे मेरे मन में इस उपलब्धि को छोड गये हैं कि कोई भी त्रुटि, विच्युति, अपराध, अधर्म ही मनुष्य का सब कुछ नही है। बीच में उनमें जो वस्तु यथार्थ में मनुष्य है, जिसे आत्मा ही

कहा जा सकता है, वह उसके सभी अपराधों से बडी है। अपनी साहित्य सेवा में उसका अपमान न करूं। कारण—जितना भी बडा क्यों न हो मनुष्य के प्रति मनुष्य में घृणा उत्पन्न हो मेरी रचना में कभी इस बात को बढावा न मिले। लेकिन बहुतेरे लोगों ने इसे मेरा अपराध मान लिया है और जिस अपराध के लिए मुझे सबसे अधिक लज्जित होना पडा है वह मेरा यही अपराध है। मेरी तूलिका से पापों का चित्र मनोरम हो उठा है, मेरे विरुद्ध उनका यही सबसे बडा अभियोग है।"

इस प्रकार अपनी ज्वलन्त प्रेरणा के साथ उठ खडा होने वाला शरत्चन्द्र का बहुधारी व्यक्तित्व कुछ लोगों को बडा ही अजीबोगरीब लगा, क्योंकि उन्होंने धर्म नीति, आचार-विचार, समाज और संस्कृति की नई व्याख्याओं का एक क्रान्तिकारी कदम उठाया था, साथ ही यथार्थ अनुभूति से उपजा होने के कारण उनका कृतित्व सभी से भिन्न और सर्वथा नई लीक का हामी था। उनके सबसे प्रसिद्ध उपन्यास 'चरित्रहीन' की नायिका—सावित्री—एक बाल विधवा है जो कुलीन वंश की होने पर भी एक 'मेस' में नौकरानी है और मेस में ठहरे हुए सतीश नामक युवक से गम्भीर प्रेम करती है। कितने ही प्रासंगिक व्यवधानों के बीच भी उनका प्रेम चलता रहता है, पर अन्त में सरोजिनी के आने से त्रिकोण उपस्थित हो जाता है।

इसके विपरीत किरणमयी एक बडी ही विचित्र, उच्छृंखल नारी है। जैसे बरबस अधकार और प्रकाश का योग हो जाए वैसे ही उनका वैवाहिक गठबंधन है। पति मृत्युशैया पर पडा है, पर उसमें आनन्द-मौज की फुरहरियां उठ रही हैं। बातचीत के दौरान वह खुद कहती है—"मैंने उनसे कभी प्रेम न किया न उन्होंने कभी मुझे। वे बीमार पडे तो महीनों पड रहे। ऐसे समय में डाक्टर आए मेरा हृदय प्रेम का भूखा था, जो भी उसने दिया वह प्रेम नहीं हलाहल था, किन्तु मैंने उसी का आकंठ पान किया। मैं हलाहल पीती ही जाती। किन्तु ऐसे समय में ही मुझे अमृत का पता लगा।" अमृत से किरणमयी का संकेत उपेन्द्र से हुए प्रेम की ओर है। तत्पश्चात् वह दिवाकर के साथ बर्मा भाग गई। इस प्रकार विन्यस्त भावनाओं के संयोजन द्वारा एक कामासक्त नारी के चरित्र को अधिकाधिक पैना और मर्मस्पर्शी करके दर्शाया गया।

'देवदास' की पार्वती, सन्ध्या और चन्द्रमुखी, 'पथेरदावी' की भारती और सुमित्रा, 'शेष प्रश्न' की कमल, 'श्रीकान्त' की अभया और राजलक्ष्मी, 'बामुनेर मेये' (अर्थात् ब्राह्मण की लडकी) की सन्ध्या, 'गृहदाह' की अचला, 'पल्ली समाज' की रमा और 'बडी दीदी' की माधवी शरत्चन्द्र की ऐसी नारी-सृष्टियाँ हैं जो तमाम परम्पराओं, अंधविश्वासों और रूढियों के पदचिन्हों की लीक से अलग हटकर स्वयमेव नई राह का निर्माण करती हैं। चित्रात्मक सृजन के लिए कला को ऐसी निर्बाध कल्पना की आवश्यकता है जो उन्मुक्त हो, जिस पर जोर-जबर्दस्ती या विधि-निषेध का दमन न हो। शरत्चन्द्र के नारी पात्र उनके अपने भीतरी विप्लव और उथल-पुथल का चित्र हैं। फलत उनके स्पन्दनशील हृदय की प्रतिध्वनि हैं।

स्पष्ट शब्दों में—शरच्चन्द्र की नारियाँ सीमित मतवादों और संकुचित सिद्धान्तों की जकड़बन्दी में नहीं बँधना चाहतीं। वे उस परवश पंछी की तरह नहीं हैं जो आकाश में उड़ान भरना चाहकर भी पंख फड़फड़ाकर रह जाता है। इसके विपरीत वे निर्बंध हवा में विचरना चाहती हैं। 'ब्राह्मण की लड़की' में जब सध्या वर के पीढ़े से उठा लिये जाने के कारण दुलहिन वेष में तूफान की तरह अपने प्रेमी अरुण के पास जाती और याचना करती है—'तुम्हारे अलावा मेरा आज कोई नहीं है, चलो।' तो अरुण पूछता है 'कहाँ ?' सध्या कहती है—'जहाँ से एक व्यक्ति अभी उठ गया, वहीं चलो।' अरुण ने सकुचाते हुए कहा—'किन्तु तुम्हारे साथ तो मैं नहीं जा सकता।' सध्या कातर हो उठी—'फिर मैं खड़ी किसके यहाँ होऊँगी, जीऊँगी कैसे ?' पर जब अरुण ने अनिच्छा व्यक्त की तो नारी का सहज अभिमान मुखर हो उठा।

वह आँधी की तरह जैसे आई थी वैसे ही लौट गई। दूसरे दिन जब अरुण गया तो वह दूसरा ही रास्ता अपना चुकी थी। अरुण अवाक् रह गया—"सध्या तुम जा रही हो। मैं उस दिन अपना चित्त स्थिर नहीं कर पाया था, किन्तु मैंने निश्चय किया है कि मैं तुम्हारी बात में ही राजी हो जाऊँगा।" सध्या बोली—"उस दिन मेरा भी चित्त स्थिर न था, अरुण जी, किन्तु आज मेरा चित्त स्थिर हो गया है। मैं पिताजी के साथ यही बात जानने जा रही हूँ कि नारी के लिए शादी करने के अतिरिक्त कोई काम है भी कि नहीं।" मूक बलिदान व्यर्थ नहीं जाता, अतः शरच्चन्द्र के उपन्यासों में जब-जब ऐसे प्रसंग आए हैं वे पाठकों को रुला देते हैं।

सबसे बड़ी विशेषता है कि उनके द्वारा सृजित नारियाँ व्यक्तित्वहीन और नितान्त चेतनाशून्य नहीं हैं, वे वैचारिक क्रान्ति उत्पन्न करने में सफल हुई हैं। कोई कठोर स्वभाव की, शासनप्रिय और हठ को सीमा तक निभाने वाली है तो कोई निरीह दीनता और आत्म प्रवंचना से दूर है। कोई बंगाली नैष्ठिक या कट्टर परम्पराओं की प्रतीक हैं तो कोई ऐसी उच्छृंखल नारियाँ भी हैं जो ऐन्द्रिय सुख की तृप्ति के लिए अपने आप को मिटा देने वाली हैं। पर अपने तईं मिटा देने वाली इन नारियों में भी एक सगर्व आग्रह और अनमना कौतुक है। लगता है जैसे उनके संवेदनशील अन्तर में मध्यवर्गीय कुंठाग्रस्त संस्कारों की ऐसी कटु अतृप्ति भरी पड़ी है जो असमय वार्द्धक्य के आसक्तिपूर्ण या उलझाव भरे चित्र उपस्थित करती है। कहीं प्रणयावेगों से आविल तो कहीं स्वयं की प्रतीति एवं परितुष्टि के लिए अनधिकार लिप्साओं से उत्तेजित, कहीं असंगत प्यार के तनाव से छिन्नभिन्न तो कहीं गहन संयम के दायित्व से अवसन्न या एकान्त गरिमा की साधना से क्लान्त, कहीं बेबसी से कातर तो कहीं आन्तरिक आवेगों की तीव्रतम पिपासा से उद्विग्न, इसके अतिरिक्त किसी में सहज वितृष्णा जगाने वाला अवसाद और ऊब तो किसी में निर्दोष गौरव से उपजा विराग और पलायन, किसी में प्रेम मर्यादा का द्वन्द्व तो किसी में भोगवाद और दिल की तड़पन का वज्राघात—यों शरच्चन्द्र की ये कथा-नायिकाएँ बड़ी ही अजीबोग़रीब और विचित्र खामखयालियों से भरी हैं जिनके मानसिक ऊहा-

मोहो और 'मूडो' का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। अनेक बार पाठकों का मन उनकी भावनाओं से एकाकार नहीं हो पाता। कारण—उनकी मस्तिष्क की गतिविधियाँ निरी कल्पनामूलक नहीं, वे विभिन्न परिस्थितियों और अनुभूतियों में ढाली गई हैं। मनोभावों का अंकन, चारित्रिक विकास और कितनी ही भीतरी उलझनपूर्ण प्रक्रियाओं का मार्मिक विश्लेषण ऐसे-ऐसे कोण उभारता है जो एक सामान्य मनुष्य की बुद्धि में स्वभावत धँस नहीं सकते। बुद्धि की अस्वीकृति का अर्थ है मूल प्रवृत्तियों में विपर्यय जो किसी प्रकार तालमेल नहीं बैठा पाता, पर इसी आधार पर समस्याओं को आगे ठेल कर विभिन्न संघटनों के वात्याचक्र में उनकी कुण्ठाओं की परिणति वितर्क बुद्धि पर हावी हो जाती है। अनेक बार मूलभूत धारणाओं को अतिक्रान्त करने के प्रयास में वे गुमराह भी हुए, पर इस प्रकार की अवान्तर स्थापनाओं और मूल प्रवृत्तियों में अन्तत उन्होंने तादात्म्य स्थापित किया। शरच्चन्द्र ने स्वयं स्वीकार किया है—'समाज-संस्कार की कोई भी दुरभिसन्धि मुझ में नहीं है, इसलिये मेरी पुस्तकों में मनुष्य के दुःख-दर्दों का विवरण है, शायद समस्याएँ भी हैं, किन्तु समाधान नहीं है। यह काम तो दूसरों का है, मैं तो केवल गल्प-लेखक हूँ, इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं।'

एक मोटा सा सवाल है—सच्ची कला क्या है, किसके लिए है और कौन उसका आनन्द उठाता है—स्रष्टा, भोक्ता या भुक्तभोगी। इसका उत्तर भी उन्होंने स्वयं दिया है—"सृजन करना शक्ति है, वह दिखाई नहीं पड़ती और इस शक्ति का आधार है अपने प्रति विश्वास, आत्मनिर्भरता।" यही शायद उनका मूलमंत्र था जिसकी साहित्य सृजन में उन्होंने अव्याहत गति मानी। एक अन्य स्थल पर इसी का स्पष्टीकरण करते हुए वे लिखते हैं—"मैं जानता हूँ कि मेरे चरित्रों का निर्माण कैसे होता है। यथार्थ अनुभवों की उपेक्षा मैं नहीं करता। मगर यथार्थ और अयथार्थ के सम्मिश्रण से ये कितनी पीड़ा, कितनी सहानुभूति, कलेजे के कितने खून से ये धीरे धीरे बड़े होकर फूलते हैं इसे और कोई भले ही न जाने मैं तो जानता हूँ। सुनीति और दुर्नीति का स्थान इसमें है, लेकिन विवाद की गुंजाइश इसमें नहीं है। यह वस्तु इससे बहुत ऊँची है।"

एक जबर्दस्त धकापेल के बाद शरच्चन्द्र के प्रति जब बुद्धिजीवियों की रुचि बढ़ने लगी तो उनका औपन्यासिक कौशल सामयिक विकास के शिखर पर पहुँच गया। अपनी रंग-रेखाओं और अछूती अभिव्यक्ति से वे हर वर्ग की नारियों की ऐसी अतलस्पर्शी सृष्टि कर सके जो देश, काल और परिस्थितियों से ऊपर उठकर चिर-चिरान्त तक अमिट लकीर छोड़ गई। कितने ही मतभेदों के बावजूद विश्वकवि टैगोर ने इनकी मृत्यु के पश्चात् अभ्यर्थना में लिखा था,

> "जाहार अमर स्थान प्रेमेर आसने,
> क्षति तार क्षति नय मृत्युर शासने।

देशेर माटिर थेके निलो जारे हरि,
देशेर हृदय तारे राखियाछे वरि।"

अर्थात् प्रेम के आसन में जिनका अमर स्थान है, मृत्यु के शासन में उन्हें खोना कोई खोना नहीं है। देश की मिट्टी ने जिनका अपहरण कर लिया, देश के हृदय ने उनको वरण कर रख छोड़ा है।

टैगोर के नारी पात्र

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के चरित्र चित्रण का मूल स्वर है एक अति जागरूक मानवतावाद जो विगत अर्द्ध शताब्दी के समाज, वर्ग सघर्ष, कुल एव परिवार, वाह्य घटनाएँ, सामयिक वातावरण, व्यक्ति और उसके चहुँ ओर की परिस्थितियो के सदर्भ में सिरजा गया, पर अन्तत जिसकी चरम परिणति नारी पात्रो में जाकर हुई। 'सुन्दर' के उपासक कवि ने 'सत्य' और 'शिव' के सम्मिश्रण से नई भाव भूमि पर नये सौन्दर्यबोध एव कलात्मक उत्कर्ष के साथ एक विशिष्ट वातावरण में कुछ ऐसे अभूतपूर्व चित्र आँके जिन्होने न केवल एक विशिष्ट भावो का उद्रेक किया बल्कि अन्तःस्वरो को छूकर अपनी कला की व्यापकता और भावनाओ की सचाई की छाप छोड गया।

टैगोर के नारी पात्र भले ही वे किसी सुदूर कल्पना लोक की सृष्टि हो, एक गहरा नाता हम से कायम कर लेत हैं जिन्हें जीवन में भुलाना कभी सम्भव नही। उनके रचना काल के प्रथम दौर में जब तारुण्य की माँग है, प्राण-चाचल्य में अतृप्त कामना का असीम आग्रह है तब भी अन्धकार की मसिरेखा को ज्योति की लीक बनाकर कवि की वाणी जीवन आदर्शों में युगान्तर लाने में सफल हुई है। सौन्दर्यबोध की व्याख्या करते हुए एक स्थल पर वे लिखते हैं

'जिस प्रकार सौन्दर्य हमें शोभनता की ओर तथा शनै-शनै सयम की ओर खीच ले जाता है, सयम भी उसी प्रकार हमारे सौन्दर्य भोग की गम्भीरता एव गरिमा में अभिवृद्धि करता है। स्तब्ध भाव से मनोयोग देना न जानने पर हम सौन्दर्य के मर्म में पैठ उससे रस प्राप्त नही कर सकते। एक परायण सती स्त्री ही तो प्रेम के यथार्थ सौन्दर्य की उपलब्धि कर सकती है दुराचारिणी या पथभ्रष्ट स्त्री थोडे ही कर सकती है। सतीत्व वही चाचल्य रहित सयम है जिसके द्वारा गम्भीर रूप से प्रेम के निगूढ रस को प्राप्त किया जा सकता है।"

कवि का यह अदम्य स्वर ही देशकाल की बद्धमूल धारणाओं, उनकी मन की जडता, गतानुगतिकता की परिधि को तोडकर नई विचारधारा, नये जीवन-दर्शन और विश्व वरेण्य आदर्शों की स्थापना करता रहा। उनके मत में "केवल नेत्रो के द्वारा नही वरन् उसके पीछे यदि मन की दृष्टि मिली हुई न हो तो सौन्दर्य को अच्छी

तरह देखा-परखा नही जा सकता।" यही कारण है कि उनकी जीवन्त कल्पना अदृश्य लोक की कुहेलिका चीर कर ऐसे-ऐसे स्पर्शो से मानवी चित्रो को सजीव एव साकार करती गई है जो अधिक पूर्ण और वास्तविक है, जिसमें प्राण-ज्वार का प्लावन है, निर्भीक और ओजस्वी आत्मा की अनुगूंज है और नित नये चरित्र चित्रो के विस्तार, रग-वैभव, आकर्षणो और बहुविध तत्वो में सारी सम्पूर्णता को समेट कर ऐसी महत् सृष्टि की गई है जिसमें अदम्य शक्ति, चेतना और एक तत्वदर्शी जिज्ञासु दार्शनिक की सफलतम अभिव्यक्ति हुई है। एक अन्य स्थल पर कवि ने लिखा है

"वास्तव में सौन्दर्य जिस स्थान पर पूर्ण विकसित होता है वही अपनी प्रगल्भता को छोड देता है। वही पर फूल अपनी वर्णगन्ध की अधिकता को फल की गम्भीर मधुरता में परिणत कर देता है और उसी परिणति में, उसी चरम विकास में सौन्दर्य और मगल का समन्वय हो जाता है।"

इनके प्रारम्भिक उपन्यासो 'करुणा' और 'बहू ठाकुरानी हाट' में एक प्रकार का युवकोचित आकर्षण और कल्पनारजित वातावरण अधिक है जिससे इस वय सन्धि में सामाजिक एव मनोवैज्ञानिक गुत्थियों के विश्लेषण की प्रवृत्ति कम दीख पडती है। पर 'चोखेरबालि' और 'नौका डूबी' में कल्पना समृद्ध हो जाने के कारण इन्होंने जिन विविध मुद्राओ एव भगिमाओ में भावो को ग्रहण किया उसमें कितने ही नये धरातलो पर नये-नये सकेत व अर्थों का ससार खुल पडा, कितने हो पारदर्शी एव रगीन छाया-चित्र उभरे और जीवन-वीणा के अगणित तार सहसा झकृत हो उठे।

इन दोनो मनोविश्लेषण पूर्ण उपन्यासों में जिनमें घटनाओ की विचित्रता ही प्रधान है—ऐसी नारियाँ मिरजी गई हैं जो अपने आदर्शवाद पर टिक कर भी अपनी प्रकृति, चरित्र और प्रेम के ऐकान्तिक पहलू को बडे ही स्वस्थ रूप में प्रस्तुत करती है। 'चोखेरबालि' की विनोदिनी के भावुक और बौद्धिक रुझान के पक्ष इतने सशक्त होकर उभरे है कि निरन्तर सघर्ष और कशमकश की स्थिति बनी रहती है। विधवा होने के बाद इन्तहा खामोशी और निरीह स्तब्धता में जगी भावना उसे अतीत के उस काल में पहुँचा देती है जहाँ उसमें महेन्द्र से—जिससे कि उसका पहले विवाह होने वाला था—बदला लेने की खब्त सवार होती है। नारी के मन का रहस्य, विचित्रता, शून्यता, उत्तेजना और आवेश भरे वासनापूर्ण चित्र अन्तत उसी समाधान के बिन्दु पर जाकर टिकते है जहाँ जीवन और सघर्ष की कहानी के अधिक सन्तुलित परिप्रेक्ष्य सामने आते है। 'नौका डूबी' में भयानक आँधी के कारण नौकाएँ डूबने की दुर्घटना जब नवपरिणीता को किसी अन्य युवक से जा मिलाती है और वह उसे भूल से पति मान बैठती है तो उसमें एक आदर्श कुलवधू की सी स्वर्गिक पवित्रता की गरिमा है जो इस भाग्य विडम्बना और प्रतिकूल परिस्थितियो में भी उसके सतीत्व की कवच बनी रहती है। युवक का अन्तर्द्वन्द्व और परिस्थितियाँ जो अधिकाधिक उसे उसके निकट लाती जा रही हैं...उससे मर्यादित और स्त्रियोचित व्यवहार के सम्मुख उसे डिगा नहीं पाते और इस प्रकार शील या आचरण भग का साहस वह नहीं कर पाता।

पर ज्यों ही नववधू को यह ज्ञात होता है कि युवक उसका असली पति नहीं है तो नारी के चरम सतीत्व की साधना प्रारम्भ हो जाती है। अधिक परिचय और सान्निध्य में एक व्यक्तित्व दूसरे व्यक्तित्व पर हावी हो जाता है, वरन् कभी-कभी तो अन्तरग भावनाओं को आलोडित करता हुआ एक मनोरम प्रलेप भी लगा जाता है, पर पति-पत्नी के प्रेम का तो एक विशिष्ट गतिपथ है। कुछ विशेष परिवेश एव परिस्थितियाँ भले ही अनुकूल साबित न हो, किन्तु परस्पर मुक्त हृदय और सम्पूर्ण ग्रहण एव समर्पण की प्रक्रिया अनेक विषमताओं में से भी समझौते का मार्ग खोज लेती हैं। यही कारण है कि कितने ही ऊहापोहो और उलझनो के पश्चात् जब चिरमिलन होता है तो उसमें किसी तरह के शक-सुबहे नही है, अनास्था या अविश्वास के सौदे नही है और न ही उनके दिलो म फर्क डालने वाली दरारें है। दोनो की आत्माएँ मिलकर दूध-पानी की भाँति एकमेक हो जाती है।

इनके सुप्रसिद्ध उपन्यास 'गोरा' में नारी के बहुपक्ष चित्रित हुए है। सुचरिता, ललिता, आनन्दमयी आदि प्राचीन और भव्य आदर्शों की प्रतीक बनकर कितने ही विचार कोणो और चारित्रिक पहलुओ को सामने लाती है। युग के बदलते परिवेश में अनुभूति सदा सापेक्ष्य होती है, अतएव कथाकार की महानता तभी है जबकि वह निर्बाध जीवन को समझने का अवसर दे और उसके विशाल वैविध्य में तात्कालिक परिस्थितियो को एकाकार कर कितनी ही दुर्बोध, गूढ जटिलताओ का समाधान प्रस्तुत करे। उक्त उपन्यास में टैगोर ने नारी-चरित्र को निजस्वता और वैयक्तिकता प्रदान की है, यही कारण है कि विभिन्न परिस्थितियो में, नाना परिवेशो के बीच, कितने ही ताने बान से घिरी और जीवन के उतार-चढावो के झझावात में हिलकोरे लेता उसके व्यक्तित्व का अतर्बाह्य रूप ऐसे भव्य चित्रो और बिम्ब-प्रतिबिम्बो को उभारता है जो जीवन और चारित्र्य की कसौटी है।

अपने मध्याह्न काल मे 'चतुरग' और 'घरे बाहिरे' में कवि ने नारी के मर्यादित आदर्शवाद के साथ उसके नैसर्गिक रुझानो का भी दिग्दर्शन कराया है। 'तोष' की विधवा दामिनी... जिसमे तरुणाई की आभा अभी बुझी नही है वह वीतराग या भगवद्भक्ति में लीन नही, बल्कि उसके हृदय में कसमसाता प्रणय का ऊफान है जो सारे बधनों और अवरोधो को तोडकर जीवन की सरसता का उपभोग करना चाहता है। वह विद्रोहिणी हो जाती है और अन्त में अपने प्रणयी से ठुकराये जाने पर दूसरे से विवाह कर लेती है। इसके विपरीत 'घरे बाहिरे' की समस्या है कि वैवाहिक प्रेम शुद्ध है या स्वत स्फुरित प्रेम। उसके नायक निखिल का एक स्वतन्त्र दृष्टिकोण है जिसमे उसकी पतिपरायण पत्नी विमला का मतभेद है। परिस्थिति-वश दोनो के बीच पार्थक्य रेखा खिचती जाती है, किन्तु समय का व्यवधान, जो एक लम्बी दूरी तय कर चुका है, बहुत कुछ रहस्योद्घाटन करता है। अधकार की कुहेलिका में प्रेम की अतल गहराइयाँ उजागर होती है और अन्त में दोनो जिस निष्कर्ष पर पहुँचते है वह यह कि वैवाहिक प्रेम की सीमाहीनता ही असीमता है। कारण—सीमाहीनता वस्तुतः किसी

भी सीमा के मिट जाने में अर्थात् उसके एकीकरण में है।

विवाह क्या है—दो अलग कड़ियों को जोड़ने वाला एक ऐसा सूत्र जिसमें गहरी आत्मीयता और अन्तरंग भावात्मकता है। विवाह है—आत्मिक सम्मिलन, दो का विलय, विशृङ्खल वृत्तियों का सामंजस्य, दो हृदय, दो आत्माओं दो निसर्ग धर्म और दो पृथक् जीवन और व्यक्तित्वों की चरम परिणति।

यों इनके समस्यामूलक उपन्यासों में नारी का रूप और भी भव्य, और भी परिपक्व होता गया है। पूर्व निर्धारित योजना का स्थान यादृच्छिकता ने ले लिया है। कवि की नितान्त पुष्ट और शक्तिमती कल्पना में अनेक बार द्वन्द्व और गम्भीर संघात उत्पन्न हो जाता है, कहीं आदर्शवाद की कृत्रिम, ऊपर से थोपी गई और विकृत रंग-रेखाओं में प्रतिगामी रोमांस उभरता है तो कहीं कल्पना की कोरी उड़ानें अपनी ही सीमा-सीमान्तों से टकराने लगती हैं। कहीं उनकी कला वस्तुवाद की ओर उन्मुख है तो कहीं धर्म, नीति, दर्शन और आचार मर्यादाओं के संघर्ष में जीवन का उच्छल रसावेग उफना पड रहा है।

फिर भी टैगोर के नारी-चरित्र की इस अवतारणा के संघर्ष की दिशा की निर्धारक उनकी रूमानी कल्पना नहीं वरन् मानवतावादी दृष्टि है जो जीवन-सत्य में पैठने को सदैव सचेष्ट रही है। एक बार कवि से किसी ने पूछा

"महामना, जीवन-सध्या समीप है, वय ढल चुकी है, क्या अब भी आपको अपने एकान्त चिन्तन में पारलौकिक सन्देश सुनाई पडता है?" कवि ने उत्तर दिया

सन्ध्या का समय है और मैं कान लगाये बैठा हूँ, विलम्ब से ही सही, शायद कोई पुकार ले।"

कहना न होगा—कवि देश काल की सीमाओं से परे और महाकाल के नीलाम्बर में भूत, वर्तमान और अतीत की विरासत को अपनी झोली में समेटे एक युगदर्शी दार्शनिक थे। जीवन की विषम से विषम परिस्थितियों में भी—कितनी ही दारुण प्रतिकूलता से टकराकर भी—उनका भीतरी कलाकार अधिकाधिक सप्राण और सशक्त स्रष्टा बनता गया। महिमामयी नारी की गरिमा के वे इतने कायल थे कि उन्होंने स्त्री-पुरुष के उन्मत्त संघात की तो सदैव भर्त्सना की ही, पर उसकी वासना की चंचलता जब वेदना की परिणति में एकात्म्य हो गई अथवा अनुपात के साथ क्षमा आ मिली, तभी उनके दाम्पत्य प्रेम की पराकाष्ठा चिरमिलन में प्रतिष्ठित हुई। कवि ने अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद लिखा था

"तुमि मोर जीवनेर माझे
मिशाये छो मृत्युर माधुरी।
चिर विदायेर आभा दिया
रागाये गियेछे मोर हिया॥"

तुमने मेरे जीवन में मृत्यु की मधुरता मिला दी है। मेरा हृदय चिर विरह की आभा से रँग गया है।

मिलन सम्पूर्ण आजि हलो तोमासन
ए विच्छेद वेदनार निबिड बन्धन।
एशछ एकान्त काछे, छाडि देशकाल
हृदय मिशाय गछो भागि अन्तराल
तोमारि नयने आजि हेरितेछि सब
तोमारि वेदना विश्वे करि अनुभव।"

इस वियोग वेदना के निबिड बन्धन में आज तुम्हारे साथ मेरा मिलन सम्पूर्ण हो गया। देशकाल का अतिक्रमण कर मेरे पास एकान्त मे आती हो और अन्तराल को भेदकर प्राणो में समा गई हो। आज सब कुछ तुम्हारे नेत्रो में ही देखता हूँ और तुम्हारी वेदना का विश्व में अनुभव करता हूँ।

प्रेमचन्द

स्वर्गीय श्री प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यास के विपुल साहित्य-कान्तार मे सर्वप्रथम पगडडियो का निर्माण किया। उनके पूर्व के उपन्यासकारो ने चरित्र-चित्रण, मानव जीवन की सूक्ष्म अनुभूतियो और मानसिक विश्लेषण तथा अन्तर्द्वंद्व के ऊहापोह भरे चित्रो के निदर्शन का प्रयास नही किया था, साथ ही उनमें शील-वैचित्र्य की उद्भावना और अन्तर्भावो की विशद व्याख्या भी नही के बराबर थी। तत्कालीन उपन्यास लेखक देवकीनन्दन खत्री, प० किशोरीलाल गोस्वामी और गोपालराम गहमरी के तिलस्मी और जासूसी उपन्यासो में कथानक प्राय प्रेम-प्रधान होते थे, चरित्र भी किसी एक विशेषता को ही लेकर चलते थे—या तो वे अत्यधिक दैवी गुणो से सम्पन्न होते थे अथवा अत्यन्त पतित और निन्दनीय। चरित्रो के क्रमिक विकास एवं मानवीय गुण-दोषो को एक ही व्यक्ति में प्रदर्शित करने की ओर भी किसी का ध्यान अभी तक न गया था। उनका कोई पात्र आदर्श प्रेमी था—तो कोई नीच, निर्मम डाकू; कोई तिलस्मी अय्यार था—तो कोई जासूस और समस्त धूर्तताओ का ज्ञाता। उदार, परोपकारी, दयालु और विशाल हृदय व्यक्ति भी कभी, किसी क्षण, हीन प्रवृत्तियो के शिकार हो जाते हैं और दुष्ट व्यक्तियो में कभी-कभी अच्छाइयो की रश्मियाँ फूट पडती है—ऐसा इन उपन्यासकारो ने कभी सोचा न था। इसके अतिरिक्त उनके उपन्यासो में कथानक-सौन्दर्य और वैचित्र्य का भी विकास न हो सका, अतएव कथा की प्रगति के लिए वाह्य एव अस्वाभाविक प्रसाधनो का प्रश्रय लेना पडा, जिसके फलस्वरूप उन्हें संयोग-वियोग, प्रेम-घृणा, सुख दु ख, आनन्द विषाद और कल्पित, कौतूहलपूर्ण, दैवी घटनाओ का सहारा लेकर नई-नई कृत्रिम उलझनो की सृष्टि करनी पडी। कहना न होगा कि प्रेमचन्द ही सर्वप्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने उपन्यास-क्षेत्र में युग-प्रवर्त्तक का कार्य किया। उन्होने उपन्यास की उत्कृष्ट भूमिका में प्रवेश करके उसकी श्लाघ्य अंगपुष्टि की और ऐसे साहित्य का सृजन किया, जिसमें उपन्यास, कहानी, गल्प आदि के द्वारा मानव-जीवन की ही भावनाओ को व्यक्त किया, उन्ही के जीवन की नित्य प्रति की अनुभूतियो का निदर्शन किया और उन्ही के चरित्र के विविध, आकर्षक चित्र खीचे।

प्रेमचन्द जी के चरित्र-चित्रण का ढग भी बडा ही निराला था। उनके प्रत्येक

उपन्यास में अनेक पात्र एक साथ मिलते हैं, किन्तु सब का व्यक्तित्व पृथक् और अपनी निजी विशेषता लिये दृष्टिगत होता है। उन्होंने अपने यथार्थ चित्रण के बल से उनकी व्यक्तिगत रुचि, आदर्श भावना तथा उनके स्वभाव की विशेष प्रवृत्तियों के, उनके बातचीत, रहन-सहन, रंग-ढंग, चाल-ढाल और उनके विशिष्ट लक्षणों के चित्रण द्वारा उनका सच्चा चित्र पाठकों के समक्ष उपस्थित कर दिया है। हमें ऐसा प्रतीत होने लगता है कि वे सजीव चलते-फिरते नर-नारी, बालक-बालिकाएँ, वृद्ध-तरुण अथवा अपने ही अभीष्ट सहयोगी हैं, उनसे हमारा निकट का सम्पर्क है, हमारे हृदय को वे आकर्षित कर लेते हैं, अपनी ओर बरबस खींचते हैं, हम उनसे प्रसंगानुसार प्रेम तथा द्वेष करते हैं, उनकी हँसी के साथ हमारा आह्लाद फूट पड़ता है, उनके आँसुओं के साथ हमारे अश्रु भी ढुलक पड़ते हैं। वे हमारी राग-विराग की वृत्तियों से इतना गहरा सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं, हमारे जीवन में इतने घुलमिल जाते हैं, हम पर अपना इतना व्यापक और स्थायी प्रभाव छोड़ जाते हैं कि हम उन्हें आजन्म नहीं भूल पाते।

प्रेमचन्द जी के कहानी कहने की प्रणाली भी अत्यन्त रोचक और सारगर्भित है। कथा में कल्पना की क्रीड़ा, वाग्वैचित्र्य और नए-नए प्रसंगों की उद्भावना भी बड़े ही कौशल और सुन्दर ढंग से हुई है। प्रत्येक घटना और दृश्य की अपनी-अपनी विशेषता है और वे विशृंखल होते हुए भी एक ऐसे सूत्र में बँधे चलते हैं कि उनमें पृथक्त्व का आभास ही नहीं होने पाता। कभी-कभी तो पाठक को ऐसा भान होने लगता है कि ये सभी लघु-कथाएँ महत्त्वपूर्ण जीवन विश्लेषक चित्र हैं, जिन्हें एक सूत्र में बाँधकर लेखक ने अपने बुद्धि-बल से एक विशद कथानक के रूप में प्रस्तुत कर दिया है।

प्रेमचन्द जी को मानव-चरित्र का भी अत्यधिक ज्ञान है और उनका विवेचन भी बड़ी सफलता के साथ हुआ है। किसान-जमींदार, मजदूर-मिलमालिक, शिक्षित-अशिक्षित, सच्चरित्र-दुश्चरित्र, स्त्री-पुरुष, सभ्य-ग्रामीण, बालक-बालिकाएँ आदि सभी पात्रों का वर्णन इतना आकर्षक और पूर्ण है कि वे उपन्यासों के रंगमंच पर अभिनय करके अपना स्थायी प्रभाव हमारे हृदय-पटल पर अंकित कर जाते हैं। मानसिक वृत्तियों के सूक्ष्म विश्लेषण और उनके उत्थान-पतन के चित्र अंकित करने में तो प्रेमचन्द जी ने कमाल कर दिखाया है।

उदाहरणार्थ—'प्रेमाश्रम' में से ज्ञानशंकर, 'रंगभूमि' में से सूरदास और विनय, 'सेवासदन' में से पद्मसिंह और सुमन, 'गोदान' में से होरी-धनिया, गोबर झुनिया, मातादीन सिलिया, मेहता-मालती, खन्ना-गोविंदी और 'गबन' में से रमानाथ और जालपा के चरित्रों को ले लीजिए। अपने नित्यप्रति के जीवन-क्षेत्र में हमें जिस प्रकार के मनुष्य मिलते हैं, उनकी ठीक प्रतिकृति उन्होंने खींच दी है।

'चुहिया दोहरी देह की काली-कलूटी, नाटी, कुरूपा, बड़े बड़े स्तनों वाली स्त्री थी।" "गोबर साँवला, लम्बा, एकहरा युवक था।" "बड़ी लड़की सोना लज्जा-शीला कुमारी थी, साँवली, सुडौल, प्रसन्न और चपल। गाढ़े की लाल साड़ी, जिसे

वह घुटनो से मोडकर कमर में बाँधे हुए थी, उसके हल्के शरीर पर लदी हुई सी थी और उसे प्रौढता की गरिमा दे रही थी। छोटी रूपा पाँच छ साल की छोकरी थी, मैली, सिर पर बालो का एक घोसला-सा बना हुआ, एक लगोटी कमर में बाँधे, बहुत ही ढीठ और रोनी।" "झीगुरीसिह नाटे, मोटे, खल्वाट, काले, लम्बी नाक और बडी-बडी मूँछोवाले आदमी थे--बिल्कुल विदूषक जैसे।" इसी प्रकार 'रगभूमि' में "सूरदास एक बहुत ही क्षीणकाय, दुर्बल और सरल व्यक्ति था। उसे दैव ने कदाचित् भीख माँगने के लिए ही बनाया था।" "जनसेवक दुहरे बदन के गोरे चिट्टे आदमी थे। बुढापे में भी चेहरा लाल था। मुख की आकृति से गरूर और आत्मविश्वास झलकता था।" "मिसेज सेवक के चेहरे पर झुर्रियाँ पड गई थी, उनसे उसके हृदय की सकीर्णता टपकती थी।" प्रेमचन्द जी के इन चित्रो में जो स्वाभाविकता और ताजगी है--उसका प्रमुख कारण है--मानव-स्वभाव की उनकी खरी परख और जीवन की सच्ची परिस्थितियो का मार्मिक अनुभव। अपने उदार और ऊँचे हृदय को ससार के वास्तविक व्यवहारो के बीच रख कर उन्होने जो सवेदना प्राप्त की है--उसी की व्यजना उनके उपन्यासो में यत्र-तत्र बिखरी पडी है। इसके अलावा उन्हें ग्राम्य जीवन, वहाँ के दृश्यो खेलों, पुरुष तथा स्त्रियो के स्वभावो का, उनके सामाजिक, नैतिक और पारिवारिक जीवन की विशेषताओं का बहुत ही निकट-परिचय प्राप्त था। उनके कुछ पात्रो में ऐसी स्वाभाविक मरचना की व्यक्तिगत विशेषताएँ मिलती है कि जिन्हें सामने पाकर हमें यह भ्रम होने लगता है कि इनका और हमारा कही न कही साक्षात्कार हुआ है। नि सन्देह, उनके मनोहर और रस छलकाते चित्र बिल्कुल सच्चे और खरे उतरे है। उनमें मार्मिकता और अनूठी व्यजना है। उनके भीतर से एक सच्चा हृदय झाँक रहा है।

प्रेमचन्द जी आदर्शवादी कलाकार है। उनका मत है कि कला जीवन के लिए है न कि केवल कला के लिए। उनके यथार्थवाद पर आदर्शवाद का मानो मुलम्मा चढा रहता है, किन्तु कही भी आदर्श के लिए कला की हत्या नही की गई। आदर्शवाद एव कला का बहुत सुन्दर समन्वय उनके उपन्यासो की विशेषता है।

प्रेमचन्दजी की एक दूसरी विशेषता है कि कथानक सामान्य होते हुए भी वे अपनी वर्णन-पटुता एव आकर्षक शैली से उसे सजीव बना देते है। जीवन का इतना रहस्यमय, गूढ और रजनकारी चित्रण, बाह्य और अन्तर को समान कौशल से चित्रित करने की उनकी पटुता तथा हृदयगत भावनाओ को बडी सुन्दरता से प्रदर्शित करने की उनकी प्रणाली देख कर विस्मय विमुग्ध हो जाना पडता है। समयानुकूल आकाक्षा, प्रेम, क्षोभ, क्रोध, चिंता, प्रतीक्षा, आत्मग्लानि, घबराहट, उदासीनता, विह्वलता, सहृदयता, कोमलता, उदारता आदि दर्शानेवाले शब्द चित्र बहुत ही सुन्दर उतरते हैं। आशा-निराशा के मानसिक द्वन्द्व का एक चित्र देखिए

'धनिया सन्नाटे में आ गई। एक ही क्षण में उसके जीवन का मृदु स्वप्न जैसे टूट गया। अब तक वह मन में प्रसन्न थी कि उसका दु:ख-दरिद्र सब दूर हो

गया। जब से गोबर घर आया उसके मुख पर हास की एक छटा खिली रहती थी। उसकी वाणी में मृदुता और व्यवहारो में उदारता आ गई। भगवान् ने उस पर दया की है तो उसे सिर झुका कर चलना चाहिए। भीतर की शांति बाहर सौजन्य बन गई थी। ये शब्द तपते हुए बालू की तरह हृदय पर पडे और चने की भाँति सारे अरमान झुलस गये। उसका सारा घमड चूर-चूर हो गया। इतना सुन लेने के बाद जीवन में क्या रह गया। जिस नौका पर बैठ कर इस जीवन-सागर को पार करना चाहती थी वही टूट गई, तो किस सुख के लिए जिये।"

ईर्ष्याग्नि नारी की कोमल भावनाओ को झुलसा कर उसकी मृदुता को सुखा कर कितना भीषण रूप धारण कर लेती है इसका एक उदाहरण देखिए :

"देखो सिल्लो, मुझसे साफ-साफ बता दो नही तो मै तुम्हारे सामने, यहीं, अपनी गरदन पर गँडासा मार लूँगी। फिर तुम मेरी सौत बनकर राज करना। देखो, वह गँडासा सामने पडा है। एक म्यान में दो तलवारें नही रह सकती।'

सवेदना हृदय को द्रवित करके मोम-सा पिघला देती है। सहृदयता से सहृदयता उत्पन्न होती है। निम्नलिखित पक्तियो में न जाने कितने दिनो की कितनी भारी प्रणय-ममता उभरी पड रही है

"जब गोबर उसके चरणो पर झुका तो होरी रो पडा, मानो फिर उसे पुत्र के दर्शन न होंग। उसकी आत्मा में उल्लास था, गव था, सकल्प था। पुत्र से श्रद्धा और स्नेह पाकर वह तेजवान् हो गया है, विशाल हो गया है। कई दिन पहले उस पर जो अवसाद-सा छा गया था, एक अधकार-सा, जहाँ वह अपना मार्ग भूल जाता था, वहाँ अब उत्साह है और प्रकाश है।"

करुणा का कितना मार्मिक चित्रण हुआ है—देखिए

'धनिया को दीन आँखो से देखा, दोनो कोयो से आँसू की दो बूँदे ढुलक पडीं। क्षीण स्वर म बोला—मेरा कहा-सुना माफ करना धनिया! अब जाता हूँ। गाय की लालसा मन मे ही रह गई। रो मत धनिया, अब कब तक जिलायेगी। सब दुर्दशा तो हो गई। अब मरने दे।'

वर्णन शक्ति भी उनकी बडी ही प्रबल है। नीचे के उद्धरणो को पढकर दृश्य-चित्र बिल्कुल नेत्रो के समक्ष आ जाता है

"जनता बूढे कुलेलो पर हँसती थी, तालियाँ बजाती थी, गालियाँ देती थी, ललकारती थी, बाजियाँ लगाती थी। वाह! जरा इन बूढे बाबा को देखो! किस शान से जा रहे है, जैसे सबको मार कर ही लौटेंगे। अच्छा! दूसरी तरफ से भी उन्हीं के बडे भाई निकले। दोनो कैसे पैतरे बदल रहे है। इन हड्डियो में अभी बहुत जान है भाई! इन लोगो ने जितना घी खाया है, उतना अब हमें पानी भी मयस्सर नही। लोग कहते है, भारत धनी हो रहा है। होता होगा। हम तो यही देखते है कि इन बुड्ढो जैसे जीवट के जवान भी आज मुश्किल से निकलेंगे। वह उधर वाले बुड्ढे

ने इसे दबोच लिया। बेचारा छूट निकलने के लिए कितना जोर मार रहा है। मगर अब नही जा सकते बच्चा ! एक को तीन लिपट गए।"

"वही रुपहली चाँदनी अब भी छाई हुई थी। नदी की लहरें अब भी चाँद की किरणों में नहा रही थी और सिल्लो विक्षिप्त-सी स्वप्न-छाया की भाँति नदी में चली जा रही थी।'

प्रेमचन्द जी के उपन्यासो में कथोपकथन भी एक मुख्य तत्त्व है, जिसके द्वारा उन्होंने अपने विचारो, आदर्शों और सिद्धातो को प्रकट किया है। उनके कथोपकथन बहुत ही सजीव, पात्रो के अनुकूल, सारगर्भित और प्रभावशाली होते हैं। वे नपे-तुले, अधिक बडे न अधिक छोटे और व्यर्थ के शब्दाडम्बर से विनिर्मुक्त होते है।

आरोप प्रत्यारोप का एक सुन्दर चित्र देखिये

मिस मालती ने तन्खा को तिरस्कार भरी आँखो से देखा।

"आप लोग इतने कायर है, यह मै न समझती थी।"

"मै भी यह न समझता था कि आपको रुपये इतने प्यारे है और वह भी मुफ्त के।"

"जब आप लोग मेरा अपमान देख सकते है, ता अपने घर की स्त्रियो का भी अपमान देख सकते होगे ?"

"तो आप भी पैसे के लिए घर के पुरुषो को होम करने में सकोच न करेंगी।"

एक औपन्यासिक के लिए जिस प्रकार की भाषा वाछनीय है वैसी ही प्रेमचन्द जी को प्राप्त है। उनमें ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा है और वह सृजनात्मक कल्पना है जिसके फलस्वरूप उनकी भाषा अत्यन्त मधुर, ओजपूर्ण, मुहावरेदार और रचना-कौशल एव आकर्षक शब्दावली से युक्त है। ऐसा प्रतीत होता है मानो उसमें नैसर्गिक प्रवाह है और वह स्वयमेव कलम से फिसलती चलती है। प्रत्येक पात्र की चारित्रिक विशेषताओं, योग्यता, परिस्थिति और अवस्था के अनुरूप कही तो भाषा अत्यन्त परिमार्जित, कही सारगर्भित, कहीं साहित्यिक और कही सस्कृतमय हो गई है :

"वैवाहिक जीवन के प्रभात में लालसा अपनी गुलाबी मादकता के साथ उदय होती है और हृदय के सारे आकाश को अपने माधुर्य की सुनहरी किरणो से रजित कर देती है। फिर मध्याह्न का प्रखर ताप आता है, क्षण-क्षण पर बगूले उठते हैं और पृथ्वी कॉपने लगती है। लालसा का सुनहरा आवरण हट जाता है और वास्तविकता अपने नग्न रूप में सामने आ खडी होती है। उसके बाद विश्राममय सध्या आती है, शीतल और शान्त जब हम थके हुए पथिको की भाँति दिन भर की यात्रा का वृतान्त कहते और सुनते है, तटस्थ भाव से मानो हम किसी ऊँचे शिखर पर जा बैठे है, जहाँ नीचे का जनरव हम तक नही पहुँचता।'

कही इतनी उर्दूमय हो गई है जिसका आशय उर्दू के अच्छे जानकार ही समझ सकते हैं।

'मैं इखराज की तहरीक पर एतराज करने की जुरअत कर सकता हूँ।" कहीं सरल, कहीं क्लिष्ट कहीं उर्दूमय, कहीं संस्कृतगर्भित, कहीं परिमार्जित, तो कहीं ग्रामीण—कहने का तात्पर्य यह है कि अपनी भाषा को पात्र, परिस्थिति और प्रसंगानुकूल मोड़ने-तोड़ने में वे अत्यन्त सिद्धहस्त थे। हिंदी उर्दू की उन्हें पूर्ण जानकारी थी।

कुछ साहित्यिक विद्वानों के मतानुसार प्रेमचन्द जी नारी के चरित्र-चित्रण में असफल हुए हैं, किंतु हमें तो लगता है कि नारी की शक्ति और दुर्बलताओं का, उनके सामाजिक, नैतिक और प्रकृत स्वभाव एवं विशेषताओं का, उनकी रुचि, आदर्श, भावना तथा चारित्रिक उत्थान पतन आदि का जितना मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रेमचन्द जी ने किया है उतना अन्य किसी आधुनिक उपन्यासकार ने नहीं। नारी कब प्रेम करती है, कब द्वेष करती है, कब उसके हृदय के तार सहसा झनझना उठते हैं कब वह पश्चात्ताप और आत्मग्लानि से भर जाती है, प्रेम में वह कितनी द्रवीभूत हो उठती है क्रोध और प्रतिशोध के समय वह किस प्रकार चण्डी का रूप धारण कर लेती है लज्जा से वह कितनी मर-सी जाती है और गर्वोन्मत्त वह कितनी उज्ज्वल और गौरवमयी हो उठती है—इसका जितना ज्ञान प्रेमचन्द जी को था, उतना कदाचित् ही अन्य किसी को। सुमन, धनिया, जालपा, निर्मला, झुनिया, सिलिया, गोविंदी आदि के चरित्र क्या भुलाये जा सकते हैं?

कहानी क्षेत्र में भी प्रेमचन्द जी ने अद्वितीय कार्य किया है। उनकी कहानियों में मार्मिक प्रसंगों और दृश्यों का चुनाव, प्रभाव की व्यंजना एवं निगूढ़ मनोगतियों का निदर्शन हुआ है। वस्तुतः यदि मार्मिकता एवं प्रभाव की दृष्टि से देखा जाय तो उनका महत्त्व उपन्यासों से कम नहीं है। वरन् यों कहना चाहिए कि उनकी कहानियों में जो जीवन-सम्पर्क और सहानुभूति है, कल्पना की मनोरमता के साथ-साथ मानव-स्वभाव का सूक्ष्म विश्लेषण और वैचित्र्य है तथा कहानी कहने के ढंग में जो नैसर्गिक प्रवाह एवं प्रतिभा है—उसी के कारण वे हिंदी-कहानी के जन्मदाता कहे गये हैं और उसी का परिणाम है कि हमारा कहानी-साहित्य विश्व साहित्य में कुछ स्थान पा सका है।

उनकी कई कहानियों के अनुवाद जापानी, अंग्रेजी, रूसी तथा कई भारतीय भाषाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। ग्राम्य-जीवन का जो यथार्थ एवं स्वाभाविक चित्रण, वस्तुविन्यास की अकृत्रिमता एवं अनुभूति-प्रवणता जो हमें इनके उपन्यासों और कहानियों में मिलती है—वह बेजोड़ है। निःसंदेह, हिंदी-कथा-साहित्य में एक ये ही ऐसे अन्तर्द्रष्टा कलाकार हुए हैं, जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त है और जो निर्विवाद रूप से भारतीय उपन्यास तथा कहानी-साहित्य के प्रतिनिधि माने गये हैं।

९

जैनेन्द्र का मनोवैज्ञानिक अतिवाद

आधुनिक फ्रायडीय मनोविज्ञान ने अचेतन को ही जब मानव की समस्त मूल प्रवृत्तियों का कोष माना है तो विकासवाद के कतिपय तर्कों का आधार लेकर नैतिक मूल्यों के निर्धारण के परम्परागत प्रतिमानों में भी आकाश-पाताल का अन्तर हो गया है। अन्तर्विरोधों से परिचालित सेक्स-चेतना सहसा मुक्त होकर नई-नई भूमियों को छूती हुई अन्त में उन असख्य विरोधाभासों के मूल में निहित विविध और विराट् सामजस्य के सूत्र खोज लेने में सतत चेष्टाशील है जहाँ एक अजीब-सी घुटन और जड मूर्च्छना के शिकार अन्तर्मुखी स्वप्नदर्शियों के अनपेक्षित मानसिक उद्वेगों का उफान कसमसा रहा है, साथ ही शुष्क बौद्धिकता के ऊबड खाबड मैदान में विविध-मुखी कल्पना की 'लेफ्टराइट' चल रही है।

कहना न होगा कि गुणात्मक दृष्टि से जैनेन्द्र की औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ प्राय वे ही हैं जिनके बीज मौजूदा बुद्धिवादी युग में बोये गए हैं, भेद मुख्यतः अनुभूत विशेषताओं और आनुपातिक महत्त्व की भावना में है। जहाँ तक सैद्धान्तिक तथ्य-कथन का प्रश्न है एक कुशल तार्किक की हैसियत से उनकी दृष्टि में वस्तुस्थिति को भाँपने की क्षमता है, वर्त्तमान परिस्थितियाँ किस गति से आगे बढ रही हैं, उनका रूप क्या है और वह किन रूपों में ढलती जा रही है—इसकी समझदारी भी मौजूद है, बल्कि कहें कि ये परिस्थितियाँ और समस्याएँ उन्हें उद्बुद्ध करती रही हैं, किन्तु वे जिन्दगी के तुच्छ से तुच्छ पहलू की खण्ड अनुभूति पर अपने मतवादों एव विश्वासों की छाप लगाना चाहते हैं, परिणामस्वरूप उनके उपन्यास जीवन-प्रवाह के इन्द्रिय सवेद्यवात्याचक्र बनकर रह गए हैं। एक विशिष्ट कल्पनात्मक बौद्धिक साँचे में नई फिलासफी किंवा मनगढन्त आदर्श, त्रिकोण प्रेम का द्वन्द्व और कृत्रिम खींचतान, आकाक्षा और अनुभूति, आवेग-सवेग, आत्मपरक और अतिवादी चिन्तनाओं के कारण न तो उनमें स्वाभाविकता निभ पाती है और न उतनी तल्लीनता के भाव ही उत्पन्न होते हैं कि जिनकी ध्वनि और प्रतिध्वनि जीवन-पर्यन्त गूँजती रहे।

इसके विपरीत जिन आदर्शों एव भावतत्त्वों को लेकर उनके उपन्यासों की रचना हुई है उनके मेरुदण्ड हैं—

(क) टेकनीक की मूल प्रवृत्ति रूमानी, मूल कथा राग, अहं और वासना के

द्वन्द्व की—जिसमें विशाल 'कैन्वास' पर विविध परिस्थितियों से जूझने वाले व्यक्तियों उनके परिवेश और सामाजिक सम्बन्धों की कहानी न हो कर कुण्ठाग्रस्त और किसी एक वृत्ति या 'मूड' के वशीभूत आत्मकेन्द्रित लोगों के खण्डचित्र उभारे गए हैं, जहाँ परिस्थितियाँ वहीं से स्वयं उपजती हैं और कथा सूत्रों को थामे रहती हैं बौद्धिक तर्कों और विचार वितर्कों से कथा का मंथर विकास, स्वीकृत मतवादिता थोपने के कारण कथाकार उपभोक्ता से अपने को पृथक् नहीं कर पाता, बल्कि उसमें प्रच्छन्न दुराग्रह है कि उसके अनुभवों विचारकणों और मूल्यों को लोग उतना ही आँके जितना कि मूल्य उसकी अपनी दृष्टि में उनका है ।

(ख) उक्त उपन्यासों की विडम्बना है कि वे इस कदर मतवादी रूढ़िवादिता और विचारों के आवर्त में आबद्ध हैं कि कहीं भी उनसे मुक्ति नहीं । प्राय सभी में स्त्रैण पति हैं जिनके लिए पत्नी का 'सेक्रिफ्टाइन्ड' प्रेम जरा भी तिरस्करणीय नहीं, मानो ऐसे अपौरुषेय नर कंकाल मात्र हैं वे सब जिनमें खौलता खून और प्राणों के स्पन्दन का सर्वथा अभाव है । लेकिन इसके विपरीत पत्नियों में उद्दाम वासना का प्रवहमान वेग है जो महज पति से तृप्त नहीं होता दूसरे पुरुष की ओर बरबस अनुधावित होता है । वे ऐसी नहीं हैं जिनमें झंझा के झकोरों का उन्माद जगा और शान्त हो गया । हिलोरें उठीं, बुल्बुले कसमसाये और विलीन हो गए । इच्छा वासना के आवेग उफने और बुद्धि एवं विवेक द्वारा उनका उपशमन कर दिया गया। नहीं, उनमें ऐसी कोई बाध्यता या मजबूरी नहीं है । वे जीवन में अलस जड़ता को प्रश्रय नहीं देतीं, उन्हें भीतर ही भीतर मधुर राग का आभास होता है, वे चाहती हैं—उन्हें कोई समझे, उनके रूप को परखे, उनके सौंदर्य की कोई प्रशंसा करे और उसके प्रेमपाश में आबद्ध हो जाए, क्योंकि जैनेन्द्र के मत से 'पानी कहीं बहते बहते रुक गया है तो उसे खुलना चाहिए, वहिर्गमन मिलना चाहिए,' उन्हें भय है कि 'हृदय सम्पूर्ण वृत्त की भाँति हो तो शून्य हो जाय । उस हृदय को उपेक्षा रहती है कि कोई भिन्न पात्र मिले जिसमें वह अपने को उँडेल सके । इस प्रकार वह रिक्त नहीं होता और भरता ही है ।' पत्नियों के प्रेमी पात्र भी किसी व्यावहारिक आचरण के नियन्त्रण में नहीं हैं । यों तो वे सभी इतने महान दर्शाये गए हैं कि उनके चरित्र, क्रिया प्रक्रिया और अन्तश्चेतना की गहराइयों को सहज मापा नहीं जा सकता, किंतु समझ से परे मानवेतर अवस्था में,ऐसी अनुभूतिजन्य भावना और निरीह संस्कारों द्वारा अनुप्राणित हैं वे सब—कि जैसे अशरीरी हों, अनुपमेय अथवा अपर प्रत्यक्ष भूमिका में स्थित, जिन्हें कुछ छू न पाता हो और जिनका मन कहीं ठहर न पाता हो फिर भी आश्चर्य कि सामाजिक संबंधों की यान्त्रिक पाबन्दी के विरुद्ध किसी भी सीमारेखा को अपने आन्तरिक प्रवेग से मटियामेट कर देने वाली प्राणवत्ता के धनी, नैतिक नियमों और आचरण की उपेक्षा करने वाले, भग्न, आकुल और अतृप्त तत्त्वों से निर्मित, साथ ही अवसादजन्य ऐकान्तिकता का निराकरण करने के लिए सदा तत्पर और सन्नद्ध, गहरे और चिन्तनशील होकर भी कामावेगों की विद्युत्तरंग अथवा प्रणयोन्माद के प्रकम्पन से सहसा झनझना उठने

वाले और तब जिन्हें किसी भी निषेध अथवा व्यवस्था में न बांधा जा सकता हो। एक निश्छल भोलेपन के साथ-साथ उनमें अबूझ उन्माद भी है, विराग या उपरामता के साथ-साथ किसी की रूपशिखा में पतिंगे की तरह जल मरने की अमिट आकांक्षा भी है और नैतिक सदाचरण के साथ-साथ उच्छृंखलता और स्वेच्छाचरण के ऐसे क्रमिक कि जिनकी कुंठित स्वातन्त्र्य-भावना को एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक अतिवाद अथवा ऐन्द्रिय चेतना का आत्यन्तिक विघटन कहा जा सकता है।

(ग) प्रेम, वासना और आसक्ति का ज्वार उन्हें कभी-कभी इतनी दूर ठेल ले जाता है कि कामजन्य चेष्टाओं की अनुवर्तिता ही प्रमुख और उपन्यास के सहज रसबोध की मुखर चेष्टा गौण पड़ गई है। प्रेम की त्रिधा धारा—एक नये रूमानी एवं दार्शनिक आतंक में—तीव्र भावावेगों से प्रेरित समझौते के सूत्र खोजती हुई औपन्यासिक विकास की नई संभावनाओं को सामने लाती है सही, लेकिन समस्त जटिलताओं, विषमताओं और उलझनों के बावजूद एक कृत्रिम रंगीनी नेत्रों के समक्ष स्वप्न सा बुनती है और अस्पष्ट आतंरिक चिन्तना में आधार तो ग्रहण करती है, पर बौद्धिक अवसाद के धुन्धलके में भटक जाती है।

इस प्रकार पति, पत्नी और पत्नी के प्रेमी की द्वन्द्वात्मक रोमांचक कहानी अन्त में पूर्णता तक तो पहुँच जाती है, किन्तु उनमें उठाई गई सामाजिक समस्याओं का समाधान नहीं हो पाता। यह सही है कि मनुष्य की गहन रहस्यमयी दमित अंतर्प्रवृत्तियों का विश्लेषण कर जैनेन्द्र ने फ्रायड से प्रभावित पश्चिमी औपन्यासिक परम्परा से नाता जोड़ा है, मगर उनके कथानकों की प्रमुख कमजोरी यह रही है कि जीवन के किसी चरम लक्ष्य या अर्थ की निष्पत्ति उनमें नहीं होती, अपितु महत्वाकांक्षी, पराजित और प्रेम में हताश व्यक्तियों की विकृत बुर्जुआ नैतिकता से ध्वस्त स्त्री-पुरुष के नये यौन-सम्बन्धों की आस्थाहीन धरती पर वे मँडराते रहते हैं। विषय और दृष्टिकोण सीमित हैं, मुख्यतः उन्हें तीन पात्र चाहिए—ऐसी नारी, जिसमें दुर्निवार आकांक्षा और 'सेक्स' सम्बन्धी विस्फोटक विकृतियाँ हों, कुछ ऐसे अजीबोगरीब तत्त्व जो हर कदम पर जिन्दगी की नई मंजिल खोजते हों, उसके आगे फिर एक नई राह और तब मानो आगे का मार्ग सहसा खुल पड़ता हो, ऐसा वेग जो व्यवस्था या अवरोध नहीं चाहता, वरन् एक जबर्दस्त निषेधात्मक स्वीकृति में रक्त-मांस, शिरा-उपशिरा में जड़ित हो जाना चाहता हो और जिसके कारण जीवन थकता नहीं, थमता नहीं और कभी हार न मानता हो। बाह्य में समाज प्रतिष्ठा की दृष्टि से व्यावहारिक प्रयोजन की पूर्ति की कामना चाहे कितनी ही हो, पर अन्तरंग में उनके ऐसा विप्लव या विलोड़न है कि अत्यधिक कामना एवं काम्य के संगम से व सहज आत्मगतिशील हो उठी हैं। सुखलिप्सा उनके स्वभाव की प्रधान वृत्ति है और ज्यों-ज्यों वह बढ़ती जाती है वे व्यक्ति से, निजत्व से, अहं से ऊपर उठकर अयुक्त परिमाण में रसास्वादन की ओर अग्रसर होती हैं। कुछ प्रश्न सुलझते हैं तो कितने ही तथ्य उलझते हैं मानो जीवन के अगणित उलझे सूत्र एक निस्सीम सूनेपन में खो जाते हैं। महज पति को वे जीवन-सर्वस्व

नही मान बैठती, उनकी आँखो के आगे सत्य के नग्न आलोक में जैसे उनकी अपनी भीतरी तपन की मरूभूमि का विस्तृत उजाड साकार हो जाता है और तब उन्हें लगता है कि अपने आप म पुजीभूत रहकर वे औत्सुक्य या विस्मय जाग्रत नही कर सकती। वे पति की अन्धी दासता को एक मात्र समाधान मानकर निष्क्रिय नही होती, क्योकि उनमें कुछ ऐसी त्वरा और अनन्यता है कि पति जैसे साधारण जीव पर वे निर्भर नही, वे दोनो एक नही हो सकते, एव दूसरे के लिए विधाता का विधान, एक नियति के दो पूरक, एक इकाई के दो खण्ड जो मिले हैं तो मिले ही रहें और कभी पृथक् न हो—इस बात की सतर्कता या सयत भाव उनकी दृष्टि में थोथा और बेमानी है। वे पति को अपने प्रेमपाश में बाँधने के लिए मचलने वाली सुन्दरी के सदृश कुछ समय तक उससे खेलकर भावोन्माद वश पर-आकर्षण का सद्य अनुभव करती हैं और इस प्रकार उनमे एक अनथक कौतुक भीतर ही भीतर छहराता रहता है। सामाजिक जवाबदेही को वे महसूस नही करती, कारण—उनके जीवन-यापन का एक नवीन और निजी ढग है। गहरा प्रतिवाद और दुहरा सघर्ष है उनके मन में, जो उनकी प्रेरणा का मूल तत्त्व है और उनके अन्तर को अनवरत आलोडित करता है। एक मात्र निज को लेकर रिक्तता को नही भरा जा सकता, न ही यह प्रेम, यह क्षणिक मोह उनके जीवन का लक्ष्य बन सकता है, अतएव अपर मन के साथ सयुक्त हुए बिना उनकी सम्पूर्णता प्रतिफलित नही हो पाती। कट्टो, सुनीता, मृणाल, कल्याणी, सुखदा, भुवन मोहिनी, अनिता और उनके परवर्ती उपन्यास 'जयवर्द्धन' की लिजा ऐसी ही नारियाँ हैं जो अनियन्त्रित कामवासना और उद्दीपक यौनाकर्षण से आक्रान्त आचरण की सीमाबद्धता अथवा किसी एक व्यक्तित्व के बलिष्ठ प्रत्यय में आस्थाशील नही हो पाती। /

इसके साथ ही एक और विचित्र बात है कि ज्यो-ज्यो इन पत्नियो में स्वकीय व्यर्थता एव इच्छाओ की स्वमत्ता तीव्रतम होती जाती है इनके पति उनकी प्रकृति की दुर्द्धर्ष शक्ति एव बहुविध विरुद्धता के समक्ष उतने ही नत होते जाते हैं बल्कि वहें कि उपेक्षा और विपन्न द्विविधा में वे अत्यत दीन और दयनीय बन जाते हैं। पत्नियो के प्रेमी पात्रो को प्राय क्रान्तिकारी और विद्रोही दर्शाया गया है, पर सच्चे क्रान्तिकारी न होकर वे काम अभुक्ति और अहवृत्ति से पीडित विप्लवी और विध्वसक आतकवादी सिद्ध होते हैं। उनमें देशभक्ति का उन्माद कम, प्रेम की दाह अधिक है, बल्कि प्रेम करना ही उनका प्रमुख व्यवसाय है। उनमें आत्महनन, स्वरति, विलगाव और मानसिक विकृतियाँ हैं, वे अह की तुष्टि के लिए असामाजिक कृत्य करते हैं और आर्थिक दृष्टि से दूसरो पर आश्रित हैं। यह आर्थिक समस्या सभी मान्यताओ से परे इस कदर उभर आती है कि उक्त अर्थ-सघर्ष ने उनके मन को इतना क्षुब्ध और विक्षिप्त कर दिया है कि उनकी वैचारिक क्रान्ति मखौल बन जाती है और मानव समाज के अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध मध्यवर्गीय ह्रास की छूत से विषाक्त हो उठते हैं। लेखक की उत्तेजक लिप्सा के फलस्वरूप कही-कही तो वे लुटेरे और प्रतिहिंसक से प्रतीत होते हैं। डाकू

या लुटेरे अपनी अंतरंग भावनाओं का दमन नहीं करते, वे खुलकर जीते हैं और बिना रोकटोक जीवन की सभी क्टुताओं या रस का निरवाप पान करते है,पर जैनेन्द्र के ये शिष्ट लुटेरे अपनी मूल वृत्तियों और कामोद्वेगों को अनुभूति की जडता म लपेटत हैं और कुठित जीवन-यापन करते हैं जो क्रान्तिकारी आत्म-जागृति और मान्यताओं की दृष्टि से शर्मनाक चीज है। इससे उनकी वैयक्तिकता अराजकतावादी निर्वैयक्तिकता पर हावी हो जाती है।

क्रान्ति के क्षत्र में रचनात्मक आदर्शवाद की उपयोगिता असंदिग्ध है और मानव-जीवनोत्थान पोषक तत्त्वों को समाविष्ट करके ही उसका प्रतिनिधित्व किया जा सकता है। मगर थोथे, बजान आदर्शों को छाती से चिपटाए रहकर वे स्वय ओज-हीन एव सामर्थ्यहीन तो हो ही जाते हैं, साथ ही गत्यवरोध के गढ में गिरकर समाज-कल्याण के विधायक तत्त्वों को शोषक भी बना देते हैं।

सबसे आपत्तिजनक और विवादास्पद है उक्त चरित्रों की आत्यन्तिक आत्म-केन्द्रिकता। वैयक्तिक और सास्कारिक होने के बावजूद कोई भी चरित्र सम्भाव्य और विश्वसनीय मनोवैज्ञानिक तथ्यों की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए। प्रभाव के मूल में लेखक की क्षमता उसकी अपनी भावात्मक प्रतिक्रियाओं में व्यक्त न होकर चित्रित पात्रों की स्वतन्त्र चेतना एव व्यक्तित्व देन में उजागर होनी चाहिए अर्थात् वे जिस किसी भी समाज या वर्ग के व्यक्ति हैं, उनकी सवेदनाओं या विशिष्ट सस्कारों का सच्चा और प्रामाणिक चित्रण होना चाहिए। परन्तु जैनेन्द्र की वे कौनसी कसौटियाँ और मुख्य दर्शन है जो चरित्र निर्माण की ओर अग्रसर होते-होते अपने चारों ओर के विशृखल को जीवन का अर्थ देना चाहते हैं और जिनके आर-पार नहीं झांका जा सकता? क्या वैयक्तिक अनुभूतियों के माध्यम से मानववाद की व्याख्या सम्भव है?

जहाँ तक स्त्री पात्रों के चरित्रांकन का प्रश्न है उनमें वैयक्तिक कुठाएँ, असन्तुलन और अतिवादी सकीर्ण दर्शन की परिणति फ्रायडीय मान्यताओं के आधार पर हुई है। इसी प्रतिफलन प्रक्रिया का परिणाम है कि सस्कारगत सक्रमण और अपवाद पूर्ण कृत्रिमताओं का आरोपण उनमें थोथे तर्कजाल और वैचारिक कलाबाजियों से उपजा है। इन तर्कों में उतनी गहराई नहीं जितनी आपातत जान पडती है। दर-असल, कितनी ही उलझन भरी जटिलताओं में मानवीय मूल्य-मर्यादा को स्थापित और विकसित करके स्वातन्त्र्यपूर्ण दायित्व की स्वीकृति का साहस एक हद तक ही उचित कहा जा सकता है। सस्ते भावोन्माद के वशीभूत हो सामान्य को—कोरे शब्दजाल से—असामान्य दर्शाना जीवन के मूल सस्कारों के विरुद्ध है। जैनेन्द्र के उपन्यासों की नायिकाएँ अपने दुराग्रह के कारण जीवन की विविध विरोधी परिस्थितियों में निम्न-गामी और अप्रत्याशित स्तर पर उतर आती हैं, साथ ही बुर्जुआ वर्ग की मानसिकता और रूमानी अनास्था से उत्पन्न अन्तर्द्वन्द्व के फलस्वरूप उनके सामाजिक सम्बन्ध विशेष और स्थिति विशेष को निर्धारित करने वाले व्यक्तित्व खडित हैं और उनका

उक्त वर्ग की व्यापक हीनता की चौहद्दी में उन्हें अधिक वैयक्तिक और अन्तर्गूढ दर्शाया गया है। जीवन का ग्राह्य, नैसर्गिक सत्य जब किसी के विशेष संस्कारों की परिधि में नहीं सिमट पाता तो वह विरूप और बमानी हो जाता है। अपनी इस प्रवृत्ति के कारण जीवन में सामाजिक आचारो की अवहेलना कर जो निजी अव्यावहारिकता एव सुदूरता में सिमटकर सकीर्ण हो जाते है, साथ ही मनोविश्लेषणवादी आधार पर यौन प्रक्रियाओं और अवर्णनीय चेष्टाओ की अन्विति में ही रस-ग्रहण करते हैं वे मानव स्वभाव के प्रकृत रूप से स्वभावत विकृति और अनौचित्य की ओर अग्रसर होते हैं।

सूक्ष्म मनोविश्लेषण जैनेन्द्र की खूबी है, लेकिन मानव मन के सीमान्त और अगणित सूक्ष्म प्रक्रियाओं का मूल खोजते हुए वे प्राय- उन आत्ममहारक तत्वो के विघटन में बहक जाते हैं जो असाधारण अपवादस्वरूप विकृत चरित्रो की सृष्टि करते हैं। नारियों को ही लें, तो क्या उनमें समाधानकारी नैसर्गिक तत्त्वो का उद्घाटन हुआ है? यह सही है कि आज के फ्रायडीय मनोविश्लेषणवादी लेखक सामान्य जीवन में न दिखाई पडने वाले, किसी एक विशिष्ट 'टाइप' या 'मूड' के विकृत चरित्रो को अपनाकर उनके अन्तर्मन की द्वन्द्वात्मक स्थितियो का उद्घाटन करते हैं, तथापि उनके कार्य व्यापार इच्छा-आकाक्षा, चिन्तन और अन्तरात्मा की कोटियो के निर्धारण में सहज सामान्य जीवन की मौलिकता के निर्णायक सकेत तो मिलने ही चाहिए, अन्यथा कीचड में धँसकर और लक्ष्यभ्रष्ट होकर समाज के सामने ये चरित्र नई समस्या बनकर खडे हो जाते हैं।

जैनेन्द्र के चरित्रो की वक्र रेखाएँ व्यक्तिवादी सस्कृति से सिरजी हैं। उनकी नायिकाएँ मध्यवर्गीय मान और मान्यताओ में पली साधारण घरेलू, कम पढी लिखी नारियाँ हैं, घर और गृहस्थी के दायित्वो तथा पति एव परिवार की नैतिक आस्था को भी स्वीकार करने वाली हैं, किन्तु न जाने किन कारणो और परिस्थितियो से उनमें इतनी प्रचण्ड बौखलाहट, साहसिक आक्रोश, द्विविधा और असन्तोष भरा पडा है कि वे अनायास अबाध और उन्मुक्त अन्त प्रेरणाओ से छटपटाकर रह जाती हैं। उनकी स्वप्निल कल्पना में कौनसा उन्माद मायालोक झूमा करता है और एकान्त में वे क्यो कभी-कभी गहरे अवसाद, खीझभरी अनुभूति या किसी अजाने अप्राप्य को पाने की बेतुकी चाह से भर जाती हैं? अपनी इच्छाओ की पूर्ति के लिए सुविधापूर्वक और बडे ही सहज ढग से, निजी तौर तरीको पर काबू पाने की दुश्चिन्ता किये बगैर वे अपने अभीप्सित पथ पर चल पडती हैं। जोखम उन्हें अच्छा लगता है और मन में न जाने कैसी कैसी अचिन्त्य चाहनाएँ जगा करती हैं। बच्चो का बन्धन, पति का खौफ और पारिवारिक परिवेश उन्हें जरा भी त्रस्त नहीं करता। वैसे कूल-किनारो के बीच बहते चले जाने की परिपाटी उन्हें मान्य नहीं, अतएव जीवन के विषम छोरो पर जो टकराहट या हलचल होती है वे भले ही समस्याएँ उत्पन्न करे, पर ये समस्याएँ भी उनमें मधुर-मधुर सिहरन जगाती हैं, बाहरी सघात उन्हें और भी सामर्थ्यवान और

गतिशील बनाते हैं, क्योंकि खालीपन तो जैसे उनकी प्रकृति में है ही नहीं। वे अपने मनोनुकूल निश्चय एवं निर्णय करके कार्य करने वाली महिलाएँ हैं, ऐसी सामाजिक सापेक्षता की वे कायल नहीं जो विवशता या नियन्त्रण बनकर उन पर हावी हो जाए।

निश्चय ही, उनके दृष्टिकोण की एक अपनी सीमा है। आखिर जीवन एक खेल ही तो है, एक स्वांग—कैसा मजा है इसमें कि कोई न कोई नाटक चलता रहे। जीवन का सूनापन और एकान्त की पीड़ा का आवेग जब जोर से हिलोरे मारता है तो उनके साथ हँसने-रोनेवाला, उनके दुःख-दर्द और आँसुओं में सहानुभूति की दुम हिलाने वाला भी तो कोई होना चाहिए, अपना नहीं, कोई गैर, क्योंकि अपने में तो बासीपन की बू आती है। विधि-निषेधों की जकड़ के बीच जीना दुर्वह है, जीवन के साज फीके पड़ जाते हैं और प्रकृत मर्यादाओं की भी क्षति होती है। पति उनके सम्पूर्ण अस्तित्व का 'अथ' और 'इति' नहीं हो सकता, मानो वह स्वतन्त्र इकाई नहीं, पत्नी का दास है, उन्हीं की कृपा पर निर्भर और आश्रित। जैनेन्द्र के उपन्यास का हर पति अपने आपको सौभाग्यशाली मानता है कि उसे ऐसी सुयोग्य और सुन्दर पत्नी मिली, किन्तु इसके विपरीत पत्नी के द्वन्द्व का मूल यही है कि जीवन साथी उसके मनोनुकूल नहीं, परस्पर उनके कार्यों और सिद्धान्तों में संगति नहीं, आकांक्षाएँ सर्वथा भिन्न, जीवन-दृष्टि पृथक्, एक अभावशील गृहस्थी—यही उनके जीवन की 'ट्रेजेडी' है। विवाह की सीमारेखा पर टिक कर नजर फैलाती है तो जीवन उन्हें एक विराट् शून्य, बेहद कटु, बेहद दर्दनाक और पीड़ा, तड़प, कुंठा और घुटन से रुंधा हुआ सा प्रतीत होता है, पर विवाह निभाना उनके लिए लाचारी नहीं है और पति नामक व्यक्ति के हर गुण-दुर्गुण और खुशामद पसन्दगी के साथ ही उनकी इच्छा-आकांक्षाएँ नहीं लिपटी-चिपटी हैं। इस लीक के बाहर झाँक पाती हैं तो उन्हें लगता है कि उस पार इतना कुछ है कि जिसे न तो एक नजर में देखा जा सकता है और चाह कर भी न एक बार में सहेजा जा सकता है। सुखदा के शब्दों में—"शनैः-शनैः मैं अपने पति के प्रेम और आदर को अनायास भाव से स्वीकार करने लगी मानो वह मेरा भाग ही हो। मैं ऐसी मानिनी बनी मानो यह समादर और सम्भ्रम मेरा सदा का हक हो। उनमें से फिर कोई रस नहीं मिलने लगा और तब अपनी स्थिति में तरह-तरह के अभाव नजर आने लगे।"

एक अन्य स्थल पर सुखदा कहती है—"इस बीच जाने किस एक अनिर्दिष्ट शक्ति से मैं पति से स्वाधीन होती चली गई। जीवन के रोज के कामों के लिए ही हमारी गृहस्थी संयुक्त थी। एक घर में खाते थे, एक घर में सोते और रहते थे, एक बच्चे के माता और पिता थे। एक जगह से आने वाली आमदनी में से दोनों खर्च करते थे। यह था, लेकिन फिर भीतर ही भीतर यह संयुक्तता बँटकर स्पष्टतया दो धाराओं में बहने लगी थी। उस जगह उनमें लेन-देन नहीं था। मेरा विचार और जीवन अलग था। सामाजिक जीवन अलग था। मुझे पता भी नहीं रहने लगा था।

पता रखन की उस समय चिन्ता भी नही रही थी कि पति क्या चाहते है, क्या सोचते विचारते है, मे क्या चाहती हूँ। क्या सोचती-विचारती हूँ—यही बात मेरे लिए अत्यन्त प्रमुख थी।"

यो विरोधी भावनाएं उनके दाम्पत्य जीवन के पारस्परिक सतुलन को डगमगा देती है, लेकिन जब कभी घटनाओ और क्रियाओ के सयोग से मतैक्य स्थापित होने के कारण उनके अभावो की खाई पटी-पटी सी लगती है, तभी कहीं से कोई नया या पुराना प्रेमी आ टपकता है और क्रमश एक नई 'ट्रेजेडी' का जन्म होता है।

पति-पात्रो के चरित्र-विकास के प्रसग में उनके अधिकार और प्रेम के गूढ एव अदृप्त भाव की व्यजना की वास्तविकता और प्रामाणिकता का आभास उत्पन्न करने के लिए लेखक ने अनेक कौशलो का सहारा लिया है, पर चूंकि उक्त चरित्रो के जीवन में भी अन्तर्मन की प्रतारणाएँ प्रचुर परिमाण में मौजूद हैं, अतएव उनके मनोविश्लेषण का आधार क्या है ? बात और व्यवहार में ऊपरी तौर पर मर्दानगी निभाते हुए भी भीतर से वे नितान्त खोखले और बेदम क्यो है ?

कहने की आवश्यकता नही कि चरित्रों में औचित्य आवश्यक है अर्थात् उपन्यास में कथानक और परिस्थितियो के अनुकूल जिस वर्ग का व्यक्ति हो उसकी विशेषताएँ उसमे परिलक्षित होनी चाहिए। उनके व्यवहार और वाणी में भी अनुभूति जन्य गहराइयो, विविधताओ और सूक्ष्मताओ का उद्घाटन होना चाहिए। पर क्या जीवन की सामान्य अनुभूति में वे कसौटियाँ और मानदण्ड उपयुक्त कहे जा सकते है जो महज विकृतियो को छिपाने के लिए शुद्धतावादी हठयोग, दुहरी नैतिकता और छिछले वाह्याडम्बर का पर्याय बनकर रह गए हैं ? ऐसे चरित्रो के पीछे अप्रामाणिक स्वीकारोक्ति है जो भ्रामक तर्कों से ऐन्द्रिकता या कुरुचि को जन्म देती है।

अनिवार्यत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि जैनेन्द्र के पति-पात्रो मे मुख्यत दो प्रवृत्तियो का द्वन्द्व है—एक तो पत्नी के आगे उनका व्यक्तित्व कुठित है, दूसरे वे इतने निरीह और न्योछावर हैं कि अपनी अदम्य जीवनी-शक्ति को पत्नी की हसीन हस्ती में खो बैठे है। परन्तु व्यक्ति मूलत मानव है, वह स्वतन्त्र रहना चाहता है, उसका सहज स्वभाव है कि निजी विराट् 'स्व' को वह परिमित नही करना चाहता, वह निपट स्वीकृति या विनिमय की इच्छा किए बगैर नही जी सकता। जीवन के मूलगत सस्कारो का आधार भी उसके वे कार्य-कलाप नही हो सकते कि उसके अधिकार छीने जाएँ और माथे पर किंचित् भी शिकन न पडे। पुरुष हो कर जैनेन्द्र ने पुरुष जाति का क्यों उपहास किया है ? पति बेचारे—जिनकी सरलता से उनकी पत्नियाँ तक त्रस्त है, क्यों इतने समर्पित और विपन्न है ? क्यो अपने समग्र अस्तित्व से अनस्तित्व बन गए है कि उन्हें अपनी इस दुर्भाग्यपूर्ण विराक्षत में भी सौभाग्य की सम्भावनाएँ नजर आती है ? उछाह और उमग से छलकते दिल लिये बेहयाई के कोड़े खाकर वे जरा भी सहमते या सकुचते नही। कोई असहमति, झुंझलाहट, ऊब या लानत-

मलामत भी नहीं है उनमें। आखिर, उनकी नजरों में उनकी खूबसूरत पत्नी ऐसी है जो सभी की प्रेमपात्री बने! शमा एक होती है, पर बेशुमार परवाने उस पर प्रेम-पिपासा की परिपूर्ति के लिए न्यौछावर होते हैं। काश! प्रेम का दायित्व या पुरस्कार उन्हें पति के नाते मिला है तो क्यों न वे इस सुखदायी सम्भार को खूबी से सँभालें और अधिक सहज एवं स्वीकार्य बने।

परन्तु मस्तिष्क का यह दृढ़तम संकल्प उस एकनिष्ठ आत्मस्थिति में सम्भव है जहाँ विकल्प नहीं होते और पार्थिव आवरण की तह के भीतर निर्द्वन्द्व सुख-शान्ति का अनुभव होता है। विरले ही ऐसे मनुष्य होते हैं जो ईर्ष्या या व्यामोह की विडम्बना से हटकर अपनी निरीह दृष्टि को बाहर से भीतर की ओर मूक भाव से मोड़ लेते हैं और अपने आप को संयत रखते हैं।

पर प्रवचना की ये लीकें कैसी तूल देकर आँकी गई हैं? 'विवर्त्त' में रौबीले, सहज प्रशासनप्रिय बैरिस्टर नरेश के मुँह से ये शब्द कितने अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं—

"वह पहले प्रेमी था, लेकिन बाद में भी प्रेमी हो, निरन्तर प्रेमी हो, तो मुझे उसमें क्या कहना है? क्या मेरा आशीर्वाद है कि ऐसा हो? हाँ, है आशीर्वाद, मेरी मोहिनी को सबका प्रेम मिले। सब ही का प्रेम मिले, क्या उसके मेरी होने की सार्थकता तभी नहीं है कि अभिन्नता इतनी हो कि मेरा आरोप उस पर न आए? यही है मोहिनी, यही है, देखोगी कि मेरी ओर से तुम पर आरोप आने की आवश्यकता कहीं रह गई है। हे ईश्वर! तू हो तो तुझसे मेरी यही प्रार्थना है।"

मोहिनी और नरेश का यह वार्त्तालाप—

"नरेश ने ठोडी में हाथ लगाकर मोहिनी के चेहरे को ऊपर उठाया, कहा—"मुझ पर विश्वास नहीं करोगी? हाँ, ऐसे ही...अब कहो क्या बात है?"

वह उठे चेहरे से पति को देखती रही और देखते-देखते एक साथ झुककर उनके अंक में फिर छिप रही।

"नहीं नहीं, ऐसे काम नहीं चलेगा, मेरी, रानी!" अंक में लिये-लिये कुछ डग चलकर नरेश ने पत्नी को आराम कुर्सी में बैठा दिया और सामने घुटनों बैठते हुए कहा—"कुछ बात जरूर है, खोलकर न कहोगी तो मैं क्या समझूँगा?"

मोहिनी ने उत्तर में अपना मुँह हाथों में छिपा लिया।

नरेश कोई एक मिनट उस तरह बैठे रहे, फिर उठकर कमरे में टहलने लगे। दो-एक मिनट चुपचाप-से उधर डग भरते रहकर वह कुर्सी के सामने कोई दो गज दूर खड़े होकर बोले—"मोहिनी, मुँह छिपाने की तुम्हारे लिए कोई बात नहीं। प्यार का हक सबको है। तुम्हारा, मेरा, उसका सबका...अच्छा, मैं चलूँ?"

'सुखदा' उपन्यास में सुखदा के पति के ये शब्द—

"तुम्हारा, मुझ से विवाह हुआ है, हरण तो नहीं । विवाह में जो दिया जाता है वही आता है, पराधीनता किसी ओर नहीं आती । सुनो सुखदा ! स्वतन्त्रता तुम्हारी अपनी है और कहीं आने जाने में मेरे खयाल से रोक-टोक मानना मुझ पर आरोप डालना है । मुझ से पूछो तो तुम्हें अपन प्रतिरोध लाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

सुखदा तक को जब पति के अभिमत पर आश्चर्य होता है तो उसकी स्वच्छन्दता को और भी शह देता हुआ वह अपनी बात की पुष्टि में कहता है—

"विवाह क्या चीज है, मैं अक्सर सोचता हूँ । क्या वह स्वत्व को बन्धक रख देना है । स्वत्व का अपहरण कर लेना है ? समर्पण में तो सार्थकता है, लेकिन समर्पण का तो व्यक्ति को पता ही नहीं रहता।"

'व्यतीत' में अनिता और जयन्त का पारस्परिक प्रणय व्यापार जानते हुए भी धनीमानी मिस्टर पुरी का अपनी पत्नी को स्वेच्छया उसके प्रेमी को सौंप जाना या हर बात में इतनी उदारता बरतना कुछ जँचता नहीं ।

"दैट वुड बी मोर लोजिकल" न होता जरूरी तो मैं न जाता । लेकिन आपके जयन्त हजरत अभी अनमन हैं । यकीन है तुम पीछे उन्हें मना भी लोगी ।"

और सुनीता के प्रति श्रीकान्त के आग्रह भरे पत्र की ये प्रसिद्ध पंक्तियाँ—

"सुनीता, मुझे उसकी भीतर की प्रकृति की बात नहीं मालूम । तो भी तुमसे कहता हूँ कि तुम इन दिनों के लिए अपने को उसकी इच्छा के नीचे छोड देना । यह समझना कि मैं नहीं हूँ तुम हो और तुम्हारे लिए काम्य कर्म कोई नहीं है । इस भाँति निषिद्ध कर्म भी कोई नहीं रहेगा । ⋯ तुम उसकी वैरागी वृत्ति को किसी तरह कम कर सको, उसमें कहीं बाँधकर बैठने की चाह जगा सको तो शुभ हो।"

इन्हीं पंक्तियों की प्रेरणा से सुनीता अपने सतीत्व तक को हरिप्रसन्न को सौंप देने में नहीं हिचकती । लौट आने पर श्रीकान्त सब कुछ समझ जाता है, पर आश्चर्य कि उसे इस पर रोष नहीं, अपितु प्रसन्नता होती है और अपनी पत्नी के इस कृत्य पर कृतज्ञता प्रकट करता है—

"आज क्या मैं नहीं जानता कि यह गाँठ उसके भीतर से खींच निकालने में उपलक्ष्य तुम बनी ? हाँ, तुम । मैं इसके लिए तुम्हारा चिरकृतज्ञ हूँ, सुनीता ! दुनिया जब यह जानेगी, वह भी तुम्हारी कृतज्ञ बनेगी । मुझे ऐसा मालूम होता है कि तुम्हारे सम्बन्ध में मेरा पतित्व इस कलाकृति में भरी व्यथा के समक्ष मात्र थोथा ही तो कहीं नहीं है।⋯⋯"

सुनीता ने अपने स्वामी के वक्ष में मुँह टिका लिया ।

"सुनीता, अब भी क्या हरिप्रसन्न में ग्रन्थि अवशिष्ट है ? उसे क्या फिर बुलाने का साधन नहीं हो सकेगा?"

सुनीता ने कहा, "मैं तुमसे सच कहती हूँ कि मैंने उनसे यही कहा कि वह जाएँ नहीं, रुकें । सच कहती हूँ, मैंने अपने को नहीं बचाया । जाने वह कहाँ गए हैं ।

मुझे लगता है……"

"देखना होगा, कहां गया है। बट अवर ववीन केन डू नो रांग।"

इसी अभिमत को बार-बार दुहराना जैसे जैनेन्द्र की प्रधान निष्ठा बन गई है। दस वर्ष के मौन के बाद उन्होने 'सुखदा', 'विवर्त्त' और 'व्यतीत' में वही 'सुनीता' की कहानी दोहराई और अब परवर्ती कृति 'जयवर्द्धन' में भी यही चर्वितचर्वण है, मानो तर्क से परे यह विश्वास इतना जमकर बैठ गया है उनके मन मे कि इस परिपक्व, ढलती वय में भी वे रच मात्र इससे आगे नही सरक सके है। 'जयवर्द्धन' में लिजा का अपने पति के सम्बन्ध में मि० हूस्टन से वार्त्तालाप देखिए—

"मै अपनी जगह खडा हुआ, कहा, "पति पर तुम्हारा इतना स्वत्व है?"

"जाने क्यों है! मैं उसकी पात्र तो नही हूँ, लेकिन .."और लिजा के चेहरे पर जैसे एक तीव्र वेदना की छाया आई और चली गई।

"तुम्हारे दुःख को समझ सकता हूं, लिजा!" मैंने कहा, "पति तुम्हें आश्रय नही हैं, कुछ आश्रित हैं। इस दुःख को समझ सकता हूँ, लेकिन लिजा इसी से तुम्हारी जिम्मेदारी बडी है, जानती तो हो—?" लिजा भी उठ आई, बोली—"विवाह को निभाऊँ, यही न? लेकिन फिर क्या करूँ? अपने को न निभाऊँ? बिलवर! अधिक काल इस विवाह को ठिकाना मेरे लिए सम्भव न होगा।"

मैंने उठकर लिजा को कन्धे पर से पास लिया, कहा, "पागल न बनो, लिजा! यदि जानती हो कि अन्दर तुम में उसके लिए आश्रय नही है फिर नाथ को एक क्षण के लिए भी तुम भुलावे में रखती हो तो क्या यह विश्वासघात नही है?"

"है', मेरे साथ पलग पर बैठती हुई बोली, 'लेकिन वह स्वय अपने को छलना चाहते हैं, जानते है अब जो है मेरी ओर से किंचित् अनुग्रह है, फिर भी खीझ सकते हैं, लेकिन मेरे प्रति अपने लोभ को जीत नही सकते। और यह भी कहती हूँ बिलवर! कि मन के भीतर मेरे कुछ भी हो, पर विवाहित हूँ तब तक अपनी परिअक शायिनी के प्रति मैं उन्हें तनिक भी असन्तोष का अवसर नही देती....क्या यह तपस्या नही है? बलिदान नही है? तुम कहोगे कि उसी बलिदान को मैं अनन्त बनाए रखूँ? कितना घोर पाप होगा यह सोचो तो आज भी किंचित् उन्हें इसका अनुमान हो तो हो सकता है, यद्यपि भरसक अपने व्यवहार में, उनके लिए कही अवकाश मे नहीं देती, लेकिन सत्य पर सयम कब तक चल सकता है, और क्या यह पति नामक व्यक्ति के प्रति अन्याय न होगा?

मैंने उसे अपने अक में सिमट लिया और हौले से कहा—"अब भी क्या अन्याय नही है?"

"हो, लेकिन जो वह पाते है उसका मूल्य उन्ही के निकट उस अन्याय से अधिक है, तब मै क्या कर सकती हूँ? जबर्दस्ती उनकी आँख खोलना भी क्या अन्याय न होगा?"

सुनकर मुझ मे गम्भीर व्यथा जगी। नाथ के प्रति गहरी सहानुभूति हुई, कहा, इसी बल से क्या तुम नाथ से जो चाहो करा लेने का विश्वास रखती हो ?"

'छी, छी, कहते ग्लानि होती है, पर सच यही है, और इस जघन्य स्थिति से मैं कब ऊब जाऊँगी कह नही सकती। बस यही सोचकर सहारा पाती हूँ कि शायद किसी के कुछ काम आ रही हूँ।'

उक्त बुर्जुआ प्रेम की तथाकथित उदात्त भावना की झुठाई की पोल इस तरह की जघन्य स्वार्थपूर्ण प्रवृत्तियो के सघर्ष, नितान्त हीन आकांक्षाओ की पूर्ति और स्त्री पुरुष के कुत्सित सम्बन्ध का प्रचड आवेगपूर्ण परिस्थितियो के चित्रण द्वारा प्रकट हुई है, क्योकि चतना का इतना उदात्त सस्कार अतिशय प्रेम, बलिदान और त्याग द्वारा भी मुश्किल से ही सिद्ध हो पाता है, फिर साधारण घरू व्यक्तियों के क्रियात्मक जीवन में तो असम्भव-सी चीज है। अत जैनन्द्र के पति-पात्रो का यह आत्मपीडन और त्याग एक बडा भारी मनोवैज्ञानिक असत्य तो है ही, साथ ही पत्नियो के अहकारी दायित्वहीन अनैतिक स्वेच्छाचरण को पतियो के उदात्त जीवन दर्शन का परिणाम सिद्ध करके अतिरिक्त महिमा से मडित करना इतना ही अनुदात्त और लज्जाजनक भी है।

अधिकतर किसी भी व्यक्ति की जीवन शैली उसके अपने पारिवारिक एव सामाजिक वातावरण की पृष्ठभूमि पर बनती है और वह जो कुछ करता या सोचता है अपनी सीमा मे घिरकर ही। चारित्रिक विश्लेषण में एक और जरूरी बात यह भी है कि किन अर्थों मे और क्यो किसी व्यक्ति का स्वभाव दूसरे लोगो से भिन्न है और उनके तौर-तरीके क्या हैं ? तार्किक औचित्य प्रदान करने के लिए मनोवैज्ञानिक तथ्यों की अवहेलना नही की जा सकती, क्योकि मनुष्य तभी सत्य है जबकि वस्तु-सीमा अथवा जैव-सीमा में उसकी नियति और कर्म का औचित्य सिद्ध हो सके। देश काल की सीमा में आबद्ध जो खण्ड मानव सत्ता या व्यक्ति सत्ता है उसमे बाहरी या भीतरी तौर पर कितना ही भेद क्यो न हो, किन्तु हमारी व्यावहारिक जीवन-धारा पर मानवीय बोध की विकृति या उपलब्धि स्वाभाविक ढग से होनी चाहिए। यों तो समाज-परम्परा और विकास की सापेक्षता में मान्य तथ्यव दलते रहते हैं, अनुभव स्तर में भी परिवर्तन होता रहता है, तथापि लेखक के दृष्टिकोण वही तब मान्य हैं जो हाड-माँस के शरीर में भ्रान्तिमूलक धारणाओ की कल्पना न करके अपने कथा-नायको का मानसिक धरातल उन्ही तत्त्वो से गढते हैं जो बुद्धि द्वारा विश्वसनीय और ग्राह्य हो।

क्या आज की टेकनीक यही है कि मध्यवर्गीय कुण्ठाओ और नैतिक मूल्यो को अनुचित बढावा देकर व्यक्ति मन की विसगतियो और विकृतियो की नग्नता का पर्दाफाश किया जाय ? क्या जैनेन्द्र के उपन्यासो के कथानक उस बिन्दु से प्रारम्भ नही होते जहाँ पति का ध्वस्त आत्मविश्वास उसकी पत्नी का 'अहं' बनकर बिखरता जाता है और क्या इस प्रकार मन के विश्वास को भटकने देकर अज्ञात डोरी में बँधे

उन्हें अवाछित पथ पर बढते जाने का सम्बल नही मिलता ? अफसोस कि जैनेन्द्र के औपन्यासिक पात्रो मे उनके अपने जीवन के सिद्धान्त बोलते है और समस्याओ को सुलझाने बैठकर वे स्वय अगणित प्रश्नो मे उलझते जाते है। प्रखर चिन्तन के छिन्न अनुपगो के सहारे उन्होने अपने पात्रो को निरा यान्त्रिक और एकागी बना दिया है जो उनके समूचे व्यक्तित्व को एक खण्ड चित्र या भग्न तस्वीर के रूप मे उभार कर रह जाता है। मनुष्य के कर्म और अभिज्ञता द्वारा जो सहज ज्ञान उन्मुक्त हो चला है वही मनोवैज्ञानिक सत्यासत्य का परिमापक बनता है और उसी के सहारे हम इस प्रत्यय पर दृढ हो पाते है कि क्या वस्तुत सच है और क्या नही, अन्यथा हमारे प्रत्यक्ष सन्धान से परे अथवा विचार विश्लेषण से अगोचर कोई व्याख्या हमारे मन में नही धँस आती।

जब पुरुष के मन के मथन की सहजानुभूति को आँक पाने में असफल रहे है जैनेन्द्र, तो नारियो की द्वन्द्वात्मक निगूढ मन स्थितियो के उद्घाटन का दावा ही क्यो करते है ? क्या वेहयाई की हद पर भी कोई कुलीन, लज्जाशीला वधू (जैसा कि सुनीता करती है) निरावरण हो किसी पर पुरुष से कह सकती है—

"हरी, मुझे लो, मुझे पाओ। इस एक आवरण को भी हटाए देती हूँ। वही मुझे ढँक रहा है। मुझे चाहते हो न ? मै इन्कार नही करती। यह लो—।"

और 'व्यतीत' की अनिता भी जयन्त की मर्दानगी को खुले-आम चुनौती देती हुई कहती है—

"कहती हूँ मै यह सामने हूँ। मुझे तुम ले सकते हो। समूची को जिस विधि चाहो ले सकते हो।"

क्या 'जयवर्द्धन' में इला जैसी गभीर और अल्पभाषिणी, शिष्ट और सयत, साम्राज्ञी एव महामाननीया के पद पर आरूढ शान्त, गरिमामयी भारतीय नारी किसी विदेशी पत्रकार पर्यटक से अपने मन के प्रच्छन्न, गोप्य प्रेम-रहस्यो को इस धडल्ले के साथ सुना सकती है—

"फैले हाथ बढने मेरी ओर आते ही गए और प्यार मे बिगडा मेरा यह नाम 'इली' पछाडो पर पछाड खाता गूँज गूँज कर मेरे कानो के पर्दों पर पडता मेरे समूचेपन में रमता समा गया

उन हाथो ने मुझे न छूआ, आँचल के छोर को ही लिए उठाया, और उसे अपने होठो और फिर आँखो से लगाया, मेरे सारे गात मे काँटे सिहर आए, आँखें बन्द हो गई, कानो से फुसफुसी, मानो नीरव वाणी में सुनती गई—इली—ी—ी ··

ओह, जाने कैसी पुकार थी, काल के किस छोर से वह चली आरही थी। मेरे समूचेपन में से बोल उठा · लो, लो, लो, मुझे लो···तभी एक हल्का-सा परस मेरी उँगलियो को छू गया, सारे गात में एक साथ बिजली दौड गई और मै वर्जन करती चिल्लाई : नही, नही, नही···

वर्जन करती ही मै अपेक्षा में रही कि कोई होगा जो मेरी 'नहीं' नहीं

सुनगा और मुझे ले ही लेगा। इस अपेक्षा को ही नहीं मैं दोहराती चली गई, हाथों के वर्जन से लाने वाले को हटाती और बलाती चली गई ......।"

और निर्मम विवक की कसौटी पर जैनेन्द्र ने नारी के उस अतगूंढ, अतिसूक्ष्म मनस्तत्वों को उद्घाटित कर करारी चोट की है जिसे वह स्वय अपने सम्मुख खोलने तक में सकुचाती है—

"तब से कभी मैंने उन्हें अवश नही पाया है। अपनी ओर से चेष्टा की है। घृष्टता की है, निर्लज्जता की है पर नहीं, कुछ नही हुआ है' पूछती हूँ, यह प्रेम है ?"

यह कहती गई, 'बीस साल हो गए, शायद अधिक ''आँखें मेरी उठी हैं और सामने की आँखों में मैंने चाह चीन्ही है, पर तभी वे आँखें मुंद गई हैं और मुंदी रही हैं। उंगलियों के पोरा में लालसा रहती दीखी है कि वे अब बढ़ेंगी, लेकिन नहीं, नाम के जाप में उन्हें अपनी ही ओर फर लिया गया है। मैं समझ हूँ और सबेरे का तड़क अधरा है कोई पास नहीं और कहते हैं, 'अब भजन,' हर सबेरे, हर शाम, यही कि अब भजन' दिन में, देखती हूँ समय नहीं मिलता, पर इस समय न मिलने को देखती तो हूँ ही, रात दूर रहते हैं मैं दूर रहती हूँ।'

यो इसी तरह के भाव और वातावरण को बार-बार दोहराया गया है मानो सभी नारियों के हृदय को एक तार मे बंधा गया है जो जरा-सी चोट से झनझना उठता है और जिसमें केवल एक ही झकार होती है। क्यो अनाचार और द्वेषमूलक आत्म-हनन को अनेक पुरावर्त्तना के साथ नारी का नारकीय उत्पीडन बताकर नाटकीय ढग से प्रस्तुत किया गया है ?

जब लाल सुखदा के आलिंगन पाश की जकड़ खोल और उसे सोफे पर जबर्दस्ती ढकेल चल देता है तो जैनन्द्र की परिचित शब्दावली में नारी का अन्तर्मंथन जरा देखिए—

'स्त्री का यह क्या हाल है ? क्या है जो उसको ऐसा अवश कर जाता है कि वह स्वय नही रह जाती, गलकर पानी बन जाती है। पुरुष उसे लेने उसकी ओर आता है, तब वह उसे इतना समझती है कि समझ को कुछ बाकी नही रहता, कुछ चुनौती नही रहती। पर जब वह नहीं आता उसमें, बल्कि या तो उसे लाँघकर या उससे लौटकर जाता वह कही किसी अनबूझ में है, वहाँ जहाँ उसे कुछ पकड़ने को मिलता ही नहीं तब स्त्री को एक साथ क्या हो आता है ? जैसे इस असह्य अपमान की बराबरी करने को उसका सारा मान एक ही साथ आकर पलट में झुक पड़ने को आतुर हो जाता हो। उस अनबूझ की तरफ बढ़ते हुए पुरुष का पीछा करके एक बार तो उसका मुँह अपनी ओर कर देखने की आन पर जैसे वह प्राणपण से तुल आती है। तब कहीं कुछ उसके लिए नहीं रह जाता। न कही वर्जन रहता है, न पाप रहता है, न समाज रहता है, मानो वह होती है और सामने चुनौती। तब अपने में

वह रह नही पाती, अपने को अतिक्रमण उसे करना पडता है। स्त्री इस चुनौती के जवाब पर देवी बन आती है, डायन बन जाती है, और स्वय देखकर विस्मय में रह जाती है कि वह कब स्त्री नही रही।"

इस प्रकार सद्गृहस्थ नारी की सुरुचि और उच्च सस्कारिता को घोर कुत्सा और जघन्य शीलच्युति में परिणत कर दर्शाया गया है। दरअसल, आज के काम-मनोविज्ञान ने नारी पुरुष के यौन-सम्बन्धो को इतना आसान बना दिया है कि न कोई पाप-पुण्य की सीमा है और न किसी बँधी-बँधाई पारिवारिक परिपाटी का लिहाज। जैनेन्द्र इस मत के हामी है। 'व्यतीत' में अनिता के मुख से कहलाया गया है—

"जयन्त क्यो डरते हो ? कौन कितने दिन रहता है। सब एक दूसरे के सुभीते के लिए है। क्या अपने में रहना कही है ? यह सच नही, असच है। होगा तो वही पाप होगा, दूसरा पाप मैने बहुत ढूँढा मुझे नही मिला।" "तुम स्त्री नही हो इसलिए न तुम्हें पुरुषत्व का मान है, पर अपने स्त्रीत्व पुरुषत्व को अखड रखने के लिए हम नही सिरजे गए है। हमें एक दूसरे में अपना विलय खोजना होगा। नही तो जयन्त सफलता नही, परिपूर्णता नही है। भगवान् अर्धनारीश्वर है तो क्यो ? इसी लिए कि कोई अपने को बचाने में बन्द न रहे। इसीलिए कि निजता हमारी हठात् टूटे और वह परम्परा का पाठ सीखे ' जयन्त स्त्री-देह को तुमने नही जाना है तो यह मैं हूँ। ब्याहता हूँ, पति की भक्ति करती हूँ, फिर भी हूँ। कहती हूँ किनारा लेकर तुम कही कही कही न जा सकोगे······।"

प्रश्न है—अनैतिकता की यह प्रवृत्ति आज क्यो इस हद तक बढ़ गई है और वह कहाँ तक मान्य या अमान्य हो सकती है। पुरानी वर्जनाओं को मौजूदा आचारिक नियन्त्रणो से हटा देना हमारे सभ्य जीवन की बहुत बडी व्याधि है जो अतिशय नग्न ऐन्द्रिकता की प्रवृत्ति को अधिकाधिक पुष्ट कर रही है। यह सच है कि निश्चित फार्मूले से कोई महान् कलाकृति नही सिरजी जा सकती, प्रबुद्ध लेखक की मौलिक प्रतिभा पुरानी लकीरो को तोडकर आगे डग बढाती है, पर इतना ही यह भी सच है कि बाह्यारोपित मतवादो से किन्ही भी नए जीवन-सत्यो को विकसित नही किया जा सकता। चूँकि मनुष्य का विवेकपूर्ण आचरण उसकी जीवन-प्रगति का विधायक है, अतएव उसे पशुधर्मी बनाकर सहज मर्यादाओ को कैसे अतिक्रम किया जा सकता है ?

विवाह तक को जैनेन्द्र ने मिथ्या मर्यादाओ की एक बाहरी नकाब माना है जिसके भीतर मनुष्य एकदम नगा है और जिसकी ओट में उसे और भी खुलकर खेलने का मौका मिलता है। 'जयवर्द्धन' में—

"विवाह यो प्रतिज्ञा है, पर सच कहिए सामयिक सुविधा से वह अधिक है ? प्रेम तो उसमें साथ देता नहीं, प्रेम मुक्त है, विवाह आबद्ध है, अन्त में विवाह बस निर्वाह हो रहता है, ईर्ष्या से बाँध तभी बँधा रहता है, विवाह टिकाने को ईर्ष्या जरूरी

है, द्वार पर पहरे के लिए ईर्ष्या को बिठाकर ही मानो विवाह की सुरक्षा में रहा जा सकता है'' यह सब बेकार है, अड़चन भी है, उपयोग में अड़चन है, और स्वतन्त्रता में और पूर्णता में .. ''

अतः जैनेन्द्र के लिए विवाह भी एक उलझी हुई बौद्धिक समस्या है। वे इसके मूलवर्ती आधारों में परिवर्तन और इसकी सहज मर्यादाओं से संघर्ष करते है।

जैनेन्द्र की भाषा नुकीले सूत्रों और सूक्तियों में अधिक मँजी है, पर जहाँ तक शब्द-विन्यास की योजना की गई है उनमें व्यंजक अर्थ की दुरूहता है। उनमें पाण्डित्य के कण ही छितराते है, रस की बूँदें बिखरती नहीं। कहीं-कहीं लगता है लेखक का साध्य भाव न होकर भाषा ही है। एक खास परिमाणबद्ध 'पैटर्न' में अदना से अदना छिपी पड़ी रहने वाली उपान्त भावनाएँ वृत्ताकार रूप धारण करती है और गहराई में न डूबकर मर्यादावादी दृष्टिकोण से बँधी रहती है जिसके कारण उनमें आन्तरिक व्यवस्था तो है, पर भाव साहचर्य के बिना असगत और असम्बद्ध विचार प्रवाह सी आगे-पीछे, अगल-बगल इतस्ततः कितनी ही धाराओं में विभक्त क्रमहीन और बिखराहट लिए मानव-बुद्धि को चुनौती सी देती है। घटनाओं की शृंखला से अलग छिटककर और यत्रतत्र अनुभूतियों की अँगुली छोड़कर वे मानसिक प्रक्रियाओं के ताने बाने में उलझी पुलझी सामने आती है, फलतः अनुभूति की मार्मिकता और सहज संवेदनीयता के बदले जैनेन्द्र का ध्वन्यात्मक शब्द-चयन बौद्धिक शुष्कता और नये अभिव्यंजक शब्द-समूह की विलक्षणता में ही सीमित है। 'लज्जित हो पड़कर', 'पलक गिरा लेकर कहा,' 'खोया सा क्या हो पड़ा है,' 'चित्र में सुनीता फँस-सी पड़ी', 'खड़ा ताका किया', 'अप्रसन्न हो आई'—आदि प्रयोग मुझे सदा भौंडे और बेतुके से लगे है। ऐसी भाषा एक सीध में नहीं चलती और व्यर्थ के शब्द ठूँसे जाकर उसमें विचित्रता की सृष्टि की जाती है।

जैसा कि हमने पहले स्वीकार किया है जैनेन्द्र में निरीक्षण की बारीकी है। पर मुझे देखकर ताज्जुब हुआ है कि उनसे भी कई जगह अक्षम्य चूकें हुई है। 'सुनीता' उपन्यास के ३२ वें पृष्ठ पर हरिप्रसन्न के आतिथ्य के लिए जब पति-पत्नी अर्थात् सुनीता और श्रीकान्त में पूरी सब्जी बना लेने का पूरा-पक्का निश्चय हो जाता है तो पता नहीं क्यों दो चार पृष्ठों के बाद ही जैनेन्द्र यह बात भूल जाते है और बिना किसी कारण का उल्लेख किए पूरी-सब्जी फूली रोटी और दाल में बदल जाती है। 'विवर्त्त' में पृष्ठ १४० पर जब मोहिनी की डाक आती है तो उसमें उसे जितेन का का एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण पत्र मिलता है।"क्षण भर इस पत्र को वह हाथ में लिए रही, फिर उसने उसे जोर से फाड़कर बारीक चीर दिया और रद्दी की टोकरी में फेंक दिया।" लेकिन पृष्ठ १४६ पर इसी पत्र का हवाला देते हुए—"मोहिनी ने वह पत्र निकाला और नरेश को दिया, आज आया दूसरा पत्र भी उसके हाथों में थमा दिया।"

किसी भी पात्र की विशिष्ट भाव-वृत्ति और जीवन-स्थिति के आधार पर उसके विचार और आदर्श स्थिर होने चाहिए, किन्तु जैनेन्द्र ने चिंतन के घनीभूत क्षणों में पात्रों के परोक्ष कथ्य को अनेक स्थलों पर असंभव और अयथार्थ सा बनाकर रखा है। 'विवर्त्त' की इंगलिश नर्स मैथिल्डे हिन्दी बिल्कुल नहीं समझती, फिर कैसे वह जितेन और भुवनमोहिनी के पारस्परिक कथोपकथन, यहाँ तक कि उनके सांकेतिक शब्दों तक के मर्म में बड़ी आसानी से पैठ जाती है। 'जयवर्द्धन' में मि० हूस्टन के मुख से 'शिव-शिव' और हंगेरियन लिज़ा के मुख से ये शब्द कहलाये गए हैं—"इला जी सीता के समान हो सकती हैं, लेकिन उन्हें अनुमान है उस परिस्थिति का जो पैदा बनकर किसी समय जय को घोट सकती है? सतवन्तीपना ठीक, लेकिन क्या वह काफी है?"

यह बहुत ही आमफ्हम बात है कि ईसाई धर्मावलम्बियों में मूर्तिपूजा का घोर निषेध है, पर जरा मि० हूस्टन और लिज़ा का पृष्ठ २५५ पर वार्तालाप देखिए–

"पूछा—"मामला क्या है?"

बोली, "ईर्ष्या, निरी और केवल ईर्ष्या।"

"ईर्ष्या जय से?"

वह बोली—"मैं तो चाह तक नहीं सकती हूँ कि ईर्ष्या का कारण होता, पर जय—उनसे अप्राप्य भला क्या है?"

मैं हँसा, बोला, "अप्राप्य क्यों?",

बोली, "पूछते हैं आप—आप पूछते हैं?"

"अप्राप्य भगवान भी नहीं हैं" मैंने कहा—"भक्ति चाहिए।"

"भक्ति पत्थर की?"

"भगवान् पत्थर के सिवाय और कैसे भी हैं? वह पत्थर के ही हो सकते हैं।"

जैनेन्द्र के उपन्यास मुख्यतः एक ही मूल भाव को बार-बार दोहराते और प्रशस्त करते हैं, हाँ, उनके मानस के कुछ ऐसे अजीबोगरीब मोड़ हैं जो राग-विराग अथवा उनकी सहज प्रतीतियों को वाणी देते हैं। निश्चय ही उनके प्रखर चिन्तन ने मर्म को छूआ है, परन्तु वह हमारे अन्तर को किसी उमंग या भावोद्वेलन से नहीं भर पाता। कारण, उनकी चेतना प्रयोजन-परिधि को लाँघकर आगे नहीं बढ़ पाई है। उनके उपन्यासों की प्रमुख विशेषता—राग, अहं और वासना का द्वन्द्व—जो नारी में अदम्य लालसा और उसकी मार्मिक हलचलों का साध्य बनकर प्रकट हुआ है, प्रेमी में समस्त प्रतिबन्धों को तोड़कर नवीन आदर्शों का नीड़ बनाता है, पर वही जो गृहस्वामी या पति में पत्नी की उद्दाम और असन्तुलित कामवासना उसके सात्विक और प्रतिदान शून्य प्रेम में परिणत हो गई है—तो क्या मानव-मूल्यों को—बौद्धिक विडम्बना से

परे—इन मभामक तत्वो से ऊपर उठकर नहीं देखा जा सकता था ? यों तो औपन्यासिक सृष्टि अनेक जटिल प्रभावो तथा मनस्तत्त्वो का घात-प्रतिघात है, कितने ही 'कम्पलक्सेज' और रहस्यात्मक व्यंजनाओ की अवतारणा उसमें की जा सकती है पर उसके निराकरण का प्रयत्न विचित्र अहेतुक और अपने तर्कों की लाचारी का जड़ नहीं होना चाहिए। मानव मूल्या के सर्वव्यापक सत्य से आत्मसंस्कार करना अथवा उसे मन-प्राण में उतार लना ही उपन्यासकार की खूबी है, क्योंकि देशकालातीत इस महन् सत्य के विकासशील पहलू ही उसकी अभिव्यक्ति प्रतिफलित किया करते है। कितना अच्छा हो कि जैनेन्द्र अपनी भावी कृतियों में अतिरंजित से हट कर अधिक स्पृहणीय प्रवृत्ति का परिचय दें साथ ही रुग्ण, प्रतिगामी मान्यताओं का मोह छोड अपनी लेखनी को नई समाजोन्मुख मर्यादा की अपराजय तेजस्विता से अभिषिक्त कर उपन्यास के समस्त संभावित विकास को नया मोड दें।

१०

'अज्ञेय' के उपन्यासों में आचरण स्वातन्त्र्य के नैतिक मान

'अज्ञेय' के कृतित्व में नवीनता का उन्मेष और परम्पराविच्छिन्न प्रयोगो की आस्था हमें प्राप्त हुई है, पर मनोविश्लेषण की दृष्टि से चारित्रिक व्यक्तित्वो को जिन नियुक्त खण्डो में विभाजित किया गया है वह रोमानी चौखटे में भले ही 'फिट' बैठें, पर सत्साहित्य की लोकतान्त्रिक या व्यावहारिक कसौटी पर खरे नही उतर सकते।

दरअसल, साहित्य को किन्ही निश्चित सीमाओ या शर्तों में नही बांधा जा सकता, अत यदाकदा प्रतिक्रियावादी या प्रतिद्वन्द्वी गुट जाने अनजाने चिन्तन की मूल धारा को नए रुख की ओर बरबस मोड दिया करते है। सृजन की प्रकृति चेतना में ऐसा मोड क्रांति का सूचक है। परन्तु जो प्रतिमान या अर्थ नयेपन की अदम्य आकांक्षा से सिरजे जाते है उनमें चिन्तामूलक संस्कृति के सारभूत तत्त्व और अंतर्बाह्य के सत्य का शाश्वत स्पन्दन तो होना ही चाहिए। अन्यथा नित्यप्रति के जीवन से दूर चरित्र-चित्रण की उक्त कसौटी मिथ्या और उथली साबित होती है।

'अज्ञेय' के चरित्र चित्रण और मनोविश्लेषण में एक सुनिश्चित रूप-विधान है जो अभिनव है, किन्तु उनका जीवन-दर्शन जिन विनाशक और विघटनकारी उद्भावनाओ पर आश्रित है वह असम्बद्ध स्वप्नमय मनस्थिति की ओर उत्प्रेरित कर यथार्थ से विमुख और वंचित करने वाला है। प्राय जटिल वक्र रेखाओ से उनके चरित्र निर्मित हुए हैं। क्षणिक मनोरंजन की प्रवृत्ति से जो नारी-पुरुष के गर्हित सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं वे अन्तत आन्तरिक उत्तेजना और पागलपन के कारण विवेकरहित संकल्पो, भावावेशो, बाह्य हिप्नाटिक प्रभावो और ऐन्द्रजालिक अन्तर्विरोधो से परिचालित एक अनस्तित्व, असामंजस्य मनोवृत्ति में परिणत हो जाते हैं। गन्दी वासना से उपजे विषैले कीटाणु जीवन-अस्तित्व के सूक्ष्म से सूक्ष्म तन्तुओ में पैठ मानव के मर्यादित निष्ठापूर्ण आचरण को रुग्ण और जर्जर बना डालते हैं। अर्थरहित प्रतीक, भग्न छाया-चित्र, उखडी पुखडी अर्धध्वस्त निष्क्रियता, भावावेश और मूर्च्छना से विपाक्त प्रत्याकांक्षाएँ स्वस्थ समाज को भीतरी निराशा, पीडा, अचेतनता और पशुपन की मदिरा बनाकर पिलाते रहते हैं जिनसे उनके मजबूत अस्थिर कदम लडखडा जाते हैं।

'अज्ञेय' के औपन्यासिक पात्र मानवीय आशा और आकांक्षाओ के प्रतीक न होकर

असगत चेतना की परतो और गतियो पर आश्रित हैं। किसी भी कृतिकार के अनुभूत को जीवन के रागात्मक मूल्यो अथवा उपलब्ध सत्य से संश्लिष्ट कर विकृति या उन्माद का हेतु बनाना उसका गर्हित उपयोग तो है ही, उसकी एकात अहगत चेतना द्वारा मानवत्व के मूल तत्त्वो को छिन्न करके उसे सकीर्ण दायरे में बन्दी भी बनाना है।

क्या साहित्य और कला बौद्धिक अतिचार और अनैतिकता के वातावरण में रूप के हाट की उच्छृखल नायिका सी कुछ प्रयोग-प्रेमियो की क्रीडाकामिनी बनकर जीवित रह सकती है ? क्या रोमास की ये रगीन तस्वीरे विह्वलता से काँपते वाष्पीय फन नही है जिन पर धूम्रमिथित धुध की मुर्दनी छायी है, अत. तर्क द्वारा निजी अनुभूतियो के बीच के व्यवधान को भरने का बोध लेखक में सही, पर दुरूहता के पेंच बोझिल और अप्रयोग्य बनकर उदात्त भावो का गला घोटते है। उदाहरणार्थ—शेखर को लें—उसके चरित्र द्वारा वह तो व्यक्त होता है जो लेखक का आकाक्षित है, पर साथ ही जो अगम्य और अमानुषिक भी है।

इसमें किंचित् भी सन्देह नही कि 'शेखर—एक जीवनी' का नायक शेखर एक अत्यन्त सबल पात्र है जिसमें आकर्षण और विकर्षण दोनो है और जो आत्मरत निविड भावनाओ के धुध में भाव की दृष्टि और टेकनीक की दृष्टि से भी लेखक द्वारा अत्यधिक सधे और सँवरे रूप में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु इसके विपरीत उसके जीवन में प्रारम्भ से ही अन्तर्मुखता की ओर ले जाने वाली एक अद्भुत असगत तटस्थता है जिसने उसकी चेतना को विकसित ही नही किया अपितु वैविध्य के प्रति सघर्षात्मक प्रसरणशील अनुरक्ति के कारण प्रखर और दुराग्रही भी बना दिया है। बाल्यावस्था से ही उसमें विद्रोह का अनवरत उद्वेग और कसमसाता, मचलता, आकुल उफान है जो परिस्थितियो के अपरिवर्तनीय तर्क-वितर्क, घटना-विघटना और अनेक प्रकार के प्रश्न, दुविधाओ व दुश्चिन्ताओ के मध्य भीतर ही भीतर उमडता घुमडता रहता है।

शेखर का स्वभाव औरों की भाँति साधारण नही है। इसके विपरीत उसमें एक गहरा आत्मविश्वास और बोध है जो भीतर की प्राणवत्ता के साथ तदाकार हुआ सा लगता है। जीवन के अगणित सूत्र उलझ उलझ कर उसके सामने आते है और भीतर और बाहर के सयोजन में अन्तरग अभिन्नता खोजता हुआ अपनी अपूर्तियों, कुण्ठाओं, अभावो और उलझनो के प्रति वह अत्यन्त क्षुब्ध है। व्यक्ति के लिए, समाज के लिए, बल्कि कहना चाहिए कि समूची मानवता के लिए उसमें एक अनासक्त निर्ममता, बिलगाव का भाव वरन् कहें कि घोर बौद्धिक प्रतिक्रिया है जिससे वह नित-नई परिस्थितियो के साथ सामजस्य नही कर पाता है। शेखर स्वय स्वीकार करता है—"मेरे भीतर जन्मतः ही कोई शक्ति थी—या शक्ति का अकुर था, जो मुझे अवरुद्ध गति से इधर ही प्रेरित कर रहा था।' आगे वह कहता है 'मुझे विश्वास है कि *विद्रोही बनते नहीं, उत्पन्न होते हैं। विद्रोह बुद्धि, परिस्थितियों से सघर्ष की सामर्थ्य,* जीवन की क्रियाओ से, परिस्थितियो के घात प्रतिघात से नही निर्मित होती। वह आत्मा का कृत्रिम परिवेष्टन नही है, उसका अभिन्नतम अग है।'

तो शेखर जन्मत विद्रोही है, प्रतिक्रियावादी। माता पिता, भाई बहिन, मित्र-सखा—सभी के प्रति उसमें अविश्वास है, दूरी है, तटस्थता है। एक दिन जब वह बहुत छोटा था, आहत अभिमान लिये घर से निकल पड़ता है। परन्तु जब झुँझलाहट कम होती है और विचारशीलता जगती है तब वह पुन घर लौट आता है। लेकिन आत्मव्यामोह-जनित भावनाएँ, जो दुर्निवार अत शक्ति से उस पर हावी हो जाती है, उससे वह कभी मुक्त नहीं हो पाता।

एक और घटना। कुछ दिन बाद वह अपने पिता के साथ सारनाथ जाता है। चुपचाप बिना किसी से कहे-सुने वह अजायबघर देखने चल पड़ता है। उस समय उसके बन्द होने का समय था, पर शेखर को वहाँ का एकान्त शान्त वातावरण, वहाँ की अनभ्यस्त नीरवता अभिभूत कर लेती है। वह एक नग्न नारी प्रतिमा के सौंदर्य में डूबा हुआ वैसे ही बैठा रह जाता है और बाहर का द्वार बन्द हो जाता है। आनन्दमयी, विह्वल आत्मविस्मृत स्वीकृति में वह निश्चिन्त है, सारी हलचलों और कोलाहल से परे, पर सहसा उसके नाम की पुकार और पिता की उपस्थिति उसे यथार्थ में घसीट ले आती है।

इस प्रकार शेखर आत्मसम्मोहन की स्थिति में अछूते, आदर्शवादी, असभव स्वप्नों में सदा रमता रहा है। उसकी उक्त अवस्था जब गहरी मानसिकता में स्थिर हो जाती है तो आगे चलकर अधिकाधिक आत्मरति की प्रवृत्ति उसमें घर कर जाती है। पग पग पर वह अपनी परिस्थितियो से असहनशील हो उठता है और आत्मरत व्यक्ति की भाँति पलायन ढूँढ़ता रहता है, यहाँ तक कि आसानी से सुलझने वाली समस्याओं को भी वह अपने अनुकूल नहीं बना पाता, बल्कि उसकी प्रत्येक आकाक्षा की पृष्ठभूमि में स्वसत्ता की भावना ही तीव्रतम होकर पीडा पहुँचाती है।

ऐसे व्यक्ति का अज्ञात मन ही उसकी समूची वाह्य एव आन्तरिक क्रियाओं का प्रवर्तक होता है। वह अन्तर्संघर्ष, भीतरी प्रक्रियाओं, प्रच्छन्न गोपन रहस्यों और परोक्ष-अपरोक्ष इच्छा-आकाक्षाओं को परिचालित करता है, साथ ही उसके अन्तर्मन का यह सघर्ष इतना तीखा हो जाता है कि बाहर तो उसका प्रस्फुटन नहीं होता, किन्तु भीतर ही भीतर मनोलोक में उसकी ये अव्यक्त इच्छाएँ छद्म रूप में भीषण द्वन्द्व मचाया करती है। ऐसी स्थिति में नैसर्गिक प्रवृत्तियों से पृथक् 'आत्म-स्थापन' (self assertion) ही उसकी मूल प्रवृत्ति बन जाती है। उसके आतरिक मन की कल्पना, अनुभव और निरीक्षण उसके वाह्य मन या कहें कि ज्ञात मन के बोध से भिन्न होती है। सामान्य तर्क नहीं बल्कि उसका अन्तर्ज्ञान और सवेग ही उसके अविच्छिन्न और निरवयव चेतना-स्तरों को नियन्त्रित करते है, फलत उसके नियम-क्रम या मनोव्यापार एक नये सिद्धात या दर्शन का प्रतिपादन करने है जिसके कारण उसका स्वभाव, गुण और रुचियाँ दूसरे ढग की ही बन जाती हैं।

ऐसे व्यक्ति का वैयक्तिक चेतन मन अधिक विकसित नहीं होता, बल्कि उसके

ज्ञानबोध से दूर अज्ञात भाव लहरियाँ अवचेतन मन में हिलकोरे लेती रहती हैं। कभी-कभी तीव्र कशाघात में ऐसे संवेग अस्थिर, कार्य कारण रहित तथा अनियन्त्रित हो जाते हैं जिससे विसंगति या वैषम्य उत्पन्न होता है। प्रकृत इच्छाओं के निरंतर दमन से वे उसके अज्ञात मन की कुंठाएँ बन जाती हैं और उसमें जबर्दस्त अहंकार या हीनत्व की भावना घर कर जाती है। वह संकोची और आत्मभीरु तो होता ही है, साथ ही सामाजिक दृष्टि से अवांछनीय प्रवृत्तियों को प्रश्रय देने से अथवा प्रकृत वासनाओं के अवरोध से उसमें भ्रमजनित लक्षण या विशेषताएँ भी अनुपात में अधिक उभरती हैं। बाहरी तौर पर उसके व्यक्तित्व का संतुलन भंग न हो वह अपने साथ हमेशा जोर-जबर्दस्ती और खींचतान सा करता है। चूँकि इसके ज्ञात और अज्ञात मन में सामंजस्य या तद्रूपता स्थापित नहीं हो पाती, इसलिए यदाकदा ऐसे व्यक्ति असाधारण आचरण भी कर बैठते हैं। ऐसे आचरण के लिए, वास्तव में, उनका अज्ञात मन ही उत्तरदायी होता है।

शेखर के अपने अस्तित्व की इच्छा अदमनीय होने के कारण कोई भी अनिवार्य वाह्य परिस्थिति अथवा उस परिस्थिति से अभागि रूप से जुड़ी घटनाओं से वह किसी भी समय सच्चा सुख निर्द्वन्द्व विश्राम अथवा आंतरिक सन्तोष नहीं पा सका है। उस की आत्मरत प्रवृत्ति जब बहुत बढ़कर उसके व्यक्तित्व का अंग बन जाती है तो अपने आप पर और चतुर्दिक् परिस्थितियों पर काबू पाना भी उसकी शक्ति से परे हो जाता है।

आत्मरत व्यक्ति स्व संभोगी नहीं होता, अपितु भिन्नलिंगी अथवा सहभोगी में उसके चित्त की अवस्थिति हो जाती है। उसकी दुर्बल प्रवृत्तियाँ सिद्धांत की भित्ति की आड़ में प्रच्छन्न रूप से कार्य करती रहती है। उसे अपनी स्वसत्ता पर मिथ्या अहंकार है, तो यह निश्चित है कि इच्छाओं के ऊहापोह अथवा आलोडन को वह भीतर ही आत्मसात् कर लेता है अपने तईं सीमित रहता है खुलता नहीं, बिखरता नहीं। वह प्रायः अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करने वाली वस्तुओं का चिन्तन करता है। तब उनके अति निकट आने अथवा उन्हें प्राप्त करने की कामना उत्पन्न होती है, परन्तु उनकी प्राप्ति में बाधा उपस्थित करने वाली घटनाएँ उसके मानस को विक्षिप्त बना देती हैं। फलतः वह अनपेक्षित वैचित्र्य अवांछनीय क्षुब्धता एवं असामाजिक भावनाओं को प्रश्रय देता है। चूँकि 'अज्ञेय' फ्रायडीय मनोविज्ञान से प्रभावित हैं, अतएव उन्होंने अवचेतन मन और अन्तर्प्रदेश में विचरने वाली छायामयी प्रवृत्तियों, अन्तर्द्वन्द्व और भीतरी संघर्षों से उत्पन्न अनेक अस्पष्ट चिन्तनाओं को आकार देने का प्रयत्न किया है। उसमें लेखक की निजी कुंठाएँ निहित हैं, इस कारण वह अधिक मार्मिक बन पड़ा है।

शेखर का शिशु मानस भी यौन तथा अन्य मनोविकृतियों से ग्रस्त है। स्वप्न-मीमांसा से प्रेरित अज्ञात अन्तर्ज्ञान में यह प्रक्रिया स्वयंचालित है—इतनी अबूझ, पर इन्द्रियसंवेद्य कि उसके अचेतन पर अनिवार्यतः छायी रहती है। समय उसके अन्त-

द्वन्द्व की विकृत परिणति रूपवाद अथवा यौन-वर्जना की असम्बद्ध विशृंखल काव्यात्मक अभिव्यक्ति में बिखर जाती है जिसे तर्क का जामा पहनाकर प्रतीक-व्यंजना के सहारे उभारा गया है। लेखक कहता है—"ऐसी-ऐसी स्मृतियाँ या अर्द्ध-स्मृतियाँ तो अनेक हैं, किन्तु यह एक विचित्र बात है कि उसके जीवन की जो सबसे पहली दो-एक घटनाएँ उसे ठीक तौर पर अपनी अनुभूति से याद है, वे उन तीनों महती प्रेरणाओं का चित्रण करती है जो प्रत्येक मानव-जीवन का अनुशासन करती हैं••

अहन्ता, भय और सेक्स••

"क्यों ? इन तीन शक्तियों में उनका विद्यमान होना यह जताता है कि वे कितनी महत्वपूर्ण है, कि मानव उन्हें अपनी मानवता के साथ ही पाता है, बाद की परिस्थिति या व्यवहार से नहीं।"

शेखर की उक्त प्रेरणा का स्रोत फ्रायड से निस्सृत है। इन्हीं यौन-वर्जनाओं और अतृप्त काम-वासनाओं के फलस्वरूप उसे छुटपन से ही अज्ञात प्रेम की तरलता आ घेरती है। उन्माद, विवशता, अनियंत्रित आवेश और अनिरुद्ध पागलपन की कितनी ही प्रतिक्रियाएँ उसके दिल दिमाग पर सदैव छायी रहती है कि शेखर को प्रतीत होता है मानों उसके भीतर उसके सिद्धांतों और मान्यताओं के विरुद्ध भीषण संघर्ष छिड़ा है। परिचेतना की असख्य लहरियों को मथकर अगणित अनुभूतियाँ उमड़ती हैं—विशृंखल और अस्तव्यस्त—फिर किशोरावस्था से ही अनेक समवयस्क लड़कियों का आकर्षण उसे डाँवाडोल करता रहता है। शारदा, शशि, शान्ति, मणिका सभी उसे खीचती है, पर शशि को छोड़कर कोई भी उसके संकोचशील, विचित्र स्वभाव के कारण उसकी रुचियों और भावनाओं से सामंजस्य नहीं कर पाती। शशि का स्वभाव भी बहुत कुछ वैसा सा ही है। शेखर विचित्र 'अहं' से आक्रान्त है तो शशि अपने संकुचित संस्कारों से त्रस्त है। शेखर के प्रति उसका अज्ञात अनुराग भीतर ही भीतर पुष्ट होता रहता है। उसका उद्भ्रान्त मस्तिष्क इस दारुण व्यथा और प्रबल आकर्षण को भुलाने के लिए कोई आधार चाहता है—ऐसा आधार जिस में वह स्वयं को डुबा दे—अपने आपको विस्मृत कर दे। अतः शेखर जब जेल में है तब विवाह की विवशता को भी वह चुपचाप स्वीकार कर लेती है। पति से उसे प्रेम नहीं। सन्देह में पति जब उसे लात मारकर घर से निकाल देता है तब शेखर के आश्रय में उसका सख्य भाव अन्तरंग अभिन्नता में और शनैः शनैः प्रेम की तन्मयता में परिणत हो जाता है। शशि रुग्ण है, पर दोनों का परस्पर आकर्षण एक लोकातीत, स्वप्नमय, अशरीरी, स्नेहदलथ स्तब्धता में क्रमशः प्यार की कृतज्ञता जगाता है। दोनों की क्लान्ति और सम्पूर्ण विशृंखलता के मूल में अतृप्त ऐन्द्रिक वासना है, किन्तु रोग की लाचारी के कारण एक वत्सल कोमलता उन्हें संयत रखती है। शारीरिक सायुज्य का तो अवसर नहीं मिलता, पर प्रणय की निर्वाक् गरिमा में स्नायविक प्रकम्पन और भीषण मंथन है। आवेग उमड़ता है तो बौद्धिक उत्तेजना अथवा मनोवैज्ञानिक जटिलताओं में उलझकर उसके वेग एवं तीव्रता को कम कर देता है। फिर भी

बीमारी की अवश, गर्हणीय स्थिति के बावजूद शेखर अपनी वासना और प्रेम-चेष्टाओं की परिपूर्ति का मौका नहीं चूकता। एक उदाहरण—"फिर एक बाढ़ उसके भीतर उमड़ आती है, और वह उन उठे हुए अर्धमुकुलित ओठों की ओर झुकता है—झुकते-झुकते उसकी आप्लवनकारी आतुरता ही उस शमन कर देती है। एक वत्सल कोमलता उसमें जागती है कि बेले के अधखिले सम्पुट को स्निग्धतम स्पर्श से ही छूना चाहिए, और ओठों के निकट पहुँचते-पहुँचते वह ग्रीवा कुछ मोड़कर, अपना कर्णफूल शशि के ओठों से छुआ देता है। ओंठ तप्त हैं—ज्वर से, उन रोमिल स्पर्श से एक सिहरन भी उसके माथे में दौड़ जाती है, तब चेतना की एक नई लहर से बाधित वह फिर झुकता है और शशि के स्निग्ध, स्तब्ध किन्तु वशिझक ओठ चूम लेता है—निर्द्वन्द्व, वरद, दीर्घ चुम्बन·· ·।"

यों शेखर-शशि के बाह्याचरण और आंतरिक विलोड़न में विसंगति दर्शाने के लिए उपन्यासकार ने स्वप्न-पद्धति का सहारा लिया है और उसके माध्यम से अत्यन्त तीव्रता और गहराई से उनके मन के मिस अपने मन के प्रच्छन्न स्तरों को खोलने का प्रयास किया है। वह स्वयं स्वीकार करता है—"मैं शेखर की कहानी लिख रहा हूँ, क्योंकि मुझे उसमें से जीवन के अर्थ के सूत्र पाने हैं, किन्तु एक सीमा ऐसी आती है जिसके आगे मैं अपनी और शेखर की दूरी बनाए नहीं रख सकता—उस दिन का भोगने वाला और आज का वृत्ताकार दोनों एक हो जाते हैं, क्योंकि अन्ततः उसके जीवन का अर्थ मेरे ही जीवन का तो अर्थ है।"

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब मनुष्य निजी आकांक्षाओं को खंडित होते देखता है तो वह मानसिक विभ्रम की स्थिति में उन आकांक्षाओं की बलपूर्वक परिपूर्ति खोजता है। आज के सामाजिक गठन में व्यक्ति का स्वातन्त्र्य एक बहुत बड़ी समस्या बन गया है, इसी कारण शेखर की मनोग्रंथियाँ और अनुभूतियाँ केवल विकृति के रूप में ही व्यक्त होकर उभरी हैं। उसकी बुद्धि और विवेक का द्वन्द्व समस्त पूर्वाग्रहों एवं परम्पराओं का पर्यवसान कर अन्तहीन ऊहापोहों और अन्तर्भूत स्थापनाओं में खोया रहता है। संत्रस्त मन स्थिति में वह न तो नये उभरते जीवन-सत्यों को पकड़ सका है और न सामाजिक बाह्यारोपणा के प्रति खुलकर विद्रोह ही कर पाता है।

जहाँ तक उपन्यास के कथानक का प्रश्न है वह उपन्यासकार की आंतरिक मानसिक अवस्था के कारण घुटकर रह गया है। कहा जा सकता है कि उसने जीवन के कतिपय विरोधी पक्षों का सजग दृष्टिकोण और गहरी संवेदनशीलता से उभारा है, किन्तु पात्र और घटनाएँ लेखक की बेधक दृष्टि से इस प्रकार बिंधे हैं कि उनकी किसी प्रकार निष्कृति नहीं है। समूची कृति में ऐसे अनेक भावस्थल हैं जो शिल्पगत दुर्बोधता के कारण पूर्णरूपेण विकसित नहीं हो पाए।

शेखर मध्यवर्गीय समाज के एक विशिष्ट वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है

और उसी के अनुसार आचरण भी करता है। पर प्रश्न है कि क्या मध्यवर्ग में इस तरह के व्यक्ति होते हैं ? शेखर के व्यक्तित्व की द्वान्द्विक गति का विश्लेषण करने पर वह एक असाधारण 'टाइप' प्रतीत होता है जो परिस्थितियों के घात प्रतिघात से नये-नये सत्यज्ञान की प्राप्ति करता है तथा जिसमें नई नई व्यवस्थाओं से नई-नई विचारधारा और आपेक्षिक दृष्टिकोणों की उत्पत्ति होती है। अनेक स्थलों पर शेखर का अन्तर्निहित द्वन्द्व क्रान्ति के रूप में उठ खड़ा हुआ है, पर उसके इस मनोद्वन्द्व और आभ्यन्तरिक आलोडन में जो तिलमिला देने वाली भीतरी कचोट है उसे लेखक ने दृढ़ एवं सुनिश्चित संकल्पशीलता से व्यंजित किया है। व्यक्ति चरित्र के सूक्ष्म से सूक्ष्म पहलुओं को इस तलस्पर्शिनी दृष्टि से आँका गया है कि अनेक स्वीकृत या वर्जित स्थापनाओं का मार्मिक उद्‌घाटन हुआ है।

फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक कृत्रिम कल्पना के सहारे शेखर के चरित्र को अवश घुमाता गया है और परिस्थितियों की जटिल गुत्थियां उसके अन्त-विकारों के दाम्पत्य को यत्र-तत्र जकड़-सी लेती हैं।

इस कसौटी पर कोई भी जीवन्त सृजन बौद्धिक विशृंखलता अथवा बहिष्कारवादी आस्था को एक सत्य की भाँति अपनाकर दूर तक नहीं चल सकता। हठवादिता की चौहद्दी में लेखक की दृष्टि भले ही अन्वेषी हो, पर उसमें सहजता नहीं आ पाती, न जीवन हर स्तर पर और हर रूप में उसके कृतित्व में स्वीकृति हो पा सकता है। कारण—एक समग्र सत्य के संश्लिष्ट जीवनानुभव व्यक्ति-गत लाभहानि से ऊपर है। औपन्यासिक कला का शिल्प निरा वैयक्तिक सत्य नहीं है। जीवन की समग्रता में न पैठ केवल मनचीता लिखना, आतंरिक उलझाव और कशम-कश द्वारा अपरिहार्य रूप में व्यंजना की दुरूहता पैदा करना, क्रिया-प्रतिक्रिया के परस्पर-विरोधी, असम्पृक्त छोरों से टकराते रहना तथा वासनात्मक प्रतीक चित्रों एवं अनुभूति की कल्पनामूलक लालसाओं तक ही सिमट कर रह जाना क्या निरी एकांगिता अथवा संस्कारहीनता नहीं है ?

उक्त उपन्यास में उठाए गए प्रश्न और उनका समाधान आँकना कठिन है। अतएव इसका धरातल दूसरा है। एक मौलिक अन्तर यह भी है कि घटनाओं और संयोजन की अपेक्षा विघटन और विलगाव अधिक है। सब कुछ मानो भेद-बुद्धि द्वारा तर्क पर तौल कर मानव की सहृदयता को चुनौती दी गई है। शेखर का जीवन अनिश्चयों के बीच झूल रहा है। प्रतिकूल घटनाएँ उसके जीवन के लक्ष्य को आगे या पीछे ढकेलती भर हैं, वे किसी निर्दिष्ट दिशा में गत्यवरोध उत्पन्न करती हैं, अतएव चरित्र विकास की दृष्टि से भी हम इसे असफल कृति ही कहेंगे, हाँ—मनोव्यथा के आँवें में तपी भावनाओं, उत्कट अनुभूतियों एवं विकल्पों का इसमें सुन्दर परिपाक हुआ है।

'नदी के द्वीप' में व्यक्तिवाद के चरम उभार ने लेखक की पहली आस्था

और बौद्धिक चेतना को अपेक्षाकृत नये धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। शेखर में तर्कगृहीत सूत्रो की असगत स्थापना हुई तो इस उपन्यास में चेतन मन के ऊपरी तल से उतरकर अवचेतन के विरोधाभासपूर्ण अर्द्धस्फुट विचार प्रवाह में उसके अनुभूत की आतरिकता ही अधिक व्याप्त हुई दीख पडती है। सामाजिक आचार की सीमाएँ प्राणियो क मनोव्यापारो को कहाँ तक छूती है, मन क्या है और वह किस प्रकार क्रियाशील होता है, स्नायविक विकारो से हृदय एव मस्तिष्क के सामान्य सूक्ष्म स्पन्दनो म कैसे तीव्रता आ जाती है—यही ऊहापोह और द्वद्व उपन्यासकार के कथन और कथ्य की नवीनता के आकर्षण का हेतु बन गया है।

पहले उपन्यास की भाँति इसमें भी आत्मविश्लेषण पद्धति पर प्रज्ञामूर्त्रो में परम्परागत प्रेम-ग्रथियो को खोला गया है। प्राय वे ही ह्रासशील फ्रायडीय वेदना, कुठा विषाद उद्वलन और विकृतियाँ इसमें मौजूद हैं जिनके फलस्वरूप भोगेच्छा की अतृप्त लालसा से सिहरती प्रणयाकाक्षाओ क जज्बात दिलोदिमाग पर छा जाते हैं और रक्तवाहिनी रगो में खौलते खून की गरदिश बढा देते हैं।

अतएव 'अज्ञय' के 'नदी के द्वीप' की कहानी का इति अथ भी जिन्दगी की मस्त रवानियो से गुजरता प्यार और मुहब्बत के खयालेखाम में कुलाचे भरता है। भुवन और रेखा का औपचारिक शिष्टाचार शनै शनै प्रेम की लाचारी बनकर उनकी क्लान्त शक्तियो को उद्दीपित करता हुआ कालातर में सयोग वियोग की न जाने कितनी सुख दुख भरी वैकल्पिक व्याख्याएँ प्रस्तुत करता है। आकर्षण की प्रारम्भिक प्रक्रिया, मन का मन से उलझाव, एक दूसरे में समाहित होने की बलवती आकाक्षा अपने-पराय का अभेद अर्थात् तन-मन की वह सभोग्य स्थिति जो शरीर भेद से परे ऐक्य का एहसास कराती है वताब जवानी की मस्ती और अगणित अनासक्त मनुहारों और प्रतीक्षातुर रजत क्षणो की भोगाभूख का कसमसाता ऊफान, जिसमें परस्पर सम्मोहन का अधापन उत्तरोत्तर बढता जाता है—यों उनकी मदभरी छाती की धडकनो के भीतर स उनकी प्रम की मजबूरियों और हसरतो के स्पन्दन फूट पड रहे हैं।

कहना न होगा कि निर्बाध प्रम और मुक्त भोग की स्फुरित चेतना ही वे दमित कुठाएँ हैं जो कल्पना के छद्म जगत में तृप्ति लाभ कराती हैं। फलत इसमें लेखक न विधि निषध तक को अपने ढग से आँक कर नया आकार प्रकार दिया है परिस्थितियो से मोर्चा लेते हुए अभिनव जीवन कला को उजागर किया है, अन्यथा इन अन्तश्चेतनावादियो के मत से साहित्य को नई गतिविधि कैसे मिले, एक अजीब सस्कृति कैसे पैदा हो और नये आवर्त्तनो प्रत्यावर्त्तनो अथवा नये मन्तव्यो एव विचारों को ठलकर क्योंकर आग बढाया जाय।

उक्त उपन्यास के कथानक की टेकनीक, शिल्प, सौन्दर्य, सवेदना, वर्णन की चुस्ती और भाषा के निखार का जहाँ तक प्रश्न है हम लेखक की सशक्त कल्पना के

क़ायल है, मानो किसी कल्पनाप्रवण रेखांकनकार द्वारा बरबस कांपते रंगों को सजीव आकार मिला हो और तरंगित भाव-शबनम की बूंदें इन आकारों में जैसे स्वयमेव ढल गई हों। अनेक स्थलों पर कहानी अन्तर को छूकर तिलमिला देती है, कारण—लेखक ने इसे केवल अपनी कल्पना से नहीं गढ़ा बल्कि वह उसके अपने जीवन की अनुभूत कहानी है। अत परिप्रेक्षण की नवीनता के साथ साथ उक्त कहानी में उस भाव-बोध का भी तर्कसंगत योग है जो उसके जीवन-तथ्यों से लिपटा-चिपटा स्थान-स्थान पर उभर-उभर कर झलक दिखाता है।

लगता है, कहानी में निहित सत्य को लेखक ने अपने अन्तर में काफी अर्से तक पकाया है। वह उसकी महज कल्पना द्वारा सम्भव न था, अपितु अपने विश्वासों और मतवादों की गहरी छाप उस पर पड़ी। लेखक जिन्दगी का एक निरपेक्ष द्रष्टा मात्र नहीं, भुक्तभोगी है, यही कारण है सयोग-वियोग, प्रेम-विवाह, कितनी ही खूबियों-खामियों और नाज-अन्दाज के उथल-पुथल भरे सघर्ष के स्वर और प्रश्नोत्तर भी कहानी में सशक्त हो उठे हैं। अपने पात्रों के दिलोदिमाग की तहों में उतर कर उनके विचार-वितर्को, क्रिया-कलापों का ऐसा मार्मिक चित्रण किया गया है कि लेखक ने उनकी हर सांसों और धड़कनों को मानो महसूस किया है, बल्कि उसका स्वय का व्यक्तित्व उनसे कितना दूर और अलग है—इसमें सन्देह होने लगता है।

ऐसी स्थिति में लेखक की एक जीवन-दृष्टि है और उसके सामाजिक चिंतन की अपनी सीमाएं हैं। उसने जो दर्शन व्यक्त किया है वह भाव-जगत् के सघात को नये सन्दर्भों के साथ विकसित करता है। व्यक्ति का मन कैसी विचित्र समस्या है जो केन्द्र से छिटक कर कभी-कभी किसी परिधि में भटक जाया करता है। परिधि छोटी होती है, विस्तीर्ण होती है, उसकी विस्तीर्णता की सीमा नहीं है और वह सीमा भी कदा कदा अनन्त और असमाप्य बन जाती है। परिधि को केन्द्र मानने पर असख्य परिधियां उत्पन्न होती हैं और अपने गोरखधन्धे में जीवन को उलझाकर सहसा निरुपाय बना देती हैं। जीवन की विडम्बना पर आधारित ऐसी 'फैंटेसी' में न जाने कितने चित्र उभरा करते हैं। पहला चित्र—

"रेखा नहीं बोली।"

"भुवन ने फिर पूछा, "रेखा, क्या बात है ?"

"तुम—हो, तुम सचमुच हो। यू आर रीअल।" रेखा का स्वर इतना धीमा था कि ठीक सुन भी नहीं पड़ता था।

भुवन ने कहा—आइ एम वेरी रीअल, रेखा। पर ठहरो पहले तुम्हें कम्बल उढ़ा दूं।

एक हाथ में रेखा के दोनों हाथ पकड़े वह उठा, दूसरे हाथ से उसने कम्बल खींच कर रेखा की पीठ भी ढक दी। स्वय पैर समेट कर बैठा हो गया, कुछ रेखा की ओर को उन्मुख।

रेखा सहसा हाथ छुड़ाकर उससे लिपट गयी। आँखें उसने बन्द कर ली, भुवन के माथे पर अपना माथा टेक दिया। उसके ओठ न जाने क्या कह रहे थे, आवाज उनसे नहीं निकल रही थी।

भुवन कहता गया, 'क्या बात है, रेखा, रेखा, रेखा क्या बात है—" उसका स्वर क्रमश धीमा और आविष्ट होता जा रहा था।

रेखा के ओठ उसके कान के कुछ और निकट सरक आये। पर स्वर उनमें से अब भी नहीं निकला।

पर सहसा भुवन जान गया कि वे शब्दहीन-स्वरहीन ओठ क्या कह रहे हैं।

"मैं तुम्हारी हूँ, भुवन, मुझ लो।"

एक दूसरा चित्र—

'रेखा बीच-बीच में उसकी ओर देख लेती थी। जानती थी कि वह कुछ सोच रहा है। पर उसने पूछा नहीं। सहसा भुवन के विषय में एक नये सकोच ने, एक व्रीडा ने उसे जकड लिया था। क्षण भर के लिए उसका मन नौकुछिया की उस घटना की ओर गया जब भुवन उसकी गोद में रोया था—कैसे वह कह सकी थी जो भी उसने कहा था ? वह पछताती नहीं है, उसने जो कहा था उन्मुक्त भाव से कहा था, पर···लाज से सिहर कर वह सिमट गयी, पल्ला खींच कर उसने मानो अपने को और लपेट लिया।

भुवन ने पूछा, "ठड लगती है ?"

'नहीं, नहीं।" उसकी वाणी के अतिरिक्त आवेश को लक्ष्य कर भुवन ने उसकी ओर देखा दोनो की आँखे मिली। भुवन की आँखो में स्नेहपूर्ण कौतुक था, रेखा की आँखो में एक अन्तर्मुख लज्जा, पर सहसा उसका मन हुआ वही बाँह फैला कर भुवन को खींच ले, इस पुरुष को, इस शिशु को, इस–'शुभाशसा चूमती है भाल तेरा···।"

यों जीवन के कितने ही खण्ड हैं, कितने ही चित्र हैं जिनसे परिस्थितियाँ नित्य टक्कर लेती हैं। इन खण्डो में ही तो जीवन के मर्मस्पर्शी चित्र उभरा करते हैं और अनगिन झलक दिखा कर तिरोहित हो जाते हैं, किन्तु दिगन्तस्पर्शी चित्रशाला में इन बनते मिटते रूपाकारो का क्या अर्थ होता है भला ? अविश्रान्त जीवन प्रवाह के कतिपय चचल क्षण जो एक एक भँवर के समान हैं और कहाँ, किधर किस, कितनी दूर तक ठेल ले जाया करते हैं ? व्यास की परिधि को माप लेने वाले क्या हैं वे भला ? किस बिन्दु का चरम उत्कर्ष जिसमें अतीत भी जुडा हो, वर्त्तमान और भविष्य भी ? एक स्थल पर रेखा कहती है—"मैं तो समझती हूँ हम अधिक से अधिक इस प्रवाह में छोटे छोटे द्वीप हैं, उस प्रवाह से घिरे हुए भी, उससे कटे हुए भी, भूमि से बँधे और स्थिर भी, पर प्रवाह में सर्वदा असहाय भी—न जाने कब प्रवाह की एक स्वैरिणी लहर आकर मिटा दे, बहा ले जाय।" एक अन्य स्थल पर रेखा कहती है 'प्रत्येक क्षण एक द्वीप है, मानकर व्यक्ति और व्यक्ति के सम्पर्क का, कांटेक्ट का प्रत्येक क्षण और

परिचय के महासागर में एक छोटा किन्तु कितना मूल्यवान द्वीप ।"

और तर्क अपना काम करता है । ये द्वीप ही बावर्ली, अवश आकांक्षा बनकर मस्तिष्क में उन्माद और भीषण हलचल जगाते हैं । एक अबूझ उपद्रव मन प्राणों में समास्र दिग्भ्रांत बनाता है और मन संकल्प घटना-वैचित्र्य के इन्द्रजाल में रह-रह कर एक स्वप्न उभारते हैं जो टूट-फूट जाता है । इस प्रकार जीवन का निर्णय हाथों से फिसलता चलता है ।

उक्त भ्रमित मानसिक सम्मोहन की स्थिति में अनिर्दिष्ट पथ की ओर अग्रसर होना मर्यादाक्रमण तो है ही दुर्निवार आकांक्षाओं की अगम्य कारा की निःस्तब्धता में अन्तर्मन द्वारा उन्मुक्त स्वैरगमन भी है । उस क्षुद्र परिधि के भीतर सब कुछ कर गुजरना एक पूर्णतर जीवन-दर्शन की प्रतिष्ठा को उथला बनाना है । किसी द्वन्द्वग्रस्त, विषम या कृत्रिम नियंत्रण के अधीन मानव-जीवन में इतनी अधिक जटिलता या वैचित्र्य और इस कारण उनकी प्रकृति एवं कार्य-व्यापारों में भी बेहद वैपरीत्य अथवा अप्रत्याशित उत्थान पतन दर्शाना सर्वदेशीय और सर्वोन्मुख मनस्तत्वों की चिरविकासमान, जीवनमूलक सत्ता में असक्यता लाना है । सेक्स-'इंस्टिंक्ट' या कहें कि ऐन्द्रिक चेतना की तात्कालिक प्रतिक्रिया के रूप में जो सब कुछ जायज मानकर चित्रित किया जाता है वह सच्ची इन्सानियत का निषेध करती, अस्मिता को लूटती, परिस्थिति की गुलामी को स्वीकार करती, प्रेम जैसे पवित्र और पाक शब्द की आड में तृष्णा और वासना का खुला प्रदर्शन है जहाँ कामनाएँ जाग कर तड़प उठती हैं, जलती भूख और हविस की लपटें लपलपाती है और शैतान के कहकहों का नग्न नाच होता है । यथा—

"भुवन ने उठकर उसके कन्धे पकड़े—ठंडे, जैसे बर्फ । बलात् उसे लिटा दिया, कम्बल उढ़ा दिए । धीरे धीरे उसके चेहरे पर हाथ फेरने लगा, चेहरा भी बिल्कुल ठंडा था । उसने खाट के पास घुटने टेक कर नीचे बैठते हुए रेखा के माथे पर अपना गर्म गाल रखा, उसका हाथ धीरे-धीरे रेखा के कन्धे सहलाने लगा । भुवन ने कम्बल खींच कर कन्धे ढक दिए । कम्बल के भीतर उसका हाथ रेखा का वक्ष सहलाने लगा—

सहसा वह चौंका । झीने रेशम के भीतर रेखा के कुचाग्र ऐसे थे, जैसे छोटे-छोटे हिमपिंड⋯और अब तक जड़ रेखा के सहसा दांत बजने लगे थे ।

"पगली-पगली ।"

भुवन ने एकदम खड़े हो कर एक हाथ रेखा के कन्धे के नीचे डाला, एक घुटनों के, उसे कम्बल समेत खाट से उठाया और अपने बिछौने पर जा लिटाया । अपने कम्बल भी उसे उढ़ाये, और उसके पास लेट कर उसे जकड़ लिया ।

सहसा रेखा ने बाहें बढ़ा कर उसे खींच कर छाती से लगा लिया, उसके दाँतों का बजना बन्द हो गया । क्योंकि दाँत उसने भींच लिए थे, भुवन को उसने इतनी जोर से भींच लिया कि उन छोटे-छोटे हिमपिंडों की शीतलता भुवन की छाती में चुभने लगी⋯

फिर स्निग्ध गरमाई आयी। भुवन ने धीरे-धीरे उसकी बाहुलता की जकड़ ढीली करके उसे ठीक से तकिये पर लिटा दिया, और हाथ से उसकी छाती सहलाने लगा। चाँदनी कुछ और ऊपर उठ आयी थी, रेखा की बन्द पलकें नए ताँबे-सी चमक रही थीं।

'दिस दाई स्टेचर इज लाइक टु ए पाम ट्री, एण्ड दाई ब्रेस्ट्स टु क्लस्टर्स आफ ग्रेप्स।

"आइ सेड, आइ विल गो अप टु द पाम ट्री, आइ विल टेक होल्ड आफ द बाउज देयराफ नाउ आलसो दाइ नोज़ लाइक एप्ल्स।"

सहसा भुवन ने कम्बल हटाया, मृदु किन्तु निष्कम्प हाथों से रेखा के गले के बटन खोल, और चाँदनी में उभर आए उसके कुचों के बीच की छायाभरी जगह को चूम लिया। फिर अवश भाव में उसकी ग्रीवा को, कन्धों को, कर्णफूल को, पलकों को, ओठों को, कुचों को···और फिर उसे अपने निकट खींच कर ढक लिया :

सालोमन का गीत उस घिरे वातावरण में गूँजता रहा।

'आई स्लीप, बट माई हार्ट वेकेथ, इट इज द वायस आफ माई बिलवेड दैट नाकेथ, सेइंग - ओपन टु मी, माई सिस्टर, माइ लव, माइ डव, माइ अनडिफाइल्ड, फार माई हैड इज फिल्ड विद ड्यू, एण्ड लाक्स विद द ड्राप्स आफ द नाइट···"

भुवन ने अपना माथा रेखा के उरोजों के बीच में छिपा लिया : उनकी गरमाई उसके कानों में चुनचुनाने लगी : फिर उसके ओठ बढ़ कर रेखा के ओठों तक पहुँचे, उन्हें चूमा और प्रतिचुम्बित हुए।

"माई बिलवेड इज माइन, एण्ड आइ एम हिज, ही फीडेथ एमंग द लिलीज···"

क्यों भुवन के ओठ शब्दहीन हो गए हैं, स्वरहीन हो गए हैं, क्या वह गीत के ही बोल स्वरहीन हिलते ओठों से कह रहा है या कुछ और कह रहा है?

"रेखा, आओ···"

"आइ रोज़ अपटु, अप टु माई बिलवेड, एण्ड माई हैंड्स ड्राप्ड विद माई एण्ड फिंगर्स···"

"चाँदनी बहुत है, सब पी न सकोगी···ऐसे में तुम्ही चाँदनी हो जाओगी।

'और तुम, भुवन, तुम? तुम भी, लेकिन जम कर नहीं, द्रवित होकर।"

शिल्प के कसाव और लाघव द्वारा 'काम्प्लेक्स' जीवन के ये पटल, ये चित्र, ये विन्दु, ये भाव, ये रेखाएँ, ये अनुभव, ये क्षण, ये संभावनाएँ, साथ ही कल्पना से उपजे स्वप्न, नशा, निष्ठा और विश्वास फ्रायडीय मनोविज्ञान की अवचेतनीय सूक्ष्मताओं के सरगम में संतरण करता कैसे कौशल और नूतन रचना-तन्त्र के सहारे मानो उंगली पकड़कर उसके कथ्य और भावबोध को आगे बढ़ाता चलता है, जहाँ कृत्रिम गरिमा के पृथक् मानदंड द्वारा आनन्दजन्य भोगवाद की चरम परिणति दर्शायी

गई है। कामोपभोग सहजात मनोवृत्ति है। वह पशु और मनुष्य में समान रूप से विद्यमान है। पशु-सामान्य धरातल से ऊपर की चीज जो संयम और विवेक है वही दरअसल मनुष्यता है। मनुष्य विकसित प्राणी है और उसके समग्र और मुक्त सभी विराट् प्रयत्नों के मूल में कुछ व्यक्तिगत या समूहगत संस्कार होते हैं। किन्तु उक्त संस्कारजन्य प्रयोजन की सीमा का अतिक्रमण कर नैसर्गिक सत्य के ब्याज से जब आचरण की उच्छृंखलता का पोषण किया जाता है अथवा गर्हित रसास्वादन की प्रक्रिया में परस्पर असम्बद्ध और विच्छिन्न से लगने वाले रसप्रेरणा के स्रोतों में मन की उद्दाम वासना एवं दुर्वृत्तियों के निरंकुश स्खलनों को निर्बाध प्रश्रय दिया जाता है तो मानव-अस्तित्व के बुनियादी प्रतिमान प्रश्नचिन्ह के रूप में सामने आ खड़े होते हैं। आखिर वे प्रतिमान क्या हैं—जो सत्-असत् का विवेक देते हैं और वे तत्त्व भी क्या हैं जो कुछ ऐसे गुणों से पृथक् स्वीकृत नैतिक मूल्यों की स्थापना द्वारा जीवन के गहनतम स्तरों से उद्भूत उन ज्वलन्त सत्यों की कसौटी बन कर प्रकट होते हैं।

किसी भी उपन्यास में घटनाओं का परात्पर घटित होना खास मानी रखता है। परन्तु मानवीय धरातल के व्यक्ति-पक्ष से हटकर स्वेच्छाचारिता अथवा पाशव वृत्तियों को परितुष्ट करना ही बाह्य और अन्तस्थ जीवन का सांगोपांग चित्रण प्रस्तुत नहीं कर सकता। रचनाकार की मानसिक दशा किन्हीं खास मतवादों या असंगत तर्कों का आधार लेकर क्षयशील आदर्शों अथवा अतिरंजित 'मूडों' की अवतारणा में फिट नहीं की जा सकती। आश्चर्य तो यह है कि 'अज्ञेय' जैसे सूक्ष्मदर्शी कलाकार ने इन रोमानी, प्रणयरम्य, चाँदनी रातों की उन तमसावृत्त, पापरत मानवाकृतियों को उभारने में अपनी कल्पना-वैभव के करिश्मे दिखाए हैं—जहाँ वासना के भयंकर झंझावात से हहराकर गुनाह भरे दो सीने परस्पर टकराते हैं, उनकी अदृश्य धड़कनें ओठों का स्पर्श बनकर विषैली भाप उगला करती हैं और बाहें साँप बनकर दुर्निवार आलिंगन-पाश में जकड़ जाया करती हैं। जुनून पर चढ़ी हुई बयार जैसे एक ही झपाटे में आग का चक्कर लगाकर बड़वानल बना देती है उसी प्रकार भीतर जल रही बेनाव, खामोश हाड़मांस की यह भूख हिस्टीरिया के दौरे सी उस गहन दुर्भेद्य तमस में कैसी तड़प-तड़प उठती है।

"कभी रेखा जागी। तब चाँदनी शायद दोनों के सटे हुए चेहरों को लाँघकर ऊपर उठती हुई फिर खो गयी थी, रात का एक ठंडा स्पर्श उस खुली जगह से अन्दर आकर दोनों के तपे माथे और गालों को सहला रहा था, रेखा ने एक लम्बी साँस खींच कर उसे पी लिया, उसके जिस हाथ पर भुवन सोया था उसकी उंगलियाँ उसके माथे के उलझे बालों से बड़े कोमल स्पर्श से खेलने लगीं, कि वह जागे नहीं, फिर वह दुबारा सो गयी।

कभी भुवन जागा। उसकी चेतना पहले केन्द्रित हुई उस हाथ में जो रेखा के वक्ष पर पड़ा उसकी साँस के साथ उठता-गिरता। उफ़! कितने कोमल आलोड़न से, जिससे भुवन को लगता था कि उसकी समूची देह ही मानो धीरे-धीरे आलोड़ित हो

रही है, मानो बहती नाव में वह सोया हो''''अवश हाथ, जिन्हें वह हिला भी नहीं सकता, अवश देह, लेकिन एक स्निग्ध गरमाई की गोद में अवश चाँदनी वह अधिक पी गया—"चाँदनी, मदमाती, उन्मादिनी।"'''और उस मीठी अवशता को समर्पित वह भी फिर सो गया'''

फिर भुवन जागा, इस बार सहसा सजग, कुहनी पर जरा उठ कर उसने झुक कर धीरे से उसके ओठ चूम लिए, रेखा जागी नहीं उसके ओठ ऐसे हिले मानो स्वप्न में कुछ कह रही है। फिर सालोमन का गीत गूंज गया

"एण्ड द रूफ आफ दाइ माउथ द बैस्ट वाइन फार द बिलवेड, दैट गोएथ डाउन स्वीटली, काजिंग द लिप्स आफ दोज दैट एस्लीप टु स्पीक ''''''"

और उसने बड़े जोर से रेखा के ओठ चूम लिए, वह जागी और उसकी ओर उमड़ आई

'लैट अस गेट अप अर्ली टु द विनयार्ड्स, लैट अस सी इफ द वाइन फ्लरिश, व्हेदर टेन्डर ग्रेप्स एपीयर, एण्ड द पोमेग्रेनेट्स बड फोर्थ देयर विल आइ गिव दी आफ माइ लव्ज।"

और वह उमड़ना फिर एक आप्लवनकारी लहर हो गया।"

कैसी है यह भूख, जंगल की रीति, बनैले प्राणियों की रस्म, जिसकी अतरंग परतों में पैठकर लेखक ने अपने दर्शन की जड़ता की काली परछाइयाँ उभारी हैं, क्योंकि लेखक के मत से यथार्थ है ही छोटा और फीका और छाया कितनी बड़ी है, कितनी रंगीन, कितनी रसीली।

आखिर किस महान उद्देश्य और मनोवृत्यात्मक माँग की पूर्ति करते हैं ऐसे उपन्यास? कठोर सत्य को, कुरूप तथ्य को, अश्लीलता, गन्दगी और हीन विषयों को विश्लेषणात्मक तर्कों अथवा विकल्पात्मक अभिव्यक्तियों द्वारा विशिष्टता प्रदान करना अथवा निरे कल्पना-बिम्बों के सहारे उक्त अभिव्यक्ति को अनुभूत संवेदना के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर रोमांचों का वाहक बना देना वंचना या विभ्रम है जो मानसिक धरातल के अत्यन्त निम्न स्तर पर ले जाता है और प्राणत्व के साथ मिलकर ऐन्द्रिय विकृति उत्पन्न करता है। मामूली से मामूली व्यक्ति के जीवन में भी उक्त भोगजन्य आनन्द की चरम अनुभूति के क्षण आते हैं। निःसंदेह ऐसे मौकों पर भावों की सान्द्र उमड़न का अनुभव होता है। किन्तु भोग चेतना जैसा भृष्य कृत्य कल्पना की आँच में पिघल कर खरा कंचन नहीं बन सकता।

अन्तश्चेतनावादियों का सिद्धान्त है कि मनुष्य की मूल एवं आदिम प्रवृत्तियों पर कोई रोक न लगाई जाय। क्योंकि मौजूदा नैतिकता की प्रकृति भीतर से नितान्त खोखली और निस्पन्द है। अंतर्मन की अजीबोगरीब धारणाएँ, ध्वनि प्रतिध्वनियाँ, यादगारें, कमजोरियाँ, नैराश्यपूर्ण विभ्रम, उलझनें, गुनाह और कुत्सित चेष्टाएँ भीतरी वैषम्य और अन्तर्विरोधों से उलझी हैं जो बाह्य द्वंद्वात्मक सस्थितियों में साथ

पग और एकीकरण खोजती है। यदि मनोभावों को पूर्णतया व्यक्त होने दिया जाय तो स्वप्न एवं अवचेतन व्यापारों के ऐसे कितने ही अदृश्य पहलू प्रकाश में उभर कर आएँगे जो अन्तर में हिलोरे मारने वाले स्रोतों को बहिर्मुख होने को विवश किया करते हैं।

किंतु किसी भी कथ्य के व्यंजनात्मक प्रभाव एवं सामाजिकता की भी एक अनिवार्य मर्यादा होती है। अपने मनोमय और अन्तर्मुखी प्रतीकात्मक उद्गारों को अंतश्चेतना के संस्कारों का यथार्थ उन्मेष बताकर मन के घोर निर्जन एकाकीपन में जो एक अमानुषिक और असामान्य विच्छेद की अनुभूति पैदा होती है उससे महत्तर लक्ष्य और उच्च संस्कारिता की गम्भीर क्षति होती है। मानसिक तनाव की प्रक्रिया में उसकी आंतरिक विकृतियाँ, स्वप्न कल्पनाएँ और दुर्बल प्रयत्नों की असफलता के बीच एक गहन अन्धकारमय भयावना शून्य वर्तमान रहता है। उस परिस्थिति से ऊब कर और उससे त्राण पाने की चेष्टा में उसकी अन्तश्चेतना ही वह भीषण शून्य बन जाती है, जहाँ घोर तमस है और अति वैयक्तिक एवं पलायनवादी तत्त्व उभरकर उस वातावरण से ऊब महसूस करने लगते हैं। उसकी आत्मा में क्रमशः एक तूफानी हड़कम्प पैदा होता है और वह जीवन के प्रति एक रुग्ण आकर्षण की सतत खींच-तान का अनुभव करता है।

अतएव उक्त चेष्टाओं के विश्लेषण में सर्जनहार को आत्मवंचक एवं अवैज्ञानिक प्रसंगों से सावधान रहना चाहिए, अन्यथा ये मनगढ़त रोमांचक सपने यथार्थ को अविश्वसनीय बनाकर ग्रस लेते हैं। समाज में जो वर्जनाएँ अथवा गर्हित या अनैतिक काम-कुंठाएँ हैं उनका प्रयोग पाठक को आश्चर्यजनक और आकर्षक लग सकता है, कुछ सीमा तक उत्तेजक भी हो सकता है, किन्तु इस प्रकार की अपरिमार्जित और हेय अभिव्यक्ति—भले ही नये शब्द, नये रूप और नये भावसंघात के सहस्रों विधान और मिश्रण उसमें हों—अराजक और असद् कथाख्यान की ही सृष्टि करते हैं।

उत्तेजित प्रेरणा से सिरजी गई किसी महत् कथा-चरित्र की ये विचित्र छाया-कृतियाँ क्या किसी उच्च निर्माणात्मक लक्ष्य अथवा सैद्धान्तिक मान्यताओं की सश्लिष्ट इकाई बन सकती हैं ? क्या कोई प्रभावशाली व्यक्तित्व अशक्त जीवन स्पन्दनों की सफल सृष्टि हो सकता है ? अति कल्पनाशील अस्पष्ट छायाभासों में आनुपातिक संतुलन और रंगों की ताजगी फिर भला कहाँ से मिलेगी ?

इस द्विपक्षीय संघर्ष में 'अज्ञेय' के चरित्र सदा अवांछित दिशा की ओर अग्रसर हुए हैं। अवश घटनाओं एवं वातावरण में वे यथार्थ से भिन्न अस्वाभाविक चरित्र बनकर रह जाते हैं। रेखा को ही लें तो भुवन पर सब कुछ लुटा देने वाली एक नारी के रूप में उसने अपना जीवन प्रारम्भ किया था, पर अन्त में जो मार्ग उसने ग्रहण किया वह कितना नकारात्मक और अतिरंजनापूर्ण है और फिर इसी तथ्य को एक तथाकथित समाधानहीन विरोधाभास के रूप में कहानी का आकस्मिक पूरक

वनाना चरित्र-चित्रण का दिवालियापन है।

सफल कथाकार को जीवन की विभिन्न सम्भावनाओ में आपेक्षिक महत्त्व की चतना होनी चाहिए। किसी चरित्र के प्रतिनिधि पहलुओ का चित्रण करते हुए उसकी अछूती अनुभूतियां और दृष्टिकोणो के मूल्य और महत्व को स्थिर करना जितना उसका कर्त्तव्य होता है, उस से भी अधिक उसकी मूल्यगत मर्यादा का नैसर्गिक विकास और मूल्यांकन भी मानवता के नये विकास की पृष्ठभूमि में ही होना चाहिए।

अवचेतन की गुत्थियां खोलने से अथवा कामकक्ष के वातायनों को उन्मुक्त कर देने से कोई भी अपने मवेद्य को सतृप्तिकारी अथवा अर्थवान् नही बना सकता, क्योकि अन्तरग विरूपता की ओट में इस प्रकार मानवीयता कहाँ निभ पाती है। रेखा के जीवन के हल म उसके घोर वैयक्तिक और स्वार्थपूर्ण अहतुष्टि का पोषक बनकर सामने आया है। वह इस मत का खुलआम हामी है कि स्त्री पुरुष के यौन-सम्बध किसी भी दशा म गर्हित अथवा जघन्य नही है, अपितु भूख और प्यास की भांति भोगेच्छा भी जीवन की अपरिहार्य आवश्यकता है। उस पर किसी प्रकार की पाबन्दी या हस्तक्षेप अनुचित है। व्यक्ति की अबाध, निरपेक्ष सत्ता है, जो किसी मर्यादा, मूल्य और नैतिकता की गिरफ्त में नही, सर्वथा स्वतत्र और मुक्त—समय की अमाप पगडडियो पर जिसकी स्वसचालित गति है। क्योकि लेखक ने इस अभिमत को बार बार दोहराया है—'क्षण सनातन है' छोटे छोटे ओएसिस सम्पृक्त क्षण नदी के द्वीप जो काल परम्परा नही मानता। वह वास्तव में कार्य कारण-परम्परा नही मानता। तभी वह परिणामो के प्रति इतनी उपेक्षा रख सकता है—एक तरह से अनुत्तरदायी है पर इससे क्या! उत्तर मांगने वाला कोई है ही कौन? मै ही तो मुझे उत्तर मांग सकता हूँ? और अगर मै अपने सामने अनुत्तरदायी हूँ, तो उसका फल मे भोगूंगा—यानी अपने अनुत्तरदायित्व का उत्तरदायी मैं हूँ।" एक अन्य स्थल पर—'हम जीवन की नदी के अलग अलग द्वीप है, ऐसे द्वीप स्थिर नही होते, नदी में निरन्तर घुलते और पुन बनते रहते है—नया घोल, नये अणुओ का मिश्रण, नयी तलछट, एक स्थान से मिट कर दूसरे स्थान पर जमते हुए नये द्वीप" या जीवन को यह तीखी ऐन्द्रिय भूख और प्यास मिथ्या आचरण की गुरुता का नकाब ओढ कितने ही मुक्त चिन्तन-खण्डो से टकराकर विचित्र तर्को द्वारा चेतन मन के निरोध के पुजीभूत रूप में ऊहापोहात्मक मानस प्रक्रियाओ में उभारी गई है। उन्ही के अनुबन्ध में लेखक ने अनेक अबाधित विचारे व्यक्त किये है और परस्पर जुडे होने के कारण इनकी एक लम्बी शृंखला बन गई है। मनोवैज्ञानिको के म तव और बौद्धिको की सी दार्शनिक पद्धति को अपनाकर उसके फलस्वरूप कतिपय, तिपकार, निकले-रूप,—उदाहरणार्थ—तसमता को उकसाने और पुरुषार्थ के प्रस्फुरण के लिए स्वकीया की अपेक्षा परकीया-प्रेम अधिक कारगर होता है। उपन्यास के एक पात्र चन्द्रमाधव के प्रसग में—

"कभी जब वह टाई खोलकर उसे कालर से निकालने के लिए उसके ऊपर झुकती तो उसकी कमीज के गले के भीतर से उसके उरोजों का जो थोड़ा सा हिस्सा उसे दीख जाता, उसे वह स्थिर दृष्टि से देखता रहता, कभी-कभी उस दृष्टि को लक्ष्य कर के वह लजा जाती, कौतूहल से चन्द्र सोचता कि अगर वह नौकरानी होती या कोई और स्त्री होती, तो चन्द्र उससे छेड़छाड़ करना चाहता और शायद कमीज का गला पकड़ कर अपनी ओर खींच लेता, पर वह तो उसकी स्त्री थी जो उसके खींचने पर झुक जायगी, हाथ बढ़ाने पर सह लेगी, चौंकेगी नहीं, विरोध नहीं करेगी, निषिद्ध के रोमांचकारी रस से उमड़े-सिमटेगी नहीं'''वह वैसा ही स्थिर देखता रह जाता, पर उसकी आँखों का केन्द्रित भाव बिखर जाता, फिर वह एक करवट हो जाता, पत्नी चली जाती तो उठ कर कपड़े बदल लेता'''।"

आश्चर्य तो इस बात का है कि मनुष्य की इस पतनकारी, जघन्य कुत्सा को बहुत ही सहज वृत्ति के साथ स्वीकार किया गया है। यहाँ तक कि गौरा—भुवन की सखी और शिष्या—जो अपेक्षाकृत आस्थावान और सुसंस्कृत है—अपने संवेदनों, विचार और चेष्टाओं में समान आचरण-स्वातन्त्र्य की कायल है। तभी तो रेखा और भुवन के प्रणय-व्यापार को वह बुरा नहीं समझती, न तो अपने प्यार के एकाधिकार को यथावत् बना पाती है और न उसका प्रणयावेग, जैसा कि स्वभावत होता है, हिंसात्मक या आक्रामक ही होता है। रेखा या भुवन से उसे कोई शिकायत नहीं, उन्हें उनकी इच्छाओं को वह देते हुए उसे सन्तोष मिला है। भुवन की यह सफाई—"स्नेहशिशु, तुम्हें छोड़कर नहीं भागा, भागा जरूर, पर सच कहूँ कि जब भागा तो कुछ अगर साथ लिया तो तुम्हारी प्रतिच्छवि-और मेरे विक्षत मन के कसैले विराग को एकदम कटु हो जाने से बचाया तो उसी ने'''" गौरा में आक्रोश नहीं जगाता, न उलहना। अपने नकारात्मक त्याग एवं औदार्य द्वारा वह नारी निष्ठा और उसकी एकाकी शालीनता पर कुठाराघात करती है, जिसने अपने प्रणयी का न पूरा जाना, न माँगा, न उसकी शिकायत ही की। वह सहज भाव से सब कुछ मान स्वीकार कर लेती है, सब कुछ "जहाँ कहीं पृष्ठभूमि में रेखा भी है। रेखा की व्यथा भी और विशालता भी, अकिंचनता भी और दानशीलता भी"—शरीर का दान कितना भयावह है—कितना घृण्य। एक स्थल पर—"कैसी विडम्बना है यह स्त्री-चरित्र की, कि उसका श्रेष्ठ दान है स्वयं अपना रूप, अपना विनाश।" किन्तु 'अज्ञेय' के औपन्यासिक पात्र, चाहे वह गौरा के से अभिमन के ही क्यों न हों, ऐसे दान से भी किंचित् विचलित नहीं होते। (क्षमा करें—मैं तो यह आधारभूमि ही गलत और अभारतीय मानती हूँ जहाँ गुरुभाव और प्रणयीभाव को एक करके दर्शाया जाता है)।

'अज्ञेय' का हर पात्र इसी अमर्यादित अनाचार और इन्द्रिय-लिप्सा का शिकार है।

मनोविश्लेषण की दृष्टि से भी 'अज्ञेय' के चरित्र विकृत काम-प्रवृत्ति के प्रतीक

हैं। ऐसे व्यक्ति आत्मसम्मोही और स्वयकेन्द्रित होते हैं। उन्हें सदैव यह भ्रम रहता है कि पर वर्ग (Opposite sex) उनके प्रति आकर्षित है। इस प्रकार उनके अन्तर्मन म अपराधी भावनाएँ पनपती रहती हैं और व्यावहारिक कसौटी पर उनका आचरण अनपेक्षित एव अवाछनीय सिद्ध होता है। वह या उच्चादर्श के कारण बाहर तौर जब प्रकृत इच्छाओं का दमन किया जाता है तो भीतर ही भीतर वेदिमा गुत्थियाँ या उलझन बढती हैं जिनकी प्रतिक्रिया सदैव मन की विशृखलता अथवा मनोह्रास में होती है। उक्त क्रियाशील विश्लेषक वृद्धि जब सवेगों से असम्बद्ध हो जाती है तो इस मनोदशा का प्रभाव भावना ग्रन्थियों पर पडता है जिससे अह और मूल प्रकृत इच्छाओं में घोर कशमकश होती है और चरित्र के विकास में विपरीत लक्षण उभर आते हैं।

ऐसे चरित्र या व्यक्तित्व सीमाओं का अतिक्रमण कर जाते हैं। उनके जीवन में कोई क्रम, तरतीब अथवा मर्यादित आचार-व्यवहार नहीं रह जाता। उनका भीतरी आकर्षण या मोहासक्ति एक से दूसरे पर नित्य बदलती रहती है।

बाल्यकाल, यौवन व प्रौढावस्था—किसी भी अवस्था में—इनकी अनुभूतियाँ या प्रच्छन्न चेष्टाएँ कामवृत्ति में केन्द्रित हो जाती हैं। फलत विभिन्न चारित्रिक पहलू निम्नगामी और घृणित स्तर पर दमित इच्छाओं से आक्रान्त रहते हैं।

ये इच्छाएँ क्या हैं? किस सीमा तक ये मौजूदा मनोविज्ञान का अग बन सकती हैं, साथ ही उदात्त कला किंवा सत्साहित्य के सृजन की दृष्टि से उनका मूल और महत्त्व कहाँ तक है? नारी-पुरुष की अवाछित, हेय काम-चेष्टाओं का प्रदर्शन ही क्या उसका मापदण्ड है?

यदि विश्लेषण किया जाय तो ऐसे व्यक्ति या चरित्रों में बडी खींचतान एव ऊहापोह होते हैं। उनके जीवन के व्यावहारिक पहलुओं और ऐंद्रिय वासना-तृप्ति में यदि किसी प्रकार समझौता होता भी है तो बडे ही विलक्षण ढग से। पर प्राय विरोधी सिद्धान्तों से सचालित होने के कारण भीषण घात प्रत्याघात होता रहता है जो परोक्ष या प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति द्वारा कला का माध्यम बन जाता है। भीतर मूलत जो कुत्साएँ नग्न या प्रवचक रूप में सक्रिय होती हैं वे ही साहित्य या कला में परिष्कृत और परिमार्जित रूप में उभारी जाती हैं, पर वस्तुत कामवृत्ति का उन्नयन अथवा नई-नई परिकल्पनाओं द्वारा मानसिक बुभुक्षा की तृप्ति सच्ची कला की कसौटी नहीं हो सकती। इसके विपरीत अतर्बाह्य कार्य-कारण पद्धतियाँ क्रमश अपराधी वृत्तियों में विकसित होकर समाज विरोधी व्यक्तित्व या चरित्र उभारती हैं। 'अज्ञेय' के औपन्यासिक चरित्रों को हम ऐसे ही आत्मसम्मोही अपराधियों की श्रेणी के अतर्गत रख सकते हैं।

उक्त एकांगी कसौटी को लेकर चलने से अनेक आन्तरिक विरोधाभास

उत्पन्न होते हैं और स्थापित मूल-मर्यादाओं के मूल को ध्वस्त करने की चेष्टा करते हैं। एक तीव्र संहारकारी अनास्था मानव-संस्कृति की शिराओं में प्रवहमान स्वस्थ रक्त को विषाक्त बना देती है और वासनात्मक प्रेम की उन्मादक अभिव्यक्ति विरप्रतिष्ठित आदर्शों को झकझोर कर गुमराह तो बनाती ही है, साथ ही इस निन्दनीय अवैध कृत्य द्वारा नैतिक और वैधानिक सिद्धान्तों की भी अवहेलना करती है।

नितांत नकारात्मक और असंगत धारणाओं को उद्बुद्ध करने में जो चित्र ज्ञात-अज्ञात रूप में मन के विभिन्न स्तरों और अन्तःप्रदेश में उभरते चलते हैं उनसे अनुभवी आँखें भी चौंधिया जाती हैं, फिर नई अनुभवहीन, अपरिपक्व आँखें तो इन प्रांजल भाव रेखाओं और चित्रों के जादू में अपने आप को बरबस विस्मृत कर बैठें तो क्या आश्चर्य!

जबकि साहित्य का उद्देश्य तत्वतः विधेयात्मक और उदात्त आदर्शों की अव्याहत सिद्धि है तब मन की एकाकी, आवद्ध कारा में कराहती हुई चारित्रिक ग्रंथि की यह लज्जाजनक, विपन्न पीडा और उस पीडा की घुटन में रेंगती हुई अवांछित इच्छा-आकांक्षाओं का निरपेक्ष अंकन या कहें कि कोरी बौद्धिकता के बल पर प्रच्छन्न कुंठाओं को उभारने का पलायनकारी दम्भ मानसिक उद्वेगों और अन्तर्गुहा की वे दुर्लंघ्य दरारें हैं जिनसे निम्नगामी ईप्सा एवं वंचना की चाबुक खाकर सर्वतोमुखी जीवन-विश्वास की सम्भावनाएँ डगमगा जाती हैं और स्थितप्रज्ञ व्यक्तियों तक के विश्वास और सिद्धान्त आविष्ट हो उठते हैं।

निश्चय ही युवकों और कमसिन किशोरियों में इन प्रयोगवादी कृतियों के प्रति असीम उत्साह और दिलचस्पी है, क्योंकि इनमें किसी प्रकार की रोकटोक या प्रतिबन्ध नहीं है। किन्तु अन्ततः इसका परिणाम क्या होता है कि साहित्य और कला, जो चेतना के विकास का श्रेष्ठतम सोपान है, चिन्तन-पद्धति के महत् मूल्यों की उपेक्षा कर ह्रासशील और हीनतर संस्कारों को प्रश्रय देता है। यह सही है कि पिटीपिटाई नैतिक लीकें किसी महान् कृति के सृजन का दावा नहीं कर सकतीं, किन्तु नैतिक मूल्य यानी शिवत्व और सौन्दर्य के मूल्य कृतिकार में सृजनात्मक तुष्टि तो जगाते ही हैं, औचित्य और उपयुक्तता के साथ-साथ जीवन-मीमांसा के सत्य की भी अवतारणा करते हैं।

मौजूदा युग में नवीन वादों और मतों का जो कुत्सित प्रभाव हमारे साहित्य और कला को विकृत कर रहा है वह उन अर्थों में 'एस्थेटिक सेंस' जगाता है जो उदात्त जीवन से असम्बद्ध और परे 'वास्तव' को झुठलाकर आच्छन्न अन्धता से ग्रस्त नग्नवाद की ओर प्रेरित करता है। नग्नवाद रूपी दानव जब सहमे हुए खामोश दिमागों को घर दबोचता है तो काम-वासना की धधकती शत शत उल्काएँ सहस्र अश्वों के बल से तड़पकर रन्ध्र-रन्ध्र में धँसती हुई सुन्दर कल्पना चित्रों और स्वप्नों को आकार नहीं देतीं, प्रत्युत् अवांछित इच्छाएँ उपजातीं, भूख से बुझी श्वासरोधक

तिलमिलाहट जगाती और भीतर के आहत पशुत्व से पिछली वह तपन उभारती है जो साहित्य और सृजन की अंतःशक्ति को दग्ध कर उसे राख का ढेर बना देती है। इस घृणित अराजकता में क्या निर्माणात्मक अथवा क्रियात्मक विचार उत्पन्न हो सकते हैं ? आत्मा की ऐसी सडांध भरी अन्धेरी गहराइयों में तो ध्वंसात्मक और अपराधी इच्छाएँ ही पनपती हैं। अतएव साहित्य के ये रुग्ण, पलायनवादी तत्व अमानुषिक या कहें कि बुनियादी है जो प्रेरणा या देवत्व के स्वर नहीं जगाते बल्कि कुत्सा के मलबे के नीचे दबी पड़ी असह्य आत्मपीड़ा और कुंठा के स्वर उभार कर साहित्य के सुन्दर और मूल्यवान, यथार्थ और सन्तुलित, उदात्त और लोकोत्तर के महान् अनुष्ठान की धारणा को सर्वथा निर्मूल सिद्ध करते हैं।

११

कथाकार देवेशदास

एक औपन्यासिक के रूप में देवेशदास का नाम बंगला कथा-साहित्य में प्रसिद्ध है, किन्तु नवीन भावादर्शों की प्रतिष्ठा, पुरातन व नवीन भावधारा के समन्वय और प्राच्य एवं पाश्चात्य संस्कृति के सेतु-निर्माण में हिन्दी के लिए भी इनका अवदान कम उल्लेख्य नहीं। आज जब कि भाषा का संघर्ष है अपनी मातृभाषा के प्रति असीम अनुराग होते हुए भी इनकी समंजस दृष्टि राष्ट्रभाषा के प्रति प्रेम-भावना को कुंठित नहीं कर सकी। देश और काल की सीमा का अतिक्रमण कर इनकी कल्पनाप्रवण सृजनशील प्रेरणा युगसन्धि के कर्तव्य-पथ पर, मतवाद-विच्छिन्न और संस्कार-मुक्त हो, विश्वमानवत्व की अनन्त भावधारा के साथ पर्यवसित हुई है।

'यूरोपा'

युगदृष्टि के अनुरूप इनकी चिंतनधारा का गहरा अर्थ है सभी मूल्यों की सापेक्षता। यही कारण है कि इनकी प्रथम कृति 'यूरोपा' में इनकी प्रतिभा कल्पना-लोक की स्वप्न-कुहेलिका से विश्वमानव के सदा जाग्रत कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण हुई है। 'यूरोपा' उपन्यास नहीं है, पर सत्य को कला का आधार बनाकर उसे जीवन की आलोचना के रूप में ग्रहण किया गया है। चूंकि देशभेद से मानव की मूल प्रकृति में कोई अंतर नहीं आता, अतः मानवतावादी विकासमूलक धरातल पर सूक्ष्म आन्तरिक आप्यायित भावों को बड़ी विदग्धता के साथ अभिव्यक्त किया गया है। न केवल इन यूरोपीय देशों के गहन गिरिकानन, सर-सरिता-उपवन, पत्र-पुष्प विभूषित वासन्ती मादकता, धूप और बादलों की क्रीडा, नदी निर्झरों का उन्मुक्त जलोच्छ्वास, विहग-कौतुक, सुमन-सौरभ, धवल हिमराशि, छायातप, ज्योत्स्ना-किरण आदि का हृदय-स्पर्शी वर्णन है अपितु वहाँ की बहुविध सहज प्रेरणाएँ, उन्नति-अभियान, आत्यन्तिक संघर्ष की सीमाएँ, सामाजिक मनोवस्था, श्रेय-प्रेय के निरूपण की जीवन्त परिणति, समसामयिक जीवन की जटिल सापेक्षता और नव स्वच्छन्दतावादी आस्था में अन्तर्गत अन्धविश्वास और अमगन श्रद्धा से परे आधुनिक चेतना से उद्भूत व्यक्ति मानव का सम्पूर्ण निजत्व तथा विश्वमानवता के प्रति आस्था के साथ मनुष्य से मनुष्यों के परस्पर वास्तविक सम्बन्धों पर दृक्पात है। भारतीय और योरोपीय जीवन-दोनों-की तुलना करने पर विभिन्न भावच्छायाओं के बिम्ब आँखों में तैरने लगते हैं। वैविध्यपूर्ण

जीवन क्षेत्र में कितनी ही सीमाएँ निर्धारित की गई है। उदाहरणार्थ—मृत्यु का भय भारतीयों के जीवन की मस्ती को भले ही ग्रस ले, पर प्राय यूरोपीय लोग बडे साहसिक होते हैं। मृत्यु का भय उन्हें निश्चेष्ट या आसक्ति नही बनाता। जीवन की आकाक्षा ही उन्हें मृत्यु से जूझन की प्रेरणा देती है। उनके मत में जीवन की यह आकाक्षा ही नित्य और सत्य है, शेष तो नश्वर है और असत्य। लेखक के शब्दो में—"उस समय समझ सका कि जडवाद, वस्तुवाद आदि में डूबा यूरोप किस प्रकार निर्विवाद रूप से जरा को जीत एव मृत्यु की उपेक्षा कर जीवित है। इनके पास हमारे समान आध्यात्मिक सम्पत्ति नही, तथापि य हमसे कितना अधिक आनन्द प्राप्त कर जाते हैं। सबके जीवन की शेष परिणति मृत्यु में है, कितने दिन जीवित रहना है, फिर प्राण-प्राचुर्य क्यो न रहे? जिसने कभी भोग ही नहीं किया उसे त्याग के दु ख-लाभ करने का सौभाग्य कहाँ? मलिन पुष्करिणी के शैवाल दल को हटाकर केवल नीचे के जलबिन्दु ग्रहण करने की चेष्टा के अनुसार जिसने ससार को असम्पूर्ण भाव से ग्रहण किया उस ससारी के सन्यास में महिमा कहाँ? जिस आत्मनिर्भरता, साहस और त्याग में हम दु ख विरह का तुच्छ समझ पाते हैं, वे हमारे हैं ही नही। है केवल दुर्बल रदन। इसीलिए हम जीवन को असहाय दृष्टि से देखते हैं।"

यो यूरोप का जीवन चिरगतिशील है और घटनाओ के घात-प्रत्याघात से अग्रसर होने की प्रेरणा उन्हें अनवरत मिलती रहती है। जीवन-डगर पर वे कितने निर्मुक्त विचरते हैं। लेखक का कैशोर मन वहाँ के लोगो की निर्भीकता और नित्य ही आगे बढने की चाह को देख कर मुग्ध हो उठता है—'अच्छा लगता है—यूरोप का यह आनन्दमय उल्लासयुक्त, मुक्त जीवन, जो पैदल चलकर और दुखो को दूर कर मृत्यु की उपेक्षा करता है—वह जीवन मुझे अच्छा लगता है।'

इस प्रकार उक्त पुस्तक में लेखक की मानसिक प्रतिक्रियाएँ अपने मूल उद्वेगो और उन जागरूक क्षणों की अविस्मरणीय स्मृति के साथ उभरती हैं अर्थात् वह जिस क्षण जो अनुभूति प्राप्त करता है, कुण्ठा पूर्वाग्रह अथवा रीति-नीति से परिचालित हुए बगैर उस क्षण के, उस साक्ष्य के प्रति ईमानदार रह कर उसका निर्वाह करता है यही उसकी जीवन-दृष्टि और आत्मा को तुष्टि प्रदान करते हैं।

"कितनी विभिन्न सज्जा एव भगिमा के साथ या तो कोई युवक पथ में किसी युवती के साथ चलेगा अथवा दो भिन्न या एक ही आफिस के लोग साथ-साथ चलेंगे। पथ पर चलते-चलते नेत्रों के हास, बातचीत एव क्षणिक साहचर्य में जो कुछ भी सुख है उसे कर्म के आनन्दतीर्थ के ये यात्री अवहेलित नही करना चाहते। जीवन में सम्भव है इनमें से अनेक के अदृष्ट मे विवाह नही, अन्तत प्रथम जीवन में, किन्तु फिर भी कर्मस्रोत में ये नर-नारी पास पास रह बहते चले जाते हैं। पुरुष नारी को 'नरकस्य द्वार' कहकर अवहेलना नही करता। नारी पुरुष को भय की सामग्री समझ कर पीछे नही हटती और समाज इनके बीच केवल आग और घी के सम्बन्ध का निर्देश नही करता। स्त्री-पुरुष के सान्निध्य के परिणामस्वरूप रूप, स्वास्थ्य और

सामाजिक गुणों की चर्चा इनमें मन के अगोचर रूप में बढ जाती है। इसके फल-स्वरूप नारी की दृष्टि में जनता के बीच मनुष्य बनने के लिए पुरुष की निशदिन साधना रहती है नारी की भी वही साधना है। इसीलिए पश्चिम में मनुष्य जाति की सर्वविधि उन्नति हुई है। हम लोगो के समान क्षीणजीवी एव असुन्दर होने की लज्जा यूरोप में दिखलायी नही पडती।"

लदन की जनता की कर्मठ सचेष्टता का उल्लेख करते हुए देवेशदास लिखते हैं—

"उस विराट् जनता में गति-प्राचुर्य है, प्राबल्य नही, सबको शीघ्रता है, किन्तु हुडदग कोई नही करता, सब शृखला मानकर चलते हैं, कारण—शृखला उनके पथ की सहचरी है, पैरो की शृखला नही, गति का बन्धन नही।"

आस्थावान और सम्पूर्ण निजत्व की जीवनी-शक्ति को विकसित कर आधुनिकता के प्रति अधिक सजग होने के नाते लेखक आज के व्यक्ति मानव से मर्यादित आचरण की माँग करता है। उसकी उपलब्धि, उसका नियोजन और उसका निश्चित इष्ट, जो आत्मविश्वास के आयामो में जीवन की अनुभूति की गहनता से अन्तर्निविष्ट है, सर्वांगीण तत्त्वो के साथ जीवन का साक्ष्य चाहता है।

'यूरोपा' के बगला सस्करण को पढकर श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लेखक को सबोधन करके लिखा था—"तुमने यूरोप के माहात्म्य एव सौंदर्य को सर्वान्तकरण से स्वीकार किया है। दृष्टि को प्रसन्न न रखने पर कभी भी नूतन देश को सत्य रूप में नही देखा जा सकता। तुमने आनन्दित मन से यूरोप को देखा है और वही आनन्द पाठको को वितरित किया है।"

अतएव यूरोप में लेखक की सवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ मानव-सम्बन्धो से, मानव-सम्बन्ध विशेष परिस्थितियो से और विशेष परिस्थितियाँ सामाजिक सन्दर्भों में एक अविच्छिन्न सम्बन्ध-शृखला में बँधी हुई हैं। किन्ही आरोपो या मन्तव्यो की अभिव्यक्ति का दर्प यहाँ नही, अपितु भाव की लोकातिशयता और उत्कर्ष, विचार और कल्पना की उन्नत भूमियो के दर्शन होते हैं। भीतर की प्राणशक्ति या निसर्ग-जात अतिशयता के कारण प्रवाह की खण्ड-चेतना का परिहार हो जाता है, पडाव के विराम चिन्ह लुप्त हो जाते हैं, बुद्धि के भेद-व्यभिचार की अनायास निवृत्ति हो जाती है। देवेशदास ने यूरोप का भ्रमण करते समय वस्तु का अन्तरग देखा है, उसके गूढार्थ से मन का तादात्म्य स्थापित किया है और अतीत की अतिशयता को वर्तमान के काल तरग में समाहित कर एक अखण्ड परम्परा का साक्षात्कार कराया है। परम्परा और रीति में भेद है। परम्परा का सम्बन्ध काल से है, रीति का देश से। पर परम्परा और रीति से परे जब कथाकार आलोचक बन जाता है तो जीवन की वैविध्यपूर्ण आढ्यता से प्रभावित अतिसामान्य प्रसगो, चिरपरिचित घटनाओ, पात्रो, परिस्थितियो और समस्याओ को छूता हुआ वह बडे कौशल से आगे बढता है। कहीं-

कहीं कथाकार की हैसियत से लेखक का उपयोक्ता—उच्छिन्न निरपेक्षता का अतिक्रमण कर—सामने उभर आता है और कहीं-कहीं आलोचक की बौद्धिकता उसके उपयोक्ता को सामान्य स्तर पर उतरने से रोके रहती है। फिर भी वैयक्तिकता के ऊपर सर्वत्र सार्वभौमिकता ही दीख पड़ती है। सौन्दर्य के मौलिक महत्त्व का प्रश्न है जिसे अनेक चित्रशिल्पियों के रुचि-वैचित्र्य का लक्ष्य कर परखा गया है।

"रूप का आदर्श क्या है? हम सब के ही मन के गहन अतल में स्वप्नसंगिनी अथवा निखिल मानस रंगिनी का एक आदर्श रहता है जिसे भाषा में प्रकाशित करने पर वह अन्तर्धान हो जाता है और जो चिरकाल ही हमारे सम्पूर्ण प्रश्न और प्राप्ति के अतीत पट पर रहता है। फिर भी हम एक आदर्श रखते ही हैं—वह चाहे देह-सौष्ठव का हो, प्रकाशभंगी का हो अथवा प्राणमयता का। उसको कवि वर्णित करता है और शिल्पी व्यंजित। अपनी स्वप्नमूर्ति और कल्पना को लिये हम चिरकाल से उसके निकट जाते हैं। इसीलिए हम शिल्प के इतिहास में अनन्त सौंदर्य की शोभा-यात्रा देखते हैं।"

कला की लम्बी परम्परा में विभिन्न चिन्तनधाराओं को मानवी रूप पर लागू कर लेखक उपयोगी एवं तर्कसंगत तत्त्वों को समो लेना चाहता है—

"प्रस्तर युग में नारी विशेषतः वंश की जननी थी—जिस वंश को वर्फ के युग में यूरोप के कठिन शीत से जीवन-रक्षा करनी पड़ी थी। अतः प्रस्तर युग की नारी थी स्थूलांगी वीरांगना, केवल गजगामिनी नहीं साक्षात् गजेन्द्राणी। गुहा-मानव गुहा गात्र में 'बैसन' शिकार-प्राप्ति के लिए उसका चित्र अंकित करते थे। इससे ही उन्होंने शिल्प को किस रूप में ग्रहण किया था—समझ में आ जायगा। युग-युग में पुरुषों ने संगिनी की जिस रूप में आकांक्षा की उसे उसी रूप में अंकित किया और नारी भी पुरुष के समक्ष उसी रूप में आविर्भूत हुई। सौष्ठव एवं सामंजस्यमय निरवद्य गठन भंगिमा का सौन्दर्य ग्रीक का आदर्श था। भगवान् ने अपनी आकृति से मानव का निर्माण किया, धर्म की इस शिक्षा को ग्रीक शिल्पियों ने देवी के सौन्दर्य को मानवीय आकार देकर अक्षरशः प्रकाशित कर दिया। उनकी 'वीनस' स्वर्गीय अथवा स्वर्ग सुषमामय नारी की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति है। उनके निकट तिलोत्तमा सुन्दरी नागरिक फ्राइनी धृष्ट देव-सुन्दरी के मानव रूप की प्रतीक थी एवं इस कल्पना से उन्होंने देश के सम्पूर्ण शिल्परसिकों का समर्थन पाया था। आर्ट के स्वर्णयुग में इटली के पर्वतीय प्रदेश की सुन्दरियाँ (मैडोना) देवमाता के मॉडल रूप में अवतीर्ण हुई। उन्होंने ही प्राचीन धर्म-कहानियों के देवियों के चित्र और मूर्ति को रूप दिया। ल्यिओनार्दो की मोनालिसा की ही बात नहीं कहता। अन्य सभी शिल्पियों ने मानवीय मूर्ति में देवी को उपलब्ध किया। करेज्जिओ सब प्राचीन देव-कहानियों के चित्रों में श्रेष्ठ सुन्दरियों को 'वीनस' के रूप में सजाते थे। फ्लीमिश शिल्पी भी यही करते थे किन्तु उनके देश के सौन्दर्य का मानदण्ड सब के लिए आकर्षक न था, इसीलिए रूबेन्स और रैमब्राट की हँसमुख गृहिणियाँ कभी सौन्दर्य-जगत् में चचलता नहीं ला पायीं। चित्र-

शिल्प की एक और शताब्दी में शिल्पी नारी का चित्र अंकित करते समय देवी को भूल ही गये। अठारहवीं शताब्दी के फ्रांसीसी पम्पादुर, दुवारी आदि ने राजप्रेमियों की वक्ष-गुम्फा में मनोनिवेश किया और अंग्रेज़ी शिल्पी अभिजातों के चित्ररूप लेकर व्यस्त रहे। शेषोक्त चित्र इस समय अमेरिकन लक्षपतियों के आदर की सामग्री हैं—कारण, ये मार्किन धनी के पूर्व पुरुष के परिचय का श्रेष्ठ विज्ञापन और उपकरण हैं।

फिर भी तो वह मानवी है। किन्तु चित्र-राज्य में और भी अनेक देवी अथवा नारी की प्रतिकृति है जिनका मानवीय आकृति में गठन हुआ है या नहीं—इसमें सन्देह है। रसेटी के युग की सारस कण्ठी वेलवती आदि की आकृति अथवा वर्तमान युग के क्यूबिस्ट आदि के नारी चरित्र के अनुकरण में यदि मानवी को देखा जाय तो भूतिवला के यन्त्रों को प्रस्तर के स्थान पर रक्त-मांस की देह पर चलाना होगा। रुचि का वैचित्र्य इसी को कहते हैं। फिर भी युग-युग से विभिन्न रुचि और शिल्प-धारा का प्लावन प्रतिहत कर ग्रीस की सौन्दर्य-सृष्टि अपनी महिमा का श्रेष्ठ सम्मान पाती रहेगी।"

यूरोप में भ्रमण करते हुए विभिन्न परिस्थितियों और विभिन्न प्रकृति के व्यक्तियों के बीच घात-प्रतिघात द्वारा लेखक का अन्तर्मन अधिक स्पन्दनशील और विश्लेषण की दृष्टि से अधिक अर्थवाही हो उठा है। भावुकता के क्षणों में उसका अन्तर्बोध उसके परिवेश के धरातलों का मिलन-बिन्दु है और आत्मस्पर्श की अनुभूति की शक्तिमयी चेतना उसमें अन्तर्निहित अभिराम अर्थ के विलक्षण अन्तर्भाव को सजीव कर कमनीय मूर्त रूप प्रदान करती है। भाषा सौष्ठव, वाग्वैदग्ध्य और अर्थवैचित्र्य की उद्भावना के साथ-साथ उसके प्रांजल भावों की कविता में आत्मा का सुवासमय परिस्पन्दन है जहाँ आनन्द की कम्पनमयी हिलोर समूचे अन्तस्तल को उद्वेलित करती है।

"यदि प्रकृति स्वयं प्राणमयी है और क्लान्ति में कल्पना है तो सौन्दर्य कभी भ्रान्ति उत्पन्न नहीं करता।·········पार्वत्य प्रदेश होने के कारण स्विट्ज़रलैण्ड इतना अच्छा लगता है। एक एक शृंग मानो मानवात्मा की वाणी का प्रकाश है। समतल की माटी का मोह स्वच्छ, लघु और अगभीर है। उसके ऊपर से आकर्षण बिखर पड़ता है। कहीं न रुकता है और न इकट्ठा होता है, किन्तु असमतल के पत्थर का प्रेम चोटी-चोटी पर आवर्षण का किरीट धारण किये तरंग-भंग के खेल के समान, सरगम की ध्वनि के समान लहरें खेल जाती हैं और समतल से उच्चता मन को ऊपर की ओर रात-दिन अविराम खींचती रहती है। पथिक के लिए, मरे लिए वह वर्ष की घाटी अतन्द्र निद्रा से अनाहूत, चिरकाल से जाग्रत है।"

और 'केवल फूल' समस्त जीवन ही फूल के समान विकसित किया जा सकता है। चारों ओर हँसते हुए मुख, स्वस्थ सबल देह और उल्लसित मन देख रहा हूँ। पैरों में अपरूप गति-भंगिमा, नेत्रों में स्वप्न और माथे पर सोने के ऐश्वर्य के लिए कितने लोगों को जाते देखा है। इस पूर्व उपकूल के तम्बुओं ने शहर में एक भी ऐसे

मनुष्य को नही देखता हूँ जिसको मन ही मन किसी फूल के नाम से भूषित न कर सकूँ। एक शुभ्र निष्कलंक मुख को नाम दिया लिली व्हाइट', एक लजीले किशोर को स्नाडाप' और एक आडम्बरमय प्राणी को रोडोडेनड्रन'। शापोक्त को 'स्नैप-ड्रैगन भी कहा जा सकता है।

केन्टर म बसन्त की प्रथम मादकता का उपभोग करने आया हूँ, कारण, यहाँ भारतीय शायद कोई नही आता। पैर और मन की शृंखला कदाचित् खुल गई है इसीलिये सब ओर से अपने परिचय के हाथो से भी मुक्त होना चाहता हूँ। अपरिचित के साथ परिचय करना चाहता हूँ और निस्सग के साथ विश्रम्भ आलाप। मैं निस्सकोच रूप मे अपने बाहर आऊँगा कारण—कोई मेरी आन्तरिक स्वतन्त्रता पर व्याघात नही करेगा और अपरिचयता को अक्षुण्ण ही रखूँगा। व्यावहारिक सभ्यता का आवरण खोलने का मैने यह प्रशस्त स्थल पाया है।"

लेखक के मन की अनवरत प्रवहमान गति है जो अपने भीतर स्पन्दित साँसो के माध्यम से वह इसी गति सचरण का आवाहन करता है। उसका उद्गम अनेकानेक भाव-तरगो और कल्प विधानो में इतनी शक्ति से प्रवाहित होता है कि लगता है कि पूर्व और पश्चिम की सीमाएँ मिलकर एक हो गई है, किन्तु यह उसका वाह्याग है, उसका अन्तरग इससे भी महत्त्वपूर्ण है।

'रजवाडा'

यही बात लेखक की दूसरी कृति 'रजवाडा' पर भी लागू होती है। उसकी यायावर आत्मा राजस्थान के सम्मोहन से खिचती है। वहाँ जो दर्शनीय है, ग्रहणीय है अथवा सवेदनीय है उसको मन मजूषा में सँजोता जाता है और कौतूहल एव जिज्ञासा भरी उत्सुकता से जीवन दशन के रूप में आत्मसात् भी करता है।

वह यहा की राजनीतिक परिस्थितियाँ और सामाजिक जीवन के विभिन्न स्तरो के मूल स्रोत को पहचानता है, उनके भीतर पैठकर अनुभूति प्राप्त करता है और अपने विवरणो तथा समस्त ज्ञातव्य बातो को अभिव्यक्त करता है। 'रजवाडा' में राजस्थान का प्राचीन गौरव, इतिहास, पुरातत्त्व, रीति रिवाज, सामाजिक अर्थ व्यवस्था जीवन की विषमता और जटिलता, धर्मगत और जातिगत रूढियाँ अभिजात्य और मध्यवर्ग की मनोवृत्ति पूँजीवाद और निर्धनता का सघर्ष भिन्न भिन्न मनोदशाओ और विचार परम्पराओं का उल्लेख है जिससे वर्तमान के साथ अतीत भी सश्लिष्ट हुआ सा प्रतीत होता है।

यह रावत साहब जिस राज्य के जान पडे वहाँ के राजवश के एक पूर्वज की कहानी याद पडी। वह कोई साढ छ सौ वर्ष पहले की कहानी है। वे वर्षों से सुल्तान की सेना से लडते हुए अपने गढ की रक्षा कर रहे थ। एक दिन देखा गया कि किले को अब बचाया नही जा सकता। मृत्यु के सिवा कोई रास्ता नही।

उन महामरण से पहले की रात को गढ में महोत्सव मनाया गया। पुर-नारियो तथा रानी ने अपनी मांगा में सिन्दूर भरा और प्रियजनो से विदाई ली। उसी रात २४००० वीरांगनाओ ने तलवार की धार या आग की लपटें चूम कर आत्मोत्सर्ग किया। जो चार हजार योद्धा बचे वे रात बीतने पर केसरिया बाना पहन, सिर पर मोर रख, हाथों में नगी तलवारें लिए मौत के मुँह में कूद पडे और वीरगति प्राप्त की। राजपूत जीवन में दो बार सिर पर मोर रखते थे—एक बार विवाह-मडप में और दूसरी बार महानिद्रा से आलिंगन करते समय।

और इस प्रकार जब दूसरी बार वे मोर रखते तो उनके कपडे गेरुआ होते थे। ससार छोडकर सन्यास लेते समय गेरुआ वस्त्र पहना जाता था। इसी प्रकार इस दुनिया को छोडते समय गेरुआ वस्त्र पहने जाते थे। उस समय कोई बन्धन नही रह जाता था। उस समय एक मात्र लक्ष्य यही होता था कि शत्रु को मार कर मृत्यु का वरण किया जाय। इसलिए 'अर्द्ध कपडो वाला' राजपूत सैनिक शत्रु के लिए महाकाल होता था।"

लेकिन मरण वेला के इस रोमाचकारी दृश्य के साथ राजसी ऐश्वर्य और मस्तानी घडियो की मादकता भी अविस्मरणीय है जहाँ उन्मत्त भावनाएँ उद्दाम हो उठती थी और श्रृगार एव स्वेच्छा का पोषण होता था।

"जिनको श्रम का दुख नही मिलता उन्हे विश्राम का सुख भी नही मिलता। नींद भी उन्ही को आती है जो पसीना बहाते हैं। हीरो और पन्नो से जडे सुरा और सुन्दरी से लसित सन्ध्या इनमें से बहुतो की जागती आधी रातो को नूपुरो की रुनझुन और नृत्य की मीठी तालो के आघात से उषा के निकट ले आती है। इसके बाद अलसायी उषा आँखो में नींद भरे प्रभात के आँचल में मुँह छिपा कर कब दुपहरी की ओर चली जाती है, इसे हम अभागे जो उस समय कार्य करते करते थक कर घडी की ओर देखने लगते है—कैसे जान सकते हैं।"

राजस्थानी जीवन और समाज की विसगतियो पर कहीं-कहीं लेखक ने गहरी चोट की है। यह सही है कि वह उन कारणो को जानता है जिनमें सामाजिक राजनीति, समाज नीति, अर्थ नीति में जनजीवन का उत्थान-पतन होता है अथवा जिनके प्रभाव से उस युग विशेष के लोग अपने-अपने वर्ग-स्वार्थो में आबद्ध रह कर कार्य करते है, किन्तु किसी भी देश अथवा युग में जीवन-यापन के प्रतिमान मूल मानवीय प्रतिमानो से भिन्न या विरोधी नहीं हो सकते, अतएव वह व्यष्टि और समष्टि के एकीकरण में ही जीवन का पूर्णत्व खोजता है तथा उस व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को (भले ही वह व्यक्ति शासक या ऐश्वर्यशाली हो) हिकारत की नजर से देखता है जो शोषण को प्रश्रय देता है, यथार्थ से पलायन का पाठ सिखाता है और दूसरे की स्वतन्त्रता की अवमानना करता है। तेजस्वी क्षत्रिय वीरो के युद्धोन्माद, क्षात्र धर्म और स्वामिभक्ति की अनुवर्तिनी प्रतिपक्षी से युद्ध में तिल तिल करके कट मरने की

बलवती आकांक्षा की जहाँ प्रशंसा है वहाँ आमन्दोपभोग के आकर्षण और सुरा-सुन्दरी के प्रलोभन पर गहरा तिरस्कार और निंदा का भाव भी उसमें है।

"उनमें मौज उड़ाने की प्रवृत्ति बहुत थी, साथ ही अपने मन की वासना को रंगीन बनाकर वह उसे इन्द्रधनुष की तरह आकाश में फेंक सकते थे। न मालूम कब क्या हो जाय, सिर रहे या न रहे इसीलिए सुखभोग के सम्बन्ध में उनकी नीति इस प्रकार रहती थी—

"बूढ़े बढ़े लेत कमाय आखिर चेंह सींग दिखाय।"

मध्ययुगीन सामन्ती व्यवस्था के खण्डहर पर अगरेजों ने देशी रियासतों का ढांचा खड़ा किया था। इस दीर्घ काल में एक प्राणहीन ह्रासोन्मुख परम्परा का अर्से तक निर्वाह होता रहा, किन्तु परम्परावादी रूढ़ियों में जकड़े राजस्थान को नव-युग ने मुक्त किया और एक नई सजीव परम्परा में दीक्षित किया। आजाद भारत की प्रजातान्त्रिक सत्ता द्वारा सामन्ती समाज विधान के क्षय के साथ उक्त परम्परा का ह्रास अवश्यभावी हो गया। देवेशदास लिखते हैं 'मनुष्य समाज में बैठकर ही मैं इन बातों पर विचार कर रहा हूँ और सो भी पुराने रजवाड़े के बगल में जो राजस्थान उत्पन्न हो रहा है उसी के वातावरण में यह आलोचना चल रही है।"

'मास्को से मारवाड़' और अन्य कहानियाँ

अपनी तृतीय कृति 'मास्को से मारवाड़' में भी लेखक एक सचेत आत्मनिष्ठ कलाकार की भाँति नए मूल्यों की नई मर्यादाओं को स्थापित करने में उतना ही जिज्ञासु और जागरूक है। एक यायावर की हैसियत से दूसरे देशों के जीवन, समाज, संस्कृति और आचार विचारों के प्रति उसकी एक स्वतन्त्र दृष्टि है और चरित्रों की बहुरंगी गाथाएँ कहानियों के रूप में उभर कर सदमों से परे मानव-मूल्यों का मूल्यांकन करती हैं जो किसी को जबरदस्ती लक्ष्य करके नहीं बल्कि उसकी अपनी आस्था पर उपजी और चरितार्थ हुई हैं। बाह्य जीवन-वृत्त अथवा तत्सम्बन्धी संस्मरणात्मक तथ्यों को लेकर सत्य और कल्पना का उचित समन्वय उनकी कहानियों की विशेषता रही है, पर उनका उत्स कहीं न कहीं उनके विचारों एवं अनुभवों में अन्तर्निहित रहता है।

उनकी कहानी-टेकनीक की सबसे बड़ी कसौटी है—कल्पनात्मक सहानुभूति। इसी सहानुभूति के कारण मनस्तत्वों के अभ्यन्तर में प्रवेश कर देखने में वे समर्थ होते हैं और अन्य के समक्ष मूर्तिमान रूप में प्रस्तुत करने में सफल। अतः सनहीं परिचय की सीमा से बढ़ कर तदाकार परिणति की स्थिति में वही उनके अन्तर की गहराई से स्फूर्त सत्य बन जाता है। 'सपन के समार' कहानी में एक साधारण जिप्सी के उद्गारों एवं अनुभूति अभिव्यक्तियों के मर्म को भी यथावत् रूप में हृदयंगम करने की चेष्टा की गई है।

"मैंने उसके नेत्रों में विषाद की छाया देखी। उसकी विशाल देह बड़ी असहाय और भग्न हो गई थी। मुझे उस पर दया आई, मैं उसे कतई धोखा नहीं देना चाहता था। मुझे ऐसा लगा कि उसके रूक्ष बाह्य शरीर के भीतर कहीं अत्यन्त असहाय कोमल अन्तर है।"

रूडी जिप्सी भावुक किन्तु स्पष्टवादी व्यक्ति है। उसके मुख से उसकी अपनी परम्परा, संस्कार और अनुभव से प्राप्त अनेक प्रेम और विवाह सम्बन्धी अद्भुत सत्यताओं का उद्घाटन कराया गया है। यहाँ इन्सान की आत्मा बिना किसी बाह्य आवरण के सामने उभर आती है। दरअसल, मानव व्यक्तित्व के कितने ही अछूते पहलू है, जो किन्हीं खास परिस्थितियों और मोड़ों पर, जीवन के कूल-किनारों से लहरों की भाँति बार-बार टकराकर, नए नए चिह्न बना जाते हैं और इस प्रकार अनुभूति के स्तरों और प्रेरक परिणामों में बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है।

'निद्रा स्वप्न' में वृद्ध इटालियन बूनो के भावुकता भरे आकुल उद्गार एक गहरी अनुभूति, चिंतन और दर्शन से अभिभूत मनोभावों का दिग्दर्शन कराते हैं।

'यौवन रंगीले स्वप्नों का समय है, परन्तु काल किसी को भी यौवन स्रोत के तट पर बैठकर प्रतीक्षा नहीं करने देता। बूनो भी उसके प्रवाह में बह गया और अब उसमें कोई आकर्षण नहीं रहा।

यह स्वाभाविक भी है। वे अधर जो ओसकण से भीगे उष काल में पुष्पदल सदृश थे, सूर्यताप लगने से पूर्व ही मुरझा गए।

काल किसी के लिए भी नहीं थमता। प्रेम के लिए भी नहीं। 'आज' सत्य है, एक मात्र सत्य। आगामी कल को वह हो जायगा अतीत और मिथ्या। कवियों ने अनन्त प्रेम की महिमा का गान किया है, किन्तु मनुष्य चाहता है आज के प्रेम की माधुरी। अनन्त की तुलना में वर्तमान बिन्दुमात्र भी कम सत्य नहीं है।"

अन्त में एक प्रश्नचिन्ह लगा कर बूनो के उच्छृंखल ऐय्याश व्यक्तित्व का नकाब उतार फेंका है और सिद्ध किया है कि मानव-चरित्र इस बौद्धिक वातावरण में विकसित और उन्नत होता हुआ भी कुतूहल, विस्मय, भ्रान्ति और विभ्रम की वस्तु बना हुआ है। इस तरह के व्यक्तियों का अपना एक खास तबका होता है। ये आवारा घुमक्कड़ जरा शानदार होते हैं और अपने फन के उस्ताद। उनकी आँखों में कृत्रिम रौब होता है और अदाओं में गुरूर टपकता है जो मानस को अभिभूत कर लेता है।

"दोष किसी का नहीं। दोष यदि किसी का है तो इस देश के नीले आकाश का है, जिसने यहाँ की तरुणियों के नेत्रों से रंग छीन लिया है। दोष इस वेनिस की जलराशि का है, जो सहम्-सहम् लहरों में नाचता प्रत्येक रूपसी के घर के नीचे से सारे दिन और सारी रात्रि गान करता हुआ अनन्त में लीन हो जाता है। भारतीय

होने के कारण तुम समझ जाओगे कि इस वेनिस के जल की लीला, चंचलता इटली की युवतियों की हृदय माधुरी का सजल संस्करण है।'

ब्रूनो की लच्छेदार भाषा और पदावली ने मुझे दिशाहारा कर दिया।

मैं समझ न सका। दूर छोटी नाव पर एक माझी त्रिभंग होकर खड़ा था। ब्रूनो की कहानी सन्ध्या के तारे के समान मेरे मन के आकाश में झिलमिला रही थी।

जिस निगूढ़ दर्शन का इन कथा-चरित्रों में आभास होता है, लगता है कि हमारे निकट ही है और एक स्वभावगत अनासक्ति जीवन के प्रत्येक चरण, प्रत्येक विकास व प्रगति में सत्य का शोध चाहती है। मानव चरित्र का विश्लेषण करना अथवा उसके जीवन और कार्य को पृथक् पृथक् करके देखना व्यावहारिक दृष्टि से असम्भव है, पर चरित्र प्राय परिस्थिति के अनुकूल ढला करते है, हाँ उनका स्पष्ट अनुक्रम कभी-कभी ओझल हो जाता है क्योंकि जिस हवा-पानी में मनुष्य पनपता है, पलता है, उसका प्रभाव भीतर ही भीतर जाने अनजाने उसके आचार विचारो और संस्कारो में भी रम जाता है। सहसा विपरीत परिस्थितियाँ उसके जीवन की धारा को दूसरी ओर मोड़ देती हैं। अक्सर देखा जाता है ये चारित्रिक पुष्प एक ही देश की धरती में उगे, यकसाँ मिट्टी पानी से उन्हें तरावट मिली, यकसाँ हवा उनको थपकियाँ देती रही एक ही आसमान की शबनम उन्हें भिगोती रही और एक ही सूर्य-चन्द्र के प्रकाश में उनमें प्राण-स्पन्दन जगा। उनके चतुर्दिक् छायी फिजा भी एकसी है और इसी फिजा से उनमें रंगीनियाँ और सुगन्ध आ बसी है, पर उनके रूपरंग कितने भिन्न हैं कितने अजीबोगरीब। यो मानव जीवन विचित्र अबूझ पहेली है और सामाजिक व्यवस्थाओ ने तो उसे और भी विचित्र एवं अबूझ बना दिया है। ये अबूझ चरित्र हमें उलझाते रहे हैं और उलझाकर अलग अलग फिरको और जमातो में हमारे समक्ष उभरते हैं। नये लेखक और विचारक काँपते काँपते इनके पन्ने खोला करते हैं।

विचित्र रूप रस और गंध की दुनियाँ में भ्रमण करते रहने के कारण देवेन्द्रदास जमाने के विधि निषेधो और चारित्रिक सूक्ष्मताओ से अवगत हैं। मास्को ह्विटी-डीस द्वीप, बर्मा वेनिस, स्पेन इंगलैण्ड, फ्रान्स, रोम आदि दूर देशो के कितने ही पात्र और व्यक्ति जिन्दगी के दौर में इन्सानियत के ऐसे तकाजे हैं जिनके रक्त, रूपरंग रुचि, मान्यताओ आदतो और विचार-परिपाटियो को बड़ी खूबी के साथ पेश किया गया है। सभी चरित्र निरालापन लिये हैं और उनके चित्रण में अजीब अजीब टकनीक बरती गई है। उक्त पुस्तक की कहानियाँ निर्भ्रान्त रूप से सिद्ध करती हैं कि यौवन की मस्ती में तूफानी हलचल होती है और प्रमावेश के कसमसाते उफान जिन्दगी को लहरा लहरा देते हैं। करुण संवेदना और प्यार का नित्य प्रवर्द्धनशील यह तूफान मौत से टक्कर लेता है। प्रणय की दिलकश मौत से—दूसरे शब्दो में जिसे विरव्यथा कह सकते हैं जहाँ मग्न हृदय निराशा के शिकंजे में जकड़े जाते हैं और विस्मृति के

गहरे गह्वर में उनकी चिरपोषित आशा-आकांक्षाओं के पौधे तिरोहित हो जाते हैं। 'मास्को से मारवाड' में तरुण और तरुणी के उन्मुक्त, उद्दाम प्रणय के विकास का विश्लेषण करते हुए उसकी परिणति का चित्र खींचा गया है। 'मास्को से मारवाड' की कतिपय कहानियों को जर्मनी की एक साहित्यिक पत्रिका में भी प्रमुख स्थान दिया गया है।

इनकी परवर्ती कहानियाँ 'मरु मंजरी','फलि बार जोयार','सोहो','अपरा' आदि में कथाशिल्प और आनुभूतिक मार्मिकता बढ़ती गई है। अतृप्त प्रेम की उद्दीपक लिप्सा से अधिकाधिक सूक्ष्मता की ओर रुझान होता गया है और निरपेक्ष अभिव्यंजना एवं भाव-विनियोग को प्राधान्य मिला है। प्रेम एकमात्र शरीर की भूख नहीं है, न निरी वासना। वह केवल मुक्त अथवा इन्द्रियगत भी नहीं है, आत्मगत है। 'मरुमंजरी' में मरुभूमि की बालुका राशि में काल के व्यवधान को चीर कर दूर अतीत के गोपन प्रणय का ऐतिहासिक आख्यान उभरता है। निस्तब्ध रात की स्वप्न-मूर्च्छना में शनैः-शनैः वह दृश्य मन चक्षुओं के समक्ष सजीव होकर मूर्तिमान हो जाता है जिसमें बंगाल के किसी दरिद्र ब्राह्मण की सुन्दरी कन्या का विक्रय तरुण मुस्लिम नवाब को छिपाकर किया जाता है, पर कालान्तर में सन्देह के कारण नवाब द्वारा उसी प्रिय रानी का वध कर दिया जाता है। ऐतिहासिक परिस्थितियाँ साधारण हैं, किन्तु कथाकार ने अपनी भीतरी प्रेरणा से खण्डश: एक प्रसंग को दूसरे प्रसंग से सश्लिष्ट करके कहानी का ढाँचा खड़ा किया है। कहानी में नाटक के दृश्यों की अवतारणा की गई है। गन्धराज की सुरभि से समाच्छन्न वातावरण में मोह तथा जड़ता के निद्राभंग के साथ ही कहानी की सूक्ष्मता पकड़ में आती है, अन्यथा मोहाविष्ट वर्णन कथन के प्रत्यक्ष साक्ष्य को व्याहत किए रहता है।

"तुम कौन हो रूपसी! जिसकी सुललित बाहुवल्लरी ने मुझे बुलाया, जिसने बार-बार राजकीय अश्वयान मेरे सुखविहार के लिए भेजा, जिसने मेरे गले में अपनी मीठी स्वरलहरी संचरित कर दी। तुम कौन हो रहस्यावृता रूपसी! रूपसागर की अमृत निषिक्त मूर्ति, तुम कौन हो? तुम निशाचरी तो नहीं, अलौकिक जगत् की मुग्ध कल्पना की भैरवी अदृश्य चारिणी या स्वप्न विहारिणी भी नहीं हो। समस्त दिन-रात्रि तुम मेरे वक्ष में, हृदय में और दृष्टि में समायी रही, मैं तुम्हारा अनुसरण करूँगा, तुम्हारे आभरण की रिणिकनी सुनते सुनते पीछे चलूँगा।"

और 'फलि बार जोयार' में सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि द्वारा चरित्र की जटिल मनोवैज्ञानिकता के मूल केन्द्र को स्पर्श किया गया है।

"अकस्मात् सामने के शीशे पर दृष्टि पड़ गई। सारे दिन जो कुछ खाया-पिया नहीं था उसकी स्पष्ट छाप सामने थी। यह अनशन तो केवल एक दिन की ऐसी ही सामान्य बात थी। मगर कल की वह लड़की? सोचते ही उत्तेजित हो उठा।

शरीर तन्वी नहीं था। अनाहार और अल्पाहार से क्षीण हो गया था। जिसे

भरपेट भोजन नही मिलता है उस लडकी का मुख अल्पवयस ही में क्लान्त नही होगा तो और क्या होगा। और कवि व रसिक लोग बलात दुखी दृष्टि को वन हरिणी की भीरु दृष्टि ही समझेंगे। पाला पडती हुई ठडी रात को जो लडकी केवल पोतो गाउन पहन कर बाहर घूमने निकल पड़ती है उसका मतलब पैसा कमाने का ही नही होता है। उसका मुख देख कर ही समझ म आ जाता है कि न उसके रहने की कोई जगह है न उसके पेट म एक टुकडा कार का पडा है।

आज के वर्तमान युग म आर्थिक विषमता की घोर कशमकश है। कितने ही प्रश्नचिह्नो ने मन म ऐसी ग्रन्थियां डाल दी है जिनके कारण गरीबी और बेबसी का विडम्बनाओ को लेकर न तो मनुष्य की विशिष्टता के प्रति आस्थावान हुआ जा सकता है और न उसमे आत्मविश्वास ही विकसित हो सकता है।

सोहा और अपरा म सुजित एव आजता के व्यक्तित्व म लेखक ने एक और तत्त्व का विकास दिखाया है और वह है प्रेमतत्त्व। जिनका प्रेम समर्पण है, प्रतिदान है वह विलगाव या दूरी नहीं चाहता।

जिसे इतने दिनो से चीन्हा जाना पहिचाना और मन का देन-लेन किया उसे देने के लिए क्या कुछ रह जाता है?

इसके विपरीत आजता का प्रेम व्यापार और मानसिक सतुलन बडा ही विचित्र है। उसकी सम्मति म विवाह प्राचीनो का आदर्श भले ही रहा है पर उस समय के आदर्श आज बदल चुके है। नयी परिस्थितियाँ और वातावरण न होने से धारणाएँ भी परिस्थितियो के अनुसार बदलती रहती है। आजता के शब्दो म— 'भविष्य है क्या विवाह? मगर उसके लिए इतना कष्ट उठाकर पढने लिखने की क्या आवश्यकता थी? दरिद्रता और अस्तित्वहीनता के साथ विवाह? नीरस पुरानी सडी गली बातो के पीछे यौवन की समस्त आशा आकाक्षाओ और सपने मिटा दिए जाएँ? नही कोई नया ढग का रास्ता पकड कर चलना होगा।

फलत आजता का प्यार अनुशासन के रास्ते आड आया न कभी अनुशासन ही इतना एकांगी हुआ कि वह परिस्थिति विशेष की आवश्यकताओ पर हावी हो उठता।

यान्त्रिक युग के नैराश्यमूलक आवेष्टन एव परिवेश के परिणामस्वरूप मस्तिष्क की प्रगति म जहाँ हृदय बहुत पीछे छूट जाता है और वैयक्तिक कुण्ठाओ स घिर कर आदर्श और आचरण म विचार और मनन में यहाँ तक कि पहले से चली आती हुई परम्पराओ स सर्वथा भिन्न नये विकास की ओर उन्मुख होता है तो जिन्दगी की मान्यताओ म प्रत्यक्ष और अप्रत्याशित रूप से परिवर्तन हुआ करता है। वाछा और अपेक्षा के दो कूल किनारों के बीच य मान्यताएँ टकराती है।

सुजित व प्रेम व प्रतिदान में क्या देना चाहती है यह आजता? आखिर क्या? उसकी दयनीय विपन्नता की करुणा अथवा अपनी रिक्तता की सहानुभूति?

कुछ समझ में नही आता।

'रक्तराग'

देवेशदास की अन्यतम प्रौढ कृति 'रक्तराग' इनकी प्रयोग चेतना का सफल प्रतिनिधित्व करती है। उपन्यास का प्रारम्भ सैनिक वातावरण म होता है। सैनिकों की जिन्दादिली और हँसी मज़ाक की प्रवृत्ति में जीवन की नाना रोमांचकारी घटनाओं का ऊहापोह नव आकर्षण की उद्दामता और आह्लाद में डूबा रहता है। सैनिक जीवन के कितने ही अनुभवों और यथातथ्य घटनाओं का समावेश उक्त समस्या में हुआ है जिसमे लेखक सिद्धहस्त है।

कथा-नायक देवल सिन्हा मिता नाम की लडकी से प्रेम करता है। पर चूँकि वह मुखर नही है, उसका गभीर प्रेम नई निष्ठा को जन्म देता है। सच्चा प्रेम ऐसा अटूट अविच्छिन्न तार है जिसे तोड कर दो टूक नहीं किया जा सकता। मिता से दूर रह कर देवल में और भी अधिक विश्वासजन्य स्थिरता आ जाती है और मर्मान्तक कसक लिये वह सैनिक जीवन में भी, लुके छिप मूक भाव से, प्रेम की लौ जगाए रहता है।

मुखर प्रेमियों को जिन्हे अनायास मनचाहा मिल जाता है हृदय पर लगी ठेस का अनुमान नहीं होता। प्रेम और प्रेम के रगीन फदे उनके लिए दिलचस्प क़ैद साबित होते है, पर उनकी रातें निद्राहीन नहीं होती, उन्हें ठोकर नही लगती और उनकी भावनाओं से लहू नही टपकता।

मिता या देवल में प्रेम का उथलापन नही है। गहराई में उतर कर भावनात्मक आवेश में उनका मन उफनता भी है तो भीतर ही भीतर। बाहर उसका एहसास नही होता। केवल उसकी कलाई में बँधी घडी की धीमी टिक टिक उसके अन्तरग प्रेम की साक्षी है और घडी के ढक्कन के भीतर रखी प्रिया की प्रतिच्छवि में उसके मन को बाँध रखने का आग्रह है, मानो वह उसे दिशाहारा न होने की अहर्निश प्रेरणा देती रहती है—

"देवल ने वाम कलाई पर बँधी घडी को अपने से चिपटा लिया। उस घडी के पीछे ढक्कने के भीतर एक छोटी सी छवि थी। यदि कोई कलक लगा तो यह छवि उसे सान्त्वना देगी और सहायता करेगी। वह अकेला नही है।"

आतुरता, तृष्णा, कल्पना, अनुभूति—देवल के प्रेम-तरु की जड के तमाम सूक्ष्म तन्तु मिता में लिपट गए हैं। घडी के रन्ध्रो में साँसो की लय के साथ एक मोहक *आकस्मात जगती है, जिसमें देवल को मिता की आवाज बोलती सी लगती है*—"यह घडी टिक टिक करती समय बताने के साथ ही मेरी बातें भी तुम्हें बताती रहेगी। तुम्हारे साथ यह मेरा चित्र रहेगा। यह घडी तुम्हारे मन में और कोई बात आने न देगी। मैं आज सध्या को तुम्हें छोड़ कर जा रही हूँ, किन्तु तुम यही समझना कि मैं सर्वदा तुम्हारे साथ हूँ।"

विदा के समय कहे हुए मिता के ये उद्बोधन वाक्य मानो देवल के अन्तर का गीत बन गये और प्रणय-गीत की नित उठती प्रतिध्वनि उसकी भीतरी पुकार की गूँज बन गई।

मन की यह भावनात्मक प्रतिक्रिया उसे एक हद तक चिन्तनशील बना देती है और उसके समस्त बाहरी क्रिया-कलापों को प्रभावित करती है। फिर भी सारा कथानक नायक के केन्द्रीय व्यक्तित्व के चतुर्दिक् बुना गया है। मिता की याद और उसको प्रति पल-पल महसूस होता आकर्षण उसकी जीवनान्वित प्रवृत्ति है, जो उसके विचार प्रवाह को प्लावित करती रहती है।

इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं कि प्रबल प्रणयोच्छ्वास के मुकाबले देवल के सैन्य जीवन में विद्रूप एकरसता थी अथवा भयंकर उथल-पुथल। उदासीनता और सूनेपन के भारी बोझ के बावजूद इस एकरसता अथवा उथल-पुथल में भी उसके भीतर एक निष्करुण दाह थी जो बौद्धिक अनासक्ति जगाती थी या दाह की ज्वाला को मधुर स्मृतियों की स्निग्धता से ओतप्रोत कर देती थी।

मौन आवरण की तह के भीतर एक गुप्त विह्वल आकांक्षा लिये हुए भी देवल में साहस की कमी नहीं है। बौद्धिक स्तर पर वह बेहद ईमानदार है। उसमें कोई पूर्वाग्रह नहीं, कोई संकीर्णता नहीं, निषेध का आग्रह और अहंकार भी नहीं है। दृष्टि की पैठ गहरी है और उसमें काम करने की स्फूर्ति और सामर्थ्य है। युद्ध की भयंकर और रोमांचकारी परिस्थितियाँ भी उसे विचलित नहीं करतीं। ऐसे अवसरों और बोझिल क्षणों में व्यक्त किये गए उसके विचार और उठाये गए कदम उसकी क्रियात्मक गतिशीलता और हर क्षेत्र में नई राह ढूँढने की प्रेरणा के परिचायक हैं।

कालान्तर में देवल आई० एम० ए० का उच्चाधिकारी हो जाता है। मिता भी निष्क्रिय होकर नहीं बैठती। असंगत घटनाओं और परिस्थितियों से समझौता करने के अविराम प्रयत्न और संघर्ष के दौरान में वह अंग्रेजी सेना की 'वाकाई कमांडर' हो जाती है। राजनीतिक विचारधाराओं में इतनी घोर विषमता होने पर भी जब देवल और मिता की अकस्मात् भेंट होती है तो हारे-थके अन्तर्मन में खुल कर खेल रही महत्त्वाकांक्षाएँ पर्वतशृंग से गिरते प्रबल वेगमान प्रवाह के समान अभी भी, उसी वेग से, मन के तट से टकरा रही हैं। दोनों के मन में संघर्ष हो रहा है और आखिर मिता ने देवल पर विश्वास करके बता ही तो दिया कि क्या बात है और कहाँ उसका मन रमा हुआ है। देवल को निराशा अवश्य हुई थी, किन्तु आक्रोश नहीं। घृणा भी नहीं। मिता के प्रति गहरी कृतज्ञता का भाव तब भी बना ही रहा। मिता ने उससे कहा था— प्यार—यही यथार्थ तत्त्व है। प्रतिदान न मिलने से कोई क्षति नहीं।"

देवल का प्यार तो और भी गहरा है, शरीर की स्थूल कामना से परे। जिन सूक्ष्म तन्तुओं से जीवन की आशाएँ बुनी जाती हैं वे यद्यपि छिन्नभिन्न हो गए थे तथापि मिता का आश्वासन और सहानुभूति उन विच्छिन्न तन्तुओं को धैर्य से थामे

रहने का आग्रह करते हैं।

"भगवान् तुम्हारा भला करे, देवल ! मंगल करे ! मेरी बात याद रखना। जाओ, अब जाओ !" मिता ने अपने हाथों से देवल को अंधकार में ठेल दिया। अंधकार ऐसा था कि हाथ को हाथ दिखाई नहीं देता था। नेत्रों में कुछ भी नहीं देखा जा सकता था। वह अंधकार समस्त जीवन में छाया हुआ था। सारे मन को ढके हुए था। उसी अन्धकार में मिता पीछे खड़ी रह गई।

और रह गए उसके नेत्रों में आँसू · ···मन का रुदन।"

और इसी निविड अंधकार में देवल की उत्तमा नाम की रमणी से भेंट होती है। दोनों का देर तक साथ रहता है और उत्तमा देवल की ओर आकर्षित हो जाती है, पर उखड़े पुखड़े कैशोर जीवन में देवल ने जिसे प्रथम प्यार दिया उसे मन से नहीं निकाल सका। कोई आग्रह नहीं चला। मिता का आग्रह भी नहीं और उत्तमा की अनुनय भरी करुण दृष्टि की वेधक व्यथा भी नहीं। देवल ने दृढ निश्चय कर लिया—"मिता को जो उसने मन दिया है, वह मिता ने नहीं लिया है। किन्तु उसे देने पर भी उसके मन के ऊपर उसका सब अधिकार समाप्त हो गया है। संसार में अब और किसी के लिए उसका प्रेम बिलकुल बाकी नहीं रह गया है।'

कोर्टमार्शल के पश्चात् जेल में विदा की बेला आई और देवल ने अविचलित रह कर सभी से विदा ले ली। मिता की प्रगल्भ निवेदन भरी निष्कम्प आँखों से विदा, उत्तमा के मौन कोमल आग्रहों से विदा और उसके अपने सीने में जोर-जोर से बेकाबू होकर धड़कनेवाली प्रणयाकांक्षाओं से विदा। तभी विलायती बैग पाइप बजने लगा। देवल को लगा "मानो विहाग में विदाई का स्वर बज रहा हो ! भुवन भर में अभी निर्जन, निस्संग संध्या समा जायगी।"

इस तरह की रिक्त संध्या देवल से क्या लेकर जाएगी ? देवल ने निमिष भर सोचा। केवल निमिष भर। उसके बाद उसने अपने को स्वाभाविक रूप से मजबूत किया। वह वीर है, योद्धा है, वह हार सकता है, पर हार नहीं मान सकता। जीवन के साथ, भाग्य के साथ लड़ने की शक्ति होना ही उसका सबसे बड़ा लाभ है। यही सबसे बड़ा संयम है। नहीं उसकी संध्या रिक्त नहीं है, वह रक्तराग से भरी है।

इस उपन्यास में नायक और नायिका के चरित्र के अतिरिक्त और भी बहुत से आनुषंगिक पात्र चित्रित किये गए हैं जो कथानक के विकास में अनिवार्यतः सहायक होते हैं और जिनकी वजह से उपन्यास में अनेक प्रभावोत्पादक स्थल मन को मोह लेते हैं। पात्रों को ऐसे स्तर से उठाने का प्रयत्न किया गया है जहाँ वे केवल व्यक्ति नहीं, वरन् सैन्य जीवन के अलग-अलग 'टाइप' हैं। उसकी निरन्तर सामंत में पड़ी जिन्दगी के उतार-चढ़ाव, सुख-दुःख और संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं की कहानी—एक प्रकार से उनकी सैद्धान्तिक एवं जीवन सम्बन्धी मान्यताओं को समझने का अवसर प्रदान करती है और वह भी केवल एक बुद्धिजीवी का कोरा रुख नहीं है, अपितु

उसमें तो लेखक के अपने अनुभवों की सचाई बोलती है। देवेशदास 'इण्डियन सिविल सर्विस' के एक उच्च पदाधिकारी हैं, अतएव उन्हें सैनिकों के चरित्र, उनकी छोटी मोटी मनोवृत्तियों और प्रवृत्तियों को पास से अध्ययन करने का मौका मिला है। अनेक प्रश्नों के हल उन्होंने स्वयं ढूँढे हैं और मानसिक किंवा बौद्धिक से अधिक समृद्ध और विविधतापूर्ण साथ ही मनोवेगों के उतार-चढ़ाव से मुक्त तथा बाह्य आग्रहशील उद्वेलना से सर्वथा विलग रह कर नीरव अन्तर में गम्भीर तथा मौलिक अन्तर्प्रेरणा द्वारा उनकी जीवन स्थिति और गति का निर्धारण भी किया है। यह पूछे जाने पर कि उनके लिखने के प्रेरणा-स्रोत क्या हैं देवेशदास ने बताया था—

"मैं उन स्रोतों से लिखने की प्रेरणा ग्रहण नहीं करता जो आम तौर से लेखकों के प्रेरणा-स्रोत हुआ करते हैं। इसका मुख्य कारण है कि महज़ लिखने की वजह से मैं नहीं लिखता, अपितु निरीक्ष्य वस्तुओं को मन में सँजोता चलता हूँ और तज्जनित परिस्थितियों, इन्सानी खुशियों या बदकिस्मती पर कैसा प्रभाव डालती हैं इस पर गौर करता रहता हूँ। उक्त प्रभाव अमिट रूप से मस्तिष्क पर अंकित हो जाते हैं और जब लिखने लगता हूँ तो य ही प्रतीक उभर कर व्यक्त हो जाते हैं। उदाहरणार्थ 'रक्तराग' में सैन्य जीवन का चित्रांकन करते हुए कोई खास प्रेरणा मेरे समक्ष नहीं थी, बल्कि उन सीमान्त युद्धबन्दियों के दुःख-दर्द, इच्छा-आकांक्षाएँ और स्वप्नों का सीधा सच्चा, व्यावहारिक अनुभव मुझे हुआ था जो सारे भारत में मेरे अधीन थे और जिनसे सैन्य जीवन के बारे में लिखने की मुझे प्रेरणा मिली। मैंने उन्हीं से जाना कि दूसरे सिपाहियों को मारते हुए, शत्रु द्वारा आक्रमण किये जाते हुए, बचाव के लिए भागते हुए अथवा बन्दी बना लिये जाने पर उन्हें कैसी अनुभूति होती है। मैंने उन्हीं के मुँह से सुना कि अपने परिवार के सम्बन्ध में वे क्या-क्या सोचते हैं अथवा उनके परिवार वालों पर ही उनसे प्राप्त खबरों एवं समाचारों की कैसी प्रतिक्रिया होती है और तब अपने प्रिय जन के अस्तित्व और भावी सुरक्षा के सम्बन्ध में कैसी-कैसी आशंकाएँ उठती हैं और क्योंकर उनका समाधान होता है। विगत महायुद्ध के समय जब-जब मुझ मिलिट्री मेस में जाने का मौका मिला था हर जाति और धर्म के सैनिकों के साथ कंधे से कंधा भिड़ा कर काम करना पड़ता था, साथ ही सैन्य टुकड़ियों की कवायद आदि सैन्य प्रशिक्षणों का निरीक्षण करना पड़ता था, तब-तब उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आकर मैं सीधे उनके जीवन, विचार, दृष्टिकोण और अनुभवों को समझने बूझने की चेष्टा करता था। 'रक्तराग' में जो स्वप्न और अनुभूतियाँ अंकित हैं वे मेरी नहीं उनकी हैं। यहाँ तक कि युद्ध और पारस्परिक संघर्षों का वर्णन मेरी अपनी कल्पना से नहीं बल्कि उनके द्वारा देखे तथा बताये तथ्यों के आधार पर हुआ है। आप कदाचित् इसे लेखक की अंतःप्रेरणा कहना पसन्द न करें, पर ये ऐसे सच्चे अनुभवों की दास्तां हैं जिसने मुझे गहरा झकझोरा है और वस्तुतः जिससे मुझे सँजोयी अनुभूतियों, घटनाओं और वातावरण के चित्रण करने की

क्षन प्रेरणा मिली है। जैसे कि मैंने 'रक्तराग' की भावभूमि का उपसंहार करते हुए लिखा है—'इसमें वर्णित घटनाएँ एवं युद्ध सब कुछ सत्य है। केवल इतिहास को साहित्य का मोपन दे दिया गया है।

इस प्रकार सच्ची घटनाओं के समावेश ने उपन्यास की महत्ता को कई गुना बढ़ा दिया है। सफल औपन्यासिक के नाते लेखक की कल्पना की परिकृति और मौलिक उद्गारों की संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ जीवन के मूर्त्त गघन नानारूपी और जीते जागते चित्रों के रूप में उसकी समर्थ लेखनी से उभरे हैं जिनमें प्राण-संचार है और विभिन्न मनोदशाओं की प्रचुरता का समाधान। घटनावैचित्र्य अधिक नहीं है पर वर्णित घटनाएँ यथार्थ के समीप हैं और सैनिक जीवन में ऐसी घटनाएँ प्रायः घटती रहती हैं। सबसे बड़ी खूबी तो यह है कि उन्होंने इस सीमा में भी सैनिकों के जीवन को अनेक दृष्टियों से देखा परखा है और जब जब उक्त चरित्रों में अपनी कल्पना और सहानुभूति का रंग भरा है तो वे असली रूप में ही उनके सामने आये हैं। एक दूसरे प्रश्न के उत्तर में देवेशदास ने कहा था—'मुझे विश्वास है कि इस बौद्धिक युग में हमें भी बौद्धिक होना चाहिए और उपन्यास लिखते समय तो जीवन के प्रति बिल्कुल सच्चा और ईमानदार। बौद्धिक संवेदनाओं और भावात्मक प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप भले ही निजी सजनाओं में नया रंग भरा जा सके, पर अपनी वास्तविक वस्तुस्थिति से उन्हें कैसे विलग किया जा सकता है। मेरी सम्मति में कथाख्यान से वह व्यक्त नहीं होता जो उपन्यास से जाहिर होता है। मैं यह भी सोचता हूँ कि पलायनवादी साहित्य आज के युग के लिए यथेष्ट नहीं है इसी प्रकार न ही अभिव्यक्ति साहित्य की सपत है क्योंकि उलझ मनोविज्ञान के युग में वह अधिक कारगर नहीं हो सकता। जिस तरह के उपन्यास आजकल लिखे जा रहे हैं वे महज अभिव्यक्ति साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। पाठक को उनसे कोई निर्देशन नहीं मिलता। उसे अपना पथ स्वयं खोजना पड़ता है कारण—आज का आख्यान साहित्य इस नैराश्य युग में कोई प्राणशक्ति संचरित नहीं करता। बंगाल की ही मिसाल सामने रखें तो यहाँ अनेक ऐसे लेखक हैं जो भारत-पाकिस्तान विभाजन से उत्पन्न संकटों, युद्धपूर्व अकाल के कष्टों और बंगाल में स्वतंत्रता आन्दोलन की समस्त परिस्थितियों के बारे में लिख रहे हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मानवीय दुःखान्तों की सफल झाँकी अनेक बार उनके द्वारा प्रस्तुत की गई है। पर कोई गहरा, अमिट चित्रांकन सृजित नहीं कर सका। अभिव्यक्ति के कतिपय सबल दुर्बल पहलुओं के अलावा चिन्तन, सृजनशील रंग नियोजन का अभाव है। लगभग तीस चालीस लाख व्यक्ति बंगाल के अकाल की भेंट हुए, किन्तु एक भी अमर चरित्र की सृष्टि नहीं की जा सकी जो गर्व से सिर उठाकर कह सके 'नहीं, मैं मरना नहीं चाहता।' बंगाल में प्रायः ऐसा होता है कि बाढ़ के दिनों में नदी का किनारा बह जाता है वहाँ बसने वाले लोग तब नदी के दूसरे किनारे पर अपनी कुटिया बना लेते हैं। जब दूसरा किनारा भी डूब जाता है तो वे नदी की छाती पर आवास स्थल बनाने का साहस रखते हैं।

किन्तु हमारे लेखकों ने कोई ऐसा चरित्र नहीं आंका जो सिर उठा कर कह सके 'बाढ़ में डूबने की अपेक्षा हम तूफान में बहते पटों पर नया घर बनाना चाहते हैं' अर्थात् इस माने में हमारे आजकल के लेखक यथार्थवादी होने का दावा करते हुए भी जीवन के चित्रांकन में स्थायित्व लाने में असफल रहे हैं। तमाम साहित्य में क्षयग्रस्त रोगियों की सी करुणोत्पादक खँखार भरी पड़ी है, मगर किसी भी लेखक ने ऐसा चरित्र सृजित नहीं किया जो परिचर्या और उपचार की कठिन परीक्षा में से साहस और जिन्दादिली से गुजर जाय और अन्तत रोग का निदान हो सके।"

अतएव लेखकों की समस्या मूल रूप में यह है कि वे क्यों नहीं अदम्य विश्वास के साथ वह शक्ति वह विराट जीवनपोषक प्रेरणा उत्पन्न कर पाते जिसके बिना साहित्यिक प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अपनी लिखने की सचाई को वे विश्लेषणात्मक बुद्धि से अनुभव कर गहरे पैठ भीतर आत्मसात् करें सही ढंग से जीवन के विकासोन्मुख तत्वों को झूठी आत्ममत्ता से नहीं वरन् सक्रिय सृजनात्मक शक्तियों से उद्बुद्ध करें ताकि साहित्य और कला की पूर्ति हो, साथ ही उन्हें मौलिक और मूल्यवान् उपलब्धि से अनुप्राणित करने वाले तत्वों से भी सुसम्पन्न किया जा सके।

सचमुच, इन कुछेक प्रश्नों का हल ही आज के साहित्य की समस्या बना हुआ है जो मध्यवर्गीय उलझनों, थकानों, कुंठाओं और वर्जनाओं के मध्य से ह्रासोन्मुख निःसत्व साहित्य के खोखले पर 'डिकेडेंट' अर्द्ध सत्यों के शिकार रुग्ण मानस के संकीर्ण घेरे में बन्दी है। निष्प्राण आदर्शों को छाती से चिपकाए रह कर हमारे आज के साहित्यकार जिस गत्यवरोध के गढ़े में डूब उतरा रहे हैं उससे उनके बौद्धिक विश्वास क्षीण होते जा रहे हैं और उनकी सहज प्रवृत्ति प्रतिक्रियावादी कल्पित धारणाओं के पक्ष-समर्थन में वास्तविक सत्य को विकृत कर रही है।

देवेशदास ने प्रतिपाद्य विषय के साथ साथ साहित्य की उद्देश्यमूलकता की चर्चा की है। किन्तु उद्देश्यमूलकता का अर्थ है सृजन चेतना की स्फूर्ति और *आत्मा का उन्मेष। केवल किताबी गुर जानना ही आवश्यक नहीं है,* क्योंकि इससे साहित्य का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, न ही प्रस्थापित एवं प्रचारित भड़कीले वादों से चिन्तन प्रणाली का पूर्ण सामंजस्य हो पाता है। साहित्य सस्ती नारेबाजी नहीं है, उसके सृजन के लिए गम्भीर अन्तर्दृष्टि अपेक्षित है। जो अनुभूत विशेषताओं को सूक्ष्म सौन्दर्य-तत्वों में तमीज और बुद्धि द्वारा विश्लेषित कर अपनी गम्भीर पकड़ और चिन्तन की मौलिकता को साहित्य में प्राणान्वित कर जाते हैं वे ही अनवरत अन्वेषी हैं और उन्हीं के सृजन की सार्थकता है।

'राजसी'

देवेशदास की दृष्टि सामाजिक है, वैयक्तिक नहीं। वे विकासशील परंपरा के हामी हैं और *यही मन्तव्य उनकी कृतियों के सामाजिक सार का निर्धारक है।* 'राजसी' में देवेशदास जिन निर्णयों पर पहुँचते हैं वे हमारे रागात्मक स्तर को छूते हैं।

उक्त कलाकृति में स्वय इतनी मूर्त्तता और प्रेपणीयता विद्यमान है कि वह लेखक की कल्पना के सम्मोहन से जीवत हो उठी है। उसकी लेखनी अनेक स्थलो पर मानो जादुई छडी बन कर स्पर्श से युगो-पुरानी अतीत की घटनाएँ सजीव करती चलती है। बहुविध प्रसगो के विवरण प्रस्तुत करते हुए मन जब खड-दर्शन मे उतरने लगता है तो पृथक्करण के प्रयास मे एक जिज्ञासा के पीछे चलने लगता है। किन्तु औत्सुक्य एव जिज्ञासा में बिलमने का भी उसे अधिक मौका नही मिलता। भावना मे तल्लीन और रसानुभव करने वाली उसकी भीतरी शक्तियाँ अनेक स्तरो का उद्घाटन करती हैं और तब कितने ही सस्मरण, पुरानी पिछली बातें और स्मृतियाँ जीवन-पथ की अमिट रेखाएँ बनकर सामने बिछ जाती हैं—"मैंने मरुभूमि में घूमते-घूमते पाषाणो में कान लगाकर उनके अतीत का रुँधा रोदन सुना है। सुनी है चिरकाल के रजवाडे की राजसी कहानी। उसे आजकल की पटभूमिका मे केवल थोडा-सा नया कर दिया हैं। एक हजार वर्षों के बाद देश स्वाधीन हुआ है। नये जगत् मे नये पथ पर उसकी यात्रा प्रारम्भ हो गई है। आज जरूरत इस बात की है कि शक्ति और प्रताप की तरह लडाई न करके एक जगह पर भाई-भाई होकर रहे। आज कितनी जरूरत है सवाई जयसिंह की तरह बाहर पृथ्वी से समस्त नई विद्या को अपने देश में ले आने की, पद्मिनी के समान देश मे विपत्ति पडने पर पुरुष के साथ खडे होकर सलाह देने की। एक दिन देश राजाओ का सिरदर्द था। आज उस पर हम सब लोगो का समान दायित्व है। त्याग और साधना मे सभी को जुट जाना है। जो गुण और वीरता हम केवल राजरानिया में देखते हैं उसे सब मे पहुँचा देना होगा। जन साधारण ही इस युग के राजारानी हैं।'

राजस्थान के रगमहलो की कहानी पाठको के लिए नई नही है, पर लेखक का गहन अनुभव, पर्यवेक्षण-क्षमता और वैदग्ध्य भणिति म अनुभूतिमयी अभिव्यजना की तारल्यभरी भगिमा है जिसमें भव्य भाव की महिमा के दर्शन होते हैं।

"अकेले कालिदास ही नही, हमारे घर-घर में क्लान्त सनकियो का दल मेघो को देख कर अनमना-सा हो उठता है और प्रेयसी के निकट पहुँचने के लिए व्याकुल हो उठता है। और यदि वे दूर, बहुत दूर हुए तब ? इस दुस्तर मरु के उस पार ? उसके भी और आगे—बहुत दूर।

प्रेयसी यदि दूर दुर्गम पर्वत की चूडा पर है तब ? किले के झरोखे के पास बैठ कर विरहिणी अँधेरी रात में दिया जलाये बैठी रहेगी। घोडे पर वायुवेग से उसका प्रियतम व्याकुल होकर आना होगा। उसकी प्रतीक्षा में वातायन के पास दीपशिखा के अतिरिक्त दो नेत्र भी उसे कहीं खोज रहे होंगे। किन्तु यदि मिलन न हुआ ? विरह सागर की लहरें उन दोनों को अलग ही किये रहीं तब ?"

लेखक ने ऐसी घटनाओं और सजीव दृश्यो को कथासूत्र में गूँथकर रखा है जो रजवाडे के रूप विकास और परिवर्तन का समुचित मूल्याकन करते हैं। आज बहुत कुछ बदल गया है, किन्तु यह नई दृष्टि बडी ही उज्ज्वल और मौलिक है।

मौजूदा वस्तुस्थिति और व्यवस्था को अनिवार्य मानकर केवल परिवर्तन के तथ्यों को ही स्वीकार नहीं किया गया अपितु राजस्थान के अतीत जीवन के वृहद् और विराट् रूप का निर्देशन और भावी प्रगति के लिए आस्था का स्वर भी है। कथावस्तु की सामग्री राजस्थानी परम्पराओं और वहाँ की आचार मर्यादाओं पर आधारित है। शासक-शासित, दीन-हीन और अभिजात्य, आर्थिक एवं सामाजिक विषमता, साम्राज्यवाद और सामन्ती शोषण की झाँकी ही सिर्फ इसमें नहीं है वरन् इनकी अन्तश्चेतना परिस्थितियों से ऊपर उठकर जिन आदर्शों का निर्माण करती है उसके प्रति यह अविचल भाव ही इनके कृतित्व का प्रेरणा-स्रोत रहा है। छोटी छोटी चीजों में इनकी दृष्टि रमी है यहाँ तक कि राजस्थानी बालू और रेत के टीलों तक को ये नहीं भूले हैं—"थोड़ी थोड़ी दूर पर बालू है, बड़े बड़े टूहों की चोटियाँ भर दिखाई देती हैं। वे भी कब बालू भरी हवा के साथ किधर उड़कर चल जाएंगे और नया टूह बना लेंगे इसका ठीक नहीं। सरकार ने यहाँ कुछ कक्कड़ पत्थर बिछाकर एक रास्ता बनाया तो है, किन्तु मरुभूमि उसके ऊपर हँसते-हँसते बालू के ढेर के ढेर जमा कर देती है।"

इस प्रकार रजवाड़े की झाँकी इन्होंने सर्वांगीण धरातल पर प्रतिष्ठित की है। अपने लेखन में इन्होंने सिर्फ उतने ही पैमानों का प्रयोग किया है, जिनकी सचाई का, अपने विस्तृत अध्ययन के क्षणों में, इन्होंने साक्षात्कार किया है। फिर प्रसंगों का चुनाव और संधान भी इनकी उदात्त रुचि का द्योतक है।

'अधखिली'

अधखिली देवेशदास का व्यंगात्मक उपन्यास है। आज का व्यंग कुछ अधिक गुत्थ मनोवेगों एवं प्रतिक्रियात्मक भावनाओं का संयोजक हो गया है, पर इनके व्यंग में ईषत् उपेक्षा, विरोध एवं रोमांस का ऐसा सूक्ष्म संतुलन रहता है कि कोई एक हल्का झटका भी रसभंग की स्थिति उत्पन्न नहीं करता। इतस्ततः व्यंग्य की फुलझड़ियाँ मन को आहत नहीं करतीं प्रत्युत् संयत उपहास-चारुता से मन को मुग्ध कर लेती हैं। इसमें स्थल-स्थल पर व्यंग्य हास्य की बड़ी सौम्य चुटकियाँ हैं जिनमें उक्ति-कौशल के साथ साथ जीवन की खामियों पर पैनी और वेधक दृष्टि डाली गई है—'भीड़ छँट गई। चारों तरफ पुरुषों की आँखें कंगालों की तरह स्त्रियों में उन्हें ढूँढती फिरती थीं।"

"और किशोरी हँस पड़ी और उसके सामने खड़े तरुणों के हृदय में एक लहर सी दौड़ गई।'

आधुनिक सभ्यता, मध्यवित्त वर्ग के विभिन्न चरित्रों की कमजोरियाँ, जीवन की जटिल गुत्थियों के बीच उत्पन्न विलासी, ह्रासशील, संघर्षशील किन्तु हास्यात्मक परिस्थितियाँ, जनता, समाज और राष्ट्र के प्रति जागरूकता के अभाव में पतनोन्मुख जड़ता, रूढ़िग्रस्त सामाजिकता, विश्वासहीनता और विषमता से जर्जरित सुधार की दिशा में फैला गोरखधन्धा, अपरिहार्य और द्वन्द्वात्मक कशमकश, उत्पीड़ित दिलों

दिमाग की अड़चनें, दैनन्दिन संघर्ष से उद्‌भूत ऊहापोह और झंझटें, यों—वाह्यावरण का भीतरी खोखलापन यत्र-तत्र सभ्यता का पर्दाफ़ाश करता है। औरतों के स्वभाव, झगड़ालू मनोवृत्ति, कुण्ठित लोक-लज्जा, मान-अपमान और मान-भंजन के रोचक प्रसंगों पर विनोदभरी, रोचक छीटाकशी है जो मन को मोह लेती है। विवाह पर यह वेधक व्यंग—"हे मेरी अग्निशिखे, व्याह-व्याह सब घपला है, इसमें अपरिपक्व मन की बू आती है। उसकी मर्यादा भी बहुत पहले ही नष्ट हो चुकी है। नदी-नाले संयोग के कारण व्याह की खूब चली और गृहलक्ष्मियों की भी खूब चली। फिर जमाना मानस-लक्ष्मियों का आगया। पर वह युग भी ढल गया, अब ब्रेन लक्ष्मी का युग है।"

अत्यधिक फैशनपरस्त आधुनिका स्त्रियों पर निम्न कटूक्ति का प्रयोग किया गया है—

'आजकल की आधुनिक स्त्रियों से, जो पेरिस से लेकर न्यूयार्क तक फैशन का अध्ययन करती रहती हैं, किसी ने कालिदास का काव्य पढ़ कर यह नहीं कहा कि तुम ऐसा करो। फिर भी उन लोगों ने समझ लिया है कि जब वल्कल से शकुन्तला सज सकती थी तो बगल कटी हुई और सीने तक की पौशाक भी मेमसाहबों के लिए सुन्दर हो सकती है।"

एक अन्य उद्धरण में—"स्त्रियों को जब कुछ मांगना होता है तो वे गले की आवाज धीमी कर लेती हैं। पर ज्यों ही उन्हें मालूम होता है कि वार खाली गया त्यों ही उनका स्वर पंचम पर पहुँच जाता है।"

एक पात्र कहता है—

"धर्मपत्नी का अर्थ है, सर्वाधिकार सुरक्षित, नयनी-लटक्न से सुशोभित, या यों भी कह सकते हो नख-दन्त शोभित घूँघट वाली, जिसे लोग बहू कहते हैं। विवाह के बाद लोग उसे नहीं पाते, क्योंकि वह घर की मालकिन और सास की पुत्रवधू है। यदि उसकी बात याद आये तो रोना ही आता है।

नीहार ने अपने साथियों को देखा, फिर बोला—धर्मपत्नी को यों समझो कि वह एक गतिशील बोझ है। गले में हँसुली नहीं हार, ओठ पान के कारण लाल, मिल की मैली साड़ी पहने हुए, पैरों में बिछुओं की झुनझुन और महावर का रंग। घर में वह राज करती है, घर के सारे कामकाज सँभालती है, उससे शादी तो हो सकती है, पर प्रेम नहीं।

पर अरे भई वाइफ, वह तो हम लोगों की लाइफ है। वह पास रह कर भी दूर और निकट रहकर भी दुष्प्राप्य होती है। वह जार्जेट और सैण्डल पहनती है। वह सवेरे से शाम तक तुम्हें उड़ाकर चलाता रहेगी। प्रातःकाल के शापिंग से लेकर सिनेमा तक वह जिन्दगी की बहार लूटती है और बेचारा पति लुटता रहता है। दफ़्तर से आने से पहले देख लीजिए कि कहीं फुटबाल मैच या कोई ऐसी बात है

या नहीं, जिसमें फैशनवाली स्त्रियों के लिए जाना जरूरी है। अगर कोई ऐसी बात है तब तो जान लो कि वाइफ महोदया वहीं तशरीफ ले गई होंगी, फिर तुम टापते रहो। तुम चाहो तो उससे प्रेम कर सकते हो, पर वह भी तुमसे प्रेम करेगी ऐसी कोई गारंटी नहीं। क्या पता तुम प्रेम के काबिल न हो।"

एक दूसरे स्थल पर स्त्रियों के स्वभाव पर तीखा व्यंग करते हुए लिखा है कि—"जिस बात को ईश्वर क्षमा करता है और पुरुष भूल जाता है उसी को नारी सदा के लिए याद रखती है।'

अपनी पुरुषोचित प्रकृति के कारण देवेशदास में भले ही पक्षपात हो, पर इन विशिष्ट ब्यौरों में व्यापक जीवन-संघर्ष, द्वन्द्व-प्रतिद्वन्द्व, विभिन्न चरित्रों के घात-प्रतिघात—खासकर नारियों के विचित्र स्वभाव और बहुमुखी प्रवृत्तियों का सुन्दर निदर्शन मिलता है। साथ ही शृंगारिक व्यंजना की स्निग्धता भी अछूती है।

यों—उनकी हर कृति में अविचल भाव और आशा का स्वर है। उनमें जीने और जागने की आकांक्षा है, सर्जनात्मक जिज्ञासु प्रवृत्ति है, तभी तो उनके विश्वासों में इतनी स्फूर्ति और प्रेरणादायिनी शक्ति है। यह आशा और स्फूर्ति केवल किसी एक ही दिशा में सीमित नहीं है, वरन् उसमें सम्पूर्ण मानवता की आकांक्षाओं का उद्घोष है जो अनवरत बर्द्धमान प्रगति का सूचक और सांस्कृतिक एवं सामाजिक चेतना को उद्बुद्ध करने वाला है। जबकि भाषा और साहित्य एक दूसरे के पूरक बनते जा रहे हैं तथा परस्पर विचार-विनिमय एवं आदान-प्रदान तेजी से चल रहा है, देवेशदास का बंगला से हिन्दी में उतरना शुभ लक्षण है और कथा-साहित्य में इनकी कृतियों का स्वागत होना ही चाहिए। राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने इनके अभिनन्दन में लिखा है—"अपने उच्च पद के कर्त्तव्यों को पूरा करते हुए भी इन्होंने बंगला साहित्य में रस लिया है और उसकी वृद्धि में सक्रिय सहयोग भी दिया है और इस प्रकार स्वनामधन्य बंकिमचन्द्र चटर्जी, रमेशचन्द्र दत्त, द्विजेन्द्रलाल राय प्रभृति साहित्यकारों की परम्परा को इन्होंने इस युग में क़ायम रखा है।"

१२

सुमित्रानन्दन पंत की काव्य-साधना

पंत की कविता का पाट बडा विस्तृत है । विकास-क्रम की दृष्टि से उनकी समग्र काव्य-कला को मुख्यत यों रक्खा जा सकता है।

प्रारम्भ मे अर्थात् 'वीणा' से 'गुजन' तक उनकी कविता का मूल भाव प्रकृति प्रेम एव ऐन्द्रिय उल्लास है, जिसमें वस्तुसत्य के साथ-साथ आत्मसत्य के समन्वय का प्रयास है।

'गुंजन' के बाद 'युगात' से आगे 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' तक कवि की अनुभूति और जिज्ञासा-वृत्ति अधिक सजग और सचेष्ट हो उठी है। उसके भावोन्माद का अब प्रौढ विकास हुआ है और उसकी चितासरणि भाव-जगत् मे पैठने की अपेक्षा वस्तु-जगत् में अधिक खुलकर विचरण करती है।

'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' में कवि का सूक्ष्मचेता मन मार्क्सवादी भौतिक सघर्षों से ऊब कर आध्यात्मवाद की ओर मुडा है।

और 'युगपथ', 'उत्तरा' 'अतिमा', 'वाणी' आदि उसकी परवर्ती कृतियो में *आत्मोन्मुख मनोभूमि अर्थात् उसके अवचेतन मन के साथ ऊर्ध्वमुखी वृत्तियो का समा*हार है, जहाँ उसकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि स्थूल तथ्यों पर उतराती हुई सूक्ष्म सत्यों में रम गई है।

किन्तु नव्य काव्यसग्रह 'कला और बूढा चाँद' की अस्पष्ट छायावीथियो में भ्रमित पत की चेतना किस प्रकार जीवन की सक्रिय वास्तविकता में प्रवेश करती है और मानववाद ने उन्हें जो अमरत्व का सम्बल दिया है उसी का आलोक उनके इधर के कृतित्व में प्रस्फुटित हुआ है। उनकी कला आज बन्धनों से मुक्त है और उसकी उन्मुक्ति ही कला का प्राण बन गई है।

पत की प्रारम्भिक कृतियों 'वीणा', 'ग्रन्थि', 'पल्लव', 'गुजन' आदि में कोमल भावानुभूति एव रागात्मक वृत्ति का प्राधान्य है। प्रकृति-जगत् और सौन्दर्य जगत् के मध्य जो झलमल-झलमल आलोक-रेखा कवि को खिची दीखती है उसी स्निग्ध, तरल तार में उसकी अनगिन भावनाएँ गुँथी है। प्रकृति के उन्मुक्त प्रागण में वह पहरों बैठा अनुराग की उप आभा में अपने प्राणों के अणु-अणु को रस-विभोर करता रहा है और उसकी चिन्तन-शक्ति का सशक्त आधार अन्तरिक्ष-पथ में किन्हीं

दूरत, मोहमयी अशरीरि सूक्ष्म प्रक्रियाओ द्वारा उद्वेलित होता रहा है। कवि ने लिखा है पर्वत प्रदेश के निर्मल चचल सौंदर्य ने मेरे जीवन के चारो ओर अपने नीरव सौंदय का जाल बुनना शुरू कर दिया था। मेरे मन के भीतर बर्फ की ऊँची, चमकीली चाटियाँ रहस्यभरे शिखरो की तरह उठने लगी थी, जिन पर खडा हुआ नीला आकाश रेशमी चँदोवे की तरह आखो के सामने फहराया करता था। कितने ही इन्द्रधनुष मेरी कल्पना के पट पर रगीन रेखाएँ खीच चुके थे, बिजलियाँ बचपन की आँखो को चकाचौध कर चुकी थीं पर्वत के झरने मेरे मन को फुसलाकर अपने साथ गाने के लिए बहा ले जाते और सर्वोपरि हिमालय का आकाशचुम्बी सौंदर्य मेरे हृदय पर एक महान सन्देश की तरह एक स्वर्गोन्मुखी आदर्श की तरह तथा एक विराट् व्यापक आनन्द, सौन्दर्य तथा तपपूत पवित्रता की तरह प्रतिष्ठित हो चुका था।

कवि के समक्ष प्रकृति हर मोड पर नये-नये रूपो में आ खडी हुई है। प्रारम्भ में उसके अ तर्देश का उन्माद और उल्लास प्रकृति की सौंदर्य-श्री से मुखरित होकर काव्यधारा म प्रसरित होता है। उसका उच्छल रसावेग हर दृश्य वस्तु, हर आकर्षण और सुन्दर म रमना चाहता है फलत उसके उन्मादक और हलचल भरे भावावेग कविताओ की पोर पोर म भीन हे। उसके काव्य-सृजन के मूल तत्त्व सत्य–शिव–सुन्दरम्, जो उसके प्राणो में औत्सुक्य जगाते हे उस समय 'सुन्दर' से अधिक प्रभावित हे। स्नेह और अनुराग भरे मीठे सपने, हृदय की मधुर सिहरन और किसी अज्ञात रूपसी का निखरा रूप उसकी उद्भ्रान्त चेतना को विमूर्च्छित करता रहा है। वातायन पथ से उठने वाली शीतल, स्निग्ध सौरभमलय समीर की हल्की-हल्की थपकियाँ, चतुर्दिक बिखरी दृश्यावली, अवनि अम्बर की अथाह सुषमा और जीवनमय-उन्मद राग कवि की अरूप वृत्तियो स तद्रूप होकर उसके अन्तर्बाह्य को एक विचित्र झंकृति स भर देती है और वह तन्मय होकर गा उठता है

untiful

> "मेखलाकार पर्वत अपार,
> अपने सहस्र दृग-सुमन फाड,
> अवलोक रहा है बार-बार,
> नीचे जल में निज महाकार,
> जिसके चरणों में पला ताल
> दर्पण सा फैला है विशाल।"

कुछ समय तक कवि का चितन इस हद तक प्रकृति में तदाकार हो गया है कि वह उसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म धडकन सुना करता है। प्राकृतिक सुषमा म शराबोर उसका हृदय लहराता है और उसका सुख-दुःख, श्वास-सौरभ, विचार-भावनाएँ, यहाँ तक कि अपने अस्तित्व तक को वह उसमें विलय कर देना चाहता है। न जाने कब के, कहाँ के अमूर्त, अलक्ष्य, उलझे हुई सूत्र उसके अवचेतन मन में घनीभूत होकर प्रकृति की छायापथ में बिखर जाते हे कि वह हठात् दूरत्व या पार्थक्य की कुहेलिका चीर कर

उसके सीमाहीन सौन्दर्य में खो जाता है। प्रभात का धूमर आलोक और बाल-रवि की रश्मियों से रंजित प्रकृति का उन्मुक्त प्रसार तथा पक्षियों की मधुर ध्वनि अन्तःप्रेरणा के क्षणों में उसकी सूक्ष्मतम अनुभूतियों से तादात्म्य स्थापित कर लेती है, जिसमें विभोर अन्तर्निभूत आनन्द की पूर्णता में उसका मूक स्वर उद्बुद्ध हो उठता है।

"स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ में भोर,
विश्व को देती है जब बोर,
विहग-कुल की कल-कंठ हिलोर,
मिला देती भू-नभ के छोर,
न जाने अलस पलक दल कौन,
खोल देती तब मेरे मौन।"

समीरण का प्रत्येक हृत्कंपन जब अगाध जल को क्षुब्ध करता हुआ बुलबुलों को बिखेर देता है तो किसी अपरिसीम, अनवद्य रूपराशि की स्मृतियों को झकझोरती हुई लहरें चुपचाप कवि को अज्ञात संकेत करके बुलाती हैं -

"क्षुब्ध जल-शिखरों को जब वात
सिन्धु में मथ कर फेनाकार
बुलबुलों का व्याकुल संसार,
बना, बिथरा देती अज्ञात;
उठा तब लहरों से कर कौन,
न जाने मुझे बुलाता मौन ?"

यहाँ तक कि पंत की सूक्ष्म, सौन्दर्यग्राही वृत्ति छाया जैसी अरूप वस्तु में भी रमती है

"किस रहस्यमय अभिनय की तुम,
सजनि ? यवनिका हो सुकुमार,
इस अभेद्य पट के भीतर है,
किस विचित्रता का संसार।"

किन्तु 'गुंजन' में भौतिक यथार्थताओं से टकरा कर कवि की कैशोर भावना का सौन्दर्य-स्वप्न जैसे विशृंखल हो गया। यौवन काल में जब जिन्दगी की रंगीनियाँ अँगड़ाई लेती है, रग-रग में नये ताजे खौलते खून की गरमाहट होती है और प्राणों में उन्मादक स्पंदन हिलोर लेता है, तो उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो वह कुछ और का और हो गया है, परन्तु कालस्रोत के प्रवाह में जीवन के अविराम डगर पर चलते-चलते उसकी अलसायी पिंडलियों में कम्पन होता है, पीड़ा का आवेग गहरी शून्यता में खो जाता है, वह प्रतीक्षा में निरत रहता है, पर क्या कभी यौवन पुनः लौटकर आता है ? अपनी अनुभूति की अनुपयोगिता से आहत होकर उनने अपने चिन्तन का क्षेत्र विकसित कर लिया और प्रकृति के माध्यम से असीम चेतन तक

पहुँचने की जो एक अव्यक्त, अज्ञान लालसा उसके हृदय के भीतर कहीं छिपी थी उससे हठात् विमुख होकर जीवन के अशेष विफल पथ पर वह सक्रिय चिह्नों की खोज में निकल पड़ा। छायावन की नीरव सघनता से आवृत उसकी सूक्ष्म-चेतना, जो भोर की अरुणिमा सध्या के धुन्ध और उच्च पर्वत शृंगों पर छीजते वर्फ की श्वेतिमा में रमना अधिक पसन्द करती थी, जो 'प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलने में एक लय, प्रत्येक परमाणु के मिलन में एक राग' और हरियाली की छोटी से छोटी फुनगी को छूकर आत्म विभोर हो जाती थी, वह यथार्थ के आग्रह से मानव के चिरतन भाव जगत् की ओर उन्मुख हुई

'जीवन की लहर लहर से,
हँस खेल खेल रे नाविक ?"

कवि ने जीवन की सूक्ष्मता में पैठकर उसके चिरतन स्वरूप को हृदयगम करने का प्रयत्न किया

'महिमा के विशद जलधि में,
हैं छोटे छोटे से कण;
अणु से विकसित जग-जीवन
लघु अणु का गुरुतम साधन।"

कवि सौन्दर्यस्रष्टा से जीवनद्रष्टा हो गया। महत् विचार दीक्षा से अनुपूरित, परहित और मानव प्रेम की सशक्त इकाई तथा साध्य साधन की एकरूपता ही जिसकी चरम परिणति है—ऐसी चिरन्तन अभिव्यक्ति अन्तत मुखर हुई। उसकी कलात्मक चेतना विकसित होते-होते प्रकृति के माध्यम से मानवात्मा में प्रविष्ट हुई और इन्हीं से अन्तर्मूत स्पष्यधारा ने उसके हृदय पर मार्मिक प्रभाव डाल कर उस के भावों का प्रवर्त्तन किया। ज्योत्स्ना' में कवि ने लिखा

'न्यौछावर स्वर्ग इसी भू पर
देवता यही मानव शोभन,
अविराम प्रेम की बाँहों में
है मुक्ति यही जीवन बन्धन ?"

ज्यों ज्यों उसकी दृष्टि लोकोत्तर भाव में पैठती गयी, त्यों त्यों कवि सौन्दर्य लोक से हरी भरी, ठोस पृथ्वी पर उतरता गया, पर मार्क्सवाद के भौतिक सघर्ष में उसकी वृत्तियाँ कभी न रमीं। 'युगान्त', 'युगवाणी', 'ग्राम्या' में युग-जीवन और मानव व्यक्तित्व प्राणान्वित हो उठा है। कवि छायावाद की सघनता से सामूहिक सुख-दुखों एव जीवन वैषम्य में झाँकने को उत्सुक है

'मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति ?
आत्मा का अपमान प्रेत औ' छाया से रति।"

चिरपीड़ित मानवता के स्नेहल स्पर्श से उसमें नीरव शान्ति जगी और उसने

जीवन का अधिक व्यापक और चिरन्तन स्वरूप आँका।

"मिट्टी से भी मटमैले तन
फटे, कुचैले, जीर्ण वसन—
कोई खण्डित, कोई कुण्ठित—
कृशबाहु पसलियाँ रेखांकित
टहनी सी टाँगें, बड़ा पेट
टेढ़े मेढ़े विकलांग घृणित—
लोटते धूलि में चिरपरिचित।"

किन्तु कवि की कोमल आत्मा अधिक दिन तक इस बौद्धिक स्वीकृति से आश्वस्त न हो सकी। भौतिक सघातो से ऊबकर वह पुन चिरन्तन सत्य और कल्पना के समानान्तर शाश्वत सनातन गुणो की ओर आकृष्ट हुआ। कदाचित् भीतरी आध्यात्मिक चेतना का दबाव इतना तीव्र हो गया था कि बाह्य की भौतिक सीमाएँ तोडकर अन्तत उसकी इधर की कृतियो में फूट पडा। 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्ण-धूलि' में कवि की आत्मा का मुक्त उल्लास, साधना की तल्लीनता और शाश्वत जीवन-जागृति की स्फूर्ति है। उसे जीवन की पूर्णता में स्वर्णिम आभा और एक नया आलोक फूटता नजर आता है

"यह छाया भी है अविच्छिन्न
यह आँख मिचौनी चिर सुन्दर
सुख-दुख के इन्द्रधनुष रगों की
स्वप्न-सृष्टि अजेय, अमर।"

'युगपथ', 'उत्तरा' 'अतिमा', 'वाणी' आदि कवि की परवर्ती कृतियो में उसकी आत्मभाव की परिधि व्यापक होती गई है। जीवन का स्थूल अर्थ, यथार्थता और अनुक्रम मानो मिट गया है, उसके स्तब्ध प्राण किसी अतिमानवी, अलौकिक परिव्याप्ति, किसी अन्तर्भव सत्य से अनुप्राणित हे। कलाकार और मानव-चेतना में जो सहज विद्रोह उठ खडा हुआ था वह तिरोहित हो गया। जीवन के स्थूल पहलुओ से वह आज एक विशाल आत्मा की अन्तर्साक्षी में रम गया है।

'वाणी' से उद्धृत 'फूलो का दर्शन' शीर्षक कविता में रूप का प्रकाश कवि की सुनहरी स्मृति के तारो से जुड गया है जिसने अन्तर्मन के क्लान्त कोलाहल में पुलक कर प्रकाश भर दिया है:

"ये जो हँसमुख फूल खिले
मधु के उपवन में
ये कुछ गाते रहते मन में!
भू रज से तन, किरणों से रंग
नभ से रूप, अरूप अनिल से

मृदुल रेशमी पलड़ियों के ले अंग,—

ये कृतार्थ करते बीजों को
सौ रंगों में विहँस एक संग !

नि:स्वर शोभा मुखर गीत बन
गूँजा करती वन वन उपवन
मधुकर में भर प्रीति की उमंग !"

एक अन्य कविता में रूपमुग्ध कवि महिमामय, अचिन्त्य सौन्दर्य में वृहत्तर आदर्शों की चरम परिणति खोजता है

'मैं कृतज्ञ, मन, अन्धकार को टोह अनुक्षण
तुम प्रकाश अगुलि बन करते पथ-निर्देशन,
भाव, बुद्धि, प्रेरणा,——बाह्य श्रेणियाँ पार कर
तुम तन्मय हो बनते शाश्वत सुख के दर्पण !

प्राण, धन्य तुम, रजत हरित ज्वारों में उठकर
आशा आकांक्षा के मोहित फेनिल सागर
चन्द्रकला को बिठा स्वप्न की ज्वाल तरी में
तुम बखेरते रत्नछटा आनन्द तीर पर !

प्रेम प्रणत हूँ मेरे हित तुम बने चराचर,
ज्योति, मुग्ध हूँ, तुम उज्ज्वल उर मुकुर अगोचर;
शान्ति, देह मन की तुम सात्विक सेज अनश्वर
प्रिय आनन्द, छन्द तुम मेरे, आत्मा के स्वर !"

उनकी नव्यतम कृति 'कला और बूढ़ा चाँद' में आज की बहु प्रचलित प्रयोगवादी धारा से टकराकर भी कवि की कविताओं का सम्मोहन और माधुर्य ज्यों का त्यों अक्षुण्ण है, केवल बौद्धिक गहनता और व्यापक अनुभूति के संस्पर्श ने उसकी काव्य चेतना के उत्कर्ष को नया मोड़ दिया है। बिम्ब योजनाएँ और चित्रात्मक प्रतीक भी अपेक्षाकृत सधे उभरे हैं उनमें रेखांकनों का बोध और निखार अधिक गहरा है तो स्पष्टता और शक्ति का समावेश भी है। लगता है जैसे परम्परागत प्रतिपादन और छन्द एवं लय की गिरफ्त से छूटकर उसकी भावनाएँ आंतरिक प्रवाह के वेग और गति पर थिरक रही है। अभिव्यक्ति का माध्यम जो भाषा है उसके अनुशासन में वह नहीं, अपितु भाषा स्वयमेव उसकी अभिव्यक्ति की एकमात्र उपलब्ध्य तथा धुरी है जो स्वयं कलाकार के लिए बोलने लगती है और अगणित रूप स्वरूप उभार कर पूर्णत: समाधि में परिणत हो जाती है। एक चित्र——

"यह नील
अंत स्पर्शी एकाग्र दृष्टि है,

जिसमें अनन्त सृजन स्वप्न
मचल रहे हैं !"

एक अन्य स्थल पर कवि स्वीकारता है

"प्रेम, आनन्द और रस का रूप
बदल गया है !

हृदय
शांति की स्वच्छ अतलताओं में
लीन होता जा रहा है !
विश्व कहाँ खो गया है !
देश काल ? जन्म-मरण ?

ओ चन्द्रकले,
केवल अमृतत्व ही अमृतत्व
अनिर्वचनीय
अस्तित्व ही अस्तित्व शेष है।"

जिस अरूप, अचिन्त्य को पाने के लिए कवि का चित्त व्याकुल होकर इधर-उधर भटकता फिरा और सम्पर्क की उपलब्धि में एक मोहावेश, एक कम्पित हिल्लोल, एक उमगना अवसाद या अन्तरात्मा के गहन, गोपन प्रकोष्ठ में जो दुविधा की आशंका थी वह बहुत कुछ साधना की सिद्धि में समाहित हो गई। रूपशिल्प की शर्तें व्यापक संवेदनाओं से जुड़कर ऐसे चित्र उभारती हैं जिसके आलंकारिक आलेखनों में प्रयोग के बावजूद भी वैसी ही रूप-समृद्धि और ऐश्वर्य-सम्पन्नता है और वैसा ही मार्दव, भले ही छन्द-योजना वैसी नहीं जो इनकी पूर्ववर्ती रचनाओं में है। कविताओं की पंक्तियाँ कहीं उखड़ी-पुखड़ी और कहीं असम्बद्ध और बेतरतीब-सी बन पड़ी है, फिर भी उनका आकर्षण ज्यों का त्यों है .

"ओ गीत सखी
ये बोलते पंख मुझे भी दो
जो गीत गाते रहते हैं–
और,
वह मधु की गहरी परख–
में भी
मधुपायी उड़ान भरूँगा।"

आज जो वैचारिक उलझाव और अन्तर्विरोध है उसको पचा कर आत्मसात् करने की अद्भुत क्षमता भी कवि में है। उनके इतने लम्बे साधना-काल में कितनी हवाओं का रुख बदला, पुरानी जर्जर मान्यताएँ चकनाचूर हुईं, नई मान्यताओं की प्रतिष्ठा हुई, पर पन्त के जीवन-दर्शन ने इन सभी विचारधाराओं के बीच समन्वय

का सन्धान किया है। कला के साधक के पास उसकी अपनी कला के मूल्यांकन की जो कसौटी है वह है—आत्मानन्द। उसकी रसग्राही चेतना के तंतु जागृत रहते हैं तो उसकी काव्यधारा का अजस्र प्रवाह कभी क्षीण नहीं पड़ता। यही कारण है कि कवि की हर कृति में उसकी आत्मा का निमज्जन और एकात्म्य भाव मूर्त हो सका है। कलाकार के अभिप्राय की सिद्धि में जो उसकी साधना का सच्चा रूप है वह उसके सौन्दर्यबोध की अन्तश्चेतना के संस्पर्श से स्फूर्त हो कर, उसके माधुर्य को छू कर चित्र-काव्य की अठखेलियों में मानो बिखरा-सा लगता है। निम्न पंक्तियों में कवि का वैसा ही मुक्त भाव देखिए जिसके कारण उसकी काव्य-स्रोतस्विनी कभी सूखती नहीं वरन् छलकते उल्लसित भावों की अनवरत सृष्टि करती चलती है

"लोक चेतना के व्यापक
रुपहले क्षितिज खुले हैं
तुम रचना के सजल के पंखों पर
उन्मत्त वायु में
निःशब्द
विहार करो,—
छन्दों की पायलें
उतार रहा हूँ !"

इस प्रकार नई चेतना का यह ज्योतिर्बीज जो कवि की भाव-सत्ता पर पनपा है उसकी जड़ें निश्चय ही अत्यन्त गहरी हैं और स्निग्ध रसधारा से उसका अभि-सिंचन हुआ है। इनकी आज की कविताओं में भी एक खास रंगीनी है, नई भावना, नई सौंदर्य दृष्टि और नये रागात्मक सम्बन्धों के बीच नई दीप्ति और नया उल्लास। कुछ कविताओं में राग का स्वर प्रधान है, पर कुछ में यथार्थ की पकड़ गहरी होती गई है। इनकी कतिपय कविताओं की भीतरी संगीतात्मकता का हमारी विशेष मनो-दशाओं के साथ होने वाले संमिश्रण के कारण एक व्यापी संवेदना का संचार हमारी उपचेतन मानसिक अवस्था में होता है और तभी हमारी सौंदर्यग्राही प्रवृत्ति उनसे प्रवाहित होने वाले रस का आस्वादन करती है। कवि की काव्य-साधना में कष्ट-कल्पना के पाषाण नहीं हैं और न तर्क का अवरोधक हिमप्रवाह, अपितु उसके उद्वेगों एवं कोमल प्रेरणाओं को वे चिन्तन की समतल घाटी में ले जाती हैं। शब्दों के माध्यम से व्यक्त होने वाले अर्थ जिस चित्र का निर्माण मन के स्तरों पर करते हैं उनकी मर्मस्पर्शिता अधिक प्राणवान और चेतन बनकर प्रतिपाद्य विषय के सत्य को पहचानने की प्रेरणा प्रदान करती है।

मानव हित और प्रेमयोग की साधना के कारण उसकी भीतरी वृत्ति तदाकार हो गई है और इस तदाकार तन्मयता से कवि का मन जैसे अभिभूत हो उठा है.

"मैं सृष्टि एक रच रहा नवल
भावी मानव के हित, भीतर।"

निःसन्देह पन्त की सम्पूर्ण साधना अन्तर्भूत सत्य के आधार पर पार्थिव जीवन की सूक्ष्म, दार्शनिक परिणति में है। प्रारम्भ में उन्होंने जिन सुनहले स्वप्नों को सँजोया वे जीवन के कठोर तल से टकराकर बिखर गये और पुनः विराट् का स्पर्श पाकर उनके सारे द्वंद्व सारे संघर्ष सीमा का व्यवधान मिटाकर सान्त से अनन्त में एकाकार हो गये। कभी प्राणों के उन्मद राग से उनके भीतर का मौन काँप उठा, कभी असम्बद्ध जीवन प्रयोगों को आत्मसात् करके वे हतसंज्ञ हो उठे और कभी उन्होंने अपनी कला की सूक्ष्मता से व्यष्टि व्यक्तित्व में समष्टि का सामंजस्य दर्शाया। उनके सम्पूर्ण कृतित्व में स्थान-स्थान पर उनकी बाहरी और भीतरी वृत्तियों में उलझाव पैदा हो गया है। लौकिक और आत्मिक जीवन में कशमकश सी रही है। कवि के अन्तर्मन का ऊहापोह कभी अशरीरी, स्वप्नमय, लोकातीत भावनाओं में परिव्याप्त हो गया और कभी बाह्य परिस्थितियों एवं मानव-द्वंद्वों से उसका अन्तर उद्वेलित हो उठा। कभी उसकी उद्भ्रांत चेतना निस्सीम सुषमा में खो गई और कभी जीवन के व्यापक सामंजस्य के मूक दर्शन में उसने उससे आँखें मूँद लीं।

वस्तुतः, पन्त की सुकोमल अन्तर्वृत्तियों में जो कशमकश सी है—वह न सिर्फ आन्तरिक, वरन् बाह्य प्रेरणाओं के कारण भी है। साहित्य-क्षेत्र में आलोचकों के जो दो दल हैं—रूढ़िवादी और मार्क्सवादी उन्होंने समय-समय पर अपनी आलोचना से कवि के कोमल मन को झकझोरा है। वह स्वभावतः स्वप्नदर्शी होते हुए भी कुछ अंतःप्रेरणा और कुछ प्रगतिशील आलोचकों के प्रबल आग्रह से प्रगतिशील बना, किन्तु दूसरे आलोचकों के दल ने उसे स्वप्नदर्शी ही बने रहने की प्रेरणा दी। कवि का सरल मन अनेक स्थलों पर द्विविधाग्रस्त सा हो उठा है और उसकी निर्भ्रान्त धारणाओं की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो पाई है। कवि द्वारा अपने व्यक्तित्व और कला की आलोचना, जो उसने स्वयं की है, पढ़ने से हमारे कथन की पुष्टि हो जाती है और मननपूर्वक पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि पर बाह्य प्रेरणाओं का दबाव अपेक्षाकृत अधिक रहा है, यहाँ तक कि वह अपने जीवन और कृतित्व की आलोचना भी उस तटस्थता से न कर सका, जैसी कि एक आत्मजागरूक कलाकार को करनी चाहिए।

आलोचनाओं को पढ़ते हुए हमें ऐसा बार-बार खटका है जैसे पन्त जी ने अपने आलोचकों की आलोचना पढ़कर अपनी आलोचना लिखी हो। कदाचित् यह उनके मन की सरलता अथवा अधिक कोमलवृत्ति के कारण हो उनमें अपनी आलोचना करते हुए कहीं-कहीं आत्मश्लाघा का भाव आ गया है। जैसे 'मैं शर्मीला और जन-भीरु था', 'मैं प्रकृति को एकटक निहारा करता था' अथवा ऐसा ही भाव व्यंजित करने वाले अन्य वाक्य में 'यह था—वह था'—उसी के समकक्ष है जैसे कोई आत्म-जिज्ञासु जीवन द्रष्टा के मुख से यह कथन अशोभनीय है—'देखो, मैं कितना सुन्दर हूँ।'

न जाने कितने उतार-चढ़ाव, आवर्त्तन-प्रत्यावर्त्तन और मानसिक ऊहापोहों के पश्चात् कवि अपनी अन्तर्जिज्ञासा की साधना जगा सका है। उसकी स्वप्निल दृष्टि जीवन-कुहर को चीरकर अब भौतिक यथार्थता से आ टकराई है, किन्तु उसमें विश्वास

का आग्रह कम, कल्पना का उलझाव अधिक है। वस्तुत, उसकी विराट् चेतना आरम्भ में अपने भीतर के उच्छ्वसित सौंदर्य को प्रकृति में आरोपित करके जिस अज्ञात छवि की मधुमयी विस्मृति में लीन रही है, वह बाद में क्रमश अपने प्रेरक आधारो और जीवन की यथार्थताओ के अनुरूप ढलती गई। अनेक बार उसकी तात्विक वृत्तियाँ प्रबुद्ध होकर जीवन के ज्वलन्त सत्य पर आ टिकी और परस्पर द्वद्व, सभ्रम सा होता रहा।

'जादू बिछा इस भू पर
तुमने सोने की किरणों की,
जीवन हरियाली बो-बो कर।'

प्राय पन्त की कृतियो को लेकर दो प्रमुख विचारधारा के आलोचको में खीचातानी सी रही है। यह भी विवाद का विषय रहा है कि साहित्य में चिरन्तन सत्य की अभिव्यक्ति अधिक अभिप्रेत है अथवा तात्कालिक सामाजिक समस्याओ का चित्रित किया जाना। आज जब रोटी का प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण है और जीवन-यापन की विभीषिका लपलपाती जिह्वा से रक्त चूस रही है तो उससे सर्वथा मुँह फेर कर कोई कैसे उदासीन हो सकता है? किन्तु यह भी कैसे सम्भव है कि पेट की भूख ही सब कुछ है और आत्मा की भूख कुछ नही? कैसे कोई सामाजिक समस्याओ में ही परितोष पाकर निस्सीम सुषमा और प्रकृति के अनन्त वैभव से आँखें मीचकर जी सकता है? साहित्य में सदैव से दोनो की काक्षा रही है, दोनों ने अधिकार माँगा है, दोनो समानान्तर लीको पर देखा गया है।

पन्त की कविता शाश्वत सत्य और युग-सत्य की सफल अभिव्यक्ति है। उन्होंने प्रकृति की रगीनी में दिव्य, चिरतन विराट्-रूप का दर्शन किया है, साथ ही सामाजिक-जीवन की समस्याओ पर भी दृष्टि-निक्षेप किया है। अतएव उनके काव्य को हम चिरतन सोदर्य-बोध और युग-बोध का निगूढ सामजस्य कह सकते हैं।

कहना न होगा कि 'वीणा' से 'उत्तरा' तक आते-आते कवि ने एक गहरे पाट को लाँघा है। आज वह अनेक चक्करदार मोडो से निकलकर अपने अभीप्सित पथ पर आ गया है। अब उसे किधर मुडने की प्रेरणा होगी—इसे कौन बता सकता है?

"ओ स्वर्ण हरित छायाओं,
इन सूक्ष्म चेतना सूत्रो में
मुझे मत बाँधो!
मैं गीत खग हूँ,
उडता हूँ,—
ज्योति जाल में नहीं फसूँगा!"

काश्मीरी सन्त कवयित्री—लल्लदे

लल्लदे या लल्लेश्वरी काश्मीरी वाङ्मय की एक ऐसी प्रेमयोगिनी भक्त कवयित्री हैं जिन्होंने अपने स्फुट गेय गीतों से न केवल अपनी अन्तरात्मा के सत्य का सौरभ बिखेरा अपितु अपने चैतन्य गूढ़ दर्शन द्वारा भक्ति और ज्ञान, विवेक और अन्तर्नुभूति, एक अखण्ड और अव्यय की स्वरूपभूत सत्ता का भी साक्षात्कार कराया। ये बहुत ही विरक्त और ब्रह्मानन्द में तल्लीन रहती थीं। यहाँ तक कि इन्हें अपने शरीर की भी सुधबुध न रहती थी और प्राय अर्द्ध नग्नावस्था में तत्त्वदर्शी साधक की भाँति एक अद्भुत सम्मोहावस्था में ये घूमा करती थीं।

इनके जीवन के विषय में बहुत कम ज्ञात है, पर काश्मीरी जनजीवन में क्या हिन्दू, क्या मुसलमान आम जनता की नजरों में आज भी ये इतनी लोकप्रिय हैं कि इनके फुटकर पद मौके-बेमौके उनकी जबान पर चढ़े रहते हैं। ये पद इनकी स्मृति को अत्यन्त श्रद्धा व समादर के साथ तरोताजा बनाये रखते हैं। इनके विषय में कितनी ही किम्वदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं जिनमें यत्र-तत्र इनके महान् त्यागमय जीवन की कुछ झलकियाँ ही मिलती हैं। कहते हैं—इनका विवाह एक अत्यन्त सम्मानित उच्च घराने में हुआ था, पर इनकी सास का स्वभाव इतना चिड़चिड़ा और कर्कश था कि वे इन्हें तरह-तरह की यातनाएँ देती थीं। इनके एक गीत का भावार्थ है कि चाहे घर में कितना ही बढ़िया पकवान क्यों न बने, पर लल्लदे को तो हमेशा पत्थर ही खाने को परोसा जाता था। इनकी सास बड़ी ही चतुराई से इनकी थाली में पत्थर का टुकड़ा रख देती थीं और उस पर चावल की पतली परत जमा देती थीं जिससे देखने वालों और परिवार के अन्य व्यक्तियों को वह बहुत ज्यादा चावल नजर आता था। लल्लदे ने किसी से कभी कुछ शिकायत न की, चुपचाप अपनी स्थिति से सन्तुष्ट रहकर वे सारे गम को पीती रहीं। फिर इनकी सास ने इनके पति के मस्तिष्क को भी विषाक्त बना दिया। उसने हर तरह से अपने पुत्र को यह समझाने की चेष्टा की कि लल्ल विश्वासघातिनी है और उससे प्रीति नहीं रखती। एक बार सशय में पति ने इनका अनुसरण किया तो एकान्त में इन्हें उपासना में रत पाया। किन्तु निरन्तर कोंचने से ज्यों-ज्यों दुर्भावना दृढ़ होती गई, दोनों के दिलों में फ़र्क आता गया और एक दिन उसने लल्लदे को घर से बाहर निकाल दिया। फटेहाल

चीथडो में ये दर-दर भटकने लगी जिसका परिणाम यह हुआ कि एक पहुँचे हुए शैव मतावलम्बी विरक्त सन्त की कृपा से ये स्वयं एक महान् योगिनी बन गई। बाह्य साज-सज्जा, यहाँ तक कि वस्त्रो तक की इन्होने उपेक्षा कर दी। नाचती-गाती, आनन्द-विभोर ये जगह-जगह घूमती फिरती रहती थी। जब कोई इनकी नग्नता पर सहम जाता या इन्हें आचार मर्यादा का उपदेश देता तो ये उत्तर देती कि मैं तो उन्ही को मनुष्य मानती हूँ जो भगवान से डरते है और ऐसे व्यक्ति दुनियाँ में कम है। एक बार की घटना है कि इनके समकालीन सैयद अली हमदानी, जो कि एक मशहूर मुस्लिम सूफी फकीर थे और चौदहवी शताब्दी में काश्मीर आए थे, लल्लदे की ख्याति सुन इनसे मिलने के लिए इन्हे बाहर ढूँढने निकल पडे। लल्लदे ने जब उन्हें दूर से आते देखा तो वे एकदम चिल्लाती हुई दौडी कि आज तो मुझ असली मनुष्य के दर्शन हो गए। पास ही एक रोटी बनाने वाले की जलती भट्टी में ये कूद पड़ीं और ऐसा लगा कि ये उसमें अवश्य जलकर भस्म हो गई होगी। मुस्लिम सन्त ढूँढते हुए उधर आए और उन्होने रोटी पकाने वाले की पत्नी से इनके विषय में पूछताछ की। वह भयभीत हो गई और उसने कुछ भी जानने-बूझने से इकार कर दिया। किन्तु वे सन्त निरन्तर इन्हें खोजने में लग रहे और सहसा लल्लदे भट्टी से हरे दिव्य वस्त्र धारण किये हुए निकल पडीं।

उक्त कथा में कितना सत्याश है--कहा नही जा सकता, परन्तु इसमें इनकी अन्तरग सिद्धि और उच्च आत्मा का तो आभास मिलता ही है। जीवन को आच्छन्न करने वाले मोटे और अत्यन्त जटिल बन्धनो से मुक्त होकर जब अकस्मात् प्राणो में दीप्ति जगती है तो ऐसा तेज, आत्मगौरव और अनन्त स्फूर्ति का सचार होता है जो क्षुद्र स्वार्थों अथवा अभीष्ट पूर्तियो से बहुत ऊपर उठा देता है। लल्लदे के शून्य अन्तर में, जबकि वह नितान्त असहाय और सभी सुखों से वचित हो चुकी थी एक ऐसी ही लौ जगी थी। इससे उनके विश्वास को बल मिला और भीतरी पीडा ने व्यापक सामजस्य एव सहिष्णुता को प्रश्रय दिया।

उस समय पडितो और शिक्षित जनो के उपयोग की भाषा संस्कृत थी, पर लल्लदे ने जनभाषा काश्मीरी में बडी ही निश्छल सरलता से अपनी भावनाओं को व्यक्त किया है। उस समय देश में घोर अशान्ति और उथल-पुथल मची हुई थी और धर्मान्ध कट्टर पन्थी लोग अपने अपने मजहबो का प्रचार करने म जुटे थे। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विषमता ने सभी को त्रस्त कर दिया था। उस अवसर पर लल्लदे गरीबो में घुलमिल गई और अपने अन्तर्हित सत्य को जन मगलकारी आत्मदान के साथ एक ऐसी व्यापक और सर्वसुलभ सघटिनी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया जिसमें न कोई आवरण था, न विक्षेप न कोई अन्तराय और न किसी अपने-पराये का भेदभाव। इनकी दृष्टि के सम्मुख मानो सौहार्द और समता का सत्य प्रकट हो गया था।

एक स्थल पर वे कहती है -

"पर् ता पान् ॥ यमो समीय मानों
हिहोप् मानोन् दिन् त रात् ॥

यमो अद्वय् मन सम्पन्नों
तमो दिट्ठो सुरगुरुनाथ् ॥"

अर्थात् जो अपने में और दूसरे में जरा भी भेद नहीं समझता, जिसके लिए दिन की खुशहाली और रात्रि की उदासी एकमी है, जो द्वैत या पृथक्त्व की भावना से दूर है, वही केवल वही देवाधिदेव परम प्रभु से साक्षात्कार करने का अधिकारी है।

लल्लद्दे शैव थी, अतएव शिव की सत्ता में जो शक्तियाँ निहित हैं उन शक्तियों की साम्यावस्था को ही वे ईश्वर या ब्रह्मभाव मानती थी। स्थूल इन्द्रियों द्वारा बहिरंग वस्तुओं का ज्ञान तो हो सकता है, किन्तु अतीन्द्रिय वस्तु जानने का उपाय तो दूसरा ही है और वह है निग्रह या योग। योग महान् है, उससे निःसंकल्प मोक्ष की प्राप्ति होती है। मन और क्रियाओं को साधने में योगी को बड़ा सचेत रहना पड़ता है, क्योंकि विषयाकार वृत्ति को ब्रह्माकार वृत्ति में लगाने के लिए बड़ी कशमकश करनी पड़ती है।

"चिदानन्दस् ॥ त ज्ञान प्रकाशस् ॥
यमु चिनो तोम् ॥ जूवन्तिय् ॥ मुक्तो ॥
विषमीस ससारनीस ॥ पाशस ॥
अबुधि गण्डा दात् ॥ शत् दितो ॥"

अर्थात् दुःखदायी संकल्पों के विनाश के साथ मोहाच्छन्न धुन्ध को चीरकर जिसने स्वयंभूत प्रकाश यानी आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लिया है, जो जीवितावस्था में ही जीवनमुक्त हो जाता है यानी पुनर्जन्म की बार-बार की यन्त्रणा से पार पा जाता है वही अचिन्त्य प्राणशक्ति से तादात्म्य का अनुभव करता है। परन्तु जो अज्ञानी हैं वे जन्म-मरण के बन्धन में अधिकाधिक उलझे रहकर गाँठ पर गाँठ लगाते चलते हैं।

परन्तु शिव के दो रूप हैं—शिव तत्त्व और शक्ति तत्त्व। सत् चित् की अनुभूति होने पर एकाग्र समाधि अथवा निरतिशय आनन्द में अवस्थिति होती है। चित्त की पाँच अवस्थाएँ अथवा वृत्तियाँ हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति। पर साथ ही पाँच प्रकार के क्लेश या विकार भी हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश। उक्त मनोविकृतियाँ निरन्तर जीव को कर्म की ओर प्रवृत्त करती रहती है जिससे तरह-तरह की संस्कारजन्य वासनाएँ उभरती हैं। योगी अष्टांग—अर्थात् यम नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि के द्वारा चित्तवृत्तियों या क्लेशों का बहिष्कार करने की सतत चेष्टा करता है। इसकी कितनी ही अन्तर्दशाएँ एवं कोटियाँ हैं जिनसे साधक को गुजरना पड़ता है। चरम बिन्दु पर जब आत्मा और परमात्मा का एकीकरण हो जाता है, तब आराधक और आराध्य में किंचित् भी अन्तर नहीं रह जाता। भारतीय रहस्यवादियों अथवा मुस्लिम सूफियों जैसे

सिद्धान्त की ही ल्लल्दे ने अपने कृतित्व द्वारा पुष्टि की है। इनके एक पद में—

"नाथा पाना ना पर्जाना
साधित् बाधिम् एह् कुदेह् ॥
चि भू चू चि मिलो ना जाना
चू कु मु कु यथों सन्देह् ।"

अर्थात् हे नाथ ! मैंने अपने आपको नितान्त तुच्छ माना है और इस कुदेह की विकृतियों को सदैव नष्ट करने में लगी रही हूँ। निरोध के द्वारा मन को तुझमें लय किया जा सकता है। लेकिन मैं कौन हूँ और तू कौन है—यह संशय और तर्क-वितर्क मन को सदा सालता रहा। आत्यन्तिक निवृत्ति या तुझमें 'स्व' को पर्यवसित कर सकने में असमर्थ रही।

ल्लल्दे ने उस अवर्णनीय अनित्य प्रेम की भी व्याख्या की है जिसका गूँगे के गुड़ के समान स्वाद ही लिया जा सकता है पर जिसके विषय में कुछ भी स्पष्ट नहीं कहा जा सकता। इस चरम प्रेम या ब्रह्मानंद की अनुभूति ही यौगिक क्रियाओं की सिद्धि है। प्राणायाम के अनवरत अभ्यास से प्राणवायु द्वारा शरीर स्थित वायुनाडियों और चक्र के उत्तेजित होने से जो शक्तियाँ प्रादुर्भूत होती है, वे ही इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा के सहारे कुंडलिनी को ब्रह्मरन्ध्र की ओर ले जाती हैं। अन्ततोगत्वा जब कुंडलिनी सहस्र दल कमल में प्रविष्ट होती है तभी साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। मन और शरीर से परे तब आत्मा ही परमात्मा का स्वरूप ग्रहण कर लेती है, जिससे पाप का कल्मुष स्वयं धुल जाता है और विश्व की बृहत् परिधि में भ्रमण करते हुए भी उसे भय या संकोच नहीं होता।

अत्यन्त ऊँची स्थिति पर पहुँचने से एक प्रकार का मतवालापन आ जाता है। आध्यात्मिक मदिरा के नशे में मनुष्य इतना चूर हो जाता है कि भले ही लोग उस पर हँसें या उसकी खिल्ली उड़ावें इससे उसका कुछ बनता बिगड़ता नहीं। ल्लल्दे ऐसी ही अवधूत मस्तानी संत थीं। वासनामय प्रवृत्तियों से मुक्त होने के कारण उनमें ऐसी उन्मुक्तता या कहें कि समता आ गई थी कि उनकी दृष्टि में न कोई बड़ा था, न छोटा। जो उनकी इस मस्ती को नहीं समझ पाता था वह उन्हें पागल या विक्षिप्त कहता था, मगर जो इस इश्कहकीकी के खुमार का आभास पा जाता था वह स्वयं भी इनके संसर्ग और अलौकिक कृत्यों से चमत्कृत हो उठता था। एक बार किसी बजाज से एक थान के दो बराबर-बराबर टुकड़े फड़वाए और दायें-बायें दोनों कन्धों पर एक-एक टुकड़ा डालकर ये आगे बढ़ गईं। मार्ग में जिन लोगों ने इनका उपहास किया अथवा जिन्होंने इन्हें एक महान् योगेश्वरी समझकर इनकी अभ्यर्थना में सिर झुकाया तो वे प्रत्येक मजाक और प्रत्येक प्रशंसा पर एक एक गाँठ उन कन्धों पर पड़े अलग-अलग टुकड़ों पर लगाती जाती थीं। सन्ध्या समय सभी जगह घूम फिरकर लौटने के पश्चात् इन्होंने वस्त्र-विक्रेता को वे दोनों टुकड़े लौटा दिए और तौलने के लिए कहा। उनके भार में उन गाँठों से जरा भी अन्तर न आया था। इससे इन्होंने दुनियाँ को

जताया कि ऐसी समता ही मुक्ति प्राप्त करने का उपाय है। मान अपमान की ओर से उदासीन भोली भाली विशुद्ध दृष्टि ही ऐसी सर्वव्यापी चेतना का अधिष्ठान करती है, जिससे कोई कितना ही अहित करे मन विचलित नही होता और न किसी की स्तुति या प्रशसा से ही कुछ असर होता है।

कहना न होगा—लल्लदे उस सिद्धावस्था को प्राप्त हो गई थी जो विकारो से परे परमात्मा से मूक मिलन का अनुभव करती है। पाचभौतिक शरीर, जो वासनाओ एव कुसस्कारो का आगार है और मिथ्याभासो एव क्षुद्रताओ के कारण सर्वोपरि विशुद्ध स्फुरणाओ की अवहेलना करता रहता है, अनेक असाध्य रोगो अथवा व्याधियो से ग्रस्त होने पर भी कितना प्रिय होता है। कारण—मूल से आत्मा की अमरता शरीर में आरोपित कर ली जाती है। जीव समझता है कि शरीर ही आत्मा और सत्य है जिसम आत्मरक्षण की प्रवृत्ति प्रबल होकर उसे चिरकाल तक कायम रखने के लिए प्रयत्नशील बनाती है।

ल्लदे पूछती हैं

'कुसो उड्डित कुसो जागि
कुसो सर् वचि तिलेया
कुसो हरस् (पूजि लागि)
कुसो परम पद् मिलेया॥'

अर्थात् कौन सोया पडा है और कौन जागा हुआ है ? ऐसा कौन-सा जलाशय है जहाँ निरन्तर जलस्रोत प्रवाहित होता रहता है ? मनुष्य हर (शिव) को क्या वस्तु पूजा में भेंट चढा सकता है ? किस शाश्वत परिणाम का अन्तत पहुँचा जा सकता है ?

इसी के समाधान में ल्ल्दे अपने निम्न पद में उत्तर देती है

'मन उड्डि ता अकुल् जागि
दाहुय् पच् इन्द्रिय् चिलेया
पुष्ये हरस् पूजि लागि
एहुय चेतन् शिव् मिलेया॥'

मनुष्य गहरी निद्रा में निमग्न पडा है, परन्तु अब उसे स्वात्म का बोध हो जाता है तो मानो वह जाग जाता है। पच इन्द्रियाँ ही वह जलाशय हैं जो निरन्तर प्रवहमान रहता है। सबसे पवित्र वस्तु जो भगवान् शिव की उपासना में भेंट चढाई जा सकती है वह है अपने अस्तित्व या अहभाव के सर्वान्तर्गत अनुभव का अविनाशी रूप। जिस शाश्वत परिणाम को अन्तत पहुँचा जा सकता है वह है शिवतत्त्व।

ल्लदे ने अपनी अतरग भावनाओ के समक्ष अनेक तर्क उपस्थित किए हैं। कहीं-कहीं अनुभूत भावोन्माद में वे इतनी खो जाती हैं कि ऐसा प्रतीत होता है मानो वे अपने आप से वार्त्तालाप कर रही हैं। उनके एक गीत का भावार्थ है जिसमें उन्होने एक प्रसग का उल्लेख किया है।

'सैयद वाययू नामक फकीर के पास एक बार ल्लदे और कई अन्य शिष्य-शिष्याएँ बैठी थी। अचानक उन्होने प्रश्न किय—सबसे बडा प्रकाश क्या है? सबसे प्रसिद्ध तीर्थ कौन सा है? सबसे पवित्र सम्बन्ध किसमें होता है? सबसे अधिक सुख किसके सहवास से मिलता है? सबसे पहले लल्लदे न फौरन ही उत्तर दिया--सूर्य से बढकर कोई प्रकाश नही है। गंगा से बढकर कोई तीर्थ नही है। भाई जैसा कोई पवित्र सम्बन्ध नही है। पत्नी के सहवास में ही सबसे बडा सुख निहित है। मगर सैयद उनसे सहमत न हुए। उन्होन प्रतिवाद किया—नही, आँखो से बढकर कोई प्रकाश नही है। अपने पैरो की सामर्थ्य से बढकर कोई तीर्थ नही है। जेब की पूँजी से ही सर्वोत्तम सम्बन्ध स्थापित होते हैं? कम्बल की गर्माई से बढकर कही सुख नही है। किन्तु लल्लदे न उनसे हार न मानी। उन्होन पुन उत्तर दिया—भगवद्ज्ञान से बढकर कोई प्रकाश नही है। अचिन्त्य प्रभु प्रम की अनुभूति ही सबसे बडा तीर्थ है। भगवान् का सामीप्य ही सबसे बडा सम्बन्ध है। ईश्वर के भय से ही सबसे बडा सुख मिलता है।'

एसे कितन ही गीत और पद इनके मिलते है जो इनकी स्वानुभूति के प्रसाद है कोरे तर्क की उद्भावना नही। लल्लदे के मर्म को समझन के लिए धार्मिक सकीर्णता से ऊपर उठकर मुक्त मानव भावभूमि पर विचरने की आवश्यकता है। य आत्म-चिंतन में इतनी निरत थी कि अतत इन्होन 'अह ब्रह्मास्मि' का निरूपण किया और सृष्टि में जो कुछ गोचर है उसे भी परमात्मा का ही व्यक्त रूप समझा।

लल्लदे चूँकि ईश्वर की अभय सत्ता के आत्मानद में ही मस्त रहती थी उन्हें लगता था मानो अखिल विश्व से उनकी एकता है। सत्य का आश्रय उनके जीवन में इतना सुस्थिर हो गया था कि स्वजनो द्वारा ठुकराये जाने पर भी राग-द्वेष के क्षुद्र आवेशो से वे जरा भी विचलित नही हुई। अपन आप को भूल भटका कर नही बल्कि उन्होंने अपनी भीतरी शक्ति का सहारा ढूँढ लिया। आत्मविस्मृति में जो पवित्र भावा-तिरेक है जहा कोई शर्त नही, बदले की भावना नही, इसके विपरीत अपने आप को पूर्णतया समर्पित करने की चाह है यही आत्मदान क्रमश इनमें जाग्रत होता गया और आखिर वे उस सतह पर पहुँच गई जहाँ उनका आत्मिक समभाव पूर्ण हो गया और जिसके आनन्दमय कौतूहलो में वे स्वय खोयी रहती थी।

"उत्य रंग्या अर्चने सखर ॥
अथि अल्॥ पल॥ ता अखुर् ॥ हित् ॥
यिद जानक परमो पद ॥ अखुर् ॥
लशे छर् ह्वशे खुश् क्ति ॥"

चल उठ री सखि! पूजा अर्चना की तैयार कर ले। चल उठ, भोग और भेंट की सामग्री सँजो ले। क्या तू परम मोक्ष के दाता प्रणवमन्त्र 'ओम्' को जानती है? क्योकि तुझे शायद यह भी विदित है कि बिना आत्मज्ञान के अर्थात् अन्त करण की वृत्तियो को सत् चित् आनन्द में लय किये बगैर ये तमाम औपचारिकताएँ व्यर्थ हैं। इनस उल्टे हानि होती है।

लल्लदे ने अपनी गूढ, अरूप, यौगिक अनुभूतियों के साथ अपनी गहरी अतर्दृष्टि और स्वात्म को विकसित एव विस्तीर्ण किया। प्राणो की ऊर्ध्वमुखी शक्ति जगाकर और बाह्य निसर्ग को अतश्चैतन्य से सश्लिष्ट कर उन्होने यह समझा कि विश्व के दुख के मूल में किस प्रकार स्वार्थभरे प्रयत्न होते है जहाँ जिन्दगी की हर सांस के लिए सघर्ष करना पडता है और जीवनोपयोगी साधनो को जबर्दस्ती जुटाना पडता है। भौतिक स्वत्वो की प्रतिद्वन्द्विता के लिए एक भयभीत कृपण की भाँति किलेबन्दी करना अथवा भोग प्रधान संस्कार-परम्परा को उजागर करने के लिए स्थूल जड की उपासना किसी भी स्थिति में गर्हित है। ऐसे समाज की परिधि में कैद हो जाना जहाँ कितने ही द्वित्व हो—उन्हे सह्य न था, वे तो उस शुद्ध ऐकान्तिक की अविभाज्य अश थी जहाँ व्यवहार की निर्विकल्पता के कारण चिति की विशेषता है, चरम आनन्दतत्त्व है, सच्चित् की परिणति है और जिसे समरसता व कैवल्य रूप के कारण त्रिगुणातीत सच्चिदानन्द ब्रह्म कहा जाता है। एक बार किसी राह चलती औरत ने लल्लदे से प्रश्न किया—'ऐ बहिन ! तू क्यो ऐसे घूमती है। तुझे शर्म नही आती।' लल्लदे ने उत्तर दिया :

"गुरुन् वान्नाम् कुनो वासुन्
न बाहर दोपनाम् अन्दरय् आसुन् ॥
सोय् गुन् लल्ल् मे वाखु ता वासुन्
तावे ये हयोतुम् नगय् नासुन् ॥"

अर्थात् मेरे आध्यात्मिक गुरु ने मुझे एक अत्यन्त गोपनीय रहस्य बतलाया था—'बाहर से मुख मोड तू भीतर अपने अन्तर को खोज। समस्त प्रेरणाएँ अन्तरात्मा से ही उपजती है।' बस, तभी से मैने इस नसीहत को गाँठ बाँध ली। गुरु का यह उपदेश मेरे भीतर समा गया, अतएव ताण्डव नृत्यमुद्रा में मै सदा विवस्त्र घूमती हूँ।"

लल्लदे का मन्तव्य था कि जब आत्मा के निरन्तर निदिध्यासन से देह बुद्धि से परे बन्धनमुक्त हो जाता है और जीवन-तत्त्व का अनन्त महोदधि उसी में लीन होकर उस महातत्त्व से एकाकार हो जाता है, तब क्षुब्ध या उद्विग्न करने वाली तरगें नही उठती, मनोविकार और कुत्सित वासनाएँ तिरोहित हो जाती है, इन्द्रिय, मन और शरीर की भ्रान्ति या शकाएँ, आत्मोन्नति के मार्ग में बाधक बनकर, पराभूत या विचलित नही करती।

मन के सकल्पात्मक चित्रो के केन्द्रबिन्दु के रूप में किसी मूर्त्त वस्तु की आवश्यकता है, क्योकि चित्त को स्थिर करने के लिए कुछ आधार चाहिए। तब दो ही रास्ते है। एक तो अभीष्ट की आसक्ति का मूलोच्छेद कर अपनी यात्रा के हर कदम को उससे दूर ले जाएँ, दूसरे दृढतापूर्वक अग्रसर होकर उसे ही ध्येय तक पहुँचने का साधन समझें। तब साधन भी उस ध्येय का एक अश बन जायगा अथवा यात्रा का हर कदम ध्येय की सिद्धि का रूप लेता जायगा। परन्तु उक्त दुष्प्रवृत्तियो की अँधेरी घाटी पार करते हुए जब तक ऐसी शक्तियाँ नही जगा ली जाती जो गहन अधकार

में आलोक बिखेरे, तब तक सफलता के उच्च शृंग पर नहीं चढ़ा जा सकता। गिरते-पड़ते, लुढ़कने-फुदकते यदि ऊपर चढ़ते भी हैं तो नीचे कुछ अन्तर पर नगर का प्रकाश, जिसे अभी अभी छोड़कर आए हैं, उसी ओर प्रेरित करता है। चहल-पहल, शोरगुल, हँसी ठहाके, संगीत और मस्तानी तानें कितनी ही मिश्रित ध्वनियों के साथ आकृष्ट करते हैं। तब मित्रों और स्वजनों का भी ध्यान आता है, दुनियाँ की चहल-पहल और आनन्दोल्लास भी मन-पटल पर कौंध जाते हैं, लेकिन सच्चा संकल्प-बल यदि जाग गया है तो भोग्य पदार्थ तुच्छ हैं और अदम्य, अमोघ मनोबल से मार्ग में आने वाली बाधाएँ नष्ट हो जाती हैं।

"कर्म जु कारण चि कुम्भीत्
यव लभक् ॥ परलोकस् ॥ अड्ड ॥
उत्थ खस् ॥ सूर्या मण्डलो चुम्भीत्
तवे चालिय् मरणत्री शड्ड ॥"

अर्थात् कार्य दो प्रकार के हैं—अच्छे-बुरे, पर कारण अनेक हैं जिनसे सद् असद् भावनाएँ उपजती हैं। इन सब बुरी वृत्तियों, कुसंस्कारों और अनिष्टकारी क्षुद्रताओं को विनष्ट करने के लिए कुम्भक योग का अभ्यास कर। दूसरी दुनियाँ में यानी उच्च शृंग पर पहुँचकर ही तू निर्भय और स्वतन्त्र हो सकती है। अतः उठ, आगे बढ़, चढ़ती चली जा और सूर्य-मण्डल को चीर दे। मृत्यु का भय तुझसे तब बहुत दूर भाग जायगा।

"ज्ञान अम्बर पैरोम लल्लि
योम पद् दयोतोम् हृदि अड्ड
काहणो प्रोणोको गरोत्रि लल्लि
कोत् ॥ कासूय् । मरणत्री शड्ड ॥"

अर्थात् ज्ञान के प्रकाश से अपने 'स्व' को आवृत्त कर ले। लल्लदे जो गीत गाती है उसे अपने अन्तर में समो ले। 'प्रणव' की सहायता से लल्ल ने अपने आप को अभिभूत कर लिया है। अलौकिक अन्तर्ज्योति जगा लेने से मृत्यु का भय उससे अब बहुत दूर भाग गया है।

ऊँची से ऊँची अलंघ्य उड़ान भरते हुए लल्लदे ने उस उच्च शृंग की प्रकाशमान अनुभूतियों को नीचे उतारकर भू-वासी मानव-चेतना को भी उस योगामृत का पान कराया है जो उनके दिव्य अन्तश्चैतन्य का भागवत प्रसाद है। तिस पर एक साधारण साधुनी या जोगिन की सी रस विचारधारा या नसीहत ही उनमें नहीं है, अपितु उनमें कलात्मक अभिव्यंजन और तीव्र प्रेषणीयता भी है। उन्होंने कितनी ही ऐसी धारणाएँ व्यक्त की हैं जो समसामयिक और युगीन हैं। अपनी फक्कड़ तबियत के कारण भाषा और भाव के संस्कार-परिष्कार की उन्होंने अवहेलना नहीं की, बल्कि कहीं-कहीं वे इतनी जागरूक और जिज्ञासु हो उठी हैं कि उन्होंने प्रश्नों की झड़ी-सी लगा दी है।

"ये गुरा परमेश्वुरा
दप्‌म् अन्तुर वित्तो ॥
द्वनवं उपन्याय कन्दपुरा
ह्वह् ॥ कव तुलरो हाह् ॥ कव ततो ।"

अर्थात् आ मेरे गुरु परमेश्वर ! मुझ समझाओ वह गूढ रहस्य, जो केवल आप ही को विदित है। श्वास दो किस्म की है जो अन्तर को चीरती हुई कण्ठ में ध्वनित होती है, फिर वहीं एक 'आह' सर्द क्यों और दूसरी 'आह' तप्त क्यों होती है ?

इसी का समाधान करती हुई वे अपने इस पद में कहती हैं -

"नाभिस्थान् ॥ क्रियी प्रक्‌त् जलवन्यी
होलोस तो क्योयी इमुर् सुलो ॥
मानसमण्डल् ॥ नद वहवन्यी ॥
ह्वह् तव तुलरो हाह ॥ तव ततो ॥"

नाभि-प्रदेश स्वभावत भयकर गर्म है, वहीं से तप्त वायु टकराकर कण्ठ में ध्वनित होती है और मुख से 'आह' बनकर फूटती है, किन्तु वहीं ब्रह्मरन्ध्र से छल-छलाते प्रवहमान शीतल जल के संयोग से सर्द बनकर मुख से सुख शान्ति की वर्षा करती है। यही कारण है कि 'आह' सर्द और तप्त दोनो होती है।

एक अन्य पद में—

"कल्ना काल फाजी पिद् ॥ विगलो ॥
कन्दिव् ॥ गेह ॥ कन्दिव् वनवास् ॥
जानीत् ॥ सर्वगत् ॥ प्रभू ॥ अगलो ॥
यीयोय् जानक् ॥ तीयोय् आस् ॥"

अर्थात् यदि कालान्तर में तूने अपनी शरीरजन्य वासनाओं का दमन कर लिया तो तू घरेलू जीवन पसन्द करेगी या वनवास ? यदि तेरी समझ में यह अच्छी तरह पैठ जाय कि प्रभु सर्वगत और कल्याणमय है तो ज्यो-ज्यो तेरी सहनशक्ति दृढ़, पवित्र और अजेय होती जायगी, त्यो-त्यो तेरा अन्तर-बाहर अलिप्त रहकर अद्भुत आत्म-सन्तृप्ति प्राप्त करेगा।

लल्लदे के अन्तर का सत्य है ज्ञान में अद्वैत तत्त्व और कर्म में योग-साधना। इस तरह की धारणा, जिसमें कि मनुष्य की सर्वोच्च चेतना तक ज्ञानातीत हो जाती है, उनकी रहस्यपूर्ण यौगिक अनुभूतियो की ही उपलब्धि है। एक समग्र पूर्णता—जिसे आत्मा का ऐश्वर्य कह सकते हैं—उन्हें अपनी योग-साधना से उपलब्ध हुआ था—वह भी जड रूप में नहीं, सात्विक सजग रूप में, क्योंकि बहुत पहले ही गार्हस्थ्य जीवन बिताते हुए उन्होंने वास्तविक अनुभूतियो और मन की अछूती ऊँचाइयो में समझौते की अवतारणा अर्थात् अपने भीतर और बाह्य जगत् के बीच एक सन्तोषजनक सम्बन्ध सूत्र की उद्भावना कर ली थी। जीवन बहुत उलझा हुआ और वैविध्यपूर्ण

है। उसकी कारा में बन्दी होकर भी यदि सच्चे मानों में मुक्त होना है तो स्व-स्थित सिद्धान्तों के द्वारा ही उन्हें पूर्णता देनी है। एक स्थल पर वे कहती हैं :

"शिव शिव करान्त यमी लोयो
चव्यीस ।। भयु भङ्ग ।। ता द्रत्
यमी अद्वम् ।। मन् ।। सम्पन्नो
तमी प्रसन्नो सुरगुरनाय् ।।"

अर्थात् जो सदैव उठते-बैठते 'शिव शिव' रटता है और भीतर मन में 'सोहम्' जगा लेता है वह चाहे रात दिन संसारी कार्यों में व्यस्त रहे उसकी द्वैत बुद्धि सर्वथा नष्ट हो जाती है। तब अपनी आत्मा में ही वह प्रभु की असीम कृपा का आभास पाता है।

अन्त में जो ज्ञान लल्लदे को हासिल हुआ वह था संकीर्ण स्वत्व की सीमाओं से परे सत्य स्वरूप का बोध। इससे उन्हें एक नई शक्ति और नई अन्तर्दृष्टि मिली। दरअसल, विश्व चेतना की कुंजी आत्म चेतना है। आत्मचेता व्यक्ति की प्रवृत्तियाँ दैहिक चेष्टाओं की संकीर्ण परिसीमा में बन्दी नहीं रह सकती। उसके भीतर जो है उसी असीम को वह बाह्य समता की परिधि में पा लेने की चेष्टा करता है। किन्तु यह अन्तर्ज्ञान बाहरी प्रयत्नों से नहीं, उसके अपने भीतर ही अमर आस्था के ऐसे दीप से जगमगाता है जो सदा विस्तीर्ण असीम को आलोकित कर गतिशील बनाये रखता है। लल्लदे का इस तरह का विवेक जीवन के अधिक सच्चे दर्शन द्वारा प्राप्त हुआ था, *यही कारण है कि इस दर्शन में उन्हें वर्तमान का ही नहीं,* वरन् उस परोक्ष का भी दर्शन हुआ था जिसके केन्द्रस्थ सत्य की प्रतीति हमें आज तक उनकी वाणी द्वारा होती है।

सुभद्राकुमारी चौहान का वात्सल्य

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान के हृदय में उठने वाली भाव-लहरियों को मथकर जो निरीह मात्सल्य और कभी न श्रांत होने वाली आनन्दमयी पुलक उनकी कविता में प्रकट हुई है उसमें आज भी जीवनी-शक्ति के कण छलक-छलक कर मन को आप्लावित कर लेते हैं। उनमें जो सहज बाल-रुचि की मर्मस्पर्शी रसलीनता है वह द्वन्द्वात्मक बोध अथवा किन्हीं खास मन्तव्यों की आरोपित औपचारिकता नहीं, अपितु वात्सल्य-वर्णन में उनकी गहरी आत्मीयता एवं मर्माहत भावप्रवणता के अन्तरंग आवेग का परिणाम है। उनकी प्रसिद्ध पंक्तियाँ

"मैं बचपन को बुला रही थी
बोल उठी बिटिया मेरी
नन्दन वन सी फूल उठी,
यह छोटी सी कुटिया मेरी।।"

वस्तुत बचपन की कल्पना में कवयित्री का निज का अनुभव अन्तर्हित है। जिन्दगी अपने सुख-दुख, हँसी-खुशी और आँसुओं समेत भले ही प्यारी हो, पर कवयित्री की वे अल्हड़ घड़ियाँ न कभी फिर लौटकर आती हैं और न कभी हृदय को गुदगुदाने वाला वैसा आनन्द ही बिखेरती है।

"बार-बार आती है मुझको
मधुर याद बचपन तेरी।
गया ले गया तू जीवन की
सबसे मस्त खुशी मेरी।।"

जीवन की चित्र विचित्र, नित-नई अगणित अनुभूतियों के साथ जो बचपन की तरंगित स्मृतियाँ उभर आती हैं उनसे अंतर्प्राणों के तार झनझना *उठते हैं। कैसी होती है यह अनुभूति जो अनायास जादू की मोहिनी सी डाल देती है?* कवयित्री जब बहुत छोटी थी—अबोध शिशु—तब की अनिर्वचनीय पुलकभरी सुधियाँ उसे जाग्रत स्वप्नवत् अथवा प्रत्यक्ष सत्य सी भासने लगती हैं। एक बार नहीं अनेक बार बाल्यावस्था के ऐकान्तिक दृश्य उसके स्मृति-पटल पर कौंध जाते हैं।

"चिन्ता रहित खेलना खाना
वह फिरना निर्भय स्वच्छन्द।
कैसे भूला जा सकता है
बचपन का अतुलित आनन्द॥
ऊँच-नीच का ज्ञान नहीं था
छुआछूत किसने जानी?
बनी हुई थी वहाँ? झोपड़ी—
और चीथड़ों में रानी॥
किये दूध के कुल्ले मैंने
चूँस अँगूठा सुधा पिया।
किलकारी किल्लोल मचाकर
सूना घर आबाद किया॥
रोना और मचल जाना भी
क्या आनन्द दिखाते थे?
बड़े बड़े मोती से आँसू
जय माला पहनाते थे॥'

बच्चे के रोने से माता का हृदय करुणार्द्र हो उठता है। वह चाहे कुछ भी करती हो सारा काम धाम छोड़ कर उसे हृदय से लगाकर पुचकारती है और उसके अश्रुकणों को अपने स्नेह सुधारस से सींचकर सुखाता है। बाल-क्रीडाओं में कितना चापल्य, कितना मुग्ध और विभोर करने वाला आनन्द उमडता रहता है—यह निम्न पंक्तियों में देखिए

"मैं रोई माँ काम छोड़कर
आई मुझको उठा लिया।
झाड़-पोंछ कर चूम चूम
गीले गालों को सुखा दिया॥
दादा ने चन्दा दिखलाया
नेत्र नीर युत दमक उठे।
धुली हुई मुस्कान देखकर
सबके चेहरे चमक उठे॥'

यद्यपि यौवन की मादक तरलता और रूप-रस की आसक्ति बढ़ती वय के साथ नय-नय विकसित और परिवर्तित रूप धारण करती गई है, किन्तु वार्धक्य की करुण शिथिलता और एकाकीपन का मार्मिक विषाद बाल्यावस्था की अल्हड मस्ती को ग्रस लेता है। उस समय कवयित्री को लगता है मानो उसके सुख का साम्राज्य छिन्न भिन्न हो रहा है और वह लूटी हुई और ठगी हुई जवानी की राह बढ़ रही है। यों एक सुखद कम्पन के साथ सूक्ष्म और रहस्यात्मक अनुभूतिशीलता में उसके

भीतर की तन्मयता एकात्म्य होती जा रही है, फिर भी सारी चपलता और मन का उल्लास बुझा हुआ सा लगता है। जीवन की विवश अंगीकृति तो है, पर यौवनावस्था के विचित्र कौतूहल और असाधारणता ने निस्सग मानसिक ऊहापोह एव अन्यमनस्कता में लघु वयस की विकासमान उद्दाम धारा के वेग को मानो अवरुद्ध सा कर लिया है। एक अनबूझ, गोपनीय मन स्थिति में उसके हृदय में चुभन सी पैदा होती है जो व्यथा पहुँचाया करती है और जिसके प्रति कवयित्री ने गहरे प्रतिवाद का भाव व्यक्त किया है

"लाजभरी आँखें थी मेरी
मन में उमग रँगीली थी।
तान रसीली थी कानों में
चचल छैल छबीली थी॥
दिल में एक चुभन सी थी
यह दुनिया अलबेली थी।
मन में एक पहेली थी
मै सब के बीच अकेली थी॥
मिला, खोजती थी जिसको
हे बचपन ? ठगा दिया तू ने।
अरे ! जवानी के फन्दे में
मुझको फँसा दिया तू ने॥"

दैनिक जीवन के सघर्ष और विक्षेप, घर गृहस्थी की अगणित समस्याएँ और परस्पर विपरीत तथा द्वन्द्वात्मक परिस्थितियों के कारण मन कितना चिन्तित और दुर्वह भार से दबा रहता है। परन्तु सुभद्रा जी ने गृहस्थी को कभी जजाल नहीं माना, क्योंकि नारी के यथार्थ रूप की व्यजना पहले पत्नी, फिर माँ में होती है। महामहिम जननी के रूप में तो उसका सर्वोत्कृष्ट अलौकिक रूप प्रस्फुटित होता है। सन्तान उसके व्यक्तित्व की पूरक है अर्थात् पति पत्नी के सानन्द समन्वय का मूर्तिमान प्रतीक, उनके परस्पर विश्वास एवं ममत्व का हेतु और उनके जीवन के हर सघर्षजन्य क्रिया-कलाप का मूलाधार। बचपन की नैसर्गिक विश्रान्ति, भोली भाली मधुर सरलता और निष्कपट जीवन की याद मन के सन्ताप और असन्तोष पर मरहम का काम करती है :

"आ जा बचपन ! एक बार फिर
दे दे अपनी निर्मल शान्ति।
व्याकुल व्यथा मिटाने वाली
वह अपनी प्राकृत विश्रान्ति॥"

चूँकि कोमलता और एकनिष्ठ सरक्षण ही मातृत्व-प्रेम के अत प्राण का केन्द्र-

बिन्दु है अतएव नारी के चरित्र-योग की सात्विकता के सन्दर्भ में 'माँ' का रूप ही उसकी भौतिक साधना की चरम परिणति और अनन्त व्यापक रसतत्त्व के समन्वय की सतत चेष्टा है। युगों की ठोस चट्टानों पर जो उसके पदचिन्ह अंकित हुए हैं वे वैसे ही—भिन्न स्तरों में—जाने-पहचाने से लगते हैं और यद्यपि आज जीवन का रूप बहुत कुछ बदल गया है पर माँ के हाड-मांस के शरीर मज्जक भौतिक व्यवधान की विशुद्ध कसौटी ज्यों की त्यों की है।

कवयित्री के हृदय को विलोडित करने वाली मनोव्यथा, तर्क-वितर्क, चिन्ता, आशका और औत्सुक्य का जब ज्वारभाटा सा जगता है तभी उसकी नन्ही बिटिया यह स्वप्न भग कर देती है। वह मिट्टी खाने के पश्चात् अपनी माँ को भी उसका स्वाद चखाने आई है। कवयित्री को तब ऐसा प्रतीत होता है मानो वह स्वयं बच्ची बन गई है और पुत्री के रूप में उसी का बचपन साकार हो उठा है :

'माँ ओ' कह कर बुला रही थी
मिट्टी खाकर आई थी।
कुछ मुँह में कुछ लिए हाथ में
मुझे खिलाने आई थी॥
पुलक रहे थे अंग, दृगों में
कौतूहल था छलक रहा।
मुँह पर थी आह्लाद-लालिमा
विजय-गर्व था झलक रहा॥
मैंने पूछा "यह क्या लायी ?"
बोल उठी वह "माँ, काओ।"
हुआ प्रफुल्लित हृदय खुशी से
मैंने कहा "तुम्हीं खाओ।"
पाया मैंने बचपन फिर से
बचपन बेटी बन आया।
उसकी मंजुल मूर्ति देखकर
मुझ में नवजीवन छाया।"

बालिका का निश्छल प्यार माता के स्नेहविगलित हृदय में कितना अटूट साहस और आत्मिक शांति उत्पन्न करता है। वह उसके साथ खेलती है, खाती है, तुतलाती है और स्वयं बच्ची बन जाती है। वह अपने स्नेहांचल में उसे समेट लेना चाहती है जहाँ प्रेम और करुणाविगलित वात्सल्य के साथ-साथ शिरा शिरा में प्राण धारा स्पंदित हो रही है। *माँ के उत्तरदायित्व निभाने में उसे एक नया अर्थ मिल* गया है मानों जिस बचपन को वह वर्षों से खोज रही थी वह उसकी अपनी बच्ची के रूप में लौट आया है।

"मैं भी उसके साथ खेलती
खाती हूँ, तुतलाती हूँ।
मिलकर उसके साथ स्वयं
मैं भी बच्ची बन जाती हूँ॥
जिसे खोजती थी बरसों से
अब जाकर उसको पाया।
भाग गया था मुझे छोड़कर
वह बचपन फिर से आया॥'

एक अन्य स्थल पर इसी भाव को व्यक्त करती हुई सुभद्रा जी लिखती हैं :

'बीते हुए बालपन की यह
क्रीडापूर्ण वाटिका है।
वही मचलना वही किलकना
हँसती हुई नाटिका है॥'

माता का हृदय विधाता ने किन स्वर्गीय उपादानों और दिव्य वृत्तियों को लेकर निर्मित किया है और न जाने कैसे संतति-प्रेम का आकर्षण मन प्राण को एक अभिनव मोहजाल में आबद्ध सा कर लेता है। एक कैसी विचित्र भावोन्मादना सी मस्तिष्क की शिराओं को अभिभूत सी कर लेती है कि जिसमें माँ का व्यक्तित्व उसके बच्चे के द्वारा अभिव्यंजना का मार्ग पाता है। बालक उसके आदर्शों का प्रतीक और सुख-सौभाग्य का पूरक है। कवयित्री के मानस लोक में दिवा स्वप्नों, रंगीन कल्पनाओं और भावुकतामयी प्रेम संवेदनाओं के समुद्भव के साथ साथ अपत्य स्नेह का वरदान सा वह पुनीत वत्सल प्यार पनप रहा है जिसने उसे प्यार की तन्मयता और आत्मा की विशालता प्रदान की है। वह माँ का अखण्ड विश्वास लिए आप्लवनकारी आतुरता और संयत औत्सुक्य के साथ स्नेहस्लथ, शीतलस्निग्ध प्यार की थिरकती हल्की छायाओं को मन में उतार ऐसे कितने ही चित्र प्रस्तुत करती है जिनमें वात्सल्य की कोमलता और मातृ-हृदय के दुर्लभ भावरत्न छिपे पड़े हैं।

'यह मेरी गोदी की शोभा
सुख सुहाग की है लाली।
शाही शान भिखारिन की है
मनोकामना मतवाली॥
दीपशिखा है अन्धकार की
घनी घटा की उजियाली।
ऊषा है यह कमल-भृंग की
है पतझड़ की हरियाली॥
सुधा धार यह नीरस दिल की

मस्ती मगन तपस्वी की।
जीवन ज्योति नष्ट नयनों की
सच्ची लगन मनस्वी की॥"

यहाँ तक कि बालिका का रुदन भी उसे नहीं अखरता, इसके विपरीत उसके नन्हे से ओठ, लम्बी सिसकी, अश्रुबिंदु और करुण दृष्टि से माँ का हृदय गद्‌गद हो उठता है। वह समझती है उसका अपना कोई अंश है, उसके अवस्थान का स्थूल प्रतिरूप--जिसे उसकी आवश्यकता है, जिससे उसका घनिष्ट नाता है।

"मैं सुनती हूँ कोई मेरा
मुझको कहीं बुलाता है।
जिसकी करुणापूर्ण चीख से
मेरा केवल नाता है॥'

सुभद्रा जी ने बाल चेष्टाओं का भी बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन किया है। 'पतंग' पर लिखी एक कविता में

'लाल लाल हैं, हरे हरे हैं
पीले और चाँद तारा।
धेले वाला भी पतंग माँ
लगता हमें बहुत प्यारा।
पैसे वाला ले दो माँ या
धेले वाला ही ले दो,
क्यों देरी करती जाती हो
चलो उठो पैसे दे दो॥"

इस प्रकार माँ की जीवंत रागात्मकता से इनकी वैयक्तिक निष्ठा का एकात्म्य, अविच्छिन्न सम्पर्क आज तक अटूट बना हुआ है। महा भाग्यशीला नारी का रूप, जिसके जीवन की पूर्णता माँ बनने में है इनकी कविताओं में अत्यंत सरल सहज रूप में व्यक्त हुआ है। आने वाली पीढ़ियाँ माँ की आस्था और प्राणवत्ता को क्या कभी खंडित होने देंगी? माँ के समूचे विकसित व्यक्तित्व में सदृश विभक्त व्यक्तित्वों के सश्लेष का सहज समाहार हो सकता है अर्थात् समस्त दायित्वों का स्वीकरण या उनकी परिपूर्ति। सुभद्रा जी ने जो कुछ भी लिखा वह माँ के रूप में युगान्तव्यापी जीवन की एक ऐसी अभिन्न इकाई है जिस में सदैव निःश्रेयस की प्राप्ति का आनन्दोल्लास है और जहाँ आत्म् की रंजनकारी प्रवृत्ति को बाँधकर वे अपने समन्वित भाव और प्रभाव से चिर चिरान्त तक जनता जनार्दन के समक्ष निवेदित होती रहेंगी।

"बिखरे बाल विरस बदना सी
आँखें रोई रोई - सी।
गोदी में बालिका लिये,
उन्मन सी खोई खोई सी।"

महादेवी की काव्य-साधना

साहित्य और कलानुरागियों को महादेवी जी से प्रायः शिकायत रही है कि उनके कृतित्व में सामाजिक संघर्ष, हलचल एवं वैषम्य के घात-प्रतिघातों की सीधी और निर्बाध अभिव्यक्ति न होकर उनके अपने ऐकान्तिक जीवन की पूर्णता के उत्प्रेरक चित्र हैं जो एक खास क्षितिज पर हल्की, धूमिल रेखाओं में रूपायित होकर ढले हैं। जहाँ तक महादेवी जी की कविता का प्रश्न है, बात कुछ हद तक सही कही जा सकती है। जीवन के बाह्य विरोधी वैविध्य में भीतर ही भीतर कुंठित रह कर और पीड़ा को आत्मसात् करके वे जिस अवचेतन स्थिति में अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्त होती रहीं वह स्पष्ट और बहिर्गत न होकर बहुत कुछ कल्पनामय और मनोमय हो उठा। स्वच्छन्द विचारधारा और नैतिक आतंक से सहम कर ज्यों-ज्यों उनकी प्रकृत भावनाओं का संयम और गोपन होता गया, त्यों-त्यों स्थूल के प्रति उनका आग्रह कम होकर एक अस्पष्ट कौतूहल में परिणत होता गया और वे छायावाद की झिलमिल छाया में जैसे आँखमिचौनी सी खेलती रहीं।

> 'उसमें हँस दो मेरी छाया,
> मुझमें रो दो ममता माया,
> अश्रु हास ने विश्व सजाया,
> रहे खेलते आँखमिचौनी।'

वस्तुतः कविता में महादेवी के अन्तःस्वर प्रकृत रूप में कम ही झंकृत हुए हैं। कवयित्री की तरल, सूक्ष्म कोमल अनुभूतियाँ जीवन के जिस सत्य को लेकर प्रकट हुईं, वे चिंतन तक ही सिमट कर रह गईं, कर्म की प्रत्यक्ष प्रेरणा न दे सकीं। जिस सीमा-रेखा के भीतर जीवन अनेक बाधाओं से घिरा है उसे लाँघकर भीतर आने में कवयित्री को जैसे भय लगता है। जीवन की चाह जगते ही वह सहम कर ठिठक जाती है और स्थूल से उठकर सूक्ष्म सौंदर्यानुभूति में प्रश्रय पाती है।

> 'कौन मेरी कसक में नित
> मधुरता भरता अलक्षित ?
> कौन प्यासे लोचनों में
> घुमड़ घिर झरता अपरिचित ?

स्वर्ण-स्वप्नों का चितेरा
नींद के सूने निलय में
कौन तुम मेरे हृदय में ?'

महादेवी जी को जीवन में पीडा की बडी ही तीव्र अनुभूति हुई है, किंतु इस पीडा में भी वे एक प्रकार का आनन्द अनुभव करती हैं। उनकी कविता की अनेक पंक्तियाँ बतलाती हैं कि वे पीडा से छुटकारा नही चाहती, वरन् अन्य किसी भी वस्तु से यह उन्हें अधिक प्रिय है।

प्रश्न है, यह पीडा की अनुभूति कैसी–जिससे छुटकारे की इच्छा न की जाय ? उनका अभाव भरा सा लगता है और रोने की चाह रखते हुए भी उनके प्राणों में पुलक है। इस जिज्ञासा के समाधान में हम कहेंगे कि उनकी पीडा या अतर्व्यथा भावना की तरलता में डूबी अलक्ष्य ऊहापोह की सहज तृप्ति अथवा रागात्मक प्रवण है जिसमें उतनी मार्मिकता और विह्वलता नही है जितनी पीडा के मूल में अपेक्षित है। पीडा कवयित्री के मन की वह मधुर स्निग्धता है जो गीतों में उभर कर किन्हीं अस्पष्ट उमगों और धुंधले आवेगों की धूमिलता में फैल जाती है, जिसे ठीक ठीक पकडा नही जा सकता, आँका नही जा सकता। शब्दों के माध्यम से इतनी सूक्ष्म मन स्थिति को व्यक्त कर पाना सभव ही कैसे है, अतएव उनकी अभिव्यक्ति में वह दर्शन और दाह नही है जो अपने अस्तित्व से घबरा कर मध्याह्न की प्रखरता को ज्योत्स्ना की शीतलता और भीतर के कोलाहल को शान्ति में परिणत कर देने की ख्वाहिश करे। वे तो अपनी पीडा, छटपटाहट और बेचैनी को ज्यों का त्यों अक्षुण्ण बनाये रखना चाहती हैं।

'मैं पुलकाकुल,
पल पल जाती रस सागर ढुल,
प्रस्तर के जाते बन्धन खुल,
छूट रही ध्यथा निधियाँ नव-नव।'

पीडा महादेवी के जीवन की सक्रिय पूरक है। उसमें वह व्यापक रसात्मक आवेग है (कचोट नही) जो एक छोर से दूसरे छोर तक सव्याप्त होने की क्षमता रखती है। इस स्थिति में कवयित्री कभी-कभी इतनी ऊँची सतह पर उठ जाती है कि पीडा, वेदना और विवशता में उसकी भावनाओं का तादात्म्य सा हो जाता है।

"प्रिय सान्ध्य गगन, मेरा जीवन !
यह क्षितिज बना धुंधला विराग,
नव अरुण अरुण मेरा सुहाग,
छाया सी काया वीतराग,
सुधि भीने स्वप्न रँगीले घन
साधों का आज सुनहलापन,
घिरता विषाद का तिमिर गहन

संध्या का नभ से मूक मिलन
यह अश्रुमती हँसती चितवन।"

महादेवी का हृदय मार्मिक संवेदना से आप्लुत है जिसका मूल उत्स है प्रेम। आतरिक तन्मयता और आकुल आवेग के कारण उनकी अन्तर्दृष्टि खुल गई है, पर इनका उक्त प्रणयोन्माद अतीन्द्रिय अनुभूति से परे सर्वतोभावेन आत्मार्पण की निष्काम विह्वलता में खो जाता है जहाँ अन्तरात्मा की गहराई में असीम व्याकुलता छिपी पडी है। प्रेम-साधना दुस्तर तपस्या में परिणत होकर आन्तरंति के उस चरम विन्दु पर पहुँच गई है जहाँ छिटली कामनाओ को समेटकर उसकी पूर्णानुभूति की सार्थकता है और इस एक प्रेम से उसके आगे अनन्त प्रेमपिपासा जगती है।

"जीवन है उन्माद तभी से
निधियाँ प्राणो के छाले
माँग रहा है विपुल वेदना
के मन प्याले पर प्याले।"

प्रेम विह्वलता का ऐसा भावावेग —चाहे वह लौकिक हो अथवा पारलौकिक —एक ऐसी विगलित प्रेम-साधना की तल्लीनता जगाता है जहाँ वेदना से अभिषिक्त और हृदयरस से प्लावित प्रेमाकुर शाश्वत प्रेम पिपासा के महान् महीरुह में लह-लहा उठता है

'है युगों की साधना से
प्राण का क्रदन सुलाया,
आज लघु जीवन किसी
निस्सीम प्रियतम में समाया!'

इसी 'निस्सीम प्रियतम' का मोहक, स्नेहार्द्र रूप जो कवयित्री के कल्पना-पट पर अंकित हो गया है उसी के प्राणरस से मानो वह ओतप्रोत हो रही है, उसका प्रत्येक नि श्वास उसी से सुवासित है और उसके कोमल सस्पर्श से वह मानो अभि-भूत और आविष्ट सी है। सर्वात्मरूपेण वह उसमें लय होना चाहती है, उसके जीवन में अपने जीवन का राग और मूक सवेदन उँडेलने की आकाक्षा रखती है, फलत दर्द और कसक की सँजोयी अनुभूतियो में वह यत्र-तत्र तदाकार हुई सी लगती है.

'चित्रित तू, मैं हूँ रेखा क्रम,
मधुर राग तू, मैं स्वर सगम,
तू असीम, मैं सीमा का भ्रम,
काया छाया में रहस्यमय!
प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या?'

यही कारण है कि उनका व्याख्यातीत दर्द व्यक्तिपरक होता हुआ भी समष्टिपरक है। विभिन्न मन स्थितियो के बीच उसका सघर्षरत रूप बडे गहराई

और मार्मिकता से उभरा है। पलायन उसमें है, पर निवृत्तिद्योतक जडता नही। इसके विपरीत पूर्ण मनोयोग से उसकी सापेक्ष्य भावस्थिति को बडे कौशल से ग्रहण किया है। कही-कही उसमें निहित गहरे सकेतो को इतनी तीव्रता और स्थिरता के साथ आँका गया है कि उसकी अव्यक्त और गूढातिगूढ उपलब्धियो की न केवल मार्मिक व्यजना हुई है, अपितु उसमें सौन्दर्य और मागल्य की प्रतिष्ठा भी की गई है।

महादेवी की उक्त मार्मिक प्रखरता इतनी वैविध्यपूर्ण है कि उसकी विधाओं में उनके मानसिक ऊहापोह के अगणित बिम्ब-प्रतिबिम्ब उभरे है। कही स्वप्निल छाया में आवेष्टित विवशता, क्रन्दन और कुण्ठाओं की निर्द्वन्द्व अवतारणा है तो कहीं उनकी उदात्त भावस्थिति दर्शन की गरिमा में लिपटी-चिपटी प्रवृत्त अनुभूतियो में मानवेतर होकर सूक्ष्म सौन्दर्यबोध की सघन अनुभूति में लय हुई सी लगती है। यह सघन अनुभूति कवयित्री की आन्तरिक पीडा के योग से कही-कही इतनी सक्रामक हो उठी है कि उसके आहत क्रन्दन की अनुगूंज अथवा भीतरी अवसाद के कुहासे में दबी पडी राशि-राशि भावलहरियाँ हुमककर झलकें मारती है और उसके ऐकान्तिक व्यष्टिभाव को सार्वजनीन, तो कभी दार्शनिक चिंतन की कुंठा से भर देती है :

'मुसकाता सकेत भरा नभ
अलि क्या प्रिय आने वाले है !
नयन श्रवणमय श्रवण नयनमय
आज हो रही कैसी उलझन
रोम रोम में होता री सखि
एक नया उर का सा स्पन्दन !
पुलकों से बन फूल बन गये
जितने प्राणों के छाले है।"

प्रेम-तत्त्व का प्राधान्य होने से महादेवी के काव्य में विकास की एक स्पष्ट अन्तर्धारा दीख पडती है। दृश्यमान पदार्थो के वास्तव और बाह्य रूपो की अवहेलना कर वे अपने भीतर के सौन्दर्य को उपलब्ध करने में सदैव सचेष्ट है। भौतिक जगत् की कर्दयता जैसे उनकी दृष्टि, मन और प्राणो को स्पर्श तक नही करती। उषा की आलोक भरी आभा में कभी उनके प्राण गा उठते है और कभी सध्या की अवसादमयी घनता में सिहर उठते है। उनके छन्दोमय अन्तर में शिशु का सा निरीह सारल्य है जो इन्द्रधनुष की रजित शोभा के असख्य बुलबुले आसमान में बनते-मिटते देखता है और जिसके मन की विचित्र उमग, कौतुक की रगीनी और आनन्द की पुलक कभी शान्त होना नही जानती। दूर—बहुत दूर—असीम शून्य का मूक मौन जब कवयित्री के मन के क्षितिज पर उद्भासित हो उठता है और किसी भी तरह स्पष्ट-अस्पष्ट रूप में वे उसे अपनी कल्पना और सूझ के भावडोरो से बाँध रखना चाहती है तो उनके अन्तरस्थ के किसी सुदूर, भीतरी कोने में उदासी उभर आती है और एक हल्का सा, अजीब सा बोझ छा जाता है। नीरव, एकान्त वाता-

करण में सृष्टि के विराट् और चरम सुन्दर रूप को निरखने की अदम्य चेष्टा में वे खोयी सी अवाक् बैठी रह जाती हैं और घनी गहरी वेदना में उन्हें एक चुटीली मिठास का अनुभव होता है। कभी उनका मन किसी अज्ञात वस्तु के साक्षात्कार की लालसा में तड़प उठता है, कभी जीवन की वृहत्तम शून्यता उन्हें अखरने लगती है और कभी अन्तर्पट पर किसी निर्मम की चाह मचल उठती है, अधरों पर अनुराग बिखर जाता है और नयनों में विरह की छाया छटपटा उठती है

'अपनी लघु निःश्वासों में
अपनी साधों की कम्पन,
अपने सीमित मानस में
अपने सपनों का स्पन्दन।
मेरा अपार वैभव ही
मुझसे है आज अपरिचित,
हो गया उदधि जीवन का
सिकता-कण में निर्वासित।'

किन्तु कवयित्री की सृजन शक्ति का यह अपरिचित अपार वैभव कभी चुक नहीं पाता, उनकी अभिव्यंजना का आवेग कभी थकना नहीं जानता। उसके भीतर कला-साधना की ज्योति उत्तरोत्तर दीप्त होती रही है और इसी आलोक ने उसे बाहर के अँधेरे की उपेक्षा करने की सामर्थ्य दी है।

महादेवी के काव्य में एक स्वप्निल मानसिक वातावरण और व्यथा का सम्मोहन है। प्रणयोन्माद और अन्तःसौन्दर्य की अभिव्यक्ति में उनके भाव जितने ही अन्तर्गूढ़ होते गए हैं उनकी भावाभिव्यंजना की कला भी उतनी ही सघन और दार्शनिक रहस्यात्मकता से आच्छन्न होती गई है। कौतूहल के बाद जिज्ञासा आई, फिर रंजित कल्पना और अन्ततः कोमलतम सूक्ष्म सौंदर्य-भावना। उनके अन्तरतम में सहेजे उदास सपने धुँधली सी, मीठी मीठी, मादक उदासी में भरकर कविता में उभरे। माधुर्य की गूढ़ अनुभूति में सौंदर्य का उनका आकर्षण उत्तरोत्तर अन्तर्मुखी होता गया और वास्तविक अनुभूतियों के गूढ़तम स्तरों में छिपी आन्तरिक उथल-पुथल को उन्होंने विविध रंगों, ध्वनियों और असाधारण लयमयता में झंकृत किया। किन्तु उनकी भावधारा में करुण उच्छ्वास, अश्रु और बेबसी की ग्रन्थि है। जीवन के अत्यन्त निकट होकर उनकी दृष्टि यथार्थता की ठोस भूमि पर नहीं, कोमल वस्तु पर टिकती है। उनका प्यार छलकता है, पर रुके जल-प्रपात के सदृश। उनके भीतर कुछ दुराव सा है जो उन्हें यथार्थ के निकट आने से रोकता है और यह दुराव अनजाने में ही क्रमशः बढ़ता गया है। भीतर दर्द है, कुछ अवरुद्ध सा घुमड़ता हुआ उभरता भी है, लेकिन कवयित्री उसे हवा में उड़ाना नहीं चाहती। वह दूरी का स्वांग सा करती हुई आध्यात्मिक पाश में उसे जकड़ लेना चाहती है।

निम्न पंक्तियों में भाव गुम्फन देखिए

'रजत रश्मियों की छाया में धूमिल घन सा वह आता,
इस निदाघ से मानस में करुणा के स्रोत बहा जाता।
उसमें मर्म छिपा जीवन का,
एक तार अगणित कम्पन का,
एक सूत्र सबके बन्धन का,
समृति के सूने पृष्ठों में करुण काव्य वह लिख जाता।'

यो महादेवी के काव्य में एक स्वतन्त्र दर्शन की नियोजना भी है जो निराकार उपासना सूफीवाद और बौद्ध दर्शन से प्रभावित है किन्तु उसे भी एक बौद्धिक प्रयोग ही समझना चाहिए। जहाँ भाव की प्रमुखता में तथ्य दब जाता है वहाँ व्यक्ति जीवन के प्रसार में गहरी लीकें खिंच जाती हैं। महादेवी के काव्य की दार्शनिक गूढ़ता अत्यधिक कल्पनाशीलता, सूक्ष्म चिंतन, संशयात्मक बुद्धि उनकी अपनी अनिर्दिष्ट स्थिति से उत्पन्न हुई है। वह अन्त प्रकृति की ओर से नहीं, बाह्य प्रकृति की ओर से है। इसीलिए उसमें उनका निजत्व डूबता नहीं, वह जैसे अपार्थिव, अज्ञात आलम्बन के सहारे दूर टँगा सा रह जाता है।

महादेवी के काव्य में कहीं कहीं अव्यक्त, असामान्य स्वर सुन पड़ते हैं। निर्वाक् स्तब्ध, वीतराग स्वर जो स्वच्छन्द होकर भी अन्त प्रेरणा के असीम आदेशों में निगड आबद्ध हैं। किसी अज्ञात इच्छा से विह्वल उनके समस्त कृतित्व पर धुँधली सी छाया पड़ी है। दीपशिखा में जहाँ कवयित्री ने गीतों के साथ तूलिका का भी प्रयोग किया है, कल्पना की सूक्ष्मताओं के साथ रंगों का भी अभूतपूर्व सामञ्जस्य हो गया है। उसमें काव्य और कला का नवीन रूपान्तर है, कला की आत्मा का सजीव स्फुरण है और सूक्ष्म रंगों की कलामयता के साथ उनके भावगाभीर्य की अभिनव अभिव्यक्ति है। चित्रों में अगणित सकल्प भर दिए गए हैं और कवयित्री की कला की अन्तरंग साधना गीतों के प्राणों में मुखर हो उठी है।

"किन्तु सच्चे अर्थों में साधक वे हैं जो साधना की निविडता में बाह्य साधनों के ऊपर उठ जाते हैं। मानवीय अस्तित्व अपने भीतर चाहे कितनी ही गहराइयाँ और चाहे कितनी ही महत्ताएँ सन्निहित किए हुए क्यों न हो, इस प्रकार की प्रेमयोग स्थिति सहज सम्भाव्य नहीं है। स्वयं महादेवी जी आधुनिक कवि की भूमिका में लिखती हैं, चिंतन में हम अपनी बहिर्मुखी वृत्तियों को समेट कर किसी वस्तु के सम्बन्ध में अपना बौद्धिक समाधान करते हैं, अत कभी-कभी वह इतना ऐकान्तिक हो जाता है कि अपने से बाहर प्रत्यक्ष जगत् के प्रति हमारी चेतना पूर्ण रूप से जागरूक ही नहीं रहती और यदि रहती है तो हमारे चिन्तन में बाधक होकर।"

बौद्धिक होने के साथ-साथ महादेवी के दार्शनिक चिन्तन में रस सिद्धता अधिक है। उनके काव्य में रागात्मक उद्वेलन है, आत्मानुभूति नहीं। भिन्न भिन्न

रंगों के धूमिल आलोक में आध्यात्मिक-तत्त्व तिरोहित हो गये हैं और अदृष्ट बिन्दु पर उनकी भावनाएँ जैसे जड हो गई है, एकदम सीमित। उनमे फैलाव नही है, नारी के सरल, कोमल पाश को तोडकर वे मानो आगे नही बढ पाती।

गद्य

किन्तु इसके ठीक विपरीत महादेवी जी अपने गद्य में उस रूप का निदर्शन कराता है, जिसमें केवल स्वात्म को गौरव और अनतता प्रदान करने वाले उपकरण ही नहीं, प्रत्युत् हृदय को हिलकोरने वाली प्रेरणा-प्रदायिनी शक्ति है। वे अपने निजी व्यक्तित्व को छोट से छोट इतर व्यक्तित्वों में लय करके अपने दिल और दूसरे के दिलो की बात सुनने और सुनाने को तैयार हैं। उनका गद्य कविता की भांति सौंदर्य के भुलावे में डालकर हमें जीवन से दूर नही ले जाता, वह तो हमारी शिराओ में चेतना भरकर हमें यथार्थ जीवन में झाँकने की प्रेरणा प्रदान करता है। वहाँ साधना और व्यामोह नही है, जीवन के परस्पर पूरक चित्र हैं। आत्मा का सत्य शब्द-शब्द, पंक्ति-पंक्ति में सजीव होकर हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है।

'आज भी जब कोई मरी रगीन कपडो के प्रति विरक्ति के सम्बन्ध में कौतुक-भरा प्रश्न कर बैठता है तो वह अतीत फिर वर्तमान होने लगता है। कोई किस प्रकार समझे कि रगीन कपडों में जो मुख धीरे धीरे स्पष्ट होने लगता है वह कितना करुण और कितना मुर्झाया हुआ है। कभी-कभी तो वह मुख मेरे सामने आने वाले सभी करुण-क्लान्त मुखो में प्रतिबिम्बित होकर मुझे उनके साथ एक अटूट बन्धन में बाँध देता है।'

'स्मरण नही आता वैसी करुणा मैंने कहीं और देखी है। खाट पर बिछी मैली दरी, सहस्रो सिकुडन भरी मलिन चादर और तेल के कई धब्बे वाले तकिये के साथ मैंने जिस दयनीय मूर्ति से साक्षात् किया उसका ठीक चित्र दे सकना सभव नही है। वह अठारह से अधिक की नही जान पडती थी—दुर्बल और असहाय जैसी। सूखे ओठ वाले, साँवले पर रक्त-हीनता से पीले मुख में आँखें ऐसे जल रही थी जैसे तेलहीन दीपक की बत्ती।'

'मुझे आज भी वह दिन नही भूलता जब मैंने बिना कपडो का प्रबन्ध किये हुए ही उन बेचारो को सफाई का महत्त्व समझाते-समझाते थका डालने की मूर्खता की। दूसरे इतवार को सब जैसे के तैसे ही सामने थे—केवल कुछ गगा जी में मुँह इस तरह धो आये थे कि मैल अनेक रेखाओ में विभक्त हो गया था, कुछ ने हाथ पाँव ऐसे घिसे थे कि शेष मलिन शरीर के साथ वे अलग जोड हुए से लगते थे और कुछ 'न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी' की कहावत चरितार्थ करने के लिये मैले से मैले फटे कुरते घर ही छोडकर ऐसे अस्थिपजरमय रूप में आ उपस्थित हुए थे जिसमें उनके प्राण 'रहने का आश्चर्य है गये अचम्भा कौन' की घोषणा करते जान पडते थे।"

('अतीत के चलचित्र' पृष्ठ २८, ६३, ७४)

धूल से मटमैले सफेद किरमिच के जूते में छोटे पैर छिपाये, पतलून और

पैंजामे का सम्मिश्रित परिणाम जैसा पंजामा और कुरते तथा कोट की एकता के आधार पर सिला कोट पहने, उघड़ हुए किनारों से पुरानपन की घोषणा करते हुए हैट से आधा माथा ढके, दाढ़ी-मूँछ विहीन, दुबली नाटी जो मूर्ति खड़ी थी वह तो शाश्वत चीनी है। उसे सबसे अलग करके देखने का प्रश्न जीवन में पहली बार उठा।'

('स्मृति की रेखाएँ' पृष्ठ २२)

आश्चर्य है कि महादेवी जी, जिन्होंने अपनी रंजित कल्पना द्वारा कविता में मनोज्ञ सृष्टि करके असौंदर्य को बहिष्कृत या गौण सिद्ध कर दिया था, वे गद्य में सचेत प्रयत्न द्वारा जीवन को एक पूर्णतर एवं दृढ़तर धरातल पर प्रतिष्ठित कर सकी हैं। वहाँ उन्होंने कलाकार की उस समृद्ध जीवन-दृष्टि को विकसित किया है जो दृष्ट वास्तविकताओं और कल्पनामूलक सम्भावनाओं के साम्य-वैषम्य की विभाजक सीमा मिटा देती है। आतरिक रागातिरेक को उन्होंने अपने तक ही सीमित नहीं रखा, वरन् जिस-तिस व्यक्तित्वों और जीवन की अनन्त जटिल वास्तविकताओं में लय कर दिया है। 'अतीत के चलचित्र' में घीसा के गाँव की गँवई नारियों का कितना सजीव दृश्य चित्रित किया है, जरा देखिए

'दूर पास बसे हुए, गुड़ियों के बड़े-बड़े घरौंदों के समान लगने वाले कुछ लिपे-पुते, कुछ जीर्ण शीर्ण घरों से स्त्रियों का झुण्ड पीतल-ताम्बे के चमचमाते मिट्टी के नये लाल और पुराने भदरंग घड़े लेकर गगाजल भरने आता है, उसे भी मैं पहचान गई हूँ। उनमें कोई बूटेदार लाल, कोई निरी काली, कोई कुछ सफेद और कोई मैल और सूत में अद्वैत स्थापित करने वाली, कोई कुछ नई और कोई छेदों से चलनी बनी हुई धोती पहने रहती है। किसी की मोम लगी पाटियों के बीच में एक अगुल चौड़ी सिंदूर रेखा अस्त होने हुए सूर्य की किरणों में चमकती रहती है और किसी के कड़वे तेल से भी अपरिचित रूखी जटा बनी हुई छोटी-छोटी लटें मुख को घेरकर उसकी उदासी को और भी केन्द्रित कर देती हैं। किसी की साँवली गोल कलाई पर शहर की कच्ची नगदार चूड़ियों के नग रह रह कर हीरे से चमक जाते हैं और किसी के दुर्बल काले पहुँचे पर लाख की पीली मैली चूड़ियाँ काले पत्थर पर मटमैले चन्दन की मोटी लकीरें जान पड़ती हैं। कोई अपने गिलट के कड़े-युक्त हाथ घड़े की ओट में छिपाने का प्रयत्न सा करती रहती है और कोई चाँदी के पछेली-ककना की झंकार के साथ ही बात करती है। किसी के कान में लाख की पैसे वाली तरकी धोती से कभी-कभी झांक भर लेती है और किसी के ढारें लम्बी जंजीर से गला और गाल एक करती रहती हैं। किसी के गुदना गुदे हुए गेहुँए पैरों में चाँदी के कड़े सुडौलता की परिधि सी लगते हैं और किसी की फैली उँगलियों और सफेद एड़ियों के साथ मिली हुई स्याही रांग और काँसे के कड़ों को लोहे की साफ की हुई बेड़ियाँ बना देती हैं।'

('अतीत के चलचित्र' पृष्ठ ७६)

निःसन्देह, मानव-जीवन इतना बिखरा हुआ और विविधता से पूर्ण है कि उसे

देखने-समझने के लिए अजेय चक्षुओं की आवश्यकता है। महादेवी जी ने अतीत की अनगढ, सामञ्जस्यहीन, बिखरी स्मृतियों को सरस विश्वास के सुकोमल धागे में पिरोया है। उन्होंने जीवन में जो कई मोड़, उथल पुथल, आवर्त्तन प्रत्यावर्त्तन और उनसे प्राप्त स्थिर विवेक और स्थिति को परखने वाली आत्म विश्वासमयी दृष्टि-प्रसार की कला सीखी, उससे अपने सपनों के सरल, किन्तु मार्मिक चित्र खींचने में उन्हें पर्याप्त सुविधा हो गई। उनका सरल, तरल, सजीव स्नेह भूखे, नंगे, निराश्रित बालकों को देखकर उमड़ पड़ा और उनका कोमल हृदय अभावग्रस्त, भर्त्सनाओं की शिकार, पीडित, उपेक्षित, पुरुषों द्वारा रौंदी और सामाजिक बन्धनों में जकड़ी नारियों की आशा-निराशा, हास्य-रुदन और अन्तर्बाह्य ऊहापोहों से द्रवित हो उठा। जहाँ कहीं उन्हें परवश असहाय विधवाएँ अथवा कुसुमकली सी कोमल अल्पवयस्का पति-विहीना, किन्तु किसी युवक की विकृत वासनाओं की शिकार, अवैध संतति से विभूषित कोई किशोरी बाला दीख पड़ी, वहीं उनके भीतर का तकाज़ा और भी अधिक दुर्दम्य, कठोर आत्मवेदना से प्रताडित होकर प्रकट हुआ।

'यदि यह स्त्रियाँ अपने शिशु को गोद में लेकर साहस से कह सकें कि 'बर्बरो, तुमने हमारा नारीत्व, पत्नीत्व सब ले लिया, पर हम अपना मातृत्व किसी प्रकार न देंगी' तो इनकी समस्याएँ तुरन्त सुलझ जावें।'

न केवल उपेक्षिताओं, परित्यक्ताओं, विधवाओं और अवैध सन्तान वाली माताओं के प्रति उनकी असाधारण करुणा और सहानुभूति जाग्रत हुई, अपितु पुरुषों की सम्भोगेच्छा की प्रज्ज्वलित अग्निशिखा बनकर रूप का गर्हित व्यापार करने वाली वेश्याओं तक के प्रति भी उनकी सद्भावना है। असहाय बेबसी और मजबूरी के कारण जिनकी जिन्दगी के मूल्य नित्य घटते-बढ़ते रहते हैं, वे समाज में हेय और पतित समझकर भले ही ठुकरा दी जायें, किन्तु उनके पतन में पुरुष का स्वार्थ और उसके भीतर घुमड़ता हुआ कुत्सित वासनाओं का कसमसाता ऊफान ही सहायक होता है।

'इन स्त्रियों ने, जिन्हें गर्वित समाज पतित के नाम से सम्बोधित करता आ रहा है, पुरुष की वासना की वेदी पर, कैसा घोरतम बलिदान किया है, इस पर कभी किसी ने विचार भी नहीं किया। पुरुष की बर्बरता, रक्तलोलुपता पर बलि होने वाले युद्ध-वीरों के चाहे स्मारक बनाये जावें, पुरुष की अधिकार-भावना को अक्षुण्ण रखने के लिए प्रज्ज्वलित चिता पर क्षण भर में जल मिटनेवाली नारियों के नाम चाहे इतिहास के पृष्ठों में सुरक्षित रह सकें, परन्तु पुरुष की कभी न बुझने वाली वासनाग्नि में हँसते-हँसते अपने जीवन को तिल तिल जलाने वाली इन रमणियों को मनुष्य जाति ने कभी दो बूँद आँसू पाने का अधिकारी भी नहीं समझा।'

('शृंखला की कड़ियाँ' पृष्ठ ११३)

महादेवी जी ने वर्तमान सामाजिक व्यवस्था और परम्परागत संस्कारों पर कहीं-कहीं इतना दारुण आघात किया है कि पाठक तिलमिला उठता है और उनकी अन्तरंग करुणा एवं निर्मम कचोट से प्रेरित गतिशील अभिव्यक्ति को सजीव रंगों में चित्रित

देखता है। कहीं हृदय को द्रवित करने वाली कोमलता है तो कहीं कड़ुवाहट के मन्थन से उत्पन्न वज्राघात। अप्रतिहत रूप से इन वज्राघातों ने उनके मर्म को छुआ है, उनकी मार्मिक, तीखी संवेदनाओं को उभाड़ा है और जीवन की समूची सहिष्णुता और हर तरह के अनुभवों की परम्परा में ग्रहण किये व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक अन्तर्साक्ष्य को प्रत्यक्ष किया है। सामाजिक जीवन की गहरी पर्तों को छूने वाली इतनी तीव्र दृष्टि, नारी जीवन के वैषम्य और शोषण को तीखेपन से आँकने वाली इतनी जागरूक प्रतिभा और निम्न वर्ग के निरीह, सुख साधनहीन प्राणियों का ऐसा हार्दिक और अनूठा चित्रण अन्यत्र कम ही मिलेगा। यथार्थ की ठोस भूमि पर जब कलम चलती है तो उसमें अनुभव की गहराई होती है, आत्म विश्वास की सक्रिय सजगता निवास करती है, उसमें टीस होती है मिठास होती है चिरन्तनता साँस लेती नजर आती है। महादेवी के 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएँ' और 'पथ के साथी' में उनके सूक्ष्म अन्तर्भाव ऊपरी सतह पर उठने वाली लहरियों की भाँति नहीं, वरन् अतल के गहन-गम्भीर आलोडन से उत्पन्न तीखे ठोस बिन्दु हैं जो मर्म पर चोट करते हुए अमिट रूप से अंकित हो जाते हैं मानो भीतर की सारी शक्ति संचित होकर शब्दों में सजीव हो उठती है।

'सप्तपर्णा'

महादेवी जी के बौद्धिक चिंतन का एक महत्वपूर्ण आयाम है 'सप्तपर्णा' और इससे उनके कृतित्व को सर्वथा नई दिशा मिली है। उसमें इन्होंने भारतीय वाङ्मय के बिखरे सन्दर्भों को अपनी रंजित कल्पना द्वारा मुखर किया है। जैसे अनन्त बहते प्रवाह का न कहीं ओर-छोर नजर आता है और न कहीं आदि-अन्त, वैसे ही भिन्नता और दूरी नापती कितनी ही समानान्तर रेखाएँ आज तक साहित्य के प्रवाह में लय हुई हैं। उक्त प्रवाह की चर्चा करते हुए महादेवी जी कहती हैं—'प्रवाह में बनने मिटने वाली लहर नव-नव रूप पाती हुई लक्ष्य की ओर बढ़ती रहती है, परन्तु प्रवाह से भटक कर अकेले तट से टकराने और बिखर जाने वाली तरंग की यात्रा वहीं बालू मिट्टी में समाप्त हो जाती है। साहित्य हमारे जीवन को ऐसे एकाकी अन्त से बचाकर उसे जीवन के निरन्तर गतिशील प्रवाह में मिलन का सम्बल देता है।"

एक अन्य स्थल पर वे लिखती हैं—'आलोक को सूर्य से पृथ्वी तक आने में कितना समय लगता है, अन्तरिक्ष के एक छोर से दूसरे छोर तक ध्वनि की यात्रा किस क्रम से कितने समय में पूर्ण होती है, यह जानने में समर्थ विज्ञान भी इस जिज्ञासा का समाधान नहीं कर सका है कि मानवीय विचार और संवेदन का, एक युग से दूसरे में संक्रमण किस क्रम और कितने समय की अपेक्षा रखता है। पर वर्षों की संख्या और इतिहास की ऊहापोह के अभाव में भी हमारे हर चिंतन, हर कल्पना, हर भावना में मानो 'तत्त्वमसि' तुम वही हो का कभी स्पष्ट कभी अस्पष्ट स्वर गूँजता रहता है जो प्रमाणित करता है कि हमारे बुद्धि और हृदय के तारों में कोई दूरागत झंकार भी है। जिसके सम्बन्ध में तर्क की असंख्य उलझनें हैं उसके सम्बन्ध में हमारा हृदय कोई

प्रश्न नहीं करता, क्योंकि हमारी अवचेतना उसे अपना स्वीकार कर लेती है।"

सचमुच, साहित्य की पटभूमि भले ही समसामयिक वैशिष्ट्य लिये हो, फिर भी उसकी प्राणवान परम्परा देश एवं काल के सीमान्तों से परे ऊर्ध्व चिरंतन मानवीय समस्याओं से सदा जुड़ी होती है। आज का साहित्य जिस जिज्ञासा, अध्यवसाय एवं प्रयत्न के बल पर इस विराम बिन्दु तक पहुँचा है वह अपने इस अभियान में कितनी ही पगडंडियों से गुजरकर एक बड़ी मंजिल तय करता हुआ आगे बढ़ा है। 'सप्तपर्णा' में महादेवी जी ने हमारे साहित्य की अमूल्य धरोहर—जैसे आर्यवाणी, बाल्मीकि, थेरगाथा, अश्वघोष, कालिदास, भवभूति तथा जयदेव आदि की कृतियों से कुछ अच्छे पदों का रूपान्तर प्रस्तुत करके सर्वथा एक नई परम्परा क़ायम की है।

सामान्यतः इस प्रकार का रूपान्तर कठिन कार्य है। कारण—ऐसी रचनाओं में लेखक परवश होता है, वह अपने मौलिक चिन्तन और अनुभूति का सत्य न बनाकर परमुखापेक्षी सत्य कहता है। अतएव मूल विषय की आत्मा एवं गरिमा को ऐसी रचना में यथावत् चित्रित करना एक बड़ी कला है और इस कला में महादेवी जी—मेरी सम्मति में—खरी उतरी हैं।

सबसे पहले आर्यवाणी अर्थात् वेदों के सृजन और निर्माण की सम्पूर्ण विधि में एकाकार विभिन्न विचारधाराएँ—जिन्होंने न सिर्फ़ हमारे धर्म, संस्कृति, आचार-विचार बल्कि मनःप्राणों तक को गतिमान किया है, काव्य रूप में प्रस्फुटित हुई हैं। ऋग्वेद से अनूदित 'जागरण' की निम्न पंक्तियाँ देखिए :

"ज्योतिर्वसना तू शनैः शनैः उतरी भू पर,
निधियों में तेरा दान रहा सबसे भास्वर;
ओ सूर्य वदन की स्वसा ! गूँजते तेरे स्वर,
हारे विद्वेषी, रथी रहें हम विजयी धर।
हो ऊर्ध्वगामिनी सत्य पुरन्ध्री वाक् मधुर,
प्रज्वलित पूत यह अग्निशिखा उठती ऊपर;
जो रूप आज, कल भी उसका प्रत्यावर्तन
करती अरुणाएँ वरुण नियम गति में वारण।"

वैदिक साहित्य 'आउट आव डेट' है, साथ ही भाषा और शैली की दृष्टि से अत्यन्त दुरूह भी। बौद्धिक होने के कारण उससे हृदय का तादात्म्य भी बहुत कम हो पाता है पर महादेवी जी ने उसमें से वे चीजें चुनी हैं जिनसे किसी भी देश एवं काल में मानव जीवन का अटूट सम्बन्ध बना रहता है। उषा, ज्योतिर्मति, अग्निगान, भू-वन्दना, शान्ति-स्तवन, साम्यमन्त्र, गृहप्रवेश जैसे विषय ऐसे हैं जो सर्वत्र सृष्टि का नियमन और संचालन करते हैं। समय की अनन्त परतों को चीर कर दूसरे छोर पर खड़े मानव के सौंदर्य-बोध, राग-विराग, हर्ष-विषाद और उदात्त-अनुदात्त वृत्तियों की झाँकी भी उसमें मिल जाती है। अथर्ववेद के ये उद्बोधन वाक्य, निश्चय

ही, सीधे अन्तस्तल को छूते हैं।

"यह उन्नत आकाश
और यह धरती जैसे
भीतिरहित है और
निरन्तर रहते अक्षय।
वैसे ही हे प्राण।
अबाधित गति तेरी हो,
नष्ट न होना और सदा तू रहना निर्भय।"

वैदिक साहित्य के बाद आदिकवि वाल्मीकि की अमर कृति 'रामायण' में से कुछ सुन्दर प्रसंगों को लिया गया है। राम का लोकोत्तर रूप एक ऐसे श्रेष्ठ महामानव की उद्भावना है जिसमें लौकिक और पारलौकिक शक्तियों का एक साथ सम्पुंजन है। आदिकवि के हृदय में राम की यह महागाथा एक बहुत ही छोटी घटना से प्रेरित हुई थी। क्रौंच पक्षी के करुण क्रन्दन ने उनकी प्रतिभा को मानो सोते से जगा दिया और उसके अस्फुट स्वर इस महाकाव्य में लय होकर अजर-अमर स्वर और ताल बन गए।

"व्याध से हत क्रौंच की
दयनीय स्थिति का ज्ञान,
कर गया मुनि धर्मधन के
द्रवित आकुल प्राण।
देखकर तब विकल क्रौंची
व्याध चरित अधर्म,
बह चली वाणी सहज,
ले द्रवित उर का मर्म।"

वन में राम और भरत मिलाप की कुछ कारुणिक पंक्तियाँ देखिए

"भरत तब शोक रुदित
दुःख मोह से आक्रान्त
चरण तक पहुँचे न भू पर
गिर पड़े दुःख भ्रान्त
'आर्य' हो बस कह सके वे
धर्म में निष्णात
कण्ठ गद्गद से न निकली
अन्य कोई बात।"

आदिकवि वाल्मीकि के बाद महाकवि अश्वघोष, कालिदास, भवभूति, जयदेव तक आने के लिए बौद्ध साहित्य की अटूट लम्बी परम्परा को नजरन्दाज नहीं किया जा सकता।

बौद्ध दर्शन, धम्मपद, जातक कथाएँ और थेरी-थेरी गाथाएँ हमारे भारत की मिट्टी से मिरजी गईं, उनके विशाल वैविध्य में मूलभूत जीवन की कितनी ही व्याख्याएँ और अनुभूतियां बिखरी पडी है। वीतराग भिक्षु भिक्षुणियाँ, राजकुमार-दासीपुत्र, ब्राह्मण शूद्र, साध्वी और नगरवधुएँ, राजमहिषी और क्रीत दासियाँ—इस प्रकार विविध वर्ण, परिवार और परिस्थितियो के भुक्तभोगी मानव और उनके अगणित सुख-दुःख, हर्ष विषाद और घात प्रतिघात के जीते-जागते चित्र हमें उन बौद्ध-आख्यानो में मिलेंगे जो सहज ही हमारी रागात्मक सवेदनाओ को आलोडित करते है।

'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' महाकाव्यो के रचयिता अश्वघोष महाकवि कालिदास के पूर्वगामी हैं। बौद्धकालीन दार्शनिक रूडियो और धार्मिक मान्यताओ के बावजूद भी इस तत्वज्ञानी कवि की रसग्राही चेतना के तत्तु उसकी अन्तरग अनुभूतियो को छूकर, साथ ही भीतरा राग विराग, आकर्षण विकर्षण तथा कठोर साधना के साथ साथ उसकी रागमयी अभिव्यक्ति की तात्विक एकता की ओर भी सकेत करते है।

"विहग और मृगदल दोनो ने
रोक दिया कलरव कोलाहल,
शान्त तरगों में बहता था
शान्त भाव से सरिता का जल।
शान्त दिशाएँ स्वच्छ हो गई
नील गगन था स्वच्छ मेघ बिन
पवन लहरियो पर तिरता था,
दिव्य लोक के तूर्यों का स्वर।"

महादेवी जी के हाथो कालिदास के प्रकृति चित्र और भवभूति तथा जयदेव के शृगार और गय पद भी बडो ही सजीवता और सौन्दर्यानुभूति के दिग्दर्शक बन कर उभरे है जिनमें भारतीय लोक जीवन मानो उनकी धमनियो में सतत प्रवाह-शील रसस्रोत है जो न कभी सूखा है और न सूखेगा। आलकारिक योजना और शब्द-वि‍न्यास को ही काव्य का प्राण माना जाय तो इस दिशा में भी महादेवी जी न बडी ही गरिमा और प्रासादिकता के साथ उसे निभाया है। किसी दूसरे की अनुभूति को सप्रषणीय बनान के लिए एसे अनुवादो या रूपान्तरो की निगूढ व्यजना एक बडी ही कठिन साधना है, बिना तन्मय हुए उसे प्राणो में उतारा नही जा सकता। कालिदास के अज विलाप की ये पक्तियाँ कितनी सजीव उतरी हैं

"चाह थी सुरलोक की,
मुझको न पर छोडा अकेला,
रख ही निज गुण यहाँ
तुम रख गई हो गमन-वेला।

पर विरह की गुरु व्यथा से
यह हृदय है भार बोझिल
दे नहीं पाते इसे ये आज
कुछ अवलम्ब सम्बल।"

कालिदास की प्रकृति-निरीक्षण से प्रेरित 'कुमार सभव', 'रघुवंश', 'मेघदूत', 'ऋतुसहार', 'विक्रमोर्वशी' और 'अभिज्ञान शाकुतल' आदि के प्रसगो को भी उन्होंने मार्मिक रूप में काव्योचित अभिव्यक्ति प्रदान की है। शकुन्तला की विदाई की ये पंक्तियाँ—

"आज विदा होगी शकुन्तला
सोच हृदय आता है भर-भर,
दृष्टि हुई धुधली हुई चिन्ता से
रुद्ध अश्रु से कण्ठ रुद्ध स्वर।
जब ममता से इतना विचलित
व्यथित हुआ वनवासी का मन,
तब दुहिता विछोह नूतन से
पाते कितनी व्यथा गृही जन!
ग्रहण किया था कभी न जिसने
तुम्हें पिलाये बिना स्वय जल,
मडन प्रिय होने पर भी जो
नहीं स्नेह से तोड सकी दल,
जन्म तुम्हारे नव मुकुलों का
जिसके हित होता था उत्सव,
वह शकुन्तला जाती पति गृह
आज अनुज्ञा दो इसको सब।"

'मेघदूत' में विरह कातर यक्ष अपनी प्रिया को सदेश भेजता है। महादेवी जी सरल भाषा में एक अखडित भाव इकाई की रूपसृष्टि करती हैं

"सतप्तों के शरण बलाहक!
ले जाओ सदेश प्रिया तक
मेरा, जिसको धनद कोप से
विरह तप्त काया।
आषाढ़ मास का
प्रथम दिवस आया।"

और भवभूति के 'उत्तररामचरित' की जरा चन्द पक्तियाँ देखिए :

"ये वे ही गिरि मुखर, मयूरो की केका से
वनस्थली है वही मत्त हरिणों से सकुल

जहाँ निचुल पादप जल में गहरे डूबे हैं
वही नदी तट जहाँ मंजु लतिकाएँ बजुल।"

'सप्तपर्णा' में महादेवी जी ने प्राचीन काव्य-वैभव को समूचे शास्त्रीय सन्दर्भों में ग्रहण किया है और चमत्कार, परिष्कार और अतिरिक्त प्रेषणीयता द्वारा उसे गरिमामय बनाने की चेष्टा की है। इसमें तारुण्य का उल्लास या रूमानी दृष्टि नहीं है, अपितु आतंरिक सहानुभूति एवं सघात का सम्मोहन है। अन्तश्चेतना एवं मन-स्पन्दन के माध्यम से जो कुछ उन्हें अनुभूत हुआ अथवा साहित्य के बहुविध प्रसार में झाँककर कला और सौन्दर्य की आत्मोपलब्धि द्वारा जितना भी वे उसे मुखर बना सकीं वह निश्चय ही उपादेय एवं प्रभविष्णु है। स्वयं महादेवी जी के शब्दों में—

"किसी कवि की कृति के अध्ययन के समय उसकी अनुभूतियों के साथ पाठक का जो तादात्म्य होता है वह कभी पूर्ण, कभी अशतः पूर्ण और कभी अपूर्ण हो सकता है। इस तादात्म्य की मात्रा के न्यूनाधिक्य पर केवल उसके अपने आनन्द की मात्रा का न्यूनाधिक्य निर्भर है, किन्तु जब वह किसी की अनुभूति को मर्मतः दूसरों तक सप्रेषणीय बनाने का कर्तव्य अंगीकार कर लेता है, तब उसका तादात्म्य या उसका अभाव दो पक्षों के प्रति उत्तरदायी है। प्रस्तुत अनुवाद की अपूर्णताओं के प्रति मैं सजग हूँ, किन्तु समुद्र की अतल गहराई से निकाला हुआ मोती काष्ठ की छोटी मंजूषा में भी रखा जा सकता है।"

जीवन-दर्शन

किसी भी श्रेष्ठ कलाकार की महत्ता का मापदण्ड उसकी अनुभूति की गहराई और उसकी विषय-वस्तु का फैलाव है। कलाकार ज्यों-ज्यों अपनी भावनाओं को विश्वात्मा की एकरूपता में लय कर देता है, त्यों-त्यों उसके आत्मभाव की परिधि व्यापक होती जाती है और तब प्रत्येक ज्ञेय वस्तु उसकी बुद्धि का विषय न होकर अनुभूति का विषय बन जाता है। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं महादेवी के काव्य में विषण्ण वातावरण की सृष्टि हुई है। उनकी अस्पष्ट, आकारहीन चाहनाएँ आन्तरिक विवशता का परिणाम हैं। बाह्य परिस्थितियों की अनुकूलता शक्य न होने से उनमें जो आत्म-पीडन और अनासक्ति है, उसी ने जीवन के प्रति उनका तन्मय विश्वास खोकर उनमें खीझ, निराकार आक्रोश, पलायन भावना और झिझक उत्पन्न कर दी है। गद्य में यह आन्तरिक विद्रोह और भी अधिक तीखा और खुलकर व्यक्त हुआ है। अन्त-संघर्ष और असन्तोष के साथ-साथ उनमें सामाजिक परिस्थितियों से तनाव है और यह तनाव, यह अनासक्ति ही उनके सारे दर्शन का आधार है। गद्य में सामाजिक जीवन की ह्रासोन्मुखी गतानुगति के प्रति स्वस्थ एवं सबल विद्रोह होते हुए भी उनमें गतिशील क्रान्तिकारी चेतना और सजग क्रियाशीलता के चिह्न नहीं हैं। उनमें राग है, वज्राघात नहीं, पराजय है, प्रतिकार भावना नहीं, कोमलता है कठोरता नहीं, निर्मम वास्तविकताओं के प्रति मूक स्वीकृति है, उनके निदान का

कोई स्पष्ट उपचार नहीं। महादेवी में विद्रोही तत्व सांघातिक सामाजिक निरंकुशता सहन नहीं करते अतएव उनमें प्रतिरोध और विरक्ति है जिसमें विषाद का गहरा पुट भी है। कहीं-कहीं जहाँ ठेस गहरी है, उनकी बद्ध आत्मा तड़प उठती है। उनके भीतर में विद्रूप बज उठता है, नारीत्व का अहं चीत्कार कर उठता है और वे अधिकाधिक दारुण होकर चोट करती हैं। समाज की विभिन्न ह्रासोन्मुखी विकृतियों का पर्दाफ़ाश करते हुए उनमें हृदय की मधुर पीड़ा की कराहट गूँज पड़ती है, जो पाठक के मस्तिष्क में अमिट चिह्न लगा जाती है।

इसी को अधिक स्पष्ट करें तो हम कहेंगे कि गद्य और पद्य में महादेवी के जीवन-दर्शन की दो पृथक् धाराएँ विकसित हुई हैं। उनके पद्य की कसौटी है असामंजस्य और आत्मपीडन, जिसमें बाह्य परिस्थितियों में आस्था न होने के कारण अन्तर्मुखी चिन्तन है, विशुद्ध आध्यात्मिक अनुभूति नहीं। आत्मदर्शी जिन अनुभूतियों में रमता है, उनका उसमें अभाव है, अतएव इनका पद्य रागात्मक कल्पना का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता हुआ भी इतना लोकमवद्य न हो सका जो मन में उतर पाता। इसके विपरीत महादेवी के गद्य का अपना पृथक् अस्तित्व है। पद्य के अन्तर्गूढ स्वरों को उन्होंने गद्य में मुखर किया है और जीवन को सच्चे अर्थों में प्रतिष्ठित करने का स्वप्न देखा है। लोक-सामान्य संवेदनीयता की भावभूमि पर उन्होंने गहरे हल्के रंगों के सम्मिश्रण से जीवन के जो चित्र आँके हैं वे अर्थपूर्ण अनुभूतियों के आधार पर यथार्थ का सच्चा निरूपण करते हैं।

'यामा,' 'दीपशिखा' और 'आधुनिक कवि' की भूमिकाएँ कवयित्री के अन्तर्मथन और प्रसुप्त संकल्पों की विचारात्मक प्रतिक्रिया है, जिसमें अपने पक्ष-समर्थन का आग्रह अधिक, वस्तुस्थिति की निर्दिष्ट दिशाओं का सश्लेषण कम है। कहीं-कहीं दार्शनिक चिन्तन की बोझिलता से उनकी भाव-व्यंजना सहज दुर्ज्ञेय हो गई है।

महादेवी जी की एक विचित्र आदत है कि वे हँसती बहुत हैं और कभी-कभी विपरीत स्थिति में भी बहुत हँसती हैं। जीवन के प्रति ट्रैजिक दृष्टिकोण रखनेवाली कवयित्री का यह रूप बहुतों को आश्चर्य में डाल देता है।

मानव मन के सीमान्त क्या हैं?—यह तो बताना कठिन है किन्तु किसी भी शारीरिक अथवा मानसिक असम्बद्धता, विसंगति या विपर्यय से सजग चेतन का अचेतन से संयोग होने के कारण मनुष्य का पराजित मन बाह्य संघर्षों से ऊबकर एक काल्पनिक झूठी मस्ती अथवा मन बहलाने वाली मादकता का आश्रय लेता है और अपनी फक्कड़पन से भरी अनुभूतियों की आवेगपूर्ण अभिव्यंजना करने लगता है। यह एक प्रकार का लक्ष्यहीन लक्ष्य है जो उसे काल्पनिक सुख देता है। अनेक बार बाहरी असफलताएँ और भीतरी विवशता भावुक व्यक्तियों को प्रमादग्रस्त बना देती हैं। उसकी वेदना में जैसे करुण आवेग की प्रचुरता होती है, उसी प्रकार उसकी विपरीत प्रतिक्रिया हर्ष भी विचित्र और आवेगपूर्ण होता है। महादेवी जी की हँसी

निराशा, पलायन, आवेग, अतृप्ति, असन्तोष और भीतरी विवशता का परिणाम है, जिसे अनन्त संघर्षों से परे मुक्तावस्था कहा जा सकता है। यदि हम उनकी हँसी का विश्लेषण करें तो उसके असल में उतनी रसात्मक अनुभूति नहीं जितनी असम्बद्धता, असंगति और उथलापन पायेंगे। उनके रुदन की भाँति उनका हास्य भी संक्रामक है। असम्बद्ध बातों और विपरीत स्थिति में हँसना इसी संक्रमण से प्रेरित होता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यदि विश्लेषण किया जाय तो अज्ञात मन की दबी-घुटी इच्छा-आकांक्षाएँ कभी ऐसे बाहरी विषय पर आ टिकती हैं जो किसी विशेष अवस्था में स्थिर या आरोपित हो जाती हैं। बेहद निरोध या असाधारण दमन ही इसका मूल है जो बाहर-भीतर असामंजस्य के कारण मस्तिष्क का सन्तुलन बिगाड़ देता है। मनोलोक में यह भीषण कशाघात एवं द्वन्द्व-संघर्ष 'मनोविच्छेद' (Mental Dissociation) का कारण बनता है जिससे मानसिक दौर्बल्य या मनोविक्षेप उपजता है। मन की अस्थिरता, क्षणिक संवेग एवं अत्यधिक भावुकता कुछ ऐसे मनोभ्रम उत्पन्न करती हैं, साथ ही परिस्थिति की प्रतिकूलता परस्पर विरोधी वृत्तियों को प्रश्रय देती हुई उन संवेगों को उभाड़ती है जिससे अकारण ही हँसना या रोना आता है। किसी दुराग्रही वृत्ति से छुटकारा पाने के लिए मन जब किन्हीं अशेष कल्पनाओं में रमने लगता है तो अन्ततः वे ही उस पर हावी हो जाती हैं और ये विचित्र क्रियाएँ या हठ-प्रवृत्ति शनैः शनैः उसकी आदत में शुमार हो जाती है। यह समझते हुए भी कि यह असंगत, अकारण और निराधार है मन विवश रहता है मानो ये नियत क्रियाएँ या सांकेतिक चेष्टाएँ उसका अभिन्न अंग बन गई हैं और ऐसी स्थिति में सहज ही वैचित्र्य अथवा असामान्य चेष्टाएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

कभी-कभी अतीत की घटनाएँ—जिन्होंने हमें बहुत अधिक प्रभावित किया है—हमारी मौजूदा अनुभूति के साथ संश्लिष्ट होकर समूचे चेतना तंतुओं को झकझोर डालती हैं। फिर वे इस प्रकार मन पर आच्छन्न हो जाती हैं कि ऐसा प्रतीत होता है जैसे ये नाना प्रतिक्रियाएँ आत्मसंघर्ष की द्योतक और मानसिक विकार की रूपान्तर मात्र हैं। इसमें 'अहं' या ज्ञात मन—जो बाहरी जगत् के नियम-उपनियमों में बँधा है—सदैव अभिभूत रहता है और अज्ञात इच्छाओं से परिचालित मन के सूक्ष्म तन्तुओं को विशृंखल करता रहता है। परिणामस्वरूप संवेगात्मक क्रिया-प्रतिक्रियाएँ असम्बद्ध हो जाती हैं और इससे उसमें कभी अत्यधिक प्रसन्नता जगती है तो कभी अत्यधिक उदासी। यह उनके तात्कालिक मनोभाव या 'मूड' पर निर्भर करता है।'

जब चेतन-अचेतन स्थिति में हृदयस्थ भाव, विचार एवं आलम्बन एक हो जाते हैं तब हम किसी विशेष बात पर नहीं हँसते, न किसी वस्तु को हास्यास्पद जानकर हँसते हैं, वरन् यों ही अपने आप हँसते हैं, तब हँसी भीतर से नहीं, बाहर से आती है। महादेवी जी अपनी हँसी को स्वकीय भाव से नहीं मुक्त-भाव से अपनाती हैं। उनके बाह्य सुख-दुःख, जय-पराजय, मान-अपमान, हानि-लाभ और प्रिय-अप्रिय प्रसंग उनकी आत्मिक दृढ़ता से टकराकर मुक्त हँसी में बिखर जाते हैं। हँसी

*का विश्लेषण करती हुई एक स्थल पर महादेवी जी स्वय लिखती हैं :

"जब हमारी दृष्टि में प्रसार अधिक रहता है, तब हम किसी एक में उसे केन्द्रित नही कर सकते। प्रत्युत् हमारी विहगम दृष्टि एक ही क्षेत्र में एक साथ अनक को स्पश कर आती है। इससे जिस सीमा तक हमारा ज्ञान बढ जाता है उसी सीमा तक हमारी दृष्टि के विषयो का महत्त्व घट जाता है। इसके विपरीत जब हमारी हँसी में मुक्त विस्तार नही होता, तब हम हवा के झकोरे के समान उसका *सुखद स्पर्श सब तक नही पहुँचा सकते। उस स्थिति में हमारे हास परिहास व्यक्ति* या कुछ व्यक्तियो को केन्द्र बनाकर सीमित हो जाते है। कलाकार की दृष्टि एक-एक पर ठहर कर ही प्रत्यक को अपना परिचय देती है और उसकी हँसी एक साथ सबको स्पश करके ही आत्मीयता स्वीकार करती है। इस परिचय और आत्मीयता के अभाव में जीवन का यह आदान प्रदान सम्भव नही होता जिसकी साहित्य और कला में पग पग पर आवश्यकता रहती है।'

महादेवी जी भावप्रधान कवयित्री हैं। भावोन्मेष ही उनमें जीवन-साधक आशा, आनन्द, तुष्टि, साहस, आस्था उद्योग और व्यष्टि-समष्टि सम्बन्धी व्यापक अनुभूति तथा विरोधी तत्त्वो को उन्मीलित करने की शक्ति देता है। इसी भाव भावना से उनम आत्मनिष्ठा उत्पन्न हुई है।

अनेक बार उनके रेखाचित्रो और ससमरणो को पढते हुए यह विचार मन में उठा कि महादेवी जी ने अपने कृतित्व में निजी वैवाहिक पहलुओ पर क्यो न प्रकाश डाला अथवा पति से सम्बन्धित किन्ही भी अनुकूल प्रतिकूल अनुभवो को क्यो न शब्दो में बाँध दिया, जैसा कि उन्होंने अपने जन्म, बचपन, स्वभाव तथा माता पिता, भाई-बहिन और सम्पर्क में आये अन्य छोटे से छोटे व्यक्तियो और घटनाओ के सम्बन्ध में किया है। वस्तुत महान साहित्य साधक के सम्मुख उसका अपना 'स्व' पृथक् अस्तित्व नही रखता और पार्थक्य एव भेदभाव की सारिस्थति व्यापक आत्मानुभूति में लय हो जाती है।

कहाँ मिलेगा वह बिछुडा प्रियतम ? कब आएगा ? क्योकर, कैसे, किन सुखद क्षणो और सौभाग्यशाली बेला में उससे साक्षात्कार होगा ?

"जो तुम आ जाते एक बार !
कितनी करुणा कितने सदेश
पथ में बिछ जाते बन पराग,
गाता प्राणो का तार-तार
अनुराग भरा उन्माद राग,
आँसू लेते वे पद पखार।
हँस उठते पल मे आर्द्र नयन,
घुल जाता ओठों से विषाद,

छा जाता जीवन में बसन्त—
लुट जाता चिर संचित विराग;
आँखें देती सर्वस्व वार ।"

किन्तु जब व्यथा सघन होती है तो भाव स्तब्ध और अनुभूति-शक्ति शिथिल हो जाती है। न उसका विश्लेषण ही हो सकता है और न उसकी व्याख्या ही सभव है।

'रात सी नीरव व्यथा तम सी अगम मेरी कहानी।'

क्या जाने यह अगम कहानी महादेवी जी के लिए भी उतनी ही दुर्भेद्य और अनजानी रह गई हो कि वे स्वय आज तक उसके अतल में न पैठ पाई हो और अपने अन्तर्मन की सूक्ष्म प्रक्रियाओ और जीवन-सूत्रो का उस घटना से कोई सामञ्जस्य न बैठा पाई हो।

जब साधक आत्मनिष्ठा जगा लेता है तो उसे जीवन के आदान-प्रदान की आवश्यकता नही रह जाती और न वह अपने जीवन मे सामजस्य-असामजस्य ढूँढने की चेष्टा में ही अपनी शक्ति व्यय करता है। उसे न किसी के सरक्षण की अपेक्षा है और न कोई बन्धन ही उसे अपनी सीमा में बाँध सकता है। महादेवी जी लिखती हैं, "स्त्री जब किसी साधना को अपना स्वभाव और किसी सत्य को अपनी आत्मा बना लेती है तब पुरुष उसके लिए न महत्त्व का विषय रह जाता है, न भय का कारण।"

महादेवी जी आज उस सतह पर पहुँच गई हैं जहाँ तिमिर की सीमा पार करके वे निस्सीम पथ की पन्थी हैं और उस पथ की अशेषता को जानते हुए भी उनके धैर्य और विश्वास का अवसान नही है। उनकी अन्तश्चेतना जगकर आज अपने अव्यय रूप में सुस्थिर हो गई है, उन्हे न विजय की आकाक्षा है और न पराजय ही उनके उन्नति-पथ का अवरोधक है। वस्तुत, कला की अमर साधना ही उनके जीवन का प्रथम और अन्तिम ध्येय बन गया है।

१६

हिन्दी कवयित्रियाँ

हिन्दी काव्य क्षेत्र में नारी के योगदान पर विचार करते हुए दो बातें निर्विवाद कही जा सकती हैं—एक तो उनके कृतित्व में मानव-जीवन के युगल पक्ष भौतिकवाद और अध्यात्मवाद की चरम साधना का प्रस्फुरण, दूसरे करुण कोमल और अत्यधिक भावप्रवण होने के कारण उनकी नारी-सुलभ व्यंजना जितनी सरल और मर्मस्पर्शी बन पड़ी उनकी अनुभूति उतनी ही तीव्र और गहन होकर प्रकट हुई।

प्रेमयोगिनी मीरा की कविता अश्रुमुखी वेदना के कणों से सिंचित है—यह कौन नहीं जानता? उनका प्रेम कितना सच्चा है, उनकी लगन कितनी गहरी और स्वाभाविक! प्रियतम से अपने को एकरूप मानती हुई उन्हें भिन्न अस्तित्व की भावना ही नहीं होती। उन्हें तादात्म्य हो गया है और प्रिय मिलन की आकांक्षा उन्हें उन्मत्त बना देती है।

'मैं तो गिरधर के रंग राती
पंचरंग चोला पहन सखी
मैं झिरमिर खेलन जाती
या झिरमिर में मिलो सांवलो
खोल मिली तन गाती।'

विरह की कसक के साथ मिलन की प्रसन्नतम अनुभूति भी हमें मीरा की कविताओं में मिलती है। उनमें अपने उपास्य के लिए केवल करुण अधीरता ही नहीं, हृदय की विह्वल प्रसन्नता भी मिश्रित है। आत्मा में उमड़ती उद्दीप्त भाव-तरंगों को वाणी का रूप देकर उन्होंने जिस स्वच्छन्दता एवं सरसता के साथ अनुभूति और संवेदनशीलता का मिश्रण किया है—वह लोकोत्तर है। साधारण शब्दों में भी वे कितनी ऊँची बात कह गई हैं

'नैनन बनज बसाऊँ री जो मैं साहब पाऊँ री।
इन नैनन मेरा साहिब बसता, डरती पलक न नाऊँ री
त्रिकुटी महल में बना है झरोखा, तहाँ से झांकी लगाऊँ री।'

और

'सुरत निरत का दिवला संजोले, मनसा की करले बाती

प्रेम हटी का तेल मँगाले, जगे रह्या दिन राती।'

मीरा मुख्यत सगुणोपासक हैं, उन्होंने अपने उपास्य श्रीकृष्ण के मधुर रूप की ही उपासना की है, किन्तु जब उनकी गूढतम अन्तर्नुभूति अन्तस्तल को चीरकर अपनी स्थिति स्थिर न कर सकी तो उन्होंने उस निर्गुण को भी चाहा जो भौतिक प्रपंचों से परे एकरस और निर्मुक्त है 'आ अपनी गैल बना जा।' कहीं वे कहती हैं

'सूली ऊपर सेज हमारी किस विध सोना होइ।
गगन मण्डल सेज पिया की किस विध मिलना होइ!'

अलौकिक प्रेम की दीवानी मीरा ने अपने उद्गारों द्वारा मुक्तावस्था का वह सन्देश दिया जो जीवत है, जाग्रत है और दीप्तिमय है।

भगवान कृष्ण के एकान्त प्रेम में वे इतनी विभोर थी कि अपनी भाव-वृत्तियो के तादात्म्य द्वारा उन्हें पति रूप में उन्होंने वरण कर लिया था :

"माई म्हांने सुपने में बरी गोपाल
राती पीली चुनरी ओढी मेंहदी हाथ रसाल॥"

मीरा की इस आकुल तन्मयता में कोई दुराव छिपाव नहीं है। उनकी प्रेमासक्ति उस निर्मुक्त स्थिति में पहुँच जाती है जबकि आराध्य के सिवाय उन्हें कुछ सूझता ही नहीं। उसी की रूप-माधुरी उनके नयनों में धँस जाती है और दूसरी कोई छवि नहीं समाती।

"हेली, मो सों हरि बिन रह्योइ न जाय। -
सासू लड़ै री, सजनी, नणद खिजौरी
पीव किन रहों री रिसाय।
चौकी भी मेलौ, सजनी पहरा भी मेलौ,
ताला क्यूँ न जडाय।
पूरब जनम की प्रीति हमारी सजनो,
सो क्यूँ रहै री लुकाय।
मीरा के तो, सजनी, राम सनेही,
और न आवै म्हारो दाय।"

मीरा का प्रेमोन्माद अथवा सर्वतोभावेन आत्म-समर्पण की दार्शनिक जिज्ञासा के भीतर पैठने के लिए उस उच्च स्तर पर पहुँच जाना चाहिए जहाँ ससीम प्रेम के दुःख एवं नैराश्यपूर्ण परिवेश का अतिक्रम करके आत्मानन्द की असीमता एव भगवत् प्रेम के रसाम्बुधि में लय हुआ जा सकता है। आत्मा और परमात्मा, जीव और ईश्वर एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। माया का आवरण अथवा दूसरे शब्दों में अज्ञान का पर्दा दोनों में अलगाव पैदा करता है। मीरा शुष्क ज्ञान दर्शन द्वारा इस तथ्य पर नहीं पहुँची थी, बल्कि वे तो भगवान नटनागर के सगुण रूप की उपासिका थी। उनका समूचा मन, प्राण, जीवन-दर्शन और साधना इसी प्रेमावेग में डूबी थी।

"प्यारे दरसन दीज्यो आय, तुम बिन रह्यो न जाय
जल बिन कमल, चन्द बिन रजनी, ऐसे तुम देख्यो बिन सजनी।
व्याकुल व्याकुल फिरूँ रैन दिन, बिरह कलेजो खाय।
दिवस न भूख नींद नहीं रैना, मुख सू कहत न आवे बैना।
कहा कहूँ कछु कहत न आवे, मिलकर तपत बुझाय
क्यूँ तरसावो अन्तरयामी, आय मिलो किरपा कर स्वामी
मीरा दासी जनम जनम की, परी तुम्हारे पाँय।।"

मीरा प्रेम की इस अतीन्द्रिय अनुभूति की पराकाष्ठा पर कैसे पहुँच गई—इसके कितने ही कारण बताये जाते हैं। जन्मत ये भक्त थी और निष्ठावान व आस्तिक मेडता राजपरिवार में उत्पन्न हुई थी। इनके पितामह राव दूदा परम कृष्ण भक्त थे। माता पिता की एकमात्र सन्तति होने के कारण इन्हें माता के एकान्त प्रेम की निष्ठा का अवसर अपेक्षाकृत अधिक मिला, फलत उनके सस्कारो का सीधा प्रभाव इन पर पडा। एक दिन हँसी-हँसी में उन्होने अपनी लाडली बेटी को बहलाने के लिए भगवान श्रीकृष्ण की प्रतिमा की ओर अगुलि-निर्देश कर कहा था—'बेटी, ये ही तेरे दूल्हा है। इसी से तेरा ब्याह रचाऊँगी।' बालिका के मन म बात धँस गई और उसकी अबोध सरलता शायद इसे जाने अनजाने सच मान बैठी। मीरा का अधिक समय पूजा-आराधना और भगवान की मूर्ति के समक्ष अनुनय विनय और तरह तरह की मनुहारो में ही बीतता था। बडे होने पर सगाई या विवाह तक की बात इन्हें जजाल लगती थी और उससे इनका मन सामजस्य नही कर पाता था।

'काँई और को वरूँ भांवरी म्हांके जग जजाल।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, करो सगाई हाल।।"

प्रेम दीवानी मीरा की इस लगन और तल्लीनता पर तब किसी ने ध्यान नही दिया।

'जिन आँखन में यह रूप बस्यो उन आँखिन से फिर देखिये का।'

इस मर्म को तब कोई न समझा, परिणाम स्वरूप मीरा का विवाह शिशोदिया वश के महाराणा साँगा के ज्येष्ठ पुत्र राजकुमार भोजराज सिंह के साथ सम्पन्न हुआ बिदाई में गिरिधर गोपाल की प्रतिमा को मांगना य न भूली।

"दे री माई, म्हां को गिरिधर लाल।
प्यारे चरण की आन करत हौं और न दे मणि लाल।"

विवाह के पश्चात् भी इनकी लौ भगवान में ही लगी रही। स्वप्न में इन्हें सदा प्रभु के दर्शन होते रहे।

"सोवत ही पलका में मैं तो, पलक पल में पिउ आये।
मैं जु उठी प्रभु आदर देन कु, जाग परी पिव ढूंढ न पाये।

और सखी पिउ सूत गमाये, मैं जु सखी पिउ जागि गमाये।
आज की बात कहा कहूँ सजनी, सुपना में हरि लेत बुलाये।
वस्तु एक जब प्रेम को पकरो, आज भये सखि मन के भाये।"

वैधव्य के बाद तो ये सचमुच ही बन्धनमुक्त हो गईं। जन्म-जन्मान्तर का विरही प्रेमविह्वल मन निष्काम भाव से और परम सान्त्वना व आश्वासन के साथ कृष्ण भक्ति में विभोर हो गया। राजवंश की आचार-मर्यादाओं का पालन करने में इन्हें कठिनाई होती थी। पति की मृत्यु से इनका वैराग्य इतना बढ़ गया कि प्रेम विह्वलता के कारण इनमें भावोन्माद जगा। अपने प्राणाधार प्रभु की प्रतिमा के सम्मुख कभी ये हँसती, कभी रोती और कभी-कभी इतनी तदाकार व एकनिष्ठ हो जाती कि ये एक प्रेमातुर उन्मादिनी की भाँति नाच उठती। इनकी भक्ति एवं प्रेमनिष्ठा चरम स्तर पर पहुँच गई थी, पर जैसा कि प्रायः होता है सामान्य परिस्थितियाँ अनुकूल न थी। इनकी दुस्सह पीडा, प्रियतम को परम आत्मीय के रूप में पाने की असीम व्याकुलता, दूसरी तरफ लोक-लाज, कुल-प्रतिष्ठा और स्वजन-परिजनो की तीव्र भर्त्सना—इन सब विधि निषेधो ने इन्हें कष्ट दिया और इन सबके दौरान इन्हें बड़ी-बड़ी यातनाएँ सहन करनी पड़ी, किन्तु मीरा उनसे विचलित नही हुई, बल्कि उन आघातो और प्रताड़नाओ का दबाव बढते-बढ़ते इनकी कविताओ की मस्ती में ही प्रस्फुटित हुआ।

"राती माती प्रेम की, विष भगत को मोड।
राम अमल माती रहे, धन मीरा राठौर।।"

और—

"भाव भगत भूषण सजे, सील सतोष सिंगार,
ओढ़ो चूनर प्रेम की, गिरिधर जो भरतार।"

कभी इन सभी परिस्थितियो से घबराकर अन्तर की प्रेरणा के वशीभूत हो वे पुकार उठती

"अब तो निभाया बनेगा, बाँह गहे की लाज
समरथ सरण तुम्हारी साइयाँ सरब सुधारण काज
भव सागर ससार अपर बल, जामें तुम हो जहाज
निराधार आधार जगत गुरु, तुम बिन होय अकाज।"

मीरा के काव्य की विशेषता है कि रूपदर्शन और मिलन स्पृहा की आतरिक अभीप्सा के साथ-साथ उनका विह्वल और आप्लुत भाव उन्हें उस भावभूमि पर प्रतिष्ठित करता है जहाँ उनका चरम उत्कर्ष एव परिपूर्ण विकास हुआ है। प्रेमास्पद की साधना में वे एक ऐसी प्रेमयोगिनी के रूप में आविर्भूत हुई जिनकी वाणी लोकोत्तर व्यजना करती हुई हृदय की निश्छल तरलता में डूबकर प्रकट हुई। उनका यह प्रसिद्ध पद—

"हेरी, मैं तो दरद दीवाणी, म्हारा दरद न जाण्या कोय
दरद री मार्‌यां दर दर डोल्यां बैद मिल्या ना कोय
मीरा री प्रभु पीर मिटांगा जद बैद सांवरो होय।"

मीरा की कान्तासक्ति कुछ ऐसी थी जिससे भगवान श्रीकृष्ण ही उनके सर्वस्व और वे स्वयं उनकी चेरी या दासी थीं। उनमें एकत्व इतना बढ़ गया था कि वे अपनेपन को सर्वथा भूलकर, जो साधना की चरमातिचरम सीमा है, अपने प्राणपति में ही एकीभूत हो गई थी।

"मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई"

एक दूसरे पद में वे कहती हैं

"मैं गिरिधर के घर जाऊँ।
गिरिधर, म्हांरो सांचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊँ।
रैणा पड़े तब ही उठ जाऊँ, भोर भये उठि आऊँ
जो पहिरावे सोई पहिरूँ, जो दे सोई खाऊँ
मेरी उणकी प्रीति पुराणी, उन बिन पल न रहाऊँ
जहाँ बैठावे तित ही बैठूँ, बेचे तो बिक जाऊँ
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, बार बार बलि जाऊँ।"

मीरा ने भाषा-सौन्दर्य अथवा उदात्त शैली शिल्प की दृष्टि से काव्य रचना नहीं की, बरन् उत्कट भक्ति एवं प्रेम विह्वल हृदय से जो सहज उद्‌गार निकले वे ही गेय पद बन गए।

"हरि मोरे जीवन प्राण आधार॥
और आसरो नांहि तुम बिन, तीनूं लोक मंझार।
आप बिना मोहि कछु न सुहावै, निरख्यौ सब ससार।
मीरा कहै मैं दास रावरी, दीज्यो मति बिसार।।"

अब तक गोस्वामी तुलसीदास की विदुषी पत्नी रत्नावली के सम्बन्ध में कोई नहीं जानता था, पर मध्ययुगीन साहित्य पर शोध करने वाले अनेक विद्वानों ने उनके दो ग्रन्थों 'दोहा रत्नावली' और 'गोस्वामी तुलसीदास' को खोज निकाला, जिनमें उनके नीतिपरक और आत्मपरक दोहे मिलते हैं। गोसाईं जी का अपनी पत्नी से कितना प्रेम था और वे उसके प्रेम में बौराये किस प्रकार एक भयंकर, तूफानी रात में नदी-नाले पार करके अपनी पत्नी के पास पहुँचे थे—यह एक प्रसिद्ध आख्यान है। चूँकि वे एक विदुषी और पंडित नारी थीं, उन्हें अपने पति की यह उच्छृंखलता और बेसब्री पसन्द न आई। एक सच्ची कर्तव्यनिष्ठ जीवन सहचरी के नाते उनके मुख से उस समय अपूर्व भावमयी, ओजस्वी वाणी निस्सृत हुई जिसने तुलसीदास जी को सर्वथा दूसरी दिशा की ओर मोड़ दिया।

पर यह क्या? इन अनमोल क्षणों में वह क्या खो बैठी—इसका भान रत्ना-

वली को बाद में हुआ। गंगाबाई जी ने घर और गृहस्थी का परित्याग कर दिया और फिर कभी वापस न आये। पति दूर था और पत्नी की पहुँच से परे, किन्तु विरहिणी दुखिया ने भक्ति एवं प्रेमाश्रु के नैवेद्य से ही पति की पूजा-अर्चना प्रारम्भ की जो दोहों में बनकर फूटी :

"धिक् मो कहँ मो बचन लगि, मो पति लह्यो विराग।
भई वियोगिनी निज करनि रहूँ उड़ावति काग॥"

प्रेम और कर्त्तव्य के इस द्विधा संघर्ष में उनका नारीत्व सचमुच शिकस्त खा गया और उनका आकुल अन्तर कभी-कभी अत्यन्त कातर हो पुकार उठता :

"हौं न नाथ अपराधिनी, तौऊ क्षमा करि देउ।
चरनन दासी जानि निज, वेगि मोरि सुधि लेउ॥"

पति के अभाव में वैवाहिक जीवन की नीवें ही खोखली हो गई। प्रेम-बन्धन और गार्हस्थ्य की एकनिष्ठा चरमरा उठी। जिस शान्ति का उदय मन के भीतर होता है उसके सहसा छिन जाने से वह अविश्वास बन जाती है। दैनन्दिन धूल और रात भरे जीवन की थकान के जब पर्त्त के पर्त्त उघड़ने लगते हैं तो लगता है शान्ति मिथ्या है, भ्रम है, क्योंकि अन्तर्विरोधों का हल क्या है, मन कैसे शान्ति पा सकता है, शान्ति तो मन के बाहर से नहीं मन के भीतर से उत्पन्न होती है :

"जदपि गये घर सों निकरि, मो मन निकरे नाहिं।
मन सों निकरो ता दिनहिं, जा दिन प्रान नसाहिं॥"

ये विषाद की छायाएँ नारी-कण्ठ से निर्मुक्त होना चाहती थीं। अन्तर्ज्ञान का वृत्त इन झूलती परछाइयों से छिप गया। रह गया थोथा ज्ञान। विरह कातर रत्नावली अत्यन्त दीन हो लिखती हैं

"हाय सहज ही हौं कही, लह्यो बोध हिरदेस।
हौं रत्नावलि जँचि गयो, पिय हिय काँच विसेस॥
नाथ रहौंगी मौन हौं, धारहु पिय जिय तोष।
कबहुँ न दऊँ उराहनो, दऊँ न कबहूँ दोष॥"

रत्नावली के आत्मपरक दोहों में उनके हृदय की वेदना, विरह और निराश प्रेम की कठोर साधना की झाँकी मिलती है। ऐसे प्रेम में सचाई और मार्मिकता होती है। विवाह-बन्धन में बँधे दो साथी, जो एक दूसरे के पूरक हैं, किन्तु भाग्य की विडम्बना से अलग हो जाते हैं और फिर मिलने का अवसर नहीं पाते तो सहन-सहिष्णुता ही उनकी पूरक बनती है :

"रतन प्रेम डंडी तुला, पला जुरे इकसार।
एक बाट पीड़ा सहै, एक गेह सम्भार॥"

प्रेम की यह उमड़न सहज बुद्धि, तर्क एवं ज्ञान से अनुशासित होकर अततः तृप्तिकर बन जाती है। जब निराशा हाथ लगती है और यह अनुभव होता है कि बार-बार

निराशा ही मिलेगी तो सात्विक वैराग्य जगता है। यह वैराग्य किसी निराशा से उद्भूत नहीं, अपितु सत्य एवं महत्तर लक्ष्यों को प्राप्त करने की भावना से जन्म लेता है अर्थात् चलायमान प्रेम के लिए अनुताप करना छोड़कर वह आन्तरिक मिलन अथवा आत्मार्पण बन जाता है। आसक्ति, आवेग और कामना ये सब बेड़ियाँ हैं और आगे बढ़ने से रोकती हैं। रत्नावली के अनेक नीतिपरक दोहों में हृदयावेगों को एकाग्र करने का उपदेश है

"पाँच तुरग तन रथ जुरे, चपल कुपथ लै जात।
रतनावलि मन सारथिहि, रोकि सके उतपात।।"

वस्तुत सच्चा आत्मदान प्रेम के मिथ्याभिमान को नष्ट करता है, इसीलिए रत्नावली की अभिव्यक्ति में कहीं भी दुराग्रह, आक्रोश या उपालम्भ नहीं है, बल्कि गम्भीर व्यथा के साथ साथ दीनता और हृदय की करुण पुकार है :

"प्रियतम एक बार गृह आओ।
अनुचित उचित करयो हौं कबहूँ, ताहि समुझि समझाओ।
तव वियोग अकुलात हीय अति, धीरज आइ बँधाओ;
सह्यो न जात दुसह दुख एतो, दरस दया दरसाओ।
दिन कितेक नाथ अब बीते, नाहिं मोरि सुधि लीनो
सुजन पाछिली प्रीति रावरी, अहह परी किम झीनी।
रूठि गये मो बैन सुनत जन कहत सुनत सकुचाऊँ
का अब करौं कहाँ अब खोजौं, कितहूँ खोज न पाऊँ।
अमित प्रीति परतीत--माँग तव, पाई रही हौं मोई
सपने हूँ न कबहुँ हौं जानी, दसा मोरि अस होई।
भूलि जाऊ हौं सबै परेखो, बीति ताहि बिसारौ
भाग सराहौं रतन आपनो, जो तव चरन निहारौं।"

मीरा की भक्ति-साधना की तल्लीनता से प्रभावित होकर रामप्रिया और जुगलप्रिया, बाँकावती जी और सुन्दरकुँवरि, बणीठणी जी और छत्रकुँवरि, विष्णुप्रसाद कुँवरि और प्रवीणराय, रत्नकुँवरि बीबी और प्रताप कुँवरि बाई, ताज और शेख, सहजोबाई और चम्पादे आदि भक्त महिलाओं का ध्यान भी कविता की ओर आकृष्ट हुआ और कृष्ण-भक्ति में विभोर इन्होंने अनेक गेय पदों की रचना की। इन सभी के कृतित्व में सच्ची अनुभूति और सरल भाव-व्यंजना है। रामप्रिया और जुगलप्रिया के गीतों में उपासना और वैराग्य जन्य आध्यात्मिक भाव हैं। महारानी बाँकावती उपनाम ब्रजदासी कृष्णगढ़ के महाराज राजसिंह की रानी थीं। प्रसिद्ध नागरीदास जी इनके पुत्र थे और सुन्दरकुँवरि जी इनकी पुत्री। इनके यहाँ कविता परम्परागत प्राप्त थी और स्त्री पुरुष सभी काव्य-रचना करते थे। रानी बाँकावती जी ने ग्यारहो स्कन्ध श्रीमद्भागवत का छन्दोबद्ध अनुवाद किया जो 'ब्रजदासी भागवत' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

सुन्दरिकुँवरि महारानी बाँकावती की पुत्री थी और इनका विवाह राघवगढ खीची महाराज बलभद्रसिंह के पुत्र बलवन्तसिंह के साथ हुआ था। कविता से इन्हें अत्यन्त अनुराग था। इन्होंने बारह ग्रन्थों की रचना की है। इनके छन्द बहुत ही सरस और सरल हैं।

'मन ! तू काहि पचत कहा चाहत ?
जड जगम उद्यात बसत है तिनको कौन निबाहत ?
तोको कहा भार है भैया ! काहे को दुख मानै ?
निर्भय ह्वै निश्चिन्त सहज में प्रभू कृपा किन जावै ?
जगत-राह के राहगीर ए बहुत बटाऊ लोग;
तिनमें तहू, आन फँस्यो है किहूँ करम सयोग।'

बणीठणी जी उपनाम रसिकविहारी महाराज नागरीदास की पासवान और स्वामी हरिदास के परम्परानुगत प्रसिद्ध महात्मा श्री रसिकदास जी की शिष्या थी। सन्तो के सम्पर्क में रहकर इन्होने अनेक भक्ति एव शृगार-प्रधान भावपूर्ण पद रचे, जिनमें ब्रजभाषा और राजस्थानी भाषा दोनो का मिश्रण है।

'बजे आज नन्दभवन बधाइयाँ।
गहमह आनन्द रगरली अति गोपी सब मिली आइयाँ।
महरि यशोमति कै भयो सुत फूली अंग न माइयाँ।'
'रसिक विहारी' प्रान जीवन लखि देत असीश सुहाइयाँ।'

छत्रकुवरिबाई श्री नागरीदासजी की पौत्री थी और उन्ही के सहयोग से इनमें काव्य-रचना की अभिरुचि उत्पन्न हुई थी। इन्होंने अपने 'प्रेम विनोद' ग्रन्थ में श्रीराधा-कृष्ण और सखियों की विविध प्रेम लीलाएँ चित्रित की है। इनके पदो में तन्मयता और विदग्ध हृदय की कोमल कसक है।

'भक्तनपद-पकज-रज ध्याऊँ; जिन प्रभाव प्रेमासव पाऊँ।
ताते वरनों विपिन-विलासी; नन्द-सुवन राधा सुखरासी।
पिय प्यारी छकि परम सनेह; नितहि विहार करत अनछेह।
दुहूँ परसपर चित के चोर; दुहूँ मनोहर नवल किसोर।'

विष्णुप्रसाद कुँवरि महाराज रघुराजसिंह की पुत्री थी और समकालीन भक्त-कवयित्रियो में ये ही प्रथम महिला थी जिन्होंने रामभक्ति से प्रभावित होकर अवधी भाषा मे 'अवध-विलास' नामक ग्रन्थ की रचना की। ब्रजभाषा में भी 'कृष्ण-विलास' और 'राधा विलास' ये दो ग्रन्थ इन्होने लिखे। इनकी पद-रचना अत्यन्त सरस है।

'निरमोही कैसो जिय तरसावे।
पहिले झलक दिखाय हमें कूँ, अब क्यों वेग न आवे
कब सों तलफत मै री सजनी, वाको दरद न जावे।
'विष्णु कुँवरि' दिल में आकर के ऐसी पीर मिटावे।'

प्रवीणराय कला मर्मज्ञ रसिक महिला थी। प्रसिद्ध कवि केशवदास इनके अत्यन्त प्रशंसक थे। अपना 'कविप्रिया' ग्रन्थ भी उन्होंने इन्हें ही भेंट किया है। इनकी प्रशंसा सुनकर एक बार बादशाह अकबर ने इन्हें अपने दरबार में बुला भेजा, किन्तु ये नहीं गईं और अपने स्वामी महाराज इन्द्रजीत सिंह से इसकी शिकायत की।

'आई हौं बूझन मन्त्र तुम्हें निज स्वासन सों सिगरी मति गोई।
देह तजौं कि तजौं कुलकानि हिए न लजौं लजि है सब कोई॥
स्वारथ औ परमारथ को पथ चित्त विचारि कहो तुम सोई।
जामें रहे प्रभु की प्रभुता और मोर पतिव्रत भंग न होई॥'

इस पर क्रुद्ध होकर अकबर ने महाराज इन्द्रजीत पर एक करोड़ रुपया जुर्माना कर दिया, पर इन्होंने उसे भी अपनी वाक् पटुता से क्षमा करा लिया और दरबार में भी नहीं गईं। इनके अनेक स्फुट पद मिलते हैं।

'कमल कोक श्रीफल मंजीर कलधौत कलश हर।
उच्च मिलत अति कठिन दमक बहु बल्प नीलधर॥
सरबन शरबन हेम मेरु कैलाम प्रकाशन।
निशि वासर तरुवरहिं कांस कुदन दृढ आसन॥
इमि कहि प्रवीन जल थल अपक अविध भजित तिय गौरि सँग।
कलि खलित उरज उलटे सलिल इन्दु शीश इमि उरज ढँग॥'

रत्नकुँवरि बीबी राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की दादी थी और संस्कृत-फारसी दोनों भाषाएँ अच्छी तरह जानती थी। साहित्य से इन्हें बड़ा अनुराग था। 'प्रेमरत्न' नामक पुस्तक में इनके सभी पद संग्रहीत हैं।

'तहँ राधा की कछु दशा, वर्णत आवे नाहिं।
मलिन वेष भूषण रहित, विवस रहित तन माँहि॥
कबहुँ सुरावत विरह बश, पीत वरण ह्वै जाय।
कबहुँ व्यापत अरुणता, प्रेम मगन मुद छाय॥'

प्रतापकुँवरि बाई मारवाड़ के महाराज मानसिंह की रानी थी। राम इनके इष्ट थे और ये बड़ी ही उदार, दानशील प्रवृत्ति की महिला थी। इन्होंने करोड़ों की सम्पत्ति दान की और अनेक मन्दिर, तालाब आदि बनवाये। ७० वर्ष की आयु तक इन्होंने पन्द्रह ग्रन्थों की रचना की। इनके पदों में सरल भावभंगी और हार्दिक स्वाभाविकता द्रष्टव्य है।

'आस तो काहु नाहिं मिटी, जग में भये रावण से बड़ जोधा।
सावत सूर सुयोधन से बल, से नल से रत वादि विरोधा॥
केते भये नहिं जाय बखानत, जूझ मुए सबहीं करि क्रोधा।
आस मिटै परताप कहै, हरिनाम जपैऊ विचारत जोधा॥'

कृष्ण-भक्ति से प्रेरित होकर अनेक भक्त कवयित्रियाँ जब इसी प्रकार की

प्रेमरस-परिप्लावित पद-रचना कर रही थी तो कुछ मुस्लिम महिलाएँ भी प्रभावित हुईं और उन्होंने कृष्ण को ही अपना इष्ट बनाया । कृष्ण के मधुर रूप की उपासिका होने के कारण उनकी कविताएँ सौन्दर्य और प्रणय-रस से सिंचित होकर प्रकट हुईं। इस नये सलोने साँवलिया ने उन्हें तन्मय कर दिया था और वे विह्वल सी होरहीं थी । ताज के पदो में मीरा का सा मनोयोग और एकनिष्ठ भाव है । वे श्याम के विरह-वियोग में सब कुछ विस्मृत कर बैठी हैं ।

'सुनो दिलजानी मेरे दिल की कहानी तुम,
दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं ।
देवपूजा ठानी मैं नमाज हूँ भुलानी,
तजे कलमा कुरान सारे गुनन गहूँगी मैं ॥
स्यामला सलोना सिरताज सिर कुल्ले दिए,
तेरे नेह दाग में निदाघ ह्वै दहूँगी मैं ।
नन्द के कुमार कुरबान ताणी सूरत पैं,
हौं तो तुरकानी हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं ॥'

ताज कृष्ण-प्रेम में दीवानी सी हो गई थी । ये नित्य सवेरे नहा-धोकर मन्दिर में पूजन और कीर्तन करने जाती थी । इनके अनेक प्रसिद्ध पदो का संग्रह गोविन्द गिल्लाभाई ने किया है ।

दूसरी मुस्लिम कवयित्री शेख जाति की रगरेजिन होते हुए भी बडी ही भावुक और रसिक स्वभाव की महिला थी । वे अविवाहितावस्था में ही पद-रचना किया करती थीं । उनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि एक बार प्रसिद्ध कवि आलम ने अपनी पगडी रँगने के लिए इन्हें दी । दैवसयोग से उसके छोर में दोहे की प्रथम पक्ति लिखी हुई बँधी थी ।

'कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि छीन'

पगडी रँगकर जब वापस आई तो आलम को अपने दोहे की पूर्ति देखकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ । शेख ने उसे यों लिखकर पूरा किया था ·

'कटि को कचन काटि विधि, कुचन मध्य धरि दीन ।'

आलम और शेख दोनों में उत्तरोत्तर प्रेम बढता गया और आलम, जो ब्राह्मण थे, उन्होंने मुस्लिम धर्म अपनाकर इनसे विवाह कर लिया । ये दोनो मिलकर एकसाथ पद-रचना किया करते थे । 'आलम केलि' में इनके पद सग्रहीत हैं । शेख के अधिकाश पदो में शृगारिक भाव है ।

'नैननि के तारे तुम प्यारे कैसे होऊ पीय,
पावन की धूरि हमें दूर के न जानिये ।'

इन्होंने भक्तिपूर्ण अनेक पद रचे हैं । मुस्लिम होकर भी ये कृष्ण की मधुर

छवि पर मुग्ध थी। उन्ही को आलम्बन मान कर इन्होने व्रजभाषा में भक्ति-परक पद रचे।

'जब ते गुपाल मधुवन को सिधारे माई,
मधुवन भयो मधु दानव विषम सों
'सेख' कहे,सारिका सिखण्ड खजरीट सुक,
कमल कलेस किन्हीं कालिन्दी कदम सों॥'

चपा दे रानी बीकानेर नरेश राजा पृथ्वीराज की रानी और लाला दे की सपत्नी थी। शेख की भाँति इनके स्फुट छद शृगार-रस प्रधान है और भाषा राजस्थानी मिश्रित है।

सहजोबाई और दयाबाई ये दोनो गुरु-बहन थी और निर्गुणोपासिका थी। दोनो ही उत्कट गुरु-भक्त थी और अपने गुरु चरणदास जी के साथ दिल्ली में रहती थी। इन्होने गिरधर और वृन्द के समान नीति, त्याग, वैराग्य से ओतप्रोत छन्द लिखे है। सहजोबाई के पदो का सग्रह 'सहज-प्रकाश' और दयाबाई के 'दयाबोध', 'विनय-मालिका' दो ग्रन्थ मिलते है। दयाबाई ने अनेक उत्कृष्ट, सरस पद लिखे है।

'बौरी ह्वै चितवत फिरूँ हरि आवे केहि ओर;
छिन उठूँ, छिन गिरि पर्रूं, राम दुखी मन मोर।
प्रेम-पुज प्रगटे जहाँ, तहाँ प्रगट हरि होय;
दया यारि करि देत है श्री हरि दर्शन सोय
दयाकुँवरि या जगत में नहीं रह्यो थिर कोय;
जैसो बास सराय को तैसो यह जग ह॥य।

सहजोबाई में अपेक्षाकृत वैराग्य है। उन्होने विश्व प्रपच से परे निर्गुण ईश्वर की महत्ता परिचायक कविताएँ लिखी है।

'धन छोटापन सुख महा, धिरग बडाई ख्वार।
सहजो बन्दा दूजिए, गुरु के वचन सम्हार॥
सहजो तारे सब सुखी, गहे चन्द औ सूर।
साधू चाहे दीनता, चहै बडाई कूर॥
अभिमानी नाहर बडो, भरमत फिरत उजाड़।
सहजो नन्ही बाँकुरी, प्यार करे ससार॥'

इनके जीवन के सम्बन्ध में अधिक ज्ञात नही, मगर फिर भी ये बडी ही पहुँची हुई विरक्त सत थी। इनके सम्बन्ध में अनेक किम्वदतियाँ प्रसिद्ध है। हरिभक्ति के समानान्तर ही इनकी गुरु निष्ठा भी बडी सच्ची और गहरी थी, बरन् भगवान् से भी अधिक गुरु में इनका दृढ विश्वास था।

"राम तजूँ पै न गुरु न विसारूँ, गुरु के सम हरि कूँ न निहारूँ॥
हरि ने जन्म दियो जग माहीं, गुरु ने आवागमन छुटाहीं॥

हरि ने पांच चोर दिये साथा, गुरु न लई छुटाय अनाथा ॥
हरि ने कुटम्ब जाल में गेरी, गुरु ने काटी ममता बेरी ॥
हरि ने रोग भोग उरझायो, गुरु जोगी करि सबै छुटायो ॥
हरि ने कर्म मर्म भरमायौ, गुरु ने आतम रूप लखायौ ॥
हरि ने मोसूँ आप छिपायौ, गुरु दीपक दै ताहि दिखायौ ॥
फिर हरि बंध मुक्ति गति लाये, गुरु न सब ही भर्म मिटाये ॥
चरन दास पर तन मन वारूँ, गुरु को न तजूँ हरि कूँ तजि डारूँ ॥"

नाम-जप की साधना में इन्होंने जीवन को जंजाल माना और शरीर को नश्वर।

"पानी का सा बलबुला, यह तन ऐसा होय ॥
पीय मिलन को ठानिये, रहिये ना पड़ि सोय ॥
रहिये ना पड़ि सोइ, बहुरि नहिं मनुखा देही ॥
आपन ही कु खोजु, मिलें तब राम सनेही ॥
हरि कूँ भूले जो फिरें, सहजो जीवन छार ॥
सुखिया जब ही होयगो, सुमिरेंगो करतार ॥"

भगवान् में सर्वात्म समर्पण की चरम साधना ही इनकी भक्ति का मूल मंत्र है। संसार के बंधन मिथ्या हैं। यह दृश्य जगत् और इसमें बसने वाले समस्त चराचर जीव जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि के चक्कर में फँसे अपने 'स्व' को भूले हुए हैं।

"सहजो भज हरि नाम कूँ, तजो जगत् सूँ नेह।
अपना तो कोई है नहीं, अपनी सगी न देह ॥"

एक अन्य स्थल पर अपने आपको उद्बोधन करती हुई ये कहती हैं

"सहजो फिर पछितायगी, स्वास निकसि जब जाय।
जब लगि रहे सरीर में, राम सुमिरि गुन गाय ॥"

प्रभु-प्रेम में जब मन अलमस्त हो जाता है तब उसे चिन्ता क्या है ? उसमें अहंकार की तो पैठ ही नहीं, वह तो प्रेमरस में छका रहता है, लगता है –जैसे जीवन-सूत्र तो उस भगवान के हाथ में है और वह जैसा चाहता है वैसा ही नाच नचाता है। भगवान में लौ लगी है वही उसका केन्द्रबिन्दु है तो डर क्या है, चिन्ता क्या है ?

"प्रेम-दिवाने जे भये, मन भयो चकनाचूर।
छके रहें, घूमत रहें, सहजो देखि हजूर ॥"

ऐसी ही प्रेम की दीवानी थी बावरी साहिबा जो मस्ती और प्रेमोन्माद में घर से निकल पड़ीं और सांसारिक बन्धन एवं नाते-रिश्तों को तोड़ कर हर समय, हर जगह 'उसे' ही खोजती फिरी। मोहान्ध और जड़ता के कारण जिस प्रेम से दुराव है और जो नजरों से छिपा है वह इस आवरण के हटते ही रूबरू हो गया तो फिर रह क्या गया ? कौन सी बाधा, कौन सा अंतराय तब प्रेम-पथ पर अग्रसर होने से

रोक सकता है ? तिसपर जो प्रेम के भावावेगपूर्ण प्रवाह में निरंतर प्रवाहमान हो उस प्रेमरस में बौरी या मतवाली घूमती हो उसके लिए तो यह अद्भुत, अलौकिक प्रेम ही उसके जीवन-दर्शन का आधार और मूल भित्ति है।

इनके अधिक पद नहीं मिलते। यह एक सवैया बहुत प्रसिद्ध है जिसमें इनके त्याग-वैराग्य और आत्मबोध की झलक मिलती है

"बावरी रावरी का कहिये, मन ह्वै के पतंग भरै नित भाँवरी।
भाँवरी जानहिं संत सुजान जिन्हें हरि रूप हिये दरसाव री।।
साँवरी सूरत, मोहनी मूरत देकर ज्ञान अनंत लखाव री।
खाव री सौंह तिहारी प्रभु, गति रावरी देखि भई मति रावरी।।"

भारतेन्दु समकालीन कवयित्रियों में बुन्देलबाला और तोरनदेवी शुक्ल 'लली' के नाम उल्लेखनीय हैं। बुदेलबाला लाला भगवानदीन की धर्मपत्नी थीं। इन्होंने देश-भक्ति और स्वदेश महत्ता पर कविताएँ लिखी हैं। तोरन देवी शुक्ल 'लली' ने भी राष्ट्रीय कविताएँ लिखीं और इनका 'जागृति' नामक कविता-संग्रह वर्त्तमान युग की क्रांतिकारी चेतना को लेकर प्रकाशित हुआ।

प्राचीन काल की अपेक्षा इस युग में काव्य शैली का अत्यधिक प्रसार एवं विकास हुआ है। उसमें नवीन भावों की अभिव्यंजना तथा कमनीय कल्पना की मनोहर उड़ान का अवस्थान है। जब दुनियाँ के पर्दे पर बीसवीं सदी के आँखों को लुभाने वाले विभिन्न चित्र अंकित हुए, उन्हीं चित्रों के साथ विज्ञान की उलझन, उपयोगितावाद का विकास और भौतिक जीवन की कशमकश हमारे जीवन के केन्द्रबिन्दु के आसपास चक्कर लगाने लगे तो साहित्य क्षेत्र में भी भारी उथल-पुथल हुई। व्यष्टिवाद की इमारत और सुदृढ़ प्राचीरें ढहने लगीं, सामूहिक चेतना जागी और स्त्रियों में भी प्रति-स्पर्द्धा के भावों का उद्वेलन हुआ। कविता की मोहक तान ने उनका ध्यान आकृष्ट किया और उन्होंने केवल भावभूमि में ही नहीं, वरन् कविता के कला-पक्ष में भी पूर्ण योग दिया। हिन्दी काव्य-गगन की उज्ज्वल तारिका सुश्री महादेवी जी को कौन नहीं जानता ? ये चिंतनशील, विदग्ध तथा भावुक नारी हैं। छायावादी कवियों में सबसे अधिक अनुभूति एवं मार्मिक अभिव्यंजना इनकी रचनाओं में पाई जाती है।

कोमलता, मधुरता, पीडा इनके हृदय की अमूल्य निधि हैं। अंतर्व्यथा के तप्त उच्छ्वासों में अपने आकुल प्राणों को तपाते रहने में ही इन्हें चरम सुख की अनुभूति होती है, उसी में इन्हें एक प्रकार का अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है। वेदना आपकी चिरसखी है, उसके बिना ये रह नहीं सकतीं।

'पर शेष नहीं होगी यह, मेरे प्राणों की क्रीड़ा,
तुमको पीड़ा में ढूंढ़ा, तुम में ढूंढूंगी पीड़ा।'

इनका हृदय निरंतर किसी अभाव का अनुभव करता है उसी के अन्वेषण में व्याकुल है। प्रथम मिलन के पश्चात् ही उस अज्ञात प्रियतम से इनका विरह हो

गया, वे प्रिय को आँख भर देख भी तो नहीं पाईं

'इन ललचाई पलकों पर पहरा जब था व्रीडा का,
साम्राज्य मुझे दे डाला उस चितवन ने पीडा का।'

महादेवी जी प्रधानत अतर्वृत्तिनिरूपक कवयित्री हैं। वे अपने भीतर स्वय को तथा वस्तु-जगत् को देखती हैं साथ ही उस निराकार की भी उपासिका हैं, जो विश्व के कण-कण मे, प्रकृति की अनन्त सौंदर्य-श्री में आभासित है।

'नीरवतम की छाया में छिप,
सौरभ की अलकों में।
गायक ! यह गान तुम्हारा,
आ मँडराया पलकों में।'

इनके 'मूक मिलन', 'मूक प्रणय' में सरस एव भावुक हृदय में उठने वाली अनुभूति-लहरियो का हृदयग्राही चित्रण है। रहस्योन्मुख आध्यात्मिकता में विभोर होकर इन्होने जिन पदों का निर्माण किया है, छायावाद की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का, आत्मा की परमात्मा के प्रति आकुल प्रणय-वेदना का, दिव्य एव अलौकिक चिन्मय शक्ति से अपने सूक्ष्म सम्बन्ध की चेष्टा का तथा स्थूल सौन्दर्य के प्रति मानसिक आकर्षण के उच्छ्वास भरे अनेक चित्रो का जो सजीव चित्रण इन्होने अपनी कविताओ में किया है उसमें इनकी निराली भावभगिमा के दर्शन होते हैं और जीवन का गम्भीर दार्शनिक तथ्य भी अतर्निहित मिलता है।

'मुझे न जाना अलि ! उसने
जाना इन आँखों का पानी।
मैंने देखा उसे नहीं,
पदध्वनि उसकी पहिचानी।
मेरे जीवन में उसकी स्मृति—
भी तो विस्मृति बन आनी।।
उसके निर्जन मन्दिर में,
काया भी छाया हो जाती।
क्यों यह निर्मम खेल सजनि !
उसने मुझ से खेला है।।'

कितनी मार्मिक पक्तियाँ हैं ? सत्य के अन्वेषण में आकुल प्राण, चहुँ ओर के दुख-बाहुल्य से क्षुब्ध और कातर मन दीपक सदृश अहर्निश जला करता है। प्रकृति के अचल में जब उसका औन्मुक्य जाग्रत हो जाता है तो गगन-पथ में बिखरे अगणित मोती उसे अपनी ओर आकृष्ट करने में असमर्थ होते हैं—वह उनके अनुपम सौन्दर्य को भूल जाता है।

'आलोक यहाँ लुटता है,
बुझ जाते हैं तारागण।

अविराम जला करता है,
पर मेरा दीपक सा मन।'

महादेवी जी की अन्तर्भेदिनी दृष्टि तीक्ष्ण और सूक्ष्म है, इनकी हृद्‌गत भावनाएँ कहीं-कहीं बड़ी गूढ़ होती है। जीवन तो सदैव समान नहीं रहता, विषमता में डूबता-उतराता रहता है, अतएव ये ईश से यही प्रार्थना करती हैं कि जीवन में सदैव अतृप्ति बनी रहे, क्योंकि दुःख में ही सुख अन्तर्निहित है और निराशा में ही आशा की किरण फूट पड़ती है।

'मेरे छोटे जीवन में,
देना न तृप्ति का कण भर
रहने दो प्यासी आँखें,
भरती आँसू के सागर।'

ये विषाद में ही हर्ष, ताप में ही शीतलता तथा पीड़ा में ही आत्मानन्द का अनुभव करती हैं।

'एक करुण अभाव में,
चिर तृप्ति का संसार संचित।
एक लघु क्षण दे रहा,
निर्वाण के वरदान शत शत।
पा लिया मैंने किसे,
इस वेदना के मधुर क्रम में।
कौन तुम मेरे हृदय में ?'

'दीपशिखा' और 'यामा' इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनके गीति-काव्य में मधुरता और संगीत का अभूतपूर्व आविर्भाव हुआ है। इनकी कोमल भावनाएँ यथार्थता में उलझी नहीं रह सकीं, फलतः इनकी कविता वास्तविकता से बहुत दूर जा पड़ी है। इतने वर्षों से बाह्य जीवन एवं सामाजिक परिस्थितियों से अधिकाधिक विषम होते जाने के साथ-साथ इनकी कविता भी उसी अनुपात में अन्तर्मुखी होती गई है। सत्काव्य के आधार-तत्त्व अनुभूति और कल्पना का अनुकूल सामंजस्य होते हुए भी अपनी दार्शनिक मान्यताओं को इन्होंने सामाजिक यथार्थ की रगड़ खाने से बचाया है।

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान ने छायावाद की भूलभुलैया में न पड़ यथार्थवाद को अपनाया और इनकी रचनाएँ बहुत सरस, ओजस्वी और प्रभावोत्पादक सिद्ध हुई। इनकी काव्य-साधना महादेवी जी से भी पहले की है। अज्ञात प्रिय के लिए तड़प-तड़प कर मरने की अपेक्षा देश की पुकार पर मर मिटने वाले वीरों एवं आदर्श रमणियों की पावन स्मृति में अश्रु बहाने में इन्हें अधिक सुखानुभूति हुई। इनकी सरल दृष्टि प्रारम्भ से ही समाज के जीवन की ओर रही। इन्होंने उससे पलायन

नहीं किया। अपनी छलछलाती, पैनी, सुगम शैली में भावनाओं को उभार-उभार कर रखने में ये सिद्धहस्त थी। प्रणय-गीतों के दो-एक चित्र देखिए :

'बहुत दिनों तक हुई प्रतीक्षा,
अब रूखा व्यवहार न हो।
अजी! बोल तो लिया करो तुम,
चाहे मुझ पर प्यार न हो।
ज़रा ज़रा सी बातों पर,
मत रूठो मेरे अभिमानी!
लो, प्रसन्न हो जाओ, ग़लती
मैंने अपनी ही मानी।'

एक और उदाहरण :

तुम मुझे पूछते हो जाऊँ
मैं क्या जवाब दूँ, तुम्हीं कहो;
'जा' कहते रुकती है ज़बान
किस मुँह से तुमसे कहूँ 'रहो'।'

सारल्य एवं कला का मिश्रण इनकी रचनाओं में स्पष्ट परिलक्षित है। इनकी शैली में सदा ही प्रवाह और वेग है, अन्तर में सुख और आशा की किरणें छिपी हैं, इनका जीवन युग-युग से छाये हुए विषाद और उलझन से परे है, ये आशावादी हैं, उत्साही हैं जो अन्धकार के आवरण को चीरकर प्रकाश की कामना करती हैं।

स्वदेश-प्रेम भी इनकी कविताओं में कूट-कूट कर भरा हुआ है। ये क्षत्राणी थी और क्षात्र तेज इनकी कविताओं में पूर्ण रूप से प्रकट हुआ है। इनकी 'झांसी की रानी' अत्यन्त लोकप्रिय हुई। इनकी वात्सल्य रस की कविताएँ भी बहुत ही हृदयस्पर्शी हैं। 'मेरा नया बचपन' की कुछ पंक्तियाँ देखिए :

'मैं बचपन को बुला रही थी;
बोल उठी बिटिया मेरी।
नन्दन वन सी फूल उठी,
यह छोटी सी कुटिया मेरी।'

वात्सल्य की रसाप्लावित धारा का उच्छल आवेग मन को भिंजो देने वाला है, किन्तु इनकी प्रेमपरक और भक्तिपरक कविताओं में भी कुछ कम गहराई नहीं है। सहज-सरल होते हुए भी इनका कवित्व और विदग्धता उच्चकोटि की है।

"मुझे भुला दो या ठुकरादो,
करलो जो कुछ भावे।

लेकिन वह आशा का अकुर
नहीं सूखने पावे ।।
करके कृपा कभी दे देना शीतल जल के छींटे ।
अवसर पाकर वृक्ष बने यह, दे फल शायद मीठे ।।"

'वीरो का कैसा हो बसन्त' इस कविता की कुछ पक्तियाँ—

"आ रही हिमाचल से पुकार,
है उदधि गरजता बार-बार,
प्राची, पश्चिम भू नभ अपार,
सब पूछ रहे है दिग्-दिगन्त,
वीरो का कैसा हो बसन्त ?
फूली सरसों ने दिया रग
मधु लेकर आ पहुँचा अनग
वधु वसुधा पुलकित अग-अग
है वीर वेश में किन्तु कन्त,
वीरों का कैसा हो बसन्त ?
भर रही कोकिला मधुर तान,
मारू बाजे पर उधर गान,
है रग और रण का विधान,
मिलने आये है आदि-अन्त
वीरों का कैसा हो बसन्त ?
गल बाँहें हों, या हो कृपाण,
चल चितवन हो, या धनुषबाण,
हो रस-विलास या दलित त्राण,
अब यही समस्या है दुरन्त,
वीरों का कैसा हो बसन्त ?"

एक दूसरी कविता में—

"उन्हे सहसा निहारा सामने सकोच हो आया ।
मुँदीं आँखें सहज ही लाज से नीचे झुकी थी मैं ।।
कहूँ क्या प्राणधन से यह हृदय में सोच हो आया ।
वही कुछ बोल दें पहले, प्रतीक्षा में रुकी थी मैं ।।"

इन्होंने कल्पित प्रणय या आक्रान्त विरह-वेदना के चित्र खींचने में अपनी वाग्मिता की समूची शक्ति नहीं लगाई, अपितु व्यक्तिगत सीमाओं में सिमट कर भी अपनी गहरी अनुभूतियों को व्यापक एव सर्वसवेद्य बनाने की चेष्टा की।

"भूलो तो सर्वस्व ! भला वे
दर्शन की प्यासी घड़ियाँ।
भूलो मधुर मिलन को, भूलो
बातों की उलझी लड़ियाँ॥

भूलो प्रीति - प्रतिज्ञाओं को,
आशाओं, विश्वासों को,
भूलो अगर भूल सकते हो,
आँसू और उसाँसों को॥

मुझे छोड़कर तुम्हें प्राणधन !
सुख या शान्ति नहीं होगी।
यही बात तुम भी कहते थे
सोचो, भ्रान्ति कहीं होगी॥

सुख को मधुर बनाने वाले,
दुख को भूल नहीं सकते
सुख में कसक उठूँगी मैं प्रिय !
मुझको भूल नहीं सकते॥"

इनकी सभी कविताएँ बहुत ही सीधी-सादी हैं। कहीं भी कोई उलझन या दुरूहता भरी लच्छेदार भाषा नहीं है। पर उस सरल भावाभिव्यंजना के भीतर कुछ ऐसा आकर्षण और मार्मिकता है जो पाठक के ग्रहणशील एवं संवेदनशील हृदय पर छा जाती है। प्रकारान्तर से अन्य कवि कवयित्रियों से इनकी कविताओं में यही अन्तर है कि ये अपनी रचना-सौष्ठव, उक्ति-वैचित्र्य या अलंकारों की छटा से चकाचौंधा नहीं करतीं, वरन् ऐसी सरल, अकृत्रिम भाषा में अपने विचारों को प्रकट करती हैं जो सब को ग्राह्य है और एक विशिष्ट सजीवता, शक्ति और सात्विक उत्साह—जो इन रचनाओं के पीछे सक्रिय है—वह सहज ही मुग्ध और अभिभूत कर लेने वाला है।

"मैं सदा रूठती ही आयी,
प्रिय ! तुम्हें न मैंने पहचाना।
वह मान बाण सा चुभता है
अब देख तुम्हारा यह जाना॥"

इनकी कविताओं में राष्ट्रप्रेम और जनवादी स्वर भी हैं। विदेशी शासन की शृंखला में जकड़ी जब भारत भूमि छटपटा रही थी तो इन्होंने अपनी सशक्त वाणी से उसकी गौरव-श्री को मुखरित किया। इन कविताओं के भी कई पहलू हैं। 'झाँसी की रानी', 'जलियाँवाला बाग', 'स्वदेश के प्रति', 'मातृ-मन्दिर में', 'विदा', 'पुरस्कार कैसा' आदि कतिपय कविताएँ कर्तव्य-कर्म तथा राष्ट्रोत्थान की नित्य गतिशील यथार्थता को समन्वित कर आज भी युगधर्म का नेतृत्व कर रही हैं। 'झाँसी की रानी' की

सुप्रसिद्ध निम्न पंक्तियाँ—

"जाओ रानी याद रखेंगे हम कृतज्ञ भारत वासी,
यह तेरा बलिदान जगावेगा स्वतन्त्रता अविनाशी,
होवे चुप इतिहास, लगे सच्चाई को चाहे फाँसी,
हो मदमाती विजय, मिटा दे गोलों से चाहे झाँसी,
तेरा स्मारक तू ही होगी,
तू खुद अमिट निशानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी॥"

'राखी की चुनौती', शीर्षक कविता में—

"आते हो भाई पुनः पूछती हूँ
कि माता के बंधन की है लाज तुमको ?
तो बन्दी बनो, देखो बन्धन है कैसा,
चुनौती यह राखी की है आज तुमको॥"

'ठुकरा दो या प्यार करो' 'प्रियतम से चलते समय', 'समर्पण', 'पुरस्कार का मूल्य' 'शिशिर समीर' आदि इनकी कविताएँ कोमल भावों को व्यंजित करती हैं। इनकी कविताओं का संग्रह 'मुकुल' के नाम से प्रकाशित हुआ है, जिस पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से सेक्सरिया पुरस्कार मिल चुका है। श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने इनके सम्बन्ध में लिखा— 'वह गीत नहीं, जीवन-संगीत लिखती, उसकी पाँतों पर कल्पना के कठोर मोती नहीं, अनुभूति के श्रम-कणों से गीले 'मुकुल' बिखरे होते। उन निधियों की आभा सेक्सरिया के चाँदी के टुकड़ों पर नहीं, माँ कहकर मचल पड़ने वाले कुमार हृदयों के ममता भरे आह्वानों पर प्रतिबिम्बित होगी।' दुर्घटना के कारण इनके आकस्मिक निधन से हिन्दी साहित्य की बहुत क्षति हुई है।

तारा पाण्डेय भावुक कवयित्री हैं और कई वर्षों से अपने गीतों द्वारा हिन्दी साहित्य को समृद्ध कर रही हैं। इनके उद्‌गारों में पीड़ा और कसक है, हृदय निरन्तर रोता सा रहता है।

'जीवन की सुख-दुख की स्मृतियाँ
जग पड़ती गीतों में, मन में।'

बाल्यावस्था में सांघातिक रोग से पीड़ित होने के कारण इनका अन्तर मुरझा गया और ये अश्रुमयी हो गईं। माता के असामयिक निधन से भी इन पर गहरी ठेस लगी, जिसे ये ऊपरी हँसी में छिपाने की सदैव चेष्टा करती रहीं।

'शैशव में माता का वियोग

सहकर चुपके चुपके रोई,
पर सच कहती हूँ बाहर से सबने मुझ को हँसते देखा ।'

इनके गीतो मे तरलता और अन्तर का क्रन्दन है। तारो की झलमलाहट मे भी इन्हें विषाद झलकता नजर आता है

'सखि, तारावलि का बिखरा दल !
नभ के प्रागण में जब हिल-हिल
करते हैं ये झिलमिल झिलमिल।
मै व्याकुल सी भावकता वश
जाती हूँ इनमें ही हिल-मिल।
सखि, करते हैं झिलमिल झिलमिल !'

इनकी भाषा सरल एव बोधगम्य होती है। 'सीकर' 'उत्सर्ग' 'शुकपिक' और णुकी' आदि इनकी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। कभी-कभी पीडा से तग आकर ये उल्लास और मगल-ज्योति जगाना चाहती हैं। निम्न पक्तियो में मधुर भावाभिव्यजना के साथ-साथ अनुभूति और सवेदनशीलता का कैसा सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है।

'उर अन्तर का नैराश्य मिटा
मेरे प्राणो में ज्योति जला दो।
स्मृति-विस्मृति के तान-बाने
अनजाने औ' चिर पहचाने
सुधि-पथ से आते-जाते
सबको आज भुला दो।
बने साधनामय पथ सुन्दर
अमर रहें ये गीतों के स्वर,
हाथ बढाकर जीवन का रथ
मेरा तुम्हीं चला दो।'

स्वर्गीया पुरुषार्थवती देवी 'आर्य' अपनी सृजनाकाक्षा की पूर्ति किए बिना ही इस असार ससार से विदा हो गई। अल्पकाल में जो कुछ भी ये लिख सकी उसमें हृदय की गहराई, करुणा और सिसकते स्वर हैं। सरिता की प्रवहमान धारा में इन्हें व्यथा और रुदन उमडता दीख पडता है।

'किसके लिए सकरुण विहाग-सम
अविश्रांत यह रोदन।
नीरस प्रातों में बिखेरती,
क्यों अपना भीगा मन ?'

इन्होने राष्ट्रीय कविताएँ भी लिखी हैं। 'अतर्वेदना' कविता-सग्रह इनका प्रकाशित हो चुका है।

स्वर्गीया रामेश्वरी देवी मिश्र 'चकोरी' जी के कृतित्व में प्रकृति का अनूठा चित्रण और प्रणयोच्छ्वास है। स्निग्ध, प्रांजल भाषा और परिष्कृत शैली में इन्होंने सूक्ष्म चित्रांकन प्रस्तुत किया है

'आते छिपे दृग मूँदते भानु के
मेघ के छौने बड़े उत्पाती ;
चचला भी तब दीपक लेकर,
रोष भरी उन्हें ढूँढने आती।
झोली भरे सुर - सुन्दरियाँ
गजमोतियों की हैं झड़ी सी लगातीं,
ओलों के रूप में आते वहीं
उन्हें बल्लरियाँ हिय हार बनातीं।'

इनकी कविताओं में राष्ट्रीय चेतना और स्वदेश प्रेम भी है। 'किंजल्क' इनका कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुका है।

स्वर्गीया रामेश्वरी गोयल हिंदी के प्रसिद्ध समीक्षक श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त की धर्मपत्नी थी। अपनी असामयिक मृत्यु के कारण ये हिन्दी की पर्याप्त सेवा न कर सकी, तो भी थोड़ अर्से में इन्होंने जो लिखा उसमें प्रौढ़ता और उद्‌बुद्ध प्रवाह है। वैयक्तिक परिधि से परे जीवन का सरल सामंजस्य और मार्मिक व्यंजना है।

'थोड़े से अश्रु पिन्हा के
नयनों में जीवन साधूँ।'

इनकी अनेक कविताओं में प्रणय की पिपासा और करुण स्वर है

'भोले ए पथिक ! न तोड़ो
मेरे जीवन की लड़ियाँ।
उलझी ही अब रहने दो,
दुखिया जीवन की घड़ियाँ'

इनके सम्पूर्ण काव्य में कोमलता, कल्पना की कमनीयता और अनुभूति की सचाई है। 'जीवन का सपना' इनकी पुस्तक है जिसमें तीस कविताएँ और गद्यगीत संग्रहीत है।

स्वर्गीया होमवती जी प्रमुख रूप से कहानीकार है, किन्तु इन्होंने अपनी एकांत अनुभूति और संवेदना को कविता में भी ग्रथित किया है। असमय वैधव्य के कारण इनके समस्त कृतित्व में अवसाद और रागात्मक संस्पर्श है। अपने कविता संग्रह 'उद्‌गार' में उन्होंने प्रारम्भ में ही अपनी पीड़ा का परिचय दिया जो हृदय को छूता है

'उर में उमड़ा पीड़ा वारिधि,
जीवन में बरसे अंगार !

जीवन-धन को खोकर मैंने
पाया कविता धन उपहार !!'

अल्प वय में पति के अभाव से जो एक सूनापन और करुणा का भाव उनमें जाग्रत हुआ, वह कविताओं में साकार हुआ है। इस चोट से उनमें हृदय की विशालता और औदार्य अधिक आ गया था। दूसरों के दुःख से वे तत्काल तादात्म्य स्थापित कर लेती थी और जीवन में गहरे पैठन की प्रवृत्ति भी उनमें अधिक थी। एक कविता—

"प्राण-पछी, उड चला फिर !
आह ! परदेसी पथी को, मान कर पथ का सहारा।
चल दिया था साथ सहसा, खोजने जीवन किनारा॥
छोड कर वह चल दिया, अधबीच में वह धुन रहा सिर !
प्राण-पछी, उड चला फिर !
लौट आना चाहता पर, खिच रहा उस ओर क्षण-क्षण।
है स्पदित आज मेरे मन-विहग का मर्म कण-कण ॥
जा रहा विक्षिप्त-सा फिर, रह न पाया निमिष भर थिर !
प्राण-पछी, उड चला फिर !
एक पग आगे मचल कर, और दो पीछे ठहर कर।
निबिड तम में हृदय थामे, सोच लेता कुछ सिहर कर॥
क्षितिज के उस पार क्या? उत्थान है, अवसान या चिर?
प्राण-पछी, उड चला फिर !
जा रहे पथी सजग सब, ध्यान में धर ध्येय अपना।
किन्तु मेरा प्राण-पाखी, भर दृगों में मौन सपना॥
देखता तूफान छाये, मेघ सुस्मृति के घुमड घिर !
प्राण-पछी, उड चला फिर !"

शकुन्तला खरे श्री नर्मदा प्रसाद खरे की धर्मपत्नी है। इनमें तन्मयता और अन्तर्मुखी प्रवृत्ति है। अनेक कविताओं में सुभद्राकुमारी चौहान की भाँति वात्सल्य और माँ की पुलक है। इन्होंने अपनी बड़ी आशा के प्रति सखि को सबोधित करके लिखा

'सजनि, एक से दो बन आई,
मेरी ही शिशुता तो फिर से
मेरी गोदी में मुस्काई।
यौवन ने शैशव को पाया—
खिला फूल फिर कली बना री,
मैं अन्तर-घट को ममता से
सजनि, आज फिर से भर लाई।'

शकुन्तला जी ने महादेवी वर्मा की आध्यात्मिक और पलायन वृत्ति को भी

अपनाया है। कहीं-कहीं व्यंजना गहरी और अधिक मार्मिक होकर प्रकट हुई है।

'मैं हँसी मधुमास आया।
झर पड़ा अनुराग दिश-दिश और नव उल्लास छाया।'

और

'झरकर वेणी में श्वेत फूल
हँस उठे गगन में तारक बन।
मेरी आभा से व्योम हँसा
लहराया सतरंगी दुकूल,
छाया छू छू कर झूल उठे
तृण-तृण तरु-तरु में मधुर फूल।'

श्रीमती सुमित्राकुमारी सिनहा कुछ वर्षों से कविता-क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति कर रही हैं। इनकी भाषा सरल किन्तु भावपूर्ण होती है। कोमल कल्पनाओं की उड़ान में ये कहीं-कहीं बहुत ऊँची उठ गई हैं

"कमल नाल के तन्तु सरीखे
झीने सूत्र बने अब बंधन
पुष्प दलों सा जो मन तोड़ा
वही बन गया है अब पाहन,
तुमने समझा स्वप्न जिसे वह सत्यों का आकार बन गया।
एक पराजय ने जीता है
जीवन की गतिविधियों का क्रम
पग चिह्नों को सौंप दिया है
पथचारी ने पथ का विभ्रम
तुमने समझा जिसे किनारा आज वही मँझधार बन गया।"

जहाँ एक ओर आपकी कविताओं में भावुकता झलकती है, वहाँ उनमें अभिव्यक्त प्रेम तथा रहस्यवादी तत्त्व भी सन्निहित हैं

"शिशिर निशा में जग की मूँदी
पलकों पर सपने सोते थे
दिग्पथ पर तारों के दीपक
ज्योति भरे जगमग होते थे
तभी छलककर नभ से धरती
पर बसंत मधु आया होगा
तुमने ही मुस्काया होगा।"

इनकी रचनाओं में कोमलता के साथ-साथ वेदना भी प्रथित है। भावों की तन्मयता, कल्पना की उड़ान और सूक्ष्म भावजन्य मादकता से परिपक्वता पाकर यह

वेदना आशा और निराशा के खेल दिखाती हुईं इनकी कविताओं में स्फूर्ति भरती है।

महादेवी के पश्चात् ये ही एक ऐसी कवयित्री हैं जिनकी कोमल एवं सुष्ठु कल्पना समस्त अलंकार-विधान और शब्दाडम्बर को पीछे छोड़कर अपने सहज आवेग में ही काव्य हो उठी है —

"क्या कहूँ, तुझसे किशोरी
इस गृहस्थी-भूमि पर तू बीज विष के हा ! न बो री
दुख किसे है ? जो सदा ही भागता है दूर दुख से
सुख किसे है ? जो न सोचे --"मैं रहूँ भरपूर सुख से"
अथिर हैं संसार के सुख-दुःख दोनों खेल, रानी !
अतः जीवन में चलो कर दो क्षणों का मेल, रानी !
यदि न हों आँसू यहाँ तो, हास का क्या मोल हो फिर
दो न पलड़े हों तुला के, किस तरह से तोल हो फिर
क्या नहीं है रात काली, जब कि ऊषा चमकती है
क्या नहीं हैं विरस काँटे, जब कि कलियाँ गमकती हैं
झेलना संघर्ष जग के, है इसी का नाम जीवन
सन्तुलन रखो, उठाओ तो तनिक ऊपर नयन-मन
जगत-तापों में गलाकर ही खरा कंचन संजो री
क्या कहूँ, तुझसे किशोरी !"

उदात्त काव्य शैली, सरल भाषा मिश्रित गाम्भीर्य और नारी सुलभ भावनाओं के द्वन्द्व का सफल चित्रण ये ही सुमित्रा जी की कुछ विशेषताएँ हैं जो मन को अभिभूत कर लेने वाली हैं। 'सान्ध्य गीत' की कुछ पंक्तियाँ—

"आ गई साँझ,
अब दीपक मुझे जलाने दो !
मुझ को अब ज्योति जगाने दो ।
नदियों, घाटी-वन-उपवन पर,
पर्वत - खेतों - घर-आँगन पर,
श्यामाचल की जो छाँह पड़ी—
उस में पल भर विरमाने दो !
सुरमई उतरती गोधूली,
हाथों में ले सेन्दुर तूली,
इसका पथ ज्योतित कर मुझ को—
सपनों के चित्र बनाने दो !
नीलम महलों मोती बिखरे,
धरती पर दीपक लौ ठहरे,

झिलमिल लौ से हो टेर टेर-
प्रात को मुझे बलाने दो !
मझ को अब दीप जलाने दो !
आ गई सांझ,
अब मुझ को दीप जगाने दो !"

इन्होंने भक्तिपरक कविताएँ भी लिखी हैं जिनमें हृदय की सचाई के साथ साथ रचना-सौंदर्य और वाग्वैदग्ध्य भी है—

"मैं हर मन्दिर के पट पर अर्घ्य चढ़ाती हूँ,
भगवान एक पर मेरा है !
मन्दिर-मन्दिर में भेद न कुछ मैं पाती
है सिद्धि जहाँ, साधना वहीं पर आती,
मन की गरिमा जिसके आगे झुक जाती
वाणी वर का अभिषेक वहीं पर पाती
मैं हर पूजन-अर्चन पर शीश झुकाती हूँ,
अभिमान एक पर मेरा है !
कलियों, फूलों पर किरनें प्यार लुटातीं
नभ से आतीं, माटी-कन में छा जातीं,
पर क्या कलियों, फूलों में ही बस जातीं ?
सूरज की किरनें सूरज के संग जातीं।
मैं किरन-किरन को भी पर प्यार लुटाती हूँ,
दिनमान एक पर मेरा है !
मन ही तो शाश्वत स्नेह प्रेम का बन्धन,
आगे तन की गति क्रिया व्यर्थ का क्रन्दन,
यह पूजा भक्ति प्रार्थना-गत अभिनन्दन !
मन की महिमा-गरिमा का करते वन्दन !
मैं हर अशीष मन को स्वीकार कराती हूँ,
वरदान एक पर मेरा है !"

बैशाख जेठ की दोपहरी कितनी भीषण होती है। उसके प्रखर ताप और असह्य उष्णता को याद कर मन काँप उठता है। कवयित्री ने लू के सन सन करते आग उगलने झोंकों में भी शब्दों का सम्मोहन भर दिया है

"बैशाख-जेठ की दोपहरी !
लू के झोंके सन सन सन सन,
चलते हैं आग भरा ले मन,
अंगारों से मंडित है तन,

मुलसाने जाते अन्तर्मन,
उठती जातीं हूकें गहरी,
वैशाख-जेठ की दोपहरी !
विहँगों के मन्द पड़े स्वर भी,
सरितायें सूख रहीं सर भी,
अब तो विस्तृत अम्बर पर भी,
बिखरे न कहीं दिखें घन के पर भी,
मिलतीं न कहीं छाँहें छहरीं !
वैशाख-जेठ की दोपहरी !
यह धूप और दुपहर की तपती गरमी,
किन ज्वालामुखियों के अन्तर से जन्मीं,
किस शंकर के अभिशाप धरा पर छाये,
ऋतुपति के वासन्ती-उपवन मुरझाये,
फिर धूलि-कणों से ढका गगन का आनन,
सूखे ठूँठों से घिरा सुरभिमय कानन,
प्यासी प्यासी लगतीं धरती की आँखें,
सूनी सूनी रीते बादल की पाँखें,
अब मौन धरा औ' नभ के आकर्षण हैं,
झुलसे भू पर के कण-कण औ' तृण-तृण हैं,
जीवन की साधें दूर देश में सोईं
चेतना लता कुञ्जों की खोई खोई,
आलस औ' भारीपन में तन-मन डूबे,
लम्बे लम्बे दिन लगते ऊबे ऊबे ।"

'तुमने ही मुस्करा दिया' शीर्षक कविता में हृदय को रंजित करने वाला भावोन्मेष है । अर्थात् ज्यों ही वह मुस्कराया, समस्त सृष्टि में जैसे मादकता छा गई । अखिल दृश्य-जगत् का वह चितेरा ही तो विराट् चित्रपट पर कौतुक भरे चित्र आँका करता है जिसमें माधुर्य मुकुलित हो उठता है और उसी की सौन्दर्य-श्री सर्वत्र बिखर जाती है

"तुमने ही मुस्कुरा दिया क्या, जो वसन्त का मन बौराया ।
धरती ने हाट पहन लिये हैं
रंगीन वसन फसलों के कंगन,
नदियों ने मुख धो कर देखा
धीर धार का निर्मल दर्पण ।
गरम रक्त बिखरती पवन की शिरा शिरा में यों लहराया ।
तुमने ही मुस्कुरा दिया क्या, जो वसन्त का मन बौराया ।

टेसू की आँखों की प्याली,
में उकनाई मद की लाली,
मरकत वन में लगे नाचने,
तोते, मोर बजा कर ताली,
ताल किनारे युगल सारसों ने फिर से अभिसार रचाया।
तुमने ही मुस्करा दिया क्या, जो वसन्त का मन बौराया।
आमों की सुगठित बाँहों को,
छू ही गई तुम्हारी चितवन,
तभी नये पातों से फूटा,
सोने सा बौरों का यौवन,
तभी दिगन्तों में कोयलिया ने मगल का बिगुल बजाया।
तुमने ही मुस्करा दिया क्या, जो वसन्त का मन बौराया।
घूँघट खोले देतीं कलियाँ,
लगे किलकने पछी सारे,
तभी सवेरा होते किरनें,
लगीं नाचने द्वारे द्वारे,
धरती हुई कृतार्थ, पुलक कर अगों में रग रूप समाया।
तुमने ही मुस्करा दिया क्या, जो वसन्त का मन बौराया।।"

ये सार्वजनिक कार्यों एव कवि सम्मेलनों में सक्रिय भाग लेती है। इनकी 'अचल सुहाग,' 'विहाग,' 'वर्षगाँठ,' 'आलापर्व,' 'पथिनी' आदि पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी है। सेकसरिया पुरस्कार से भी ये पुरस्कृत हो चुकी है और एक लम्बे अर्से से काव्य साधना कर रही है।

श्रीमती विद्यावती 'कोकिल' नितात मौलिक कवयित्री है। इन्होने चतुर्दिक् फैले जीवन के साधारण असाधारण क्षणों को जिस दक्षता से पकड़ा है, उन्ही को भावनाओ के अनुरूप ढाल कर ऐसे आकार प्रदान किये हैं जो सम्पूर्ण रूप से गति के व्यजक है। कोमल हृदय के स्पन्दन को जाग्रत करने के लिए कही वे अपने आप को मुक्त खगी सा अनुभव करती है

"मै जड़ता की अन्ध गुफा में उड़ती एक खगी हूँ।
मैंने क्षण भर को भी तो विश्राम नहीं जाना है,
जाना कभी तो बृहत्तर जोखिम फिर से ठाना है,
इस सोते संसार के बीच मे ही बस तनिक जगी हूँ।

परिवर्तन की झझाओं से गई सदा झकझोरी,
और परिस्थिति के दौरों में बेसम्भार हूँ दौड़ी;
अपने ही आदर्शों से मैं फिर-फिर गई ठगी हूँ।

कोई परछाहीं है उसके पीछे भाग रही हूँ,
आकारों से अपनी धरी धरोहर मांग रही हूँ,
प्रेम में किसी अनदेखे के मैं भरपूर पगी हूँ।

दुख की अन्धी घाटी में गिरती पड़ती बढ़ती हूँ,
और राह पर निज प्रलयों को ठुकराती चलती हूँ,
जैसे कोई लक्ष्यबेध तीर-सी सवेग भगी हूँ।"

प्रेय श्रेय के द्वन्द्वों से ऊपर, ज्ञात और अज्ञात से अभय नित-नए परिवर्तनों की छाया को चीरती फाड़ती उस ऊँचाई की राह में दौड़ना सरल नहीं है, पर रास्ता बनाने वाला क्या कभी रुकता है? हृदय की अनमोल निधियों को बिखरती विहगी सी नीलाम्बर में उड़ती 'कोकिल' की कोमल कल्पना श्रान्त होना नहीं जानती। एक अन्य कविता में

"मैं जीवन के हृदय में उठी कोई दिव्य पीर हूँ।
जला दिया है बसा नीड़ निज जड़ पार्थिव डालों पर,
उड़ान में ही बस अब रचता जाता है जिसका घर,
अग्नि चोंच में लेकर उड़ने वाला एक कीर हूँ।

आनन्द स्वयं आकर जिसकी दृष्टि बना जगमग है,
और तीर्थ यात्रा में जिसकी बनी प्रेरणा डग है,
बलि के हित स्वीकार हो चुका है जो वह शरीर हूँ।

मानव विरचित जनम जनम के अमृत भरे सपनों से,
संचित करके उच्चादर्शों के महान तीर्थों से,
लाया गया यज्ञ के स्रुवापात्र का अर्घ्य-नीर हूँ।

रुक न सकूँगा कितना भी अब लक्ष्य सरकता जाए।
थक न सकूँगा बाधाओं के पर्वत भी आ जाएँ,
मैं प्रभु के तरकश से छूटने वाला एक तीर हूँ।"

अपनी भक्तिपरक कविताओं में इन्होंने भक्ति के विभिन्न पहलुओं को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा है। भक्ति का अर्थ है—हृदय की निष्कपट सरलता और सचाई। नारी का निष्काम, निरपेक्ष प्रेम और समर्पण की भावना ही सच्ची भक्ति है जिसमें किसी प्रकार का भी द्वन्द्व-संघर्ष या स्वार्थ नहीं है। निम्न कविता में हृदय का आर्द्र परिप्लावित भाव इनके भीतर के निरन्तर सत्य का उद्घोषक और विश्वास का प्रतीक बनकर प्रकट हुआ है

"मेरा ज्ञान भजन बन जाता
सब इतिहास प्रकृति बन जाते,

सब भूगोल निरंजन काया;
मेरी सत्य लगन के आगे
सब दर्शन जीवन बन जाता।
मेरा ज्ञान—

भाषा तो अनुभूति विरानी—
कैसे अपने भाव सजाऊँ ?
किस प्रतिभा को काव्य कहूँ मैं—
सारा चिन्तन ऋण बन जाता !
मेरा ज्ञान—

औरों के बलिदानों पर ही
मैंने अपना पथ सिरजा है—
किस मौलिकता पर इतराऊँ,
प्रति पग समानुकरण बन जाता
मेरा ज्ञान—
यों तो मैंने जग को अब तक
बहुत ज्ञान-विज्ञान दिया है :
कैसे उसका लेखा जोड़ूँ—
मेरा कार्य सृजन बन जाता !
मेरा ज्ञान—

पीड़ा में क्या शोर मचाऊँ,
और विजय में नाद करूँ क्या !
मेरा सकल विकास सफल बन
ससृति की पुलकन बन जाता।
मेरा ज्ञान भजन बन जाता।"

एक दूसरी कविता में—

"मैं तो तेरे प्रेम के सिन्धु परी
शात, सत्य इक ज्वाला अनुपम
चारिहु मुख उघरीं,
जाने अनजाने जहँ अपनी
रचना जाति जरी,
मेरे तन मन प्रणन की गति यज्ञ बनी सिगरी।
मैं तो तेरे प्रेम के सिन्धु परी।
भाव भाव के जनम जनम अब

एक कथा सचरी,
और कर्म की गलिन गलिन में
एकहि स्वर लहरी,
एक छत्र बस राज तुम्हारो एहि तन की नगरी।
मैं तो तेरे प्रेम के सिन्धु परी।

सकेतों पर बैठूँ, उठूँ कि
सोऊँ और जगूँ,
जोई बनाओ सोइ बन जाऊँ
जहाँ कहो बरसूँ,
चाकर होइ रहूँ विश्वासी ऐसी शपथ करी।
मैं तो तेरे प्रेम के सिन्धु परी।"

श्रीमती 'कोकिल' में आज के भ्रम और अविश्वास की काली परछाइयाँ नहीं उभरी हैं। वादों के जजाल से मुक्त जीवन रूपी महासागर का अवगाहन करके वे अपनी अमूल्य काव्य-मुक्ताओं की माला मानव-समाज को अर्पित कर रही हैं। निरन्तर मिट-मिट कर, कुछ खो-खोकर या पा-पाकर अपनी रिक्तता को वे किसी बेबसी, अभाव या दैन्य के रोदन से नहीं भरना चाहती, बल्कि अपनी जिन्दादिली और मधु-मद गीतों की आनन्दमयी मस्ती में मुरली धुन की अनुगूँज में थिरकना चाहती हैं।

"मुरली बाजि रही मधुवन में
एक गूँज गूँजी आत्मा में द्वार खुले कचन के,
नाच रही राधा छबि देखी रूप-रग-नन्दन में।
एक गूँज गूँजी मानस में द्वार खुले चन्दन के
उडी जा रही सघन कल्पना जीवन लिए गगन में।
एक गूँज गूँजी अन्तर में द्वार खुले चाँदी के
आनन्द बरसा मको सलवली दुनिया के क्रन्दन में।
एक गूँज गूँजी काया में द्वार खुले लोहे के
कठिन पर्त टूटी जडता की मधु उमगा जीवन में।"

श्रीमती विद्यावती मिश्र कविता के क्षेत्र में अनेक वर्षों से साधना कर रही है। एक आस्थावान नैष्ठिक नारी का सा आश्वासन और सतृप्ति के स्वर इनकी कविता में उद्बुद्ध हैं। भगवान के प्रति अत्यन्त दीन याचना और मूक समर्पण का भाव लेकर इन्होंने अपनी भक्ति की तन्मयता को शब्दों में साकार किया है

"भय यह मुझको नहीं कि मेरी यह लघु सत्ता मिट जायेगी,
केवल यह दुख फिर न द्वार पर प्रतिदिन भक्त राशि आयेगी,
मैं वह ही, वह ही जग, वह ही मन्दिर, फिर वरदान न बदलो !
अब मेरे भगवान न बदलो !

वीणा मेरी एक, एक ही तरह सधी अंगुली पड़ती है,
फिर क्यों अविकल राग रागिनी टूट-टूट स्वर में अड़ती है,
वही अधर है वही बाँसुरी गायक अपने गान न बदलो!
अब मेरे भगवान न बदलो।

चचल मन को एक तुम्हारी दृढ़ता का आधार रहा है,
जिसके ध्यान-मात्र के बल पर जीवन भर संघर्ष सहा है,
निर्बल के आधार, लोक के प्राण, विश्व-कल्याण न बदलो!
अब मेरे भगवान न बदलो!"

अलकार, साज-सज्जा, उक्ति वैचित्र्य और मिथ्याडम्बर से ऊपर उठकर अपने अंतर्प्रदेश के अखण्ड मौन में ही ये भगवान् की खोज करती रहीं। शनैः शनैः यह भावना भी इनमें इतनी पुष्ट होती गई है कि मानवत्व की चरम परिणति को ही इन्होंने देवत्व की संज्ञा दी। देवत्व आखिर है क्या? क्या सचमुच जीवन की अमरता का वरदान उन उच्चात्माओं में नहीं है जो पदवन्द उपासना गृहों या मठ-मन्दिरों में नहीं वरन् त्याग-तपस्या, परहित और अपनी समूल चैतन्य शक्ति द्वारा एक सच्चे मनुष्यत्व में देवत्व को सार्थक करने की अनवरत साधना में लगे रहते हैं। 'इसान मेरा देवता' शीर्षक कविता में इसी भाव को व्यंजित करती हुई ये लिखती हैं:

"मैं चाहती अगणित स्वरों में विश्व को यह दूँ बता,
इसान मेरा देवता!

रवि के प्रबलतम ताप ने श्रम को पसीना कर दिया,
प्रत्येक जिसकी बूँद ने जीवन धरा पर भर दिया,
वह मूर्ति पौरुष की बने चिर-अर्चिता!
इंसान मेरा देवता!

घनघोर तीव्र प्रहार से जब वज्र-सा लोहा कटा,
तब आग की चिनगी उठी व्यापक युगों का तम फटा,
इस साधना की अब नियति भी अनुगता!
इसान मेरा देवता!

पट बद हो पूजा-गृहों के अब सदा को आज से,
भगवान अब बाहर न होगा लोक और समाज से,
देवत्व का ही नाम होगा मनुजता!
इसान मेरा देवता!"

कहीं-कहीं छायावाद और रहस्यवाद से प्रभावित होकर इन्होंने उस अज्ञात स्पन्दन को भी अनुभव किया है जिसकी कि अभी तक न्यूनाधिक रूप में परिपाटी चली आ रही है। किन्तु इनकी मौन प्रतीक्षा का अन्त रुदन या पीड़ा के पतझर में नहीं बल्कि हँसते हुए वसन्त में है। उस तमिस्रा में ही इनके प्राणों के तारे या चेतना

नही कौंधती, अपितु इनकी भावमयता सहजता और सादगी का परिधान धारण कर *सरल वाणी की रसधारा में फूटी पड़ रही है :*

"मेरे कवि की प्यास कि जैसे सीपी के अंतर की ज्वाला,
मेरे कवि की प्यास कि जैसे बादल में बिजली की माला,
जैसे ज्वालामुखी लिए रहता है अपने में अंगारे··,
जैसे तममय रात छिपाए रहते हैं प्राणों में तारे··,
रहता है अज्ञात सदा मानव-मन का इतिहास !
एक उसी की ही छाया है मेरे कवि की प्यास !!

है मिट्टी की प्यास भूमि के सोने भरे हुए अंचल में,
है सरिता का वेग नाव के हिलते हुए सबल सबल में,
फूलो की मुसकान सुरभि की मस्ती भरी हुई लहरो में,
जीवन के मकरन्द किसी के पागल प्यार-भरे प्रहरो में,
मन की लोलुपता का ही है एक रूप संन्यास !
और उसी की एक चेतना मेरे कवि की प्यास !!

मेरी मौन प्रतीक्षा का कब हो पाया है अंत,
रोता पतझर बन पाया कब हँसता हुआ वसन्त,
तृप्ति न मन को दे पाया है आने का सन्देश,
फल की प्राप्ति न हो पाती है चलने का आदेश,
चाह रहा भूतल पर आना एकाकी आकाश !
किन्तु चांद पाने को व्याकुल मेरे कवि की प्यास !!"

श्रीमती कमला चौधरी मुख्यत कहानीकार हैं, पर काफी कविताएँ भी लिखी हैं। इनके उद्गारो में सच्ची सरल निष्ठा व्यंजित हुई है। प्रेम-विरह, आशा-निराशा, मिलन विछोह के उन्मादक गीत इन्होने नही गाए, वल्कि जीवन की दौड में अनायास ही, जो सम्पर्क में आते रहते हैं, उनसे ही तादात्म्य स्थापित कर इन्होने अपनी संवेदनाओ का बडे सहज, सच्चे ढग से विस्तार किया है। वाहरी दुनिया के सामान्य-असामान्य परिवेश से परिचित होने पर ही ऐसा तादात्म्य सम्भव है। व्यापक अर्थ में राग-विराग, हर्ष विषाद और मानव-संवेदनाओं से प्रभावित होकर विशेष सामजस्यपूर्ण स्थिति में ऊपरी तौर पर एक दूसरे से भिन्न जान पडने के बावजूद भी *समय के अनगिन संघर्षों से टकराकर उक्त प्रयत्न-परम्परा की महत्ता में* उदात्त भावनाएँ गहराई में आकर एक हो जाती हैं। तलस्पर्शी दृष्टि वैविध्य में भी एकत्व *खोज लेती है।* इनकी नजर *आकाशचारी नही, बल्कि चरणतल में बिछी सजल* श्यामल धरती पर ही टिकी है :

"धीरे-धीरे चरण बढाना, पवन ! तनिक संयत हो आना,
चपल लहरियो के नर्तन पर, रीझ-रीझ मत होश गँवाना !

नील गगन में चाँद उगा है,
सागर का उन्माद जगा है,
लहर-लहर का अर्चन-नर्तन,
मिलन-लालसा, पीड़ा क्रन्दन—

बढ़ने दो, व्यवधान न लाना, उचित नहीं उत्पात मचाना,
युग-युग के साधक सागर ने, प्रेम जोग का तप है ठाना !

धरा गगन में है अति दूरी,
महाविषादमयी मजबूरी,
मन की साध न होती पूरी,
प्रेम कथा नित रही अधूरी,

सम्भव नहीं चन्द्र का आना, और सिन्धु का नभ तक जाना,
विफल तपस्वी अचल प्रीति का, चपल ! न इस का ध्यान डिगाना !

कभी नहीं होता परिवर्तन,
अटल अटूट नेह का बन्धन,
आदि अन्त का यह आकर्षण,
सुखद चिरन्तन का दिग्दर्शन !

विकल विरहरत रोना गाना, ताप, जलन, प्रतिपल अकुलाना,
सतत निराशा का वर पाकर, फिर भी अविचल प्रीति निभाना !

करने दो तन्मय हो दर्शन,
होने दो उच्छ्‌वास समर्पण,
सत्य शाश्वत का यह दर्पण,
आलोकित करता है कण कण !

ठहर पवन, तूफान न लाना, आ असमय मत क्षोभ बढ़ाना,
विषम वेदना आकुल अन्तर, लक्ष्य प्रीति की रीति जगाना !"

इस महायात्रा के असंख्य आयामों में कभी-कभी ऐसे एकाकी, अनदेखे क्षण भी आते हैं जो दूर अप्रत्यावर्तित अतीत और दूर अनागत भविष्य का रहस्यमय संकेत देते हैं।

"जल बरसा था रात अपरिमित !
उसी बीच में मधुर घात कर,
कोई मन छू गया अपरिचित !
पावस का उत्पात नहीं था,
पागल झंझावात नहीं था,
हल्का-सा आघात लगा था,

घन-रव उल्कापात नहीं था !
छिप-छिप आया बूँद-ओट में,
तुरत हृदय में हुआ समाहित !
जल बरसा था रात अपरिमित !

प्यासी आँखें देख न पाईं,
जलघट-सी दोनो भर आईं,
बन्द हुए कानो के परदे,
पतली भी मानो पथराई !
केवल सीमा का पट उघरा
मानस में वह हुआ चमत्कृत !
जल बरसा था रात अपरिमित !

कोर चुभा दी किसी किरन ने,
या मनहर वंकिम चितवन ने,
चोट लगी ज्यो स्निग्ध कली पर,
शबनम झटकी प्रात पवन ने !
चौंक पडी थी बेसुध धडकन,
पाहुन आया सहमा विस्मृत !
जल बरसा था रात अपरिमित !

चुप-चुप करता मन पहुनाई,
अनुराग मयी छिटकी जुन्हाई,
रूप रंग साकार न देखा,
किन्तु पलक सिहरन भर आई !
चित्त चितेरा चित्र खींचता,
अतर पट पर छबि प्रतिबिम्बित !
जल बरसा था रात अपरिमित !"

'अपनी अपनी मजिल' में ये उस गन्तव्य की ओर अग्रसर होना चाहती हैं जहाँ राह गुमराह है, किन्तु स्वत प्रेरणा से खोज लेने के अभियान में हैं । यह तो पता नहीं कि मजिल का ओर-छोर किधर है, मगर दिल को साहिल बनाकर और हरदम बजती सरगम से क़दम से कदम मिलाकर आगे बढने की ख्वाहिश रखती हैं ।
कहीं-कहीं उर्दू शब्दो के प्रयोग ने कविता में जान फूँक दी है ।

"मुझे राह में रोशनी मत दिखाना—
मैं अपना ही दीपक जलाती चलूँगी ।
किधर मेरी मजिल किधर है किनारा,
नहीं मुझको लेना किसी का सहारा ।

तड़प कर मेरे दिल ने मुझको पुकारा,
बताया है चुपके से कोई इशारा ।
बताये नहीं मुझको कोई किनारा—
मैं दिल को ही साहिल बनाती चलूंगी ।

नहीं भाती आंखों को सजधज मे रौनक,
चकाचौंध जगमग जमाने की हू हक ।
कि जो कुछ है बातिल है कुछ भी नहीं हक,
य नक्शे नहीं मुझको भाते हैं मुतलक
मेरे दिल में बजती है सरगम जो हरदम—
मैं उससे कदम को मिलाती चलूंगी ।

मचलती है लहरें ये उनकी है खसलत,
कि जाना और आना बहारों की आदत ।
जमाने ने दी क्या गुलों को ये रंगत ?
चकारों ने पाई कहां से है रग़बत ?
सभी में भरी है अजब एक वहशत—
मैं वहशत को राहत बनाती चलूंगी ।

ये गुलदान में गुंचे हैं हंसते चटकते,
गुलाबों की रविशें हजारों लहकते ।
हजारों हैं खिलते हजारों महकते,
कभी खुश्क होते कभी हैं फफकने ।
ये हंसते महकते हैं बनते बिगड़ते—
म गुलशन बनाती लुटाती चलूंगी ।

बनाये हैं दरिया न खुद ही किनारे,
पपीहे ने पाये हैं दिल से ही नारे ।
बताओ फलक पर हैं किसने उभारे,
ये सलमें सितारे से चमके जो तारे ।
ये चांद और सूरज ये दिलकश नजारे—
म अपने नजारा पै छाती चलूंगी ।

अकेले ही आई अकेले है जाना,
अलग अपनी मंजिल अलग है ठिकाना ।
कि आने का जाने का लम्बा फसाना,

बनाया है खुद ही अभी है बनाना ।
तुम इसमें नहीं कुछ बढाना-घटाना—
मैं अपना फसाना बनाती चलूँगी ।"

गद्य-काव्य की प्रमुख लेखिका श्रीमती दिनेशनन्दिनी जी अब कविता की ओर भी अग्रसर हुई हैं । 'उर्वशी' इनका प्रथम प्रयास और 'मनुहार' इनकी सफलता का द्योतक है, जिसका श्री दिलीप कुमार राय जैसे महान कलाकार ने अपने कलकंठ में उतार गीतों की तन्मयता से स्फूर्ति का अलस स्पन्दन भर दिया है । 'सारंग' में इनकी अनेक सुन्दर कविताओं का संकलन है । इनकी भाषा सरस एवं लचीली है, किन्तु संस्कृत शब्दों के साथ-साथ उर्दू फारसी शब्दों का प्रयोग भी किया गया है ।

इनकी कविता शृंगारी है और उसमें छायावादी रूमानी प्रेम की भी यत्र-तत्र गन्ध आती है । रहस्योद्भावना के चाव में इन्होंने रूक्ष निराशावाद को भी कहीं-कहीं प्रोत्साहन दिया है ।

निम्नलिखित पंक्तियों में हृदय की भावनाओं का कैसा सुन्दर निदर्शन हुआ है -

"पर्नमिलन के मधु क्षण में
सखि ! उनसे क्या पूछूँगी मैं ।
भूल सभी सपनों को
कुछ रोकर ही हँस दूँगी मैं ।'

दिनेशनंदिनी जी जहाँ गद्यकाव्य में सिद्धहस्त हैं, कविता में कोई निश्चित धारा नहीं पकड सकीं । फिर भी जिस अनुभूति को इन्होंने समक्ष रखना चाहा है उसे अपनी सहज सवेदनीयता से मूर्त करने का प्रयास किया है ।

"सजन पूछते हैं मैं आली घूँघट में शर्माती क्यों हूँ ?
गरल समझ उनका प्रीति-घट, घट में ही घल जाती क्यों हूँ ?
जब वे छूते छुईमुई सी छिन छिन में मर्झाती क्यों हूँ ?
सजन पूछते मुझसे आली, छाया से घबराती क्यों हूँ ?
कनक-कलश मादक मदिरा का पथ में ही ढुलकाती क्यों हूँ ?
रूप - निशा की साकी बेसुध मैं पीछे हट जाती क्यों हूँ ?
विशद विश्व भुज आलिंगन में बँधकर मिटती जाती क्यों हूँ ?
सजन पूछते यही सखी मैं घूँघट में शर्माती क्यों हूँ ?"

एक दूसरी कविता में—

"प्रिय ! तुम्हारे ही सहारे जी रही हूँ
दुःख जल है, कर्म फल है,
क्रूर भावी अन्ध तल है,

प्राण बन्धक प्रम छल है
फटे दिल को सी रही हूँ
प्रिय ! तुम्हारे साथ ही मैं जी रही हूँ

कठिन पल है दूर कल है
साधना मेरी विफल है,
कमल दल में आत्म बल है
गीति गगा पी रही हूँ
प्रिय ! तुम्हारे ही सहारे जी रही हूँ

सत कथा है चिर व्यथा है
एक ही जीवन प्रथा है,
प्रणय सौरभ मन गुथा है
बिन सुहृद के भी रही हूँ
प्रिय ! तुम्हारे ही सहारे जी रही हूँ

इति चरन है, खिन्न मन है,
गहन वन सा शिथिल तन है
साँस रग रग में घुटन है
पुण्य स्वप्निल छो रही हूँ
प्रिय ! तुम्हारे ही सहारे जी रही हूँ

प्राण पण है, अश्रु कण है
गुह्य चिन्तन ही मरण है
यह कहां से अकथ ऋण है
ज्योति तम अन्धी रही हूँ
प्रिय ! तम्हारे ही सहारे जी रही हूँ

आँखें तरल है, अमी गरल है
करण मेरा पथ सरल है
निवल निधि, पर विधि प्रवल है
रार की सन्धि रही हूँ।"

यों तो छायावाद-रहस्यवाद की मूलवर्ती भावना से प्रभावित इनमें कुछ वैसा सा ही विस्मय, कौतूहल और असीम चेतन का क्रन्दन है, किन्तु जहाँ भी छायावादी शैली और व्यक्तिवाद से मुक्त होकर इन्होंने लिखा है वहाँ इनके उद्गार अधिक स्वाभाविक बन पड़े हैं—

"मेरी आँखें मत मूँदो
खुद बन्दी हो जाओगे

सान्ध्य प्रभा के अश्रु
तब कैसे लख पाओगे ?"

'परिछाया' में इन्होंने अजात शिशु के प्रति अपनी भावनाओं को व्यक्त किया है। उदरस्थ अजन्मे बालक के प्रति जो अपरिमित स्नेह, ममत्व और वात्सल्य भरी उत्सुकता होती है उसे उस 'माँ' के सिवा कौन समझ सकता है जो कितनी ही रम्य कल्पनाओं के सहारे उस अकल्पनीय नूतन जीव का निर्माण करती है। लाज और सकोच में सिमटी उस घनीभूत अनुभूति में वह रमती तो रहती है, पर उस अतरग आह्लाद के शब्दचित्र नहीं बना पाता। दिनेशनंदिनी जी ने इसी अछूते विषय को 'परिछाया' में बखूबी निभाया है—

"स्पन्द में जीवित कहीं तुम
खो चुकी हूँ धैर्य अपना
कान बिन ही सुन रहे हो
चिर अचचल स्वप्न अपना।

खेलता विधि एक मुझसे
या सभी से खेलता है
हृदय का विश्वास आदिम
तर्क उसको ठेलता है।

वर्तमान की पूजा मेरी
एकनिष्ठ अविचलित ध्यान
जागरुक निद्रा के प्रहरी
तुम स्वप्नों के स्वप्न महान्।"

स्नेह-विह्वल वे उस अजात से पूछती हैं—

"यात्रा के कितने पग बाकी
दीपक में कब नेह भरा
ज्योति पुंज साकार कल्पना
किसका किससे स्नेह खरा।"

निम्न पंक्तियों में गर्भिणी नारी का कितना सजीव चित्रण है—

"धरती कँपती या पग कँपते
नहीं समझ पाती हूँ
धुँधले से इस अतराल पर
खिच रेखा सी जाती हूँ।"

उदरस्थ शिशु की ओर सकेत करती हुई एक अन्य स्थल पर वे लिखती हैं—

"जीवन की कितनी हारें
उस अंचल में एकत्रित
पीडा की मूर्च्छित छाया
मेरे अन्तर में चित्रित।"

किन्तु बालक को जीवन के घात प्रतिघात, आशा निराशा और दुःख व संघर्षों की निरन्तर तपती तीखी धूप और अवसादमयी छायाओं से दूर रहने का आदेश देती हुई वे लिखती हैं—

"जीवन की करुण कथाएँ
अंकित मेरे गानों में
वे छलनामय मनुहारें
सुन पडती अब कानों में।
मेरे अनन्त बालकपन
यह जर्जर मन मत छूना
जब तक यह घडी जगाये
निशि-वासर बढना दूना।"

जननी की माया ममता समेटे वे अपनी चिन्ता व्यक्त करती हुई लिखती हैं—

'मंजु मुख मुरझा न जाये
ढुल्क अधरों में शिकन
ध्यान इतना कब लगा था
दृष्टि में उद्विग्न मन।'

एक दूसरे स्थल पर—

'व्यथित मत होना
अगर वातावरण प्रतिकूल हो।'

कहीं वे कहती हैं—

'यक सोया जो बालापन
मेरी गोदी में खेले।'

इस लघु काव्यकृति में दिनेशनन्दिनी जी ने अपनी नितान्त कोमल भावनाओं को व्यंजित किया है। 'परिछाया' की भूमिका में ये लिखती हैं—"उस समय वधू के कर्त्तव्यों से लाज भरा संघर्ष था और नवीन जीवन की कटुता अथवा मिठास को बारी-बारी से देखकर घबरा जाती थी। पर क्षण में उडते-उडते बेमालूम धरती-पर गिर पडने का धक्का सा लगता था। अपने आप संभलने की आदत न होने से वापस उठने का प्रयास तब बडा कष्टप्रद था। भूली सी विक्षिप्त सी बेजान इधर उधर छटपटाती रही और समय वह भी बीत चला द्रुत गति से। आज 'जाया' होकर भी वात्सल्य की भूमि से दूर हूँ—बहुत दूर।"

हीरादेवी चतुर्वेदी के 'मधुवन', 'मजरी' नीलम' काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें सरल अनुभूति और कोमल व्यजना है।

"नैया डगमग होती जाती
मेरी आशा सोती जाती
बादल झमझम आज बरसते
किन्तु लक्ष्य तक पहुँचूँगी मैं।"

शैल रस्तोगी का 'पराग' कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ है। इनके कृतित्व में वेदना और करुणा परिप्लावित भाव हैं। कविताओं में अश्रु से झरते रहते हैं:

"आँसू रे भर दो
मेरी चिर खाली गागर में
युग-युग के अनियन्त्रित स्वर में,
पीडा का स्वर, सागर का जल अपना ही भर दो
आँसू रे भर दो।"

निम्न कविता में इनकी हृत्तन्त्री की वेदना झकृत हो उठी है:

"कल की बीती बात आज बन गई कहानी
चलते-चलते शूल चुभे थे जो पाँवों में,
बाँट लिया सुधि ने उनको अपने गाँवों में,
चलते-चलते फूल खिले थे जो राहों में—
बाँध समय ने लिया उन्हें अपनी बाहों में;
पतझर के प्रन में, बोझिल कल पुरवाई थी,
आज वहीं पर बसन्त करता है, मनमानी।
कल की धारा बनी नदी का आज किनारा,
कल का फूल, आज प्राणों की बाजी हारा;
कल जो था प्रारम्भ आज बन गया अन्त है—
शून्य बन गया सुबह, साँझ का नन्हा तारा,
कल पुरवाई ने डालों पर झूला डाला,
भोली-भाली कली आज बन गई जवानी।
कल की रात और कल का गमगीन अन्धेरा!
आज बनी मस्ती में डूबा हुआ उजेरा;
कल चन्दा की जहाँ बज रही थी शहनाई—
वहाँ अमा के महामौन ने डाला डेरा;
कल तक जो कुछ भी नवीनता थी जीवन में,
आज लग रही है कितनी अनजान पुरानी।
बहुत पास है जिस मंज़िल को समझ लिया था,
जिस पर मन के अरमानों का जला दिया था;

बनी भोर का सपना वह सारी खुशहाली
होली बन कर जली जिन्दगी की दीवाली,
कल अधरों को जो हँसने का दान मिला था,
आज बन गया है सूनी आँखों का पानी।'

श्रीमती शल्बाला खड़ीबोली में गीतों की रचनाएँ करती हैं। हैदराबाद जैसे उर्दू के गढ़ में आप अपनी कविताओं कहानियों एकाकी नाटकों गद्य काव्य एवं समीक्षात्मक निबन्धों द्वारा हिन्दी का काफी प्रसार कर रही हैं। आपकी कविताएँ सरल एवं भावपूर्ण होती हैं

देखो फूलों का लघु जीवन पलभर को खिलते मिट जाते,
पर पत्थर की कठोरता में युग के युग भी सिमिट समाते।
पर क्या लघुता असफलता है और दीर्घता क्या अनन्त है,
ग्रीष्म और हिम से रुँधकर भी भूला जाता क्या बसन्त है।
जग में असफल है फूलों का, लघु जीवन व्यापार, न कहना,
उसके क्षण भर के सौरभ पर, विजयी प्रस्तर भार, न कहना।'

सुश्री शान्ति एम० ए० की प्रथम काव्यकृति निष्कृति है। रेखा पर हिन्दी साहित्य-सम्मेलन ने आपको मेकसरिया पुरस्कार से पुरस्कृत किया है। आपकी स्फुट कविताएँ पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं

'नभ के नीलेपन में भर कर,
निशि लखती तारों के अक्षर,
चुपके चुपके, पर अधरों को मृदु मधु बात न चुप रहती है।
साथी ! रात न चुप रहती है।'

रुपहली चाँदनी का मादक सम्मोहन जब धरती-आकाश और दिशा विदिशाओं में छा जाता है तब ऐसा प्रतीत होता है मानो यह झिलमिल आलोक चाँदनी को तार तार करके छिटका देता है। चंचल वायु भी मुग्ध सी मौन ठिठक जाती है और स्वप्न की मनुहारें मचल मचल उठती हैं

"चमचमाते हैं रुपहले चाँदनी के तार !
ढल गया दिन साँझ आई,
सूर्य को देन विदाई,
दिश - दिशाएँ मुस्कराईं,
सो गए मुखरित विहग के राग मृदु सुकुमार !
चमचमाते हैं रुपहले चाँदी के तार !
हो गई है शान्त हलचल.
मुग्ध सा है वायु चंचल,
बढ़ रही है नींद प्रतिपल,
दे रही विश्राम को है स्वप्न की मनुहार !

चमचमाते हैं रुपहले चाँदनी के तार !
व्योम सुमनों से भरा है,
भूमि का अंचल हरा है,
प्रात सकुचाया डरा है,
अब न छिप पाया निशा का चाँद के प्रति प्यार !
चमचमाते हैं रुपहले चाँदनी के तार !"

एक दूसरी कविता में जीवन के अगणित सपने और दुःख-सुख की सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की गई है

"कितने सपने ?
उतने ही; जितने जीवन में
सगे-सहोदर, साथी
अपने !
कितना दुःख ?
उतना ही; जितना इस मन ने
माँगा है इस जगती से
सुख !
कितनी आशा ?
जितनी मन में मौन निराशा
की उलझी, लिपटी
परिभाषा !"

प्यार इनकी दृष्टि में मन की दुर्बलता नहीं, बल्कि पूर्व जन्मों का संयोग है :

"पूर्व जन्मों का यह संयोग,
न मन की दुर्बलता है प्यार !
नेत्र-माली के हित
सौन्दर्य-कुसुम सब होते नहीं समान
किसी को वह देता है मोह,
किसी को अरुचि घृणा का दान
बिना कारण ही यह वैषम्य
बताओ होता कौन प्रकार ?
पूर्व जन्मों का यह संयोग,
न मन की दुर्बलता है प्यार !

किसी को शशि से प्रिय उद्योत,
दिवाकर से प्रिय है तम जाल
किसी के हित बनती गलहार
भयंकरतम लपटों की माल

पुण्यतम अमृत के सम मौन
किसी की पलकों पर नीहार !
पूर्व जन्मों का यह संयोग,
न मन की दुर्बलता है प्यार !

बुद्धि है जिसको सकी न माप,
भक्ति पायी न जिसे अवगाह
कल्पना जिसको सकी न जान,
भावना न कब पायी थाह
रही जिसका हूं करती किन्तु
सजल सुस्मृतियाँ ही भृंगार !
पूर्व जन्मों का यह संयोग
न मन की दुर्बलता है प्यार !"

एक अन्य कविता में कवयित्री अपने प्रणयी से दूरी की विडम्बना त्यागकर मिलन के वरदान की याचना करती है

"आज दूरी दूर कर दो प्राण !
स्वप्न की पलकों सदृश शशि रश्मियाँ रंगीन
पहन आयी रात्रि तम का वस्त्र आज नवीन
कुमुदिनी मुसका रही है, किन्तु नभ अनजान
आज दूरी दूर कर दो प्राण !

पात हो कर मुग्ध सुनते पवन का संगीत
चाहती प्राची मिलन के क्षण न जाएँ बीत
यामिनी पावन हुई, पा मिलन का वरदान !
आज दूरी दूर कर दो प्राण !

लौटकर आते नहीं हैं मधुर क्षण सुकुमार
लौटकर आता नहीं रूठा हुआ है प्यार
पूर्व इसके हो कि मुखरित प्रिय उदय का गात।
आज दूरी दूर करदो प्राण !"

शान्ति जी न कविता में प्रयोग भी करते हैं। प्रयोग के करिश्मे प्रेम के रंगीन सपनों को नहीं पालते, वरन् हथौड़ी की चोट से उन्हें यत्र-तत्र छितरा देते हैं। निम्न कविता जरा देखिए

"वह सामने से निकला,
झन ! झन ! झन !
एक विद्युत लहर
न जाने आई कहाँ से
और गई किधर

छोड़ गई,
मन में सिहरन
कपोलों पर लाली
अधमुंदे नेत्र
आकुल अन्तर !

पाँव बढ़े आगे
पूछा विवेक ने—
"किधर चले" ?
"कहीं नहीं, यूँ ही टहलने"
(नत्र खोजते रहे उन्हें)
मस्तिष्क ने पूछा
"चाहते हो क्या" ?
"कुछ नहीं ! कुछ नहीं"
सामने मुँडेर पर
बोलता है कागा
क्या कोई आयेगा ?
हृदय करने लगा
वेग से धक ! धक !
ज्ञान ने पूछा—
'क्या हुआ तुम्हें ?'
"होता क्या ?
तुम क्या कभी
संशय रहित और मौन
रह सकते नहीं !
हर पल
प्रश्नों की झड़ी ?
हर क्षण
अविश्वास ?
मुझ निर्दोष को
इतना क्यों सताते हो !"
(और तभी खोज लिया
जिसके लिये व्याकुल हिया)
इस बार,पूछा हृदय ने
मस्तिष्क से
"कुछ दोष तो नहीं
मिलने में उनसे" ?
विवेक रहा मौन
पुनः प्रश्न
किन्तु निरुत्तर ।

तब तक नेत्र नेत्रों से
मंत्रणा कुछ कर चुके
और वे विजयी हुए !
परास्त कर दिया
उस दकियानूसी वृद्ध को
जो उन्हें रोककर
परिणत करने
को था तत्पर
मिलन को विरह में ।
और वहीं नेत्र से
धड़कते हृदय ने
"कैसा पुन्य-पाप !
जीवन है
यौवन है
मधुमय क्षण है
तुम हो, हम हैं ।
कैसी परंपरा !
कैसा धर्म !
कैसी लोक लाज !
भूल जाओ आज
वे पुरानी व्यर्थ की बातें !"
और उसके मादक स्वर से
अर्ध मूर्छित सा विवेक
देखता रहा
सुनता रहा
समझता रहा
कि छन में हृदय
अपने उन्माद पर
रोएगा
पछतायेगा
और झुँझला कर
उसी से कहेगा
"तुमने मुझको
क्यों नहीं रोक लिया !"

श्रीमती शान्ति सिंहल के 'उर्मिमाला' और 'अलका' दो काव्य-संग्रह प्रकाशित

चुके हैं। छायावादी कवियों की भाँति ये भी उन्हीं रागात्मक सम्बन्धों को प्रमुखता देती हैं जहाँ कोमल भावराशि और प्रबल आवेग किसी अज्ञात के लिए सतत छटपटाते हैं, प्राणों में न बुझने वाली प्यास जगती है, आँखें उस वस्तु के लिए भटकती रहती हैं जिसे वे कभी पकड़ नहीं पातीं और भीतरी निष्ठा उसी की तन्मयता में जागरूक हो जाती है—

"जिन दृगों की नीड़ में
लेते रहे सपने बसेरा
अब वहाँ पर है विहँसती
सजगता, विश्वास बनकर,
कौन प्राणों में समाया जा रहा उल्लास बनकर ?"

एक दूसरी कविता में

"जाग ओ अनुरक्ति के पल
जाग ओ अभिव्यक्ति के पल
जाग मेरी साधना, वरदान जागें,
रात की गहराइयों में गान जागें।"

कवयित्री का मन उस सत्य को पाने के लिए लालायित है जो जीवन की न जाने कितनी ही उलझी परिभाषाओं में खो गया है। इस छलना में क्या मन कभी आश्वस्त हो पाता है ?

"कौन यहाँ पर समझ सका है,
कैसे छलती मन को आशा।
कौन किसी को बता सका है,
जीवन की उलझी परिभाषा।
जब तक जीवन है तब तक तो,
हँसते - हँसते जीते जाना !
अपने मन का क्या बहलाना !"

इनके भीतर का सौन्दर्य और उसमें भी गहरी अन्तर्मुखी वृत्ति उस चेतना को अपने केन्द्र में वहन करती है जिसने इनके भावोद्वेग को विभिन्न प्रकार से मूर्तिमान या अभिव्यक्त करने की क्षमता प्रदान की है

"दूर क्षितिज के आँगन में छिप,
मुसकाते - से तुम रहते हो।
मधुर मिलन की आशा लेकर,
बहता जीवन - यान हमारा।
दूर कभी तो होगा कह दो

युग - युग का व्यवधान हमारा।
ज्ञान नहीं है स्नेह मार्ग का
ओर कहाँ था, छोर कहाँ है।
कहता है हर एक यही बस
ओ राही है दूर किनारा।
दूर कभी तो होगा कह दो,
युग-युग का व्यवधान हमारा।"

'जब तुम्हीं अनजान बन कर रह गए' शीर्षक कविता में नारी हृदय के सच्चे उद्‌गार प्रकट हुए हैं :

"जब न तुमसे स्नेह के दो कण मिले,
व्यथा कहने के लिए दो क्षण मिले।
जब तुम्हीं ने की सतत अवहेलना,
विश्व का सम्मान लेकर क्या करूँ?
जब तुम्हीं अनजान बनकर रह गए,
विश्व की पहचान लेकर क्या करूँ?"

एक दूसरी कविता में

"बधनो में बँध गया है,
स्वय ही उन्मुक्त जीवन।
मुक्ति से प्यारा मुझे है,
कल्पना का मधुर बन्धन।
वेदना उर की अमर सगीत होती जा रही है!
हार ही अब तो हृदय की,
जीत होती जा रही है!"

प्रिय से इतना तादात्म्य हो गया है कि उसकी हार पर वह अपनी जीत को वार देना चाहती है। वस्तुतः यह एकमक चेतना स्वतपूर्ण है, इसमें विलगाव या पृथकत्व की भावना नहीं जागने पाती। ऐसी स्थिति में एक दूसरे की सफलता-असफलता या जय-पराजय अविभाज्य इकाई बन जाती है :

"कब चकोरी चाँद से मधु प्रीति का वरदान पाती!
पर कभी क्या स्वप्न में भी लक्ष्य को अपने भुलाती
तुम अपरिचित लक्ष्य ही बनकर रहो पर,
मैं तुम्हारी राह के ध्रुव चिह्न सतत निहारती हूँ!
मैं तुम्हारी हार पर प्रिय! जीत अपनी वारती हूँ!

चाहने से हो सकी कब कामना पूरी किसी की!
नापने से कम हुई क्या राह की दूरी किसी की!

प्रीति मेरी छू न पाए तव चरण पर,
मैं उसी लघु प्रीति पर शत जन्म अपने वारती हूँ !
मैं तुम्हारी हार पर प्रिय ! जीत अपनी वारती हूँ !"

शांति जी की अभिव्यक्ति में कष्ट कल्पना नहीं है, अपनी बात बहुत सीधे-सादे ढंग से आत्मपरक शैली में कहती हैं। उनकी कविता का आधार वे छायावादी-रहस्यवादी परम्पराएँ हैं जो सघन अनुभूति के रूप में हृदय की प्रेरणा और उमंग को उद्दीप्त करती रहती हैं। 'रात सपनों में ढली थी', 'मन का गीत सुनाऊँ कैसे', 'हैं नयन में अश्रु भी', 'तुम मुझ अनजान क्यों हो', 'सत्य और स्वप्न', 'ज्यों-ज्यों तुम्हें बनाया अपना', 'मौन निशा में आज अचानक', 'काश ! किसी से इस जीवन में', 'प्यार का विश्वास तो दो', 'स्वप्निल संसार' आदि कविताओं में नारी हृदय की धड़कनें सुन पड़ती हैं। छाया-प्रकाश की इन्द्रधनुषी रंगीनियों में श्वासों के झीने तारों में पिरोयी भाव-लड़ियाँ जब छिन्नभिन्न होकर बिखरती हैं तो धरती पर ही आकर टिकती हैं। अतएव इनके प्रिय की प्रेम-साधना में स्वाभाविकता और एकनिष्ठ आह्वान है। एक स्थल पर ये लिखती हैं

"मेरी इस निरीहता की निज,
क्षमता से तुलना मत करना
मेरे अन्तर की साधों को
निज पर अवलम्बित रहने दो !
मेरा स्वर सीमित रहने दो !"

एक अन्य स्थल पर

"जब प्राणों की सोई पीड़ा,
रह रह कर मुसकाती जाती !
जब मन - गिरि से टकराने को,
पीड़ा की बदली घिर आती
टूटी सी यह वीणा जाने
कैसे जीवन राग सुनाती !
भावों के उमड़े सागर की,
शब्दों में सीमा बँध जाती !
यह क्या जानूँ मन - सरसिज में, सागर आ लहराया कैसे ?
मौन निशा में आज अचानक, मेरा जी भर आया कैसे ?"

श्रीमती शकुन्त माथुर हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि एवं नाटककार श्री गिरिजा-कुमार माथुर की पत्नी हैं। 'तार सप्तक' के नव दृष्टि सम्पन्न कवियों की पांत में सफलतापूर्वक निभ जाने वाली प्रयोगवादी कवयित्री के रूप में ये अधिक प्रख्यात हैं। परिपक्व प्रतिभा मंगलमयी और विधात्री होता है, तिस पर निर्द्वंद्व गतिशील रहे

तो रचना में उत्तरोत्तर मौलिकता एवं मनागत सप्राणता आती जाती है। इनकी वैयक्तिक अनुभूति और मनोदशा का एक सुन्दर शब्दचित्र देखिए

"कहाँ से कहाँ तक की
उठाई बात
सकुच कुछ और भी
गई ये रात,
सहों में लिपट चली बातें
छोटी हो गई रातें
खिच चलीं सूत सी लम्बी
बन गई पूनी
हल्के बादलों की,
कली फूल डाल
बुन दिया सलौना वस्त्र
तारक छाँह सजाई
रँगरेज ने घन रंग घोल सारे
चूनर भिगाई
और लगती अधिक मीठी
पिछले दिनों से
आज की ये चाँदनी रातें
बढ़ चली बातें।
ये दीप
इसी से युगों की चाँदनी है,
ये मन्द जलता दीप अपने आप
रवि कांति
अंधकार की गहराई
नहीं इस दीप की चिरस्वामिनी है
मधु जुन्हाई में मिला दो
ये मिला अवकाश
जो ठहर गया देकर अनोखी प्यास
गत, भविष्यत, वर्तमान का
अमिय रस उँडेल सारा
इस दीप में
आस्था से भर गया ये दीप
उजली रात
इस मन्द जलते दीप के आलोक में

है छिपा निविड़ अंधकार
मन्द जलते दीप से हारा
युगों युगों का प्रकाश
सहज ही पी लिए इसने
न जाने कितने निकलते प्रात
कितनी समाई रात
कितने अंधड़ों का इसने
भिगोया गात
न समझो व्यर्थ थी ये बात
व्यर्थ ही निकल गई ये
सुनहली रात,
आज की ये बात ही अब
वर्तिका-सी दीप में
जिन्दगी भर
जिन्दगी से वियोगिन होकर भी जलेगी
जब ज्यों समय चलेगा
पाँव धर ये भी साथ में
सुरभि सी बहेगी ये हमारी बात
सही तुम मान लो
इस स्वयं-आलोक-कण दीप को पहचान लो
अश्व रवि के से रथ सुगति पर,
विद्युत मण्डल लिए ये दीप हैं
किन्तु न प्रखर प्रकाश
मन्द केतन उड़ता हुआ
धरा से आकाश तक को
लहरियों से घुला मिला
बिछा रहा आलोक कण किस दीप के
सोया हुआ आलोक
विकम्पित हरे
किसके यश सरोवर में कमल लगा रहा
इसे पहिचान लो
कही हमारी बात
सही तुम मान लो

सभी रग विकसित शब्द से
यदि न कर सके ये बात
इस सलोने चित्र का मधु चांद सा प्रतिबिंब
हृदय में
आंक न दे यदि ये बातें
तो क्या
इस रसीली भावना का भी
इस कठोर सगमरमर शिला पर
कहीं नहीं स्थान ?
ये दीप
पुष्प है
यही केन्द्र पराग
जिससे मिल रहे अजीवित भावनाओं को
समुज्ज्वल प्राण
जिससे उठ रही
धीमे
सुरभि तिक्त बयार
ये अचला मन्द जलती लौ
और ये निकलती रात
मुझमें भर रही आज
अटल विश्वास
कहां से कहां तक की उठाई बात
लो हारी ये
सकुच कुछ और भी गई ये रात !"

अपनी कविता-पुस्तक 'चांदनी चूनर' की भूमिका में ये लिखती है—'आज के कवि न भारी शब्दो, काल्पनिक उडानो और अभेद्य शैली के कृत्रिम बोझ का लबादा उतार फेंका है। कल्पनाओ का स्थान दैनिक सत्यो ने ले लिया है।' सचमुच, ये दैनिक सत्य ही इनकी कल्पना को साकार करते है इनकी सवेदना और जिज्ञासा को उभारते है। प्रयोगवाद भले ही कुछ अतिरंजित परम्पराओ का हामी है, पर उसके शौक ने कुछ ऐसे अछूते पहलुओ पर भी दृक्पात किया है जो अब तक कल्पनातीत और अनदेखे पडे थे। एक कविता में ये प्रश्न करती है

"क्यों चुप हुई अचानक आज, बोलो
इस युग पर जो कसी ग्रन्थि उसे भी खोलो
बूटी शीघ्र नहीं लगातीं घिसकर
अनुभूति की भभूति—
ये युग
पथ खोए बच्चे सा इसी तिराहे पर
बैठ गया है
इस युग आलोडन में
छूने को मूठी बैठ गई क्यों मौन
आंखें क्यों बनीं बडी-बडी बावडी झीलें
डबडबा आईं
अधिक प्यार से या
मनस्ताप से।"

पनघट की चहल पहल, रगीनी और मादक वातावरण का अनेक कवियों ने वर्णन किया है, पर अब नलों के इर्दगिर्द जो जमघट होता है और भीड की रेल-

पेल में जो गरीबी के नक्श उभरते हैं उसका एक चित्र जरा देखिए

"अब खड़े हुए आ पांत में
पतझर के पत्ते से
टूटे कनस्तर या पिचके डालडा के टीन
उठाने वाले जिन्हें
मरियल घोड़े से
कसे जीन
सजल मटकियाँ
चमकती कलसियां
काई का ओढ़ ओढ़े
कुछ नगे बच्चे नाले से निकल
चूहे से उस तरफ दौड़े
सुबह की टैम थी
भीड़ बेहाल थी
ज्यों किसी युवा की मौत पर
इकट्ठे हों
निराशा और प्रायमिक जरूरत का अभाव
मुंह बेरअत
रुआंसे से
कपड़े मैले फटे, कोढ़ के चकत्ते से
नागिन सी फुफकारती थी
नल कल
सूं ऊं ···पुनि बार
न पानी की धार उतरती थी
न भीड़ ही सिमटती थी
कोई कहता था नलकल में
छिपकली चिपटी थी।
देख यूं हुज्जत झगड़े
पटे कुएं की घास
तिलमिलाती थी
श्रम से बुझती प्यास
मानव जीवन
नहीं घास।"

एक दूसरा चित्र :

"बिछौना बिछा नीचे दूब

हरा लाल पल्ला मलोनी का खूब
नीम के फूलो से भरभर जावे
कड ुई निबौली बडी झर झर जावे
सासू जी के दबा दू म पांव
खूंटी पर बठ कउआ करे कांव
छोटी ननद न कहे जो हमें बोल
बसरम घूंघट रही काहे खोल
सामन जठ जी ठाढ़
कड ुई पानी से लाग
गोरी जिठनिया बठी नयन चलावे
जी जल जल जावे।

बरस बीत गया न पक कविता में घर गृहस्थी के बोझ से थात गृहणी की उलहना भरी खाझ का एक उदाहरण

'गर्मी भर
पापड़ बले
मँगोडी बडी बना
वष भर को छुट्टी पाली
नींबू का शरबत
दही की लस्सी
आइसक्रीम मशीन की
कुलफी
मन भर भर कर खिलाई
जाडो में साथ साथ
अँगीठी से हाथ तापे
ओले गिरे
काट सी हवा चली
कडकती सर्दी में
गरम आलू के पराठें मूँग के बडे
कचौरा पिटठी की खिलाई
अब मै भर पाई
मके की याद आई
पहुँचा दो
भाई मेरा दो बार लौट गया
पूरा बरस बीत गया।"

कहीं-कहीं इन्होने सूत्र रूप में भी प्रयोग किये है। एक अनुभूति' में जी की

जलन को घाव की व्यथा से भी बढ़कर बताया है .

"जी की जलन
घाव की कुलन
दोनों समान हैं
खिंची कमान है
जो छेड़ेगा वो बिंधेगा
ये ऐसा दु:ख
बिन छेड़े भी दुखेगा।"

किशोर अवस्था में जब बाल्यकाल से यौवन का प्रथम चरण होता है और कितनी ही तरंगें व आवेग मन को झकझारते रहते हैं तब कितनी ही बातें मन में उठती हैं, पर उनका समाधान नहीं हो पाता

"क्या जानूँ यह निरी अकेली मस्ती है
क्या जानूँ टेढी बलखाती, सीधी, फैली, बिखरी है
कह दूँ पूरा चाँद
चौदहवाँ साल
आँखें झुकतीं
नयी कटीली
किन्तु अधूरी
आभा खिलती
चमक सुनहरी
उठता है तूफान
खुलते अंगों में भरती है
नित नूतन मुस्कान
विद्युत-सी छितराती बात-बात में
बात न आती
एक अचानक बिखरी लहरी जान न पाती
ऐसा ये सुन्दर गुलाब उठते खुमार का
चिन्ह कहाँ भर पाया
अभी सुखद प्यार का
सतम चौदहवाँ साल
क्यों चौदस की रात
केवल हँसता चाँद
नहीं कह सकते पूरनमासी।"

एक दूसरी कविता में एकाकी कमरे में क्वारी लड़की की मनःस्थिति का सजीव चित्र उभारा गया है :

"एकाकी कमरा
पास में क्यारी
डाली पर एक गुलाब
उस पर मधुमाखी
कमरे का कोना
मकडी का जाला
मक्खी का फँसना
हरे ढाक के पत्तों का दोना
उसमें भरे फूल
कुछ शूल
अजलि गोरी
नजरें भोली
तराजू के पलडो सी इधर उधर डोलीं
तोलीं
पत्तों का दोना
अजलि गोरी
सपने का सोना
उस ताक में
हैजलीन स्नो की शीशी
तेल की खुशबू तीखी
छोटी डिबिया
वैसलीन भरी
नीली बोतल में
कटी सुपारी गरी
दिवाल की घडी
किन्हीं उँगलियों ने छुई
घुमा दी सुई
क्या बजा !
मन को कुछ अच्छा सा लग रहा
जाल और फँसना
गुलाब-मधुमाखी।
बडी मेज पर
सुन्दर सा लैम्प
रोशनी तिरछी तेज
शैल्फ में रखीं किताबें

एक का हैंडिल
गरम काफी की भाप
मन मचला
हूँ !
अच्छा ?
एकाकी कमरा—"

श्रीमती शकुन्तला शर्मा ने सुकुमार भाव-विन्यास को नई रूपरेखा दी है। सभी कवयित्रियों की भाँति अनन्त का साथी इनके साथ भी है और मूर्च्छना का आलाप भी कहीं कहीं कुछ-कुछ वैसा-सा ही सुन पड़ता है। फिर भी उसके प्रस्तुत करने का निजी ढंग और उसमें नव्यता है। 'रात भर जलती रही' शीर्षक कविता में :

"अब न कुछ भी बोल साथी !
देख ली वह जिन्दगी जो मृत्य को हँस कर रिझाती।
रात भर जलती रही, निज नेह में गलती रही।
उज्ज्वल शिखा उल्लास से,
अवसाद को छलती रही
पर, तिमिर के गहन पट पर अमिट लेखा खिंच न पाती।
अमर हैं सुख-दुख झकोरे,
धूप-छाँहीं प्रणय डोरे।
आज की सूनी डगर पर,
कल चलेंगे दौर दौरे।
पर, झनक कर चूर नीलम के चषक की सुधि न जाती ॥
मरु जला सा हृदय लेकर,
गिन रहा नक्षत्र नभ के।
'आह ! कब तक मैं समेटे
ही रहूँगा' गीत, सब पे
कारवाँ भी रौंद जाता आह से बरबाद छाती।
गीत मेरी थपकियों से,
सो रहे ज्यों जल कमल पर।
बात चलती काँप उठते,
सिहरते गिरते अतल पर !
लीन हो जाते यहीं मैं रिक्त अचल भर न पाती।
खोजने आई अभय वरदान
का भी हो गया क्षय।
बटखरों से झूठ के
होता रहा है सत्य का क्रय।

आज यदि विश्वास लुटता कल लुटेगी प्यार थाती।
पल रहा है श्वास का धन
ज्यों पवन प्रेरित सजल घन
एक ठोकर पर बरस, बस
भाग जाये ज्यों तुरग-मन।
बुझ गयी है चेतना पर जल रही है प्राण बाती
अब न कुछ भी बोल साथी!"

'प्रेरणा' में इन्होंने एक दूसरे ही ढंग से नूतन अभिव्यंजना की है:

"कौन वह पुकार गई?
अंधियारे आंगन में दिवरा सा बार गई
सूखे दो तिनकों में गुमसुम सा चोर है—
पांखों में ढांपे मन जीवन से रूठा है—
नीड़ विटप ठूंठा है
ऐसे मन सुगना को सुगना सा डार गई
दिवरा · ····· ।
पेड़ों की फुनगी पर सिहरन अंधियारे की।
टहनी पर सजधज है पंछी मनजोर की।
पन्थी मन हारे की।
सबकी मनचीती भिनसार को गुहार गई॥
कौन····· ······· ।
आंखों की शाखों पर आंसू का झूला है।
होंठों के दोले पर प्राण बहुत भूला है।
पेंगों में भूला है।
सांसों की छिटकी लट प्यार से संवार गई।
दिवरा ········ ।
बेला के गजरे ले सागर भी दौड़ा था।
तट की चट्टानों ने फूल फूल तोड़ा था।
मति ने मुख मोड़ा था।
रेत की गलबाहों दे चुप चुप दुलार गई॥
सपनों के मड़वे पर भावों के चौरे पर।
आशा के बिरवे पर प्यार के टिकोरे पर।
बौर के निहोरे पर।
सरस रूप गन्ध के फुहारे फुहार गई।
कौन············ ।
रह रह कर गिरतें हैं जाले उदासी के।

दुख से धुँधुआए से भाप की उसासी से।
मैले से बासी से—
अन्तस के मटियाले बासन संगार गई।
कौन……… ।
ऐसी फुलचुगी को पाना भर जीवन है।
बैठे जिस डाली पर उसमें ही कम्पन है।
गीतों का नन्दन है।
मुट्ठी में बांधो तो पारे सी पार गई॥
कौन……… ॥"

'याद आई रे' कविता में भी इसी प्रकार की शैली और नूतन ढंग अपनाया गया है। उन्मुक्त चिन्तन के साथ-साथ जीवन के किसी अछूते पक्ष की अनुभूतिजन्य रसात्मक व्याख्या मिलती है :

"चैत की बयार बहे नाचे अमराई रे
मन मृदंग पर सुधि ने थाप सी लगाई रे
प्रान के मंजीर बंधे साँसो की डोर में
मान मनुहारों की ग्रन्थियां हैं छोर में
धड़कनों की राधिका मुरली सुन आई रे॥
कल्पना की अल्पना चाहों के आंगन में
चित के चौवारे पर नयन दीप साधन में
आस की अंगुरियों ने बाती उकसाई रे॥
पलकों से छान कोई सोम सुधा पी आए
अलसा के गीतों की बगिया में सो जाए
जैसे दबी बांहों पर रेख उभर आई रे॥
रंग भरी सहालग में भावना की लगन चढ़ी
पन्ने की थाली में धरती ले पियरी खड़ी
न्हाई धोई दुलहिन सी याद निखर आई रे॥
मन मृदंग पर सुधि ने थाप सी लगाई रे॥"

जाड़े की धूप सर्दी में ठिठुरते प्राणियों के लिए कितनी सुखकर और आश्रय दायिनी होती है, पर इसके साथ ही कितनी अस्थायिता लिये। ढलते दिन के साथ वह सिमटी, लुकी-छिपी सी मनुष्यों की पकड़ से बाहर भागती नजर आती है। निम्न कविता में जाड़े की धूप कवयित्री को 'सोन चिरैया' सी प्रतीत होती है जो कुछ देर अपनी कौंध दिखाकर मानो नीलाम्बर में अंतर्ध्यान हो जायगी। 'धूप परी' की कल्पना की तरंग में बहकर इन्होंने जाड़े की धूप का सुन्दर-से-सुन्दर चित्र खड़ा करने में कमाल हासिल किया है :

"ओ जाग सुहागिन मान भरी !
सोन चिरैया नभ पिंजरे की, धरती की ओ धूप परी !

शय्या पर बैठी अलसाई,
चुटकी बजा तनिक जमुहाई,
जागीं परिचारिका झटाझट,
सिमटा कुहरे का अन्तर्पट,
दाड़िम भर कर लाई जल घट,
वैजन्ती लाई पीला पट,
सूर्यमुखी के स्वर्ण कटोरे में कस्तूरी भरी भरी !

झुक झुक कर देखें मतवारी—
भू चूमें अलकें सोनवारी,
झटका दे जब पोंछे डारें
नभ में विगसे केसर क्यारी
छाँह समेटती नीला लहँगा, दुबकी दुबकी झाँवरी !

खूँट खिसक आँचल का आया,
पकड़ उसे सागर मुसकाया,
औचक खींचा गिरी गोद में—
झट ले जा तट पर बैठाया :
कमल कली दौड़ी ले पाँवरि गड़े न कहीं कुस काँस री !

मीठी मीठी लौनी लौनी,
हलकी नरम गुलाबी रंग की,
रुई फुई की ज्यों मृग छौनी ।
अभी चपल छू गई यहाँ तृण,
कहाँ कुलाँची जा दूजे क्षण,
फिर बगिया के पास खड़ी कुछ निरख रही है डरी डरी !

हंसनि पाँख सुखाती फैला,
लाल चोंच से बिथरा बिथरा,
रोम रोम थरथरा फुरफुरा,
छींटों से भर देती वसुधा—
कभी चमचमा कर छिप जाती ज्यों जल के बाहर शफरी ।

माघ मास और आँधी पानी,
भरी बरद कर गह बतरानी !
जाड़े पाले में ठिठुरेंग,
खेत पात के बब्बर बानी ।

गुदबुद गेंदा के गालों को छू कर तू भी तो सिहरी !
ओ जाग सुहागिन मान भरी ।"

इनकी प्रतिभा कोरी कल्पनाविलासी नहीं है, अपितु यथार्थ से भी उसका सहज लगाव है। जहाँ एक ओर अमीरों के इठलाते बगले तो वहाँ दूसरी ओर दुखती जिन्दगी के बजर में सिसकने वाले कगलो की तस्वीर भी कवयित्री के मानस में उभर आई है। दोनों की जिन्दगियों में कितना अन्तर है और कितना वैषम्य। सच पूछा जाय तो अभिजात्य के अहभाव न सर्वग्राह्य चेतना से पृथक् अपने आप को अपनी ही सीमाओं में इस प्रकार बन्दी बना लिया है कि वह दूसरे पहलू से बहुत दूर जा पड़ा है। इतना ही नहीं दोनों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि गरीब की आत्मा अमीर से बेहतर है। अपनी दुखों की परिधि में रहते-रहते अपेक्षाकृत उसमें उदारता, परहित भावना और सहनशीलता अधिक विकसित होती है।

"धुली मक्खन जैसे सफेद—
घने ऊँचे पेड़ो की बाँहों में पले,
नये नक्शों में ढले,
इन्हें मामूली इमारत न समझो—
ये हैं भुवन मोहन बगले।
यह है सुख की धरोहर सा लाडला बेबी
ये हैं शो केस में रक्खी मृण्मयी मेम सी
बेबी की मम्मी
और ये पापा—
जैसे सुख की नयी परिभाषा।
सामने साँवली गंगा का चौड़ा पाट
किनारे को कुतरती हठीली लहरें
जिन्हें देख बरबस याद आती है
बेबी की बात।
पतित पावनी के कगारों पर,
भुवन मोहन की काली छाया में,
कुहरे और धुएँ से ढके,
नाबदानों से घिरे—
दुखती जिन्दगी के बजर में—
सपनों के काज धोते,
सहमते, सिकुड़ते—
ये आउट-हाउस,
सुख सीमा से आउट।
इनमें सिसकते हैं कगले,

उधर हँसते हैं बगले।
परसों की बात—
बूढ़े की देह पकी,
नीम के पानी से घाव धोती।
जवान रतिया,
सिर धुनती, रोती
पिटती फिर हसती
भूखे बच्चे को छाती से लगाए
कान पर हाथ रख कर कहती—
"बुढ़ऊ के न छोड़ब बीबी जी,
अई मो अल्ला पाक पासों की बात।"
लाल चीटीं, ढेरों जाला छिपकली,
सामने बदबू धरती एकदम गीली।
कत्थे चूने की कुलिया सी मिली—
दीवार एक, घर दो,
इसमें रहती सूरसत्ती।
'बीबी जी एक कोठरिया'
'उसमें सामान है—
दो ऋटिंग के बक्से चार पीपे छ' बत्ती
खाली कहां री ?'
'बीबी जी मोर मरद आवा है।'
दूसरी लिए रहा—
बहुत दिन पर आवा है।
फिर चला जाई बीबी जी'
'ए बीबी जी—
कोठरिया बीबी जी'
'हट पगली।'
और कल—
नवनीत के पुतले को
पटक दिया घुने आबनूस ने।
कारण टाइसिकल थी
मार्क्सिन शोध विह्वल थी।
माँ चिल्लाई, पीटा
फिर मोटी हरी मक्खी सी भनभनाई
"मरी नाहि जाय्या त थनि ..।

पेटवा में कस रहा।।"
झाडियो से बेतरतीव,
केंचुए से बेहाये—
काट दो तो और बढें,
कोसने से नहीं मिटते ये—
उपेक्षा से लेकर जिन्दगी
पलते हैं
बढ़ते हैं
विलायती फूल नहीं—
ये झुरमुट हैं सदा बहार के।"

शकुन्तला जी ने कुछ कविताओ में सामान्य से सामान्य वस्तुओ पर भी दृष्टि-पात किया है। मूलत कवि की चेतना उस चेतना के भाव सरलता से तदाकार हो सकती है जिस पर वह मनन करते-करते अकस्मात् हो इतना सवेदनशील हो उठता है कि वह उसके दिमाग में गहरी धँस जाती है। उसके हर मुद्दे पर वह जितना ही मनन पूर्वक सोचता है वह उतनी ही सजीव रूप में उभरती है। निम्न प्रयोगवादी कविता मे उतारा गया स्टेशन का एक चित्र

"स्टेशन से दूर,
बिलकुल पटरी के किनारे—
जहाँ इजन के पानी का ऊँचा सा बम्बा है।
लम्बी सी पतली एक बालटी सी लटकी है,
बूँद-बूँद पानी अपने आप जिससे रिसता है।
वहीं नीचे स्थित है, एक कृष्ण शिलाखण्ड—
ठीक शिव लिंग सा।
मन्दिर नहीं है किन्तु देवता तो परा है।
टेढ़े मेढे पत्थरो की अनगढ जलहरी है,
लोहे का जग खाया तथा अभिषेक घट
टप् टप् टपकता है जिससे लोहाया जल।
धूल का त्रिपुण्ड कीच अवलेपन चन्दन है।
झूठे चाट पत्तों को हरी बिल्व-पत्र है।
बली हुई सिगरेट के, बीड़ी के टुकड़ों के—
'चम्पा' 'परजाता' के फूल भी एकत्र हैं।
यात्री भी आते हैं,
जाते हैं।
डिब्बों से गर्दन निकाल कुछ झाँकते हैं
अगर धूम्र इजन का।

घर्राहट पहियों की डमरू की डमडम है।
बारह मासी वेद पाठी।
पटरी पर खटपट ही—
स्तोत्र पाठ मगलमय, हर हर बम बम है।
पीक पडी पान की ज्यों पिचकारी चल उठी
रग भरी एकादशी है भोला शिवशकर की।
गाडी की बत्तियां ही आरती की माला हैं
सिगनल की रोशनी ज्यो दीवट पर रात्रि दीप—
पवन किसी दुखिया सा देहरी भी गया लीप।
मुस्करा रहा है विश्वनाथ पूरे औघड सा
थूक, पीक, पाप अपराध ओढ़ जन भव का।
झूठ उच्छिष्ठ सिर धार इस रौरव का।
अडिग वहाँ बैठा है जोगी चिद् आनन्द सा।
मैंने भी देखा ''
अनायास नतमस्तक थी।
सब कुछ ज्यों भूल गई,
शकर की महिमा, इस औघड की गरिमा—
में काशी और काची की
लघिमा भी भूल गई।
हाथ मेरे जुडे रहे—
नेत्र भी मुंदे रहे।
शिव तो बहुत देखे, शिव-तत्त्व यही देखा है।"

कोना बहुत ही महत्त्वपूर्ण और बडे-बडे भवनो, राजमहलों, इमारतो, उच्च अट्टालिकाओ, सुन्दरियो, कोमल कामिनियो, राजरानियो महारानियो के कक्षो, अत पुरो से लेकर गरीब लोगो और मजदूरो की झोंपडियो तक का अविभाज्य अग है, पर आज तक उस पर किसी की दृष्टि ही नहीं गई। कोना कितनी स्मृति बिस्मृतियो, आशा-निराशाओ, आँसू और मुस्कानो, नई नवेलियो की लज्जा सकोच, कीडे-मकोडो और न जाने कितनी कुत्साओ और घृण्य वस्तुओ को समेटे अपनी लघुता में भी विराट् है। इसकी झांकी निम्न कविता में मिलती है—

"साँक सी छाती में
कलेजा है गज भर का।
बडे-बडे महलों का दात। है
और भिखारी है दर दर का।
तभी तो दोनों बाहों में समेट रक्खे हैं—
लाखों आँसू करोड़ों मुसकानें।

कितने अपने कितने बेगाने।
कितनी चाहों की राख से
कितनी ही बार—
प्यार की करनी से पोती गई है बपुई आन।
मकड़ी ने जालों के तारों से,
बुन दी उसके सिर पर
एक महीन रेशमी पगिया।
वहीं नीचे छिपकली चढ़ चढ़ निगल लेती—
नन्हें नन्हे कीड़ों की दुनिया।
और ज़रा नीचे, छाती में गुथी हुई कील पर
टँगती है एक अंगिया—
कभी गुलाबी, कभी धानी—
कभी श्रम सीकर लेकर,
तो कभी आँसुओं से तर होकर।
यहीं कहीं नन्हीं नन्हीं तेल घी
मक्खन की सुगन्ध वाली—
हथेलियों के निशान हैं।
कू ऊऊ की ई · ई ई की प्रतिध्वनि के,
लुका छिपी के,
दाईं पटके के,
अंगुली की सन्धों से टेढ़ी आँख करके
झाँकने के,
बोलते हुए दाग हैं।
यहाँ दुलहिया रोली गारा टेक गई थी,
चूड़ियों में रोने की सी आवाज़ थी।
यहीं चुभी थी तानपूरे की खूँटी
रखने वाली की अँगुलियों में पोरों
की झंकार थी।
एक दिन इसी ओड़ में बिखरा
सितार धोकर बैठ गई थी
एक दिन इसी छाती में सुहागिन
मान भरा प्यार लेकर सिमट गई थी।
यहीं बरें ने छत्ता लगाया तो
जलती जलती लकड़ी से पोंछ दिया।
और चिड़ियों ने बिना दर का घर बनाया

तो—
दादी ने झट आड करके ओप दिया।
बोलीं—
टोक न लग जाय।
शुभ लक्षण जो है
मंगल का, पुत्र का,
सुख का, सौभाग्य का।
कैसा है यह मोड
जिस पर महलों के दोराहे बनाता-बनाता
मनुष्य अपने साथी को
चौराहे पर भटकाना सीख गया।
पर यह ज्यों का त्यों है,
सदियो से।
तब भी लोग कहते हे
क्या कोने में मनहूस से बैठे हो?
लेकिन सच तो यह है कि—
जिस ईंट गारे और मिट्टी की दीवार में
यह दर्द भरी दरार नहीं
जिन्दगी की चोटो से
बचने को यह ढाल नहीं
यह कोना नहीं—
वह जगह कुआँ है।
गोल !
चक्करदार !!
ईंट-ईंट पर घुमावदार !!!
जिसके घेरे में प्यास नाचती है
मौत जिन्दगी को जांचती है।
जहाँ तलहटी तक काला पानी है—
और नीचे कभी न मिटने वाली सियाही है
ऐसे ही कुएँ सा है वह काला मन
जिसमें सब कुछ समा लेने को,
सबको दुलारने को,
पुचकारने को,
जड और चेतन के—
प्यार को, वार को,

झेलने का—
एक कोना नहीं।
दम्भी मनुज तब भी—
नापता है अपनी छाती बित्तों में
जहाँ सींक सा पतला
एक कोना भी नहीं।"

कुमारी रमासिंह नवोदित कवयित्री हैं, पर इधर थोड़े अर्से में ही अपनी सहज संवेदनशीलता और भावप्रवण व्यंजना द्वारा रास्ता बना चुकी हैं। मौजूदा कविता में प्रयोगवादी छप्त के साथ-साथ कृत्रिमता, छिछली भावुकता और वृथा प्रदर्शन एवं आडम्बर की जो प्रवृत्ति जोर पकड़ती जा रही है, फलतः नये कवि-कवयित्रियों में हृदय पक्ष गौण और बौद्धिक खींचतान अधिक दीख पड़ती है। किन्तु प्रसन्नता की बात है कि इनकी नव्य कृति 'समुद्रफेन' की कविताएँ आंतरिक संवेगों को उभाड़ती हैं, मन को छूती हैं और कहीं-कहीं तो बड़े ही सहज ढंग से बड़ी ऊँची बात कह दी गई है।

'समुद्र फेन' पर लिखी पंक्तियाँ ही बहुत सुन्दर हैं—

"बात सच है सिन्धु की अब तक न कोई थाह पाया,
है न गोताखोर जिसने ढूँढ रत्नों को चुकाया!
है बहुत गहरा, बड़ा सम्पन्न, विस्तृत भी बहुत है—
यह समुद्री फेन लेकिन व्यंग बनकर उभर आया।
यों कभी वह कौन, जिसने मथ दिया लहरें उठाईं
एक छोटा प्रश्न यह गहराइयों को नाप लाया।"

'परिभाषा' शीर्षक कविता में जिन्दगी का अकेलापन ही उसकी असली सच्चाई है। कौन किसका साथ देता है? जीवन के मोड़ों पर यदि कोई सहारा देता भी है तो सरपट दौड़ में, तीव्र कशाघातों और तेज रफ्तार में यह साथ छूट जाता है:

"सही है, राह में चलते बटोही साथ के—
ढाढ़स बँधाते हैं
मगर कुछ मोड़ ऐसे हैं
कि सहसा हाथ से वे हाथ बरबस छूट जाते हैं।
अकेलापन, अकेलापन, अकेलापन
यही है ठीक शायद
जिन्दगी की एक परिभाषा।
यहाँ का मोह-ममता से भरा आँगन
मगन यह साँस की पुतली,
मगर कब साथ दे पाते, सगे-स्नेही

बुलाती जब किसी अज्ञात की ऊँगली !
अकेलापन, अकेलापन, अकेलापन
यही है ठीक शायद
जिन्दगी की एक परिभाषा"

एक दूसरी कविता में—

"ज्योति की महिमा असीमित
तिमिर की जडता अपरिमित
किन्तु धुंधली दृष्टि को जो भी किरन देती सहारा
मैं उसी के सामने नत हूँ।
जीत में आरोह कितना
हार में अवरोह उतना
चूर होती आस्था को जिस हृदय ने भी पुकारा
मैं उसी के सामने नत हूँ।"

तारे, बादल इन्द्रधनुष, साध्यगीत आदि विषय पर न जाने कितनी कविताएँ लिखी गई हैं पर इस पुस्तक की कविताएँ मुझे विशेष प्रिय लगी हैं और हर पंक्ति व हर शब्द में मुझे ताजगी और नयपन का एहसास हुआ है। 'सुरमई चला' की कुछ पंक्तियाँ—

"छिपा कोई चितेरा है
न जिसकी तूलिका दिखती
न रंगों के सकोरे ही
सलेटी रंग का यह 'वाश' भर फैला हुआ है।
कौन सी वह भावमुद्रा आँक देगा
कौन सा सौन्दर्य या वह टाँक देगा
है नहीं कुछ ज्ञात
कैसी कल्पना इस पर उतारेगा
कैसी भावना या वह सँवारेगा
वह अभी तो
यह सलेटी रंग गहरा, और गहरा--
और गहरा कर रहा है।
कुछ ठहर कर
इस कला के सिद्ध साधक ने
सुनहरे रंग में कूँची डुबोकर
कालिमा के बीच में धब्बा लगाया,
और यह धब्बा सुनहला

रात का पहला नखत बन सामने आया
भटकती सी दृष्टि को
उजला सहारा मिल गया,
कालिमा के बीच—
यह लो ! केन्द्र पैना खिल गया।"

रमासिंह ने जीवन की मूल प्रवृत्तियों पर ही अधिकतर दृष्टिपात किया है। जीवन के भीतर और बाहर सौन्दर्य असौन्दर्य समान रूप से बिखरा पड़ा है, पर उस की प्राण-प्रतिष्ठा मनुष्य के हाथ में है। जीवन का हर दिन, हर क्षण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इन क्षणिक आयामों में हम कितना खोते और कितना पाते हैं—इसका लेखा-जोखा कैसे किया जाय—बस, यही सोच-सोचकर मन घबराने लगता है—

"एक दिन यह और बीता सोच मन घबरा रहा है
जिन्दगी का नाम चलना
चल रही दुनिया बराबर
श्वास की बूँदें लुटाकर
चरण गति की डोर में बँध
पथ की लीकें बनाते
छोर मंजिल के कुहासे—
में लिपटते दूर जाते,
किस नदी का जल यहाँ रुककर भला ठहरा रहा है ?
एक दिन यह और बीता सोच मन घबरा रहा है !
मेघ काले घिर रहे हैं
छा रही कैसी खुमारी,
आँख में भरती उदासी
यह क्षितिज की स्याह धारी,
रेत की तह पर लकीरें
जो खिंची उभरी रहीं थे
पर्त स्मृति के खुले हैं
अश्रु की बूँदें नहीं थे,
मन चपल नादान शिशु सा गिनतियाँ दुहरा रहा है।
एक दिन यह और बीता सोच मन घबरा रहा है।"

'हे सकल्प के क्षण' में अनुभूति की अन्विति इस रूप में है कि ऐसे क्षण जीवन में बहुत कम आते हैं और उस समय यदि विश्वास या मन की धारणा सुरक्षित है तो मन प्राण में उद्दीप्त भावनाएँ नये रूप-रंग में ढलती हैं अर्थात् वह नियन्ता सकल्प शक्ति ही आंतरिक निष्ठा को जागरूक करती है—

"हे, संकल्प के क्षण !
तुम्हें समर्पित है
विश्वासों की थाती
इसे सहेज लो !
हे, संकल्प के क्षण !
तुम्हें समर्पित है
शक्ति की मंजूषा
इसे मान दो।
हे, संकल्प के क्षण !
तुम्हें समर्पित है
सीमा की लघुता
इसे स्वीकारो !
हे, संकल्प के क्षण !
तुम्हीं सत्ता हो
तुम्हीं नियन्ता हो।
तुम्हीं को समर्पित है
मिट्टी की कच्ची राशि,
इसे तुम रूप दो,
रङ्ग दो,
प्राण दो।"

'शहरी सुबह' में जैसा कि प्राय होता है मिल का भोंपू सुनकर बहुत से लोग अपने कामों की शुरुआत करते है। प्रगतिशील कहलाने वाले कवियों के लिए मिल का भोंपू बड़ा मानें रखता है। इस स्पर्द्धा में रमासिंह भी किसी से पीछे नहीं है जरा देखिए—

"ऊँची ऊँची पक्की छतों के रास्ते से
सूरज आया
किसी सगीत का समा बँधा।
मिल के भोंपू ने
स्वागत का गीत गुनगुनाया,
दूकानों के खुलते हुए शटर—
और लोहे के दरवाजों ने
लहरा बजाया,
बाहर के शो-केस और
काँच की अलमारियों ने
अपना अपना मेक-अप सँवारा,

घूमती हुई सड़कों ने थाप दी,
चाँदी और सोने के नूपुरों में—
ध्वनि आई
पूरा का पूरा बाजार गर्म हुआ—
दिन के राजा का स्वागत था।"

इसके विपरीत पद्मा 'सुधि' की कविताएँ अधिक आत्मपरक हैं। कवयित्री के मत में—"जीवन में संयम ही सबसे बड़ा सुन्दरम् है और उसी सुन्दरम् में 'सत्यं-शिवम्' पूर्ण प्रतिष्ठित है।" इनकी कविता-पुस्तक 'भावलेखा' की अनेक कविताएँ पढ़ कर मुझे लगा कि न्यूनाधिक रूप में महादेवी जी के चरण-चिह्नों पर चलने का ही प्रयत्न किया गया है.

"प्रिय ! आरती मन की सजाऊँ
बाती सम हर श्वास जलाऊँ
पुलकों की कलियों को चुनती
प्रियतम के सूने स्वर सुनती
आँसू के तुलसी दल भेंटूँ
अपने रूठे देव मनाऊँ।"

एक अन्य कविता में—

"सतत दीपिका-सी हूँ जलती,
दूर शून्य में जो घर खाली।"

पद्माजी छायावाद की कुहेलिका से भ्रान्त तो नहीं है, पर एक आरोपित अन्तर्मुखता द्वारा उस समय की मान्यताओं से प्रभावित अवश्य हैं। कितनी ही कविताओं में वही मोहक स्निग्धता और उपरामता के साथ-साथ मोटी कसक द्रष्टव्य है—

"जग जाए जिससे सारा जग,
छूट जाए नीरव भीषणता,
कोलाहल में मिलजुल में भी
खो दूँ अपनी प्रेम दीनता
हे शिशु मन वैरागी हो जा।
सहता जा अवसाद जगत के
राजदुलारे, शान्त सरल बन,
मेरे प्रति इंगित के सम्मुख
करता जा तू मौन समर्पण।"

अश्रु कवियों का प्रिय विषय रहा है, खासकर नारियों की विरह-वेदना तो आँसुओं की लड़ियों में ही गूँथी गई है, पर 'सुधि' जी ने एक नये ढंग से ही उन्हें प्रस्तुत किया है—

"आँसू बिना सूत की माला ।
बिन सागर बिन सीपी उपज,
मुक्ता बिना आब हो चमके
बिना कूल बहती धारा सी,
यह गिरि अवरोहित जलमाला ।
बिना डोर के, बिना ग्रन्थि के,
इस मन को उस मन से बांधे,
बन्दनवार नयन मडप की—
मेरी यह माला वरमाला !"

अतस्तल की मौलिक सवेदनाओ को उभाडकर इन्होने अपनी कतिपय कवि ताओ में वे ही छायावादियो के से उपमान और बिम्ब खोज है जो मनोरम मृदु कल्पना को उदबुद्ध करते हैं । दु ख सरिता में बहती प्राण की नौका का एक चित्र

"चली प्राण की नौका बहती—
दुख-सरि में, दुख से अनजानी ।
अमर श्वास पतवार बने हैं,
झझा उसको खेने आती ।
पथिक बनी है विश्व वेदना,
ऊर्मिल विप्लव गान सुनाती ।"

एक दूसरी कविता में इतस्तत फैली ज्योति किरण कवयित्री को किसी दैत्य की दत प्रभा सी भयावनी लगती है—

"नहीं जानती आली री मैं,
अधकार क्यो मुझको भाता !
लगता ज्योति किरण जो फैली,
किसी दैत्य की दन्त प्रभा है,
अट्टहास जीवन पर करती
कोलाहल से भरी सभा है ।
घूँघटमयी पलक में मुझको—
इसीलिए बैठा जग पाता ।
लगता कोई दिव्य वल्लभा—
दीप बाल कर प्राच्य गगन पर
प्राप्त हुई पचत्व, देव की—
जोह जोह बाट जनम भर ।
साध्य दीप में नित्य जगाती,
देव न आते, मन भर आता ।"

और सूत्रधार' में सूय मानो घन नदकी को किरण-सूत्र में बाँधकर कठपुतली

की तरह नचा रहा है—

> "सूत्र धार रवि, किरण सूत्र में
> बाँध बाँध कर घन-बदली को
> कठपुतली-सा नचा रहा है
> ऊपर निर्मित धूम्र-यवनिका
> पृष्ठ भाग पर, बैठा दिनकर
> इन्द्र धनुष के रंग-विरंगे
> नूतन पट को झट पहनाकर
> मेघावलि की कठपुतली को
> रंगमंच पर गिरा रहा है।"

'मोग-मोग' शीर्षक कविता में इन्होंने पुरानी लीक छोड़कर नई पद्धति अख्तियार की है और निजी भावों को सर्वथा नये ढंग से रखा है—

> "खिला फूल
> झर गया
> उठा लिया
> लगा लिया
> अलकों को
> डाली पर
> मन मलीन
> और टूक हो गया
> क्यों ?
> चाव-चाव में
> उठा लिया था
> क्षरित फूल
> लगा न पाई थी
> कि चाव खो गया
> डाल से झर गया।
> आई स्मृति
> कोई
> लगी फूल को
> सूँघने
> पीने लगी फिर
> उसका रस
> धीरे-धीरे
> स्मृतियाँ

कितनी ही
स्मृतियाँ
ऐसी दौडी-दौडी
आई
जैसे टूटे मधुछत्त को
मक्खियाँ
टूटा सहारा देखकर
आ जुडती है
सिर भन्ना गया
गिरा दिया
फूल धूल पर
लगा लिया
तोड डाल से
एक शूल
चुभता रहा
चुभता रहा
जो,
स्मृति
फिर कभी न
आई !"

'भाषा निर्माता', 'तितली', 'एक अनुभव' आदि कविताओ में इन्होने वात्सल्य रस को लाने की चेष्टा की है पर उसमें रसभीजी या आप्लावित करने वाली अभिव्यक्ति नही है, वरन् उक्ति चमत्कार और तर्क वितर्क में ही उसकी सहजता खो गई है

"मा ! मामा मुझको कहते है
तू तितली है री तितली है
मै भी क्या मोती से निकली ?
मेरे भी क्या दो पर थे ?
गभीर हुई मा यह सब सुनकर
बोली— सोने के अडे से
मै, तू, बापू सब ही जन्मे
करो प्रणत सूरज को पूजा ।"

जहाँ इन्हाने मूल तत्त्वों को पहचाना है वही इनकी अभिव्यक्ति को ठीक मार्ग मिला है और वे अधिक मार्मिक बन पडा है

"दुख पीती आँसू की बाती

हाँ ! फिर मैं प्यासी की प्यासी।
कभी कभी निज विपुल व्यथा को
घूँट पिलाती थी प्रश्ना को
लौट रहे सघर्ष वृन्द अब
भूखे-प्यासे इस जीवन से।
दुख भी खोया सुख को खोकर
अब मन आना लौट प्रवासी !"

'मुक्ति हुई पागल रे' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिए :

"खोज रही उस पगली को मैं
अपने वैरागी प्राणों में
जड़ चिन् के पर्वों से उड़कर
जड़ चिन् के ही नू अम्बर में—
कितनी हूँ विह्वल रे !"

सुश्री कीर्ति चौधरी हृदय के कोमल स्पन्दनों को ही केवल मुखरित नहीं करती वरन् आज की कशमकश और संघर्षशीलता में वे भावुक से बौद्धिक अधिक हो उठी है। जीवन के नैसर्गिक सहज प्रवाही बिम्ब क्या वे ही हैं जो कल्पना की स्वप्निल मादकता के अतिरेक में रंगीन रेखाएँ आँकते हैं। इस स्वर्णजाल से इतर कुछ और भी तो है जो यथार्थ और वास्तविक है। अम्बर की शत शत उल्काएँ कवयित्री की चेतना का चकाचौंध नहीं करती, वह तो ठोस धरती की मौन मुग्ध परिछाया में—शान्त और स्थिर—अपनी भावनाओं को उन जीवन-दर्शन की श्रेणियों में विभक्त कर देती है जहाँ तदनुरूप भावोन्मेष होता है। 'मुझे मना है' शीर्षक कविता में -

"बिखरा है रंग रूप गंध रस
मेरे आगे
मुझे मना है किन्तु
गंध को अंग लगाना
खुशियों के चमकीले दामन को
आगे बढ़कर छू आना
रस पीना छक जाना
लुब्ध भँवर सा सुषमा पर मँडराना
मुझे मना है !
दौड़ूँ भी तो अपराधी सी दृष्टि
झिझक झुक जाती है
वैभव के आगे

हाय कांप उठता है
अजंलि में भरते ही मधुर चांदनी
सुख की सीमा पर अनजाने भी जा पहुँचूँ
तेरा मुख वर्जित करता मुझको बढ़ने से !
जैसे कौंध लपक जाती बिजली की रेखा
दिख जाता सब असपृक्त अविदित अनदेखा
तेरा ध्यान मुझे झकझोर चला जाता है
बढ़ा हुआ मेरा पग सहम लौट आता है
मुझे चाहिए नहो अकेले गंध राग रस
मुझ चाहिए नहीं अकेले प्रीति प्रेम यश !
तेरा झुका हुआ मस्तक
जब तक ऊपर को नहीं उठेगा
तेरे भटके चरणों को
जब तक पथ इंगित नहीं मिलेगा
तब तक मुझको वर्जित होंगे
सुख वैभव के सारे साधन
तब तक मुझे लौटना होगा
बार बार यों ही बन निर्धन !"

प्रिय की याद कवयित्री को पहले गोपन कक्ष में आती थी, पर अब समय-असमय कभी भी, किसी भी क्षण और किसी भी परिस्थिति में आ जाती है। वह लुकी-छिपी, शर्मीली या प्रेम की मूक मौन नीरवता में डूबकर आत्मपीडा को भीतर ही भीतर समोए रखकर खामोश रह जाने वाली नहीं है बल्कि अपनी हृदय की रिक्तता का अभाव वह कैसे भरेगी—यह वह स्वयं नही जानती। साथ ही इस दौरान उसने याद संजोयी या बिसरायी—इससे भी वह बेख़बर है

"याद तुम्हारी
पहले आती थी
गोपन एकांत कक्ष में
अब आती है
राह घाट पर
समय बेसमय
हरे गझिन पत्तों वाले
पेड़ों को देखूँ
देखूँ पख मार उड़ जाती
विहग पाँत को
भोगूँ पल भर

पानी की फुहार के नीचे
छू जाए
नम गंध भरा हल्का सा झोंका
अकुलाहट वैसी ही मन में भर जाती है
मैंने याद सँजोयी है
या बिसरायी है।"

एक दूसरी कविता में कवयित्री खोखली टेक, झूठे आश्वासनों और बेदम बोलों की भर्त्सना करती हुई विनय या प्रार्थना द्वारा आश्वस्त करने की ही बात कहती है।

"रहने दो झूठे आश्वासन,
बेदम बोल!
रहने दो खोखली टेक,
आशा अनमोल!
कर सकते हो बन्धु अगर
विनती करो—
थक कर गिरूँ कहीं तो
रौंदूँ नहीं कली
वरन गिरूँ उस बाँध पास
जो कल बारिश में टूट फूट
जलमग्न करेगा गाँव!
दम तोड़ूँ तो—
कहीं खेत में,
सड़कर गलकर
फसल बढ़ाऊँ!
बीज उगाऊँ!
और नहीं तो
मरना ही है अगर निपट असहाय
मरूँ उस घुप पाताली अन्धकार में
जहाँ न कोई
सद्यःजात शिशु की आत्मा हो।
स्वप्निल आँखें
आतुर पाँखें
कुछ-कुछ भी जो सब
उगना बढ़ना और पनपना चाह रहा
वह वहाँ न हो!
तुम करो प्रार्थना बन्धु!

सच मानो-
यों अधियारे में मरजाने को हविस न थी !
लेकिन यह असहाय मृत्यु
अनुकरण बने,
या थोड़ी सी भी आस्था को कुचले
मुझको स्वीकार नहीं
कर सकते हो बन्धु अगर
इतना करो—
और नहीं कुछ,
बस केवल
विनती करो !"

इसके अतिरिक्त वह भी क्या कम अपराध है जो दूसरों से नफरत करना सिखाता है और हर अवगुण एवं स्वार्थ को प्रश्रय देकर जीवन के आधारभूत सिद्धान्तों का गला घोटता है। ।

"हर एक व्यक्ति से घृणा, द्वेष, प्रतिहिंसा।
घबराना श्रम से,
कामों से जा छुपना।
बे मतलब सबसे,
तना-तना-सा रहना।
हर जगह कपट, छलना की मन में मशा।
नीवों की ईंटों को,
चुपके खिसकाना।
सूरज के घर पर,
कालिख ले चढ़ जाना।
घोखेबाजी चोरों का हरदम बाना।
स्याही के कांटे,
घर-घर बोते फिरना।
खुद आग लगाकर,
दूर तमाशा तकना।
मकड़ी-सा सब पर जाला ताने जाना।
सोते में ही गर्दन पर,
हाथ बढ़ाना।
रास्ता चलतों पर,
ढेले तान चलाना।

अपने स्वार्थों में जीवन सबका जीता।
सब चांद सितारे,
अपने लिए सहेजे।
औरों को यम के,
घर से हल्दी भेजे।
मीठा मीठा गप थू थू थू सब तीता।"

'छूटा जाता है' शीर्षक कविता में जीवन की सचित्र स्मृतियां का कोष जैसे हाथ से छूट कर यत्र-तत्र बिखरा पड रहा है। कवयित्री ने नितान्त नई पद्धति से विषय को प्रस्तुत किया है

"वह गुनगुन करती हवा
धूप के चमकीले धागे
खुशियाली पौधों की
जगमग हीरे के टुकडे-सी आँखें
उन सोती कलियों की
बौछार गप की
खुली खिडकियों में आ कर
जो तर कर जाती
कुछ भी पाती
थके पल की आहट
भोली चिडियों की
जो काट-काट चक्कर
नीले नभ के
विस्मित रोशनदानों से
अदर आतीं
घबरातीं
सुनसान ऊँघते
पेडों की गुपचुप बातें
टपके फल पर
कितनी नज़रों, कितने हाथों
की वे घातें
वे स्मृतियाँ सारी की सारी
छूटी जाती हैं
हाथों से धीरे-धीरे
इन लबी-चौडी सडकों के हर फेरे में

अजनबी भीड के घेरे में
हर एक शक्ल पढते बढ़ते ।"

वह प्रश्न करती है

"जीवन से शोभा क्या यों ही हट जाती है
मैं उसे जियूँ या नहीं जियूँ
मन के आगे फैली अगाध
रस की सरिता
मध्याह्न काल की किरणों मे
घट जाती है
मैं उसे पियूँ या नहीं पियूँ
पर मेरी प्यास कहाँ बुझती
पर मेरे पैर कहाँ थमते
सचित सुधियों के कोष
हाथ से अगर गये
जगते आँखों में कौतूहल से प्रश्न नये ।"

सहसा ही हवा चली तो फूलो और कलियो ने सुगन्ध को यत्र तत्र बिखेर कर समूचे वातावरण को सुवासित बना दिया । निम्न पक्तियाँ देखिए

"सहसा ही हवा बही
फूलो औं कलियों ने बिखरा दी खुशबू
जो अब तक सही।
खुल गये कपाट बन्द लोचन के साँवरे
मलयज के सग डोल प्रान हुए बावरे
चुपके से कानों में गुनगुन कर बात
आन किसने कही।
थमी हुई लहरो में पाल खुला जल हिला
दूर देश का परस सोया शतदल खिला
सिहरी जब लतर, पास शाखों ने हौले
बाँह आन गही।
सहसा ही हवा बही।"

सुश्री इन्दु जैन नई कवयित्री के रूप में उन्मुक्त भावोन्मेष और नव्य कल्पना को लेकर आगे बढी है। जैसा कि प्राय नई कविता की प्रतिक्रिया उसकी निस्सगता अथवा अतिशय बौद्धिकता में है, सो यह बात इन पर लागू नही होती। इसके विपरीत नए शिल्प को नई जीवन दृष्टि के साथ समायोजित करने की चाह है। आज का प्रयोग

प्रेमी कवि किन्हीं भी वर्जनाओं की बेड़ियों में बँधना पसंद नहीं करता। कारण—कविता की रूह उससे मर जाती है। अतएव नये बुद्धित्व की प्रतिष्ठा के कारण काव्य के मौलिक आस्वाद में भी अन्तर आ गया है। सदियों से चली आती थकान, ऊब और घुटन बरकरार है, पीड़ा और दर्द भी ज्यों का त्यों है, बल्कि उसमें कमी नहीं बढ़ोतरी ही हुई है। मगर उसकी अनुभूति में फर्क आ गया है। कवयित्री के शब्दों में

"दर्द की कुछ और कड़ियाँ बढ़ गई हैं।
शाम ज्यादा जर्द, रातें सर्द
वीरानी सुबह, सूनी दुपहरी—
जिंदगी अजगर सरीखी
सिमट खुलकर रेंगती।
सौ बरस की नींद सा सपना
कहाँ तक और फैलेगा
न जाने !
और कितने युग खुदेगी नींव मन में !
बन्द कब होंगे हथौड़े छेनियाँ !
पत्थरों की यह ढुलाई
कौन जाने
कब रुकेगी !
मकबरा बन जाए, राहत मिल सके मुझको,
असंधे दुर्ग में कब
बिना छूई, बिना रोई सो रहूँगी ?"

जीवन इतना जटिल होता जा रहा है कि चेष्टा और चातुर्य के बावजूद भी लगता है जैसे उसका कोई कूल किनारा नहीं। अपने सीमित दायरों में बँधे रहने के कारण उसे कौन किस मात्रा में ग्रहण करता है और औपचारिक सीमाएँ उसे कहाँ तक बाँधती हैं ? बाह्य अस्तव्यस्तता और नित-नये संघर्षों से आहत वह पलायन खोजता है अथवा अन्तर्मुखी बनकर कल्पना-लोक में विचरता है, दिव्य स्वप्नों का निर्माण करता है, प्रणय-वेदना के स्वर जगाता है, पर फिर भी उसे राहत नहीं, ऊहापोह और द्वन्द्व संघर्ष सदैव चलता ही रहता है। नए कवि का दर्द कुछ इन्हीं अदृष्ट परिस्थितियों से आकार ग्रहण करता है। यथार्थ से टकरा कर उसकी सुष्ठु कल्पना और सौन्दर्योपासना जैसे ठेस खाकर धराशायी हो गई है और दर्द की अनुभूति भी जैसे बिखर कर छितरा गई है।

"गीत की असह्य साधारणता
और
उभरा हुआ दर्द।
उस दर्द की परिणति

यहीं है
बस यही ।
चम्पा की जड का मधुहीन रस--
फुनगी तक पहुँच नहीं पाया ।
अस्थिहीन शब्दों के इन त्यक्त केंचुल में
मुझे मत भरो ।
एक व्याकृति तुमने दी
एक व्याकृति तुम हो--
सत्र मेरी आस्था
सब मान्यताओं की ।
कभी-कभी लगता है--
'लो, बस अब उतर गया--
असावधानी की खूँटी पर टँग गया
भ्रम का लबादा ।'
लेकिन फिर
वही;
वही भूल ।
तुम तो यही हो--आवरण से अभिन्न ।
व्यथा के शीत से सिहर कहाँ पाओगे ?
एक दिन बेला के फूलों की दृष्टि खुली .
आसमान तांबे-सा तपा हुआ
झूठे सलमे के तारे और
चाँद
टूट कर टपक रहे ।"

'सर्द सा झोंका' कविता एक लघु चित्र है जो अपनी व्यजकता के कारण मन एव प्राणो को सहला देता है ।

"यह हवा का सर्द-सा झोंका
बहुत नीला
बडा मीठा
उडे, प्यारे गुलाबी बादलों पर
पेंग लेता,
झूलता,
आ कूद धानी टहनियों को
चूमता,

चुपके झरोखे से फिसल
अनजान ही में हाथ दोनो थाम कर
मन-प्राण सब सहला गया
है
यह हवा का सर्द-सा झोंका !"

हल्की-फुल्की अनुभूति--चिंतन और तर्क से परे--मन को छूती है। पूर्वाग्रहो से प्रभावित न होकर इन्दु जी ने जीवन में सार्थक उपलब्धियो को मर्म ही नहीं दिया, अपितु अधुनातम परिवेश और अभिव्यंजना भी दी है। एक लघु निम्न कविता में .

"दूर बहुत दूर-वहाँ-
सुनसान !
प्यास फटा रेगिस्तान !
पैर धंसे
होंठ खुले।
बाँह कहीं गही नहीं गई—
वहाँ
बाँह कहीं मिली ही नहीं !"

मेघो के घटाटोप में से चाँद का झाँकना, लगता है--जैसे पटबन्द खिड़की खुल कर सहसा चाँद को दिखा रही है, किन्तु यह क्या ? दूसरे ही क्षण फिर पट बन्द ! मेघो की सघन कालिमा ने पुन चाँद को आच्छन्न कर लिया। अरे जरा दौड़ो, फिर चाँद कहीं इस लोह-पाश में आबद्ध न हो जाय। कोई सीढी लगा कर उसे ले क्यो नही आता ?

"एक परत, एक लहर,
खिड़की भर चाँद खुला।
झाँक लें नज़र भर कर
एक बार—
घनी रोशनी जहाँ !
घटाटोप
बादल के लोहे के द्वार बन्द।
खिड़की भर चाँद खुला !
दौड़ो तो--
आकर नसैनी लगा लो ना !!"

कहीं-कहीं सामान्य सी बात को भी बड़ी ही गहराई और मार्मिकता से कहा गया है। प्रेम के फूलों का अम्बार कवयित्री के मन में बड़ा ही विचित्र और अद्भुत सादृश्य उभारता है :

"सेम में फूल आ गए
सहेली !
देख—आ !
या कहूँ—
जाड़े में शीशे की झील पर
तैरी कपास
या—
—छोड़ झील—
धूप के सुनहरे हरे खेत
लहरा गए।
देख—आ !
छूटे बाल-गाल छुए
हवा ने बताया था
'रात को बसंती रंग
आँगन में छाया था।'
छाया था
रात को बसंती रंग?
उगी थी केसर पहाड़ों पर?
उगी ही होगी तब—
रात झूठ बोल कर
बचेगी क्या?
देखा था भोरे ही
कुहरा तो खुद मैंने।
बूँदें भी परसी थीं।
—और फिर—
सबसे बड़ी बात—
यहाँ
सेम जो फूली है !"

कुमारी कमलेश सक्सेना की सरल, प्रसाद गुणमयी, ऋजु पद्य-रचना में मार्मिक और हृदय को आलोडित कर देने वाले अभाव और एकाकीपन का एक करुण अन्त स्वर गूँजता रहता है। आज की तरह इनकी रुचि निराकरण की नहीं बल्कि इनका मौलिक दृष्टिकोण समन्वयकारी और सहिष्णु ही अधिक है। प्रगति में विश्वास रखती हुई भी ये प्रतिक्रियावादी नहीं हैं, बल्कि किसी भी प्रकार के मिथ्याचार और आडम्बर से परे देशकाल एवं परिस्थितियों के अनुरूप ढलना जानती हैं। कविता में जबकि तर्क, युक्तियाँ और दलीलबाजी चल रही है इनकी अभिव्यक्ति कितनी सीधी-

"तुम्हारी याद की
मृदु लेखनी लेकर
बनाये गीत हैं
मसि आंख में भरकर
नखत अक्षर बने
भर स्वर पपीहे के
लिखे मैंने उपल पल
गीत जग जग कर
रुंधे स्वर, गान रोदन बन गए सारे
मगर निष्ठुर न तुम आए।
नयन के आंसुओं का
स्नेह भर निर्मल
सजा कर प्राण की
बाती विकल उज्ज्वल
उठा सुधि-लौ विरह
के कांपते कर से
जलाती मैं प्रणय
दीपक रही जल जल
मरण की एक अन्तिम फूंक ही देने
मगर निष्ठुर न तुम आये।
न तुम आये न आया
प्रात जीवन में,
खिला शशि फूल पूनम
का न घन-वन में
न उर तरु पर
मिलन की कोकिला बोली
सदा को लग गई
बरसात आंगन में
हजारों बार सुधि
आई तुम्हारी तो
मगर निष्ठुर न तुम आये।"

एक अन्य कविता में वह प्रणय कातर हो कहती है

"अधूरी रही प्रीत की यह कहानी
कभी द्वार प्रीतम सवेरा न आया

बड़ी ही कठिन जिंदगी की डगर है।
कहाँ तक चलूँ पग थके साँस हारी।
न भूली तुम्हें जो कभी एक क्षण को
निठुर आज तुमने उसी को भुलाया।"

प्रणय और विरह-वेदना से आहत मन अन्तर्मुखी हो जाता है। निराशा प्राणों को कचोटती है और अधिकाधिक दैन्य अंतत उपरामता जगाता है

'मने कब माँगा तीनों लोको का वैभव ?
मने कब माँगा मधुऋतु का यौवन अभिनव ?
मैंने कब माँगी अनुपम निधि सुन्दरता की ?
मैंने कब माँगी श्री शोभा मोहकता की ?

मैं भिखारिनी, टूटी फूटी कुटिया मेरी,
उस असीम में अति सीमित सत्ता मेरी
मुँह माँगा मिल भी जाता तो रखती कैसे ?
गन्ध मात्र से मत्त बनी, मधु चखती कैसे ?

मै तो उन सुधियों पर ही सर्वस्व लुटाती,
मै तो उन पद चिन्हों पर ही बलि बलि जाती
खींच गए जो सूनेपन पर रेख सुनहरी,
होती गई समय के संग जो दिन दिन गहरी।

जो माँगें से मिले न वर, बिन माँगे पाए।
पीडा बनकर आज हृदय में प्राण समाए।"

अवशेष पथ' में कवयित्री दिशाहारी नहीं वरन दृढ कदमो से स्वय राह बनाती हुई प्रगति पथ पर अग्रसर होने की आकाक्षा रखती है। अनेक मान्यताहीन सिद्धातो में नकारात्मक आस्था जगाकर वह गुमराह नही होना चाहती, अपितु स्वयमेव प्रवाह की ओर उन्मुख होकर उक्त आस्था का उत्स खोज लेना चाहती है। डगमग स्थिति में भी यदि हृदय में साहस और सामर्थ्य है तो बिना किसी अवरोध के निष्कटक आगे बढा जा सकता है

"साधना का पथ अभी अवशेष है
और तरणी से पुलिन भी दूर है।
तेज कर कुछ और गति को तेज कर
क्यों नशे में आज माँझी चूर है।
हो रहा अवसान रवि का खेलती—
सिन्धु से किरणें चपल अठखेलियाँ
माँग भर कर आ रही सन्ध्या परी

चाँद से निशि चाहती रग रेलियाँ
कर रही इंगित मुझे लो दीप को
वह खड़ा कोई लिये सिन्दूर है।
रात दिन खोई हुई उन्माद में
मैं बढ़ाती जा रही अपने चरण
साधना का लक्ष्य ध्रुव तारा मुझे
मैं नहीं कुछ जानती जीवन मरण
मैं निरजन को करों से छू रही
क्या हुआ यदि भूमि से नभ दूर है ?
विश्व का रुचता न कोई पन्थ है
इसलिए खुद ही बनाती राह हूँ
बाहरी आलोक क्यों खोजू स्वय
मैं प्रणय पूरित सुलगती चाह हूँ
नाव लहरों पर रहे चिंता नहीं
शक्ति साहस से हृदय भरपूर है।"

अविश्रात पथ है, पर पथिक का काम तो बिना हिम्मत हारे आगे बढते ही जाना है। भले ही मजिल दूर हो, किन्तु क्या मन की प्रेरणा और आगे बढने का अडिग विश्वास उस मजिल तक न पहुँचा देगा ?

"स्वप्न छलता रहा, छलता ही रहेगा।
पास आएगी नहीं मजिल स्वय ही,
खींच लाएँगे उसे इस पार हम ही,
गति बनेगी प्रगति हर अवरोध सह कर,
पथिक चलता रहा, चलता ही रहेगा !
सूप झाँकेगा कुहासे की गली में,
धूप थिरकेगी महक बन कर कली में,
अप्रभावित रूप किरणो का रुपहला,
तिमिर ढलता रहा, ढलता ही रहेगा !
दु:ख शतशत, आस्था है एक अविचल,
काल निशि में ज्यों उषा की रेख उज्ज्वल,
अन्धडो से हिल न पाएगा हिमाचल,
दीप जलता रहा, जलता ही रहेगा !"

किन्तु यह विश्वास कहीं-कहीं करुण क्रन्दन बन जाता है। ओरछोर हीन मे स्वप्निल मजिले भ्रम या छलना नहीं वरन् उसके थके-हारे मन के अमर आश्वासन का मानो चरम बिंदु है

"मैं न रोती, रो रहा विश्वास मेरा।
व्योम भरता मोतियों से रात ही में,
मेघ झरते घिर घुमड़ बरसात ही में,
क्या सुनाऊँ मैं कथा अपनी व्यथा की,
सजल निश दिन आँख का आकाश मेरा,
मैं न रोती, रो रहा विश्वास मेरा।
जन्म जल से हुआ किन्तु जलज बनी ना
प्राण प्रिय परसे मगर पदरज बनी ना
क्या भविष्यत भाव वश भूली सभी कुछ
कौन सुनता अब करुण इतिहास मेरा ?
प्राण कर दिन रात आराधन किसी का,
पा गए अमरत्व आश्वासन किसी का,
क्या पता या पात्र में मधु के गरल है ?
जल उठेगा एक दिन हर श्वास मेरा ।।
मैं न रोती, रो रहा विश्वास मेरा ?
सत्य कल का बन चुका है आज छलना,
चल चुकी जितनी, अभी है और चलना,
अब न स्वप्निल मंजिलें भरमा सकेंगी,
पूर्ण मुझ में ही अनन्त प्रवास मेरा ।।"

प्रणय की असफलता में कवयित्री दुराशा, व्यंग्य अथवा उपालम्भ का सहारा नहीं लेती, बल्कि अपनी इस लाचारी पर उसकी पूर्ण आस्था और आप्लावित भाव है। सहज विवेक के साथ प्रमाकुल मन को वह निरन्तर आश्वासन देती रहती है

"क्यों विकल अब हो रहा मन।
जो गया जाना उसे था,
शेष जो आना उसे था,
इस गमन औ' आगमन का दूसरा है नाम जीवन !
मृत्यु का सिरजन प्रलय क्रम,
चल रहा है, चल रहे हम,
आ रही है पास मंजिल, आ रहा चिर मौन का क्षण !
प्राण के इस श्वास-पथ पर,
प्रणय ही केवल सदा चिर,
धूल हर फूल, मरघट एक सारा विश्व उपवन !
क्यों विकल अब हो रहा मन !"

छायावाद की रूमानी प्रेरणा ने नारी में अब तक अमूर्त प्रणयोच्छ्वास ही अधिक जगाया था, पर आज के संघर्षों ने उसके मूल तन्तुओं को हिला दिया है और उसकी दर्द की पटभूमि बहुत व्यापक हो गई है। जीवन के मुक्त और स्वच्छन्द उन्माद की नग्नता को ढकने के लिए मांसल और दुनियावी प्रेम तक को आध्यात्मिक और रहस्यमयी अनुभूति की गोपनीयता में आवृत किया गया। पर चूँकि नित-नई परिवर्तित जीवनानुभूति के इस दर्शन ने भ्रामक धारणाओं का पर्दाफाश कर दिया है, अतएव इस गरिमामय द्वन्द्व की कचोट से तिलमिला कर नये रूपविधान और पृथक् परम्पराओं को प्रश्रय दिया जा रहा है। लगता है--जैसे कविता-कामिनी जो सलज्जा वधू सी मुख पर अवगुंठन डाले अपने झिलमिल दामन के शत-सहस्र आवरणों में लिपटी-चिपटी मुग्ध चितवन और भावभंगी से रस सृष्टि करती आ रही थी अब सहसा प्रौढ़ा नायिका सी मुँह उघाड़ कर सामने आ खड़ी हुई है। इस रंगीन स्वप्न-मयी सुहागिन के इर्दगिर्द मादक वातावरण में गूँजते मधुगान और पीड़ा व अतृप्त आकांक्षाओं की गहराइयों से उभरती बुलन्दियाँ—जैसे यकायक इस अलबेली को जीवन की समतल डगर पर कोई मोड़ मिल गया हो अथवा गहरी ठेस से तमन्नाओं का चमन मुरझा गया हो, सपने और अरमान चकनाचूर हो गए हों और अन्धकार में डूबी गहरी खाइयाँ व चटियल चट्टानें पथ रोके खड़ी हों। उसके प्यार का सतरंगी इन्द्रधनुष समय की धकापेल और विषम परिस्थितियों के बवण्डर से टकराकर छिन्न भिन्न हो गया हो। यही कारण है—कविता में चल रही अराजकता कुंठित संवेदनाओं से जुड़कर कुछ छूँछे 'पलैटोज' ही उभार सकी है जिनका न कोई स्वरूप है न अस्तित्व।

आज के कवि का मानसिक द्वन्द्व अपेक्षाकृत तीखा और नाटकीय है, अतएव कविता में रस-निष्पत्ति उसके हृदय की अनुभूति या स्पन्दनों पर नहीं अपितु 'मूडों' या मस्तिष्कीय प्रतिक्रियाओं पर निर्भर है, दूसरे शब्दों में कविता पहले की तरह आत्मप्रसूत नहीं बल्कि बुद्धिपरक अर्थात् सूझ (Wit) की करामात है। वैयक्तिक होने के कारण नारियों की छायावादी सर्जना अपने ही रुदन, क्रन्दन और कुंठाओं तक सीमित रही, पर इधर बाह्य जीवन की जटिलताओं के कारण भय, भ्रम, आशंका, साथ ही आधुनिकता के चक्कर में निराशा और अनास्था भी आ जुड़ी है। फलतः उसकी दर्शन-पीठिका व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के नये आयामों में सर्वथा नए रूप में सामने आ रही है।

मानव अस्तित्व के बुनियादी प्रतिमानों के अनुपात में परिवर्तित परिस्थितियों के साथ ही बौद्धिक विकास होता रहता है जो अनिवार्यतः साहित्य और शिल्प पर भी अप्रत्यक्ष रूप में प्रभाव डालता है। वर्तमान जीवन के वैविध्य ने अनुभूतियों का अक्षय भण्डार दिया है, पर साथ ही भाव और भाषा के नवसंस्कार ने कितने ही अंत-विरोधों को जन्म दिया है। कृत्रिमता, प्रवंचना और मिथ्याडम्बर ने कविता की शब्द शक्ति, उसकी गरिमा, उसके रागात्मक लालित्य और उदात्त भावोन्मेष को ग्रस लिया है। इसके विपरीत सत्य को, यथार्थ को झुठला कर विरोधी सिद्धांतों और मान्यताओं में एक ऐंठन भरी बौद्धिक विमूर्च्छना है। परिप्रेक्ष्य बदल गए हैं, अतएव

सदियों पुरातन आदर्श और बद्धमूल स्थापनाएँ प्रश्नचिन्ह लगाकर खड़े हैं। प्रत्येक नई पीढ़ी पुरानी बातों से आतंकित और सशंकालु रहती है। चुनौती और प्रतिक्रिया ने अनुभूतियों और संवेगों से भी अधिक तथाकथित बौद्धिकता से होड़ ठान ली है। सृजन प्रतिभा बुद्धि के बोझ से इतनी दब गई है कि रुचि वैचित्र्यवादी और भाव-शून्य प्रकृतवादी कविताएँ, जिन्हें चटखारे ले लेकर पढ़ा जा सके, गढ़ी जा रही हैं। नया कवि या नई कवयित्री वैयक्तिक स्वातन्त्र्य के नाम पर उस रुग्ण मनोवृत्ति से आक्रान्त है जिसमें उसकी स्वसत्ता अर्थात् अहं और द्वन्द्व के घोर कशमकश के कारण उसकी कोमल कल्पना के तार विच्छिन्न हो गए हैं। अनगढ़ टेढ़े मेढ़े, चन्द सतरों में जैसे इधर-उधर के कुछ जुटे अक्षर और अधूरे वाक्य। सीमाएँ और घेरे—उसी की वक्राकार परिधि में डूबता उतराता मन—जैसे किसी की तलाश में थककर भटक गया हो, कृत्रिम उच्छ्वासों की निरीहता हाँफ रही हो और बेहद हड़बड़ी व त्वरा में जैसे कुछ छूट गया हो जिसका कुछ-कुछ अंदाज़ ही लगाया जा सकता है पूरा खाका नहीं उतारा जा सकता। सावयव संघटन, ध्वनि, लय, वर्ण संयोग और एकान्विति के खंडचित्र मानस-पटल पर उभरते तो हैं, पर उनकी अनुभूति संश्लिष्ट नहीं हो पाती कि वे खंड-खंड हो बिखर जाते हैं। यही कविता बिलकुल गद्य भी लय और स्वर के तारतम्य और वस्तु-सापेक्षता से दूर बहुत दूर जा छिटकी है।

"आज तुम आये हो
मैंने जूड़े में है फूल टाँगा।
आज मैंने कानों को छूती हुई
काजल की बारीक सी रेखाओं में
फिर नई कविता लिखी है।
फिर मैं बहार की इक ऋतु बनी हूँ,
मेरे चारों ओर खुशियों के हैं फूल।
मेरी इस साड़ी पे भी हँसते हुए फूलों की दुनिया।
धरती की लहराती हुई फसलों का नाच
मेरे इन क़दमों में है
मेरे इन अंगों में है सैंकड़ों गीतों की लय।
मैंने फिर से
कमरे की दीवार पर का चित्र बदला
चित्र यह कुछ बोलता सा जान पड़ता है।
आज फिर मैं 'कीट्स' को पढ़ने हूँ बैठी
आज फिर मेरी नजर में
ग्रीस का सौन्दर्य संगमरमर की अमरता में ढला है।
क्या यह मेरा ही है घर
जिसकी दीवारों के होंठ

चुप थे, बस चुप थे।
आज पर
इस कमरे की हर एक चीज ही बोलती है।
मैं बहुत खुश हूँ
कि तुम आये हो आज
मैंने जूड़े में है फिर से फूल टाँगा।"

(अनिता कपूर)

इसी कवयित्री की 'तुम्हारे अभाव के कुछ क्षण' शीर्षक कविता में एक दूसरे ही प्रकार की कलात्मक पीड़ावृत्ति देखिए

"बस यूँही बैठी
तुम्हारे नाम को मैं लिख रही हूँ।
आज इस धुँधली उदासी में
कहीं तारे नहीं
चांद का वह फूल भी सोया हुआ है
ओढ़ कर चद्दर अंधेरे की
रात है, लोहे की ज्यों दीवार हो।
वृक्ष चुप हैं
घोसलों के चुप हैं स्वर
पृथ्वी पर ऊँघती आँखों का गम है
खेत बंजर
शून्यता है, भँवर बनकर घूमती हुई याद है।
आज इन आँखों में दो आँखें किसी की
तैरती हैं, डूबती हैं
घुल रहे कागज में आँसू
चमकते हैं, पिघलते हैं
और यह दो ओंठ जैसे आग को आज पी रहे हैं।
कहां है गीतों की दुनिया
आज चारों ओर खंडहर ही है खंडहर
आज तो इन अँगुलियों के
स्वर भी बन गये हैं पत्थर
कहाँ हो तुम इस विजन बेला के इन अन्धे क्षणों में?
आज जब कुछ भी नहीं, कुछ भी नहीं है
दर्द के कांटों को चुनती
बस यूँही बैठी
तुम्हारे नाम को मैं लिख रही हूँ।"

लगता है—जैसे सवेदनशील हृदय पृथक् पृथक् भावधाराओ में विभाजित हो गया है जो काव्यात्मक अनुभूति के स्थान पर चिन्तन की तार्किक निष्पत्ति अथवा एक खास 'मैनरिज्म' की ओर अधिक ले जाता है। नीचे उद्धृत 'धुआं और लपट' कविता में कवयित्री की तकशील जिज्ञासा तो प्रकट होती है, पर चूंकि उसमें निहित चिन्तन अपने विशिष्ट लय और आकार में गद्य की योजनाबद्धता में चलता है, अतएव अन्त तक संवेदना की सघनता व्यजित नही हो पाती।

"मैं
तीर्थ यात्रा पर जाने वाली
स्पेशल ट्रेन की
यात्री
बनना नहीं चाहती।
यह भी क्या मजाक है?
तीन मास तक
उन्हीं यात्रियों के साथ
रहना पड़े,
सुबह की
नई किरन की थपथपाहट सुन
आंखें खोलूं
सामने बासी चेहरे हों,
रात को नींद की बांह गहूं
वृद्धा परछाइयों के साथ,
भ्रमण करूं
तो—
बंधे हुए कदम हों
परिचित स्वर हों,
भारी हवा हो!!
नहीं! नहीं!!
मुझे पैसेन्जर ट्रेन में
सफर करने दो,
हर स्टेशन पर
नये यात्री चढ़ेंगे,
बैठेंगे
बोलेंगे
हंसेंगे,
कुछ रुचें नया मिले॥

कुछ मुझे नया मिलेगा
जीवन में
नव स्फूर्ति नवोल्लास भर कर
किसी स्टशन पर
वे
उतर जायेंगे
मैं भी कहीं उतर जाऊँगी।"

(मधु)

जीवन के अविराम डगर पर बेहद कशमकश और भागदौड़ है। अहर्निश चलते-चलते पैर थक गए हैं, पर अभी तक मंजिल नहीं मिली। कितनी अलग-अलग राहें हैं और अलग-अलग दिशाएँ। प्राणों की समूची शक्ति सब कुछ सद्-असद् व अच्छा बुरा समेटने में लगी रहती है, पर कोई कूल-किनारा नहीं मिलता। हर ऊहापोह और संघर्षों से टक्कर लेता मनुष्य श्रांत हो जाता है, पर उसे विश्रांति नहीं मिलती। इसी कवयित्री ने 'मिली न अब तक छांव है' शीर्षक कविता में जीवन के इस अन्तर्विरोध का बड़े सुन्दर ढंग से निदर्शन कराया है

"चली यहां हर चरण रात-दिन, मिला न सबको गाँव है।
जीवन-पनघट पर साँसों की
पनिहारिन आती रही,
हिल मिल कर सुख दुख की सरगम
झूम-झूम गाती रही।
किन्तु गगरिया भर लेने पर
रुकने वाली कौन है?
सबकी अपनी राह अलग, घर अलग, अलग हर पाँव है!
लहरें उठी अनेक, मिला पर
किसी किसी को कूल है,
एक फूल शृंगार रूप का
एक फूल पर धूल है।
बिछी विश्व-शतरंज, आदमी
मुहरा बन कर चल रहा,
मात किसी की, जीत किसी की, अपना अपना दाँव है?
एक बदरिया उमड़ी बरसी
मिटी धरा-हिय की तपन,
एक बदरिया झुकी कि मरु के
अधरों पर उभरी जलन।
तृषा, तृप्ति हैं सहोदरा—

जैसे तरुवर की डाल दो,
इनके तले थके मानव को, मिली न अब तक छाँव है !"

आशा-आकांक्षाओं की मृगमरीचिका में मनुष्य भ्रान्त है। अन्तत यह कवयित्री इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि दरअसल मनुष्य नहीं चलता, बल्कि तरह-तरह की आशा-आकांक्षाएँ जो मन में पलती रहती है वही उसे विचलित किये रहती हैं और उन्हीं के साथ वह बरबस खिचता चलता है

"हर क्षण
समय-सर में
उठता है बुदबुद सा
खो जाता है,
आकांक्षाएँ
हाथ बढाती है,
पकड़ न पाती है।
फिर भी,
न बुदबुदों का अन्त है
न आकांक्षाओं का,
अतृप्ति के पाँव हैं
मनुष्य चल रहा,
मनुष्य नहीं चलता,
आशा--
जो मन में पलती है,
चलती है !"

निम्न कविता में वीरान बस्ती को बसाने के लिए, उसकी खण्डहर-सी उदासी को गुलज़ार करने के लिए और चिन्तित-परेशान मानवों के निमित्त चिरकांक्षित महल खडे करने के लिए विश्राम नहीं श्रम चाहिए, सुस्ती या प्रमाद नहीं उत्साह व स्फूर्ति चाहिए

"सूने खण्डहरों सी,
हमारी--
वीरान बस्ती है !
दिल की खुशी,
इतनी नहीं सस्ती है !
-कि, जल्दी हाथ में आए
हमें 'कुछ और' कर जाए,
खण्डहर की उदासी में,
महल की गुदगुदी रोती,

कफन सुनसान का ओढ़े,
जिन्दगी की अदा रोती।
तोड दो खण्डहरों को
छोड दो इन भुखमरों को,
फ़िक्र की जेल के,
इन बन्दियों को!
आज चुन लेने दो इनको,
ईंटें फिर से,
आज, फिर से करने दो,
तैय्यार गारा!
खण्डहरो को साफ कर,
इनको खडा करने दो फिर से,
मानवों का महल प्यारा!
विश्राम नहीं, श्रम चाहिए!
—इन्हें बस्ती बसाने के लिए!
सूने खण्डहरों सी,
हमारी—
वीरान बस्ती है।" (मल्लिका सचदेव)

'इतना शोर क्यो?' शीर्षक कविता में इसी कवयित्री का स्वाभिमान एक-दूसरे रूप में मुखर हो उठा है-जैसे मन के भीतर जो सौंदय चेतना अपना जाल बुनती रहती है वह मन के पर्दे पर न जाने कितनी छायाओ के अक्स उभारती है। इसी के समाधान के लिए जैसे उसका प्रश्न अब तक अटका खडा है

"इतना शोर क्यों मचाते हो?
जरा आहिस्ता बोलो,
भावों की खिडकी को,
धीरे से खोलो।
निर्जन है!
सब सुनसान है!
तूफान को,
खामोशी का,
नहीं ध्यान है!
शून्य की छाया है,—
क्यों रह गया है यहां,
फल दीखते है तुम्हें,
काँटे भी नहीं है जहां!

सुख भी है, दुख भी
कौन किससे कम है ?
सबसे अच्छा,
पतझर का मौसम है।
'जलन' की ज्वाला का–
–कहो, क्या ग़म है !
अच्छा अब जाओ,
रोर शोर के लिये,
कोई राह देखती होगी !
दीपक की बाती में
मन की महक लेखती होगी !
इतना शोर क्यों मचाते हो ?"

किसकी पुकार तोडती है निद्रा के पाश ?' शीर्षक कविता में आधुनिक प्रणाली के साथ-साथ सूक्ष्म और रहस्यवादी व्यंजना है जो अतीन्द्रिय में विश्वास रखती है

"साँझ को घर का प्रवेश द्वार,
बन्द होने के पहले ही,
प्रवेश पाती है किसी की पुकार,
धुँधले, धूसर क्षितिज पार,
न जाने कितनी बार,
टकरा टकरा कर,
उर-उर्मियों से मिलने
लौट आते हैं—मधुर-मधुर सी झकारें !
लाँघ कर दीवारों को,
ऊँचे ऊँचे द्वारों को,
कोई दिन रात रहता है मेरे पास,
पर जानती न हूँ,
कि किस की पुकार तोडती है निद्रा के पाश ?
हर काम में, हर बात में,
साथ देती है,
अनदेखी पर चिर पहचानी साप,
लगता है मन में,
कि तन में फूँके प्रभु ने श्वास,
दो प्राणों को बिछुडन के बाद !
यह व्याकुलता,

रुँधे गले में घहराती है,
और रध्र-रध्र पर, पुलक लहर
जब लहराती है,
तब नयनों में ज्योति देकर,
जीवन बाती-सा सिहर-सिहर कर जलता है,
बनवासी पत्ती घास,
और धरती के आसपास
फैला हुआ प्रचण्ड विश्व,
जनम-जनम का रहस्य कहता है !
न जाने, किन पर्वत पहाडियो से,
जगल घाटियों से, होकर—
मेरे हृदयस्थ विश्वास को छूने,
आ जाते हैं, अविरल गम्भीर उच्छ्‌वास
न जाने,
किसकी पुकार तोडती है निद्रा के पाश ?"

(मालती परूलकर)

'ओ मेरे चिर नूतन परम पुरुष !' में चिर विरहिन आत्मा का व्याकुल विमोहित आलोडन है। भावो के नीलाभ क्षितिज में चिरन्तन सत्य को खोजती कवयित्री की सिहरती कल्पनाएँ प्यार के अनन्त, विह्वल सागर में लय हो जाना चाहती हैं। प्रमोन्मत्त और पागल-सी वह इन असख्य चचल लहरो को पकडने दौडती है, किन्तु सीमा का व्यवधान तोडकर कूल किनारो को अतिक्रम कर वे आगे बढ जाती हैं

"उस सुहानी झिलमिलाती रात में
आये थे तुम
स्नेह का चिर सचित, चिर पावन
अमर सौरभ दान करने।
ओ मेरे चिर नूतन, द्युतिमान परम पुरुष !
पल भर निज स्नेहिल रूप बिखरा कर ही
छिप गये बिजली से
कजरारी काली बदलियो में !
उस सरल भोली चितवन को
अबोली अँखियों की सुषमा को
याद कर, बार-बार उर कसमसाकर
खो जाता भावों के नीलाभ क्षितिज में।
खोजते हैं प्राण उस चिरन्तन सत्य को
असीम अम्बर के अवकाश में।

फिर तन के सीमित बन्धनों से
मुक्त हो चेतना भी
छिप जाना चाहती है,
खो जाना चाहती है,
तुम्हारी आत्मा के चिर गोपन कक्ष में—
सुबह के ढुलकते मोतियों-सी
कि तुम्हारा कोमल परस पा कर
पछियों की पांखों पर उडती
मेरी सिहरती कल्पनाएँ
स्तब्ध शरमाई-सी
आकाश की अनन्तता में
समा जाती ले अपना अरुण मुख।
तब आरपार सागर की लहरों से इंगित
बार-बार बुलाते हो तुम मुझे।
ओ मेरे चिर नूतन, द्युतिमान परम पुरुष!
सुरमई सरिता की लहरों में प्रवहमान,
तुम अपने अन्तर की ऊर्मिल भावनाओं की,
जीवनी-शक्ति की झलक दिखला जाते।
तन अजस्र स्नेह के भार से बोझिल
इन झुकी हुई पलकों से
मोतियों का हार उपहार बन
गिरता है प्रतिपल, प्रतिदिन,
तुम्हारे उन दूरान्त दिगन्तरगामी चरणों में।
तुम्हारी अनन्तकाल से फैली भुजाओं में
कि तुम्हारे विशाल वक्षस्थल में
मिल जाना चाहते हैं मेरे प्राण
चिर दिन से, जन्मान्तरों से!
ये चाँद सितारे, झिलमिलाते नक्षत्र
युगों से देख रहे हैं
कि हाय मैं बावली राधिका-सी
भटकती हूँ खोजने तुम्हें
झुरमुटों में, कूलों में, अलिन्दों में,
पर हार कर रह जाती हूँ!
कि मेरी चिर विरहिन आत्मा में
उठता है व्याकुल विमोहित-सा आलोडन ;

तब सागर भी प्यार से विह्वल पागल हो,
अपनी अनगिन भुजाएँ फैलाकर
बुलाता है अपनी चन्दा-महल वासिनी प्रिया को :
जब असीम अनन्त प्रेम की धारा को
अपने में नहीं समा पाता,
तब उसकी असख्य चचल लहरें
सीमा को तोड़कर
कूलों को छोड़कर आगे बढ़ जाती हैं
धरा को आत्मसात करने।
ओ मेरे चिर नूतन, द्युतिमान परम पुरुष !
तुम्हारे उस अमित प्यार-सिन्धु को,
कि तुम्हारी आलिंगनाकुल अनगिन भुजाओं को
मैं निस्पंद, खड़ी, अपलक—
चकित-सी देखती ही रह जाती हूँ।"

(मधुमालती चौकसी)

नया कवि जीवन के यथार्थ को तटस्थ और असम्पृक्त दृष्टि से ग्रहण कर उसे इसी स्तर पर अनुभूत भी करता है। जो कुछ उसने देखा, सुना या अनुभव किया वह शृंखलाबद्ध कड़ियों में कभी तरतीब और कभी बेतरतीब उभरता चलता है जिसमें कवित्व की इकाई अलग से प्रमुख होकर नहीं बल्कि इस ढग से सश्लिष्ट होती है कि उसके नाना प्रभाव बाहरी तौर पर अनेकानेक विसगतियों और विविधताओं के साथ सम्पूर्णतया नियोजित हो सकें और वह अपनी सृजन-वृत्ति को और भी उन्मुक्त व निर्बाध छोड़ दे। नई कविताओं के कुछ नमूने देखिए .

"यह दिन भी बीत गया।
कोई नई बात आज हुई नहीं।
सूनी सी दोपहरी,
मेरे तन मन पर से–
अजगर सी रेंग गयी।
मटमैली धुंधली सी साँझ–
उसी अम्बर के आँगन में,
मुरझ गयी, फूली नहीं।
मन में—
कुछ और अधिक और अधिक होता गया।
तन का यह रीता घट,
और अधिक और अधिक रीत गया।
यह दिन भी बीत गया।"

(वीरा)

वीरा की विशेषता है कि छिन्न प्रवाह और गतिरुद्ध छन्द की रिक्तता को इन्होंने प्रकारान्तर से भावनाओं की लय से पूर्ति करने की चेष्टा की है। नीचे उद्धृत 'सुधि आई' में द्रुत लय और तुक उसके धारावाही स्वर प्रवाह में है

"सुधि आई,
पलकों में, सपनों में, नयनों में, अँसुओं में
सुधि आई।
सपनों में पुलक गई,
पलकों में मचल गई,
नयनों में छलक गई,
अँसुओं में ढलक गई,
सुधि आई,
मचली-सी, छलकी-सी, ढलकी-सी, सुधि आई।
अँधियारी बगिया में कोयल-सी कूक गई,
सूनी दुपहरिया में पीडा-सी हूक गई,
कारी बदरिया में उमड-उमड घुमडाई,
चाँदी की रातों में चितवन-सी मूक रही,
सुधि आई,
कोयल-सी, पीडा-सी, कारी बदरिया-सी—सुधि आई!
मन्दिर की देहरी पर,
पूजा-स्वर लहरी पर,
श्रद्धा-सी ठहर गई,
धूपित हो छहर गई,
सुधि आई,
देहरी पर, लहरी पर, ठहरी-सी, गहरी-सी—सुधि आई!
पतझड के पातों में,
अनसोई रातों में,
अनजाने घाटों पर,
अनभूली बातों में,
सुधि आई,
रातों में, घाटों पर, बातों में सुधि आई।
भोर की चिरैया-सी आँगन में चहक गई,
भटकी पुरवैया-सी आँचल में बहक गई,
बेले की लडियों-सी साँसों में महक गई,
चाँद की जुन्हैया-सी प्राणों में लहक गई,
सुधि आई,

आँगन में चहक गई,
आँचल में बहक गई,
साँसो में महक गई,
प्राणों में लहक गई !
सुधि आई, सुधि आई, सुधि आई !"

लय और अर्थ का यह नया द्वैतवाद भले ही अक्रम या विशृंखलता लाया हो, पर मस्ती का आलम और अजीबोगरीब अदा के साथ अपने सहज प्रवाह में बहता चलता है। इसी कवयित्री के चार मुक्तक देखिए :

"आज इस रात के सन्नाटे में देखिए जहर बहुत गहरा है,
सृष्टि सहमी हुई है, चुप भी है और खयालों में समय ठहरा है,
ऐसे वीराने में आवाज़ दूँ तो दूँ किसको ?
ज़िन्दगी का मेरी आवाज़ पर भी पहरा है।"

"रात आती है, रात जाती है,"
बात आती है, बात जाती है,
मैं किसी क्षण भी जो नहीं पाती
ज़िन्दगी यूँ ही बीती जाती है।"

"गीत मेरे हैं स्वर तुम्हारा है,
फूल मेरे हैं दर तुम्हारा है,
मैं जो जी कर भी जी नहीं पाती—
यह भी जो है असर तुम्हारा है !"

"शबनमी रात को मुठलाओ मत,
यूँ सितारों से, भटक जाओ मत,
पथ में काँटे हैं तो चुभेंगे ही,
एक काँटे से अटक जाओ मत।"

निम्न कविता में भोर का नया प्रतीक गढ़कर कवयित्री ने विशिष्ट शब्दों से अपनी अनुभूति विशेष को नये ढंग से प्रस्तुत किया है। निस्संग टुकड़े आपस में गुँथ कर एक काव्यात्मक गरिमा लिये मन और प्राणों को छूते हैं :

"झर गये
सब फूल सहसा
अशोक वन के। ··
कौन सी फिर कली चटकी
ओस की गुहार सुनकर
जागरण में मुद्रिका के स्वप्न से।···,
अग्नि की प्राचीर में सब चुने से हैं
रंग रूपाकार

धधक उठती
स्वर्ण लंका
वहाँ।
कौन फिर
यह श्याम तन
सब कुछ विजय कर
चला आता
तप्त माथे पर लगाता
तिलक चुम्बन का।"

(प्रेमलता वर्मा)

इन्हीं की एक दूसरी कविता 'प्रसूत के लिए' की कुछ पंक्तियाँ :

"दूब-सा तन
दूब-सा मन
होने दो
दूब-सा तन-मन-जीवन
सूर्य ने स्वयं सिन्दूर बन
ओस-सी सीमन्त में
जो खींच दी विश्वास की रेखा
उसके लिए तुम
दूब-सा तन
दूब-सा मन
होने दो
दूब-सा तन-मन-जीवन।"

'वसन्त' शीर्षक कविता में स्वर-पात और अविरामान्त का एक अनगढ़ प्रयोग बरता गया है

"चारों ओर···
चारों ओर ···चारों ओर मेरे
खत हैं वसन्त के
हर मोड़ पर
लचकती, झूमती है राह···
···मुझे है सेतु तेरी बाँह।
हवा पर तैरती
फूलों की गन्ध
बौरे सहकार की

"…और कहीं…हर कहीं टेरती
फागुनी दृष्टि
मेरे सुहाग को…।" (*निर्मला वर्मा*)

और निम्न कविता में सौन्दर्य एवं शृगार के जिस चित्र को कवयित्री अपने शब्दो में उतारने का प्रयास करती है वह एक विचित्र भगिमा और असाधारण कल्पना द्वारा अभिसारिका के उस रूप के दर्शन कराता है जो आत्मविभोर करता हुआ मधुर स्वप्न-सा साकार हो जाता है

"लो चली अभिसारिका सी आज साजन को मनाने !
बज उठी पायल प्रकृति की सज उठे सब साज जग के,
देख यह सुषमा अनूठी हैं अचेतन भी सजग से,
छलकते रस गागरी साधे करों में अलस पग से,
उतरती वासन्त शोभा आ रही आकाश मग से,

प्यास ले मादक स्वरों में चेतना की धुन सुलाने,
लो चली अभिसारिका सी आज साजन को मनाने।

हैं चकित से नव कुसुम, नव पल्लवों की छवि निराली,
झूमती अठखेलियाँ करती मचलती आज डाली,
बौर की भीनी महक पर है विमोहित स्वयं माली,
पवन में मृदु स्पर्श का सुख, ढल रही चहुँ ओर प्याली,

आज रतनारे नयन से अमिय रस पीने पिलाने,
लो चली अभिसारिका सी आज साजन को मनाने।

मृदुल मलयज के झकोरों से पुलकती सँभलती-सी,
कूक सुन पिक की रसीली कमलनयनी सिहरती-सी,
पीत चुनरी में लजीली सिमटती औ' सकुचती-सी,
माँग किंशुक सी सजाये लहकती कुछ थिरकती-सी,

शून्य से नित छेड़ता जो आज उसकी झलक पाने,
लो चली अभिसारिका सी आज साजन को मनाने।

उल्लसित हो शस्य श्यामल भूमि ने सोना बिखेरा,
मुग्ध होकर स्वर्ग ने भी इस धरा की ओर हेरा,
नील नभ का थकित राही चल दिया लेने बसेरा,
किन्तु यह तो रत निरन्तर साँझ हो या हो सवेरा,

रूप की अभिमानिनी उस पुरुष को बन्दी बनाने,

लो चली अभिसारिका सी आज साजन को मनाने ।

आज केसरमय अनिल है अवनि अम्बर है महकते,
चांदनी में भीगता जग ऊँघते उडगण झलकते,
झर रहा झरना शिखर से हीर-कण तट पर बिखरते,
जौहरी बैठा जगत का निरखता मोती दमकते,

साधना में आत्मविस्मृत प्रिय पुरातन को रिझाने,
लो चली अभिसारिका सी आज साजन को मनाने ।'

(सुभाषिणी)

एक अन्य कवयित्री के कुछ नय मौलिक कल्पना चित्र जो अपनी सजीव चित्रात्मकता के कारण सामने उभर कर साकार हो जाते हैं । 'प्रार्थना करो' शीर्षक कविता :

"तुम और मैं
और बीच में चौकी पर
पवित्र, गभीर, नन्ही मोमबत्ती
आँखों में,
करुणा प्यार की लहर गहरी ।
उभरती, डूबती,
डूबकर फिर उभरती जिंदगी,
सुख-दुख साथ-साथ भोगने का वह
विचित्र आह्लाद, बारीक है जो ।
आ इस झीने, नम अँधेरे में
सुंदर हो गयी यह रात ।
प्रार्थना करो
कभी ढले न, कभी टले न ।"

'एक और वसंत का चित्र—

"प्रीतिकर लगे कैसे
यह पुआल की मद्धिम आग के रंग-सा वसंत ?
किनारों को चूमता हुआ आकाश ?
—मेरी देह में भर रही है
एक और देह,
मुझसे लिपटे हुए मन में
एक और मन—
प्रीतिकर लगे कैसे ?

'हथेलियाँ' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ—

"दबी दबी सिसकियाँ—
चाहती हूँ, ये उभरें,
और, और, उभरें
अँधेरे का आतंक तोड,
ताकि मैं उठूँ, और उठूँ, और उठूँ, और धर दूँ
बन्द बन्द पलकों पर
अपनी नर्म-नर्म हथेलियाँ ।"

'डूबता ताल' से—

"खिडकी से छन छूती रही रात भर
हल्की-हल्की, उजली-सी बरसात ।
पास के ताल में अब
डूब रहा है चाँद ।
डूब रहा है ताल ।"

और 'स्वानुभूति' का एक मोहक चित्र—

"आकाश जैसे आकाश में डूब गया है
पृथिवी जैसे पृथिवी से दूर हो गयी है
मुझमें मेरी आत्मीयता
धुआँ बन उड गयी है, उड गयी है . !
प्रतिक्षण लगता,
मैं जैसे अपने से पृथक् हो गया हूँ !" (कान्ता)

'तुमने किया नहीं अनुभव' शीर्षक कविता में यही कवयित्री अनमेल वाक्य-खण्डों से ही एक विचित्र आभास उत्पन्न करती है

"तुमने किया नहीं अनुभव क्योंकि
निविड अँधेरी रात में
किसी घिनौने कीड़े का पख फडफडाना,
सन्नाटे को तोड़ना, और घना करना,
तुमने जाना नहीं क्योंकि
मन्दिर की घंटियों का स्वर भी
किस क़दर सपनों को बिखेर देता
मन की भाव-शून्यता में जब
बहुत पहले सुने गीत की मार्मिकता भी
बिसर जाती ,
और न तुमने समझा कभी
कि ममता बिलखती कैसे
मरघट से सुन पुकारें

अपने अशरीरी, तड़पते
वात्सल्य की—
इसी से हँस पाते हो
इस मेरे खालीपन पर।
किन्तु मैं
खालीपन में इसी
ममत्व सँजोये
अपनी वत्सलता समर्पित करती हूँ
हर यातना छीजे, वेदना-त्रस्त
शिशु को,
बीहड़ राहों में जो
मेरी उँगलियाँ पकड़ चलता है,
जिसके ओंठों को
खिलती धूप-सी हँसी
भेंटती है।"

एक अन्य कवयित्री की प्रयोगवादी कविता 'बूँद और शब्द' में

"टिप टिप करती बूँदें
जो बराबर
दस्तक दे रही हैं
बन्द खिड़की के
काँच पर
ठीक तुम्हारे शब्दों की तरह
वे शब्द
जिन्होंने मेरे हृदय के
काँच को तोड़
कभी से भीतर प्रवेश ले
मुझे
समूचा भिगो दिया है" *(अमृता भारती)*

'तुम जा भी हो' में अपरोक्षानुभूति है। यह अनुभूति अपने में एक प्रबल आग्रह है, पर मात्र उसका सीमित संघर्ष बन कर रह गया है

"तुम तो अनिश्चित हो!
जैसे अनागत भविष्य।
पर इसके बावजूद
तुम तक यदि आऊँगी

आसपास छितरा यह असहनीय जीवन
में
सारा सह जाऊँगी।
कौन सा पाप ?
आह ! कौन सा अपावन कार्य ?
जिधर भी निगाह उठे
काँटे ! समुद्र ! दीवार !
तुम तक जो आऊँगी,
सचमुच कह पाऊँगी
मुक्ति दो—
दर्शन से, लहरों, अवरोधों से
इस कातर जीवन को !
अंधकार या प्रकाश ?—
तुम
जो भी हो !"

(स्नेहमयी चौधरी)

'अनजाने' में इसी कवयित्री ने उक्त संघर्ष को कई स्तरों पर अनुभव किया है, किन्तु उसके विघटित तत्वों में एक नई संतुलन भूमि खोजने का प्रयास सक्रिय है :

"आस पास में खोज रही हूँ
रंग-बिरंगे फूलों वाली
गदराई वह डाली,
जो मैंने कल या परसों ही
अस्त व्यस्त से उगे पड़ोसिन के पौधे से तोड़
यहीं द्वारे पी सहज लगा ली।
हाय, साध से कितनी, मैंने,
उगी घास के तिनके चुन-चुन,
झाड़ और झलाड़ फेंक, थाला रचकर थी बोई !
गिरा वृक्ष आँधी में जो,
क्या उसके नीचे
नन्हीं-मुन्नी कलियों और पत्तियों वाली डाली मेरी खोई
अब न खिलेगी ! मनभाए फूलों से ढक दीवार,
हवा के झोंकों में न हिलेगी !
इसी सोच में, थककर बैठी

गिरे वृक्ष के सूखे हुए तने पर
म मन मार कि अब वह फिर से नहीं मिलेगी।
एक कापनी सी थरथरी (भावों की !)
मुझमें तभी लगी ल्हरान
जो खोई थी यहाँ,
मिली देखो कितने अजाने !"

वैयक्तिक सीमा म सिमट कर अनुभूति की प्रखरता मन के क्षणिक स्पन्दनों में तीव्रतर हो उठी है जहा सब कुछ उसी से गूँज रहा है और अ य कोई ध्वनि या अनुगूँज सुनाई नहा पड़ती। यथार्थता के पहलू और स्तर भी भिन्न है वस्तु यथार्थ स्थिति की अवयवना को तुमने भिगो ही दिया शीर्षक कविता में कवयित्री सवरण नहीं कर पा रही है

'तुमने भिगो ही दिया मुझे, मुझ सद्य स्नाता को
किरणों से
अब ये भीगे कपड पहने कैसे निकलूँगी घर से ?
नमी के साथ बरबस तिर आये इस अपरिचित-से
अनायास भाव का क्या करूँ ?
लगता है—
किरणों और इस अनजाने भाव को संजोए हुए
किसी एकान्त में दौडकर
पुलक को आत्म समर्पण कर दूँ।
पर, देखो न, मैं यहीं की यहीं खड़ी हूँ !
मेरी सद्य स्नाता मसृणता इन किरणों से सन्धि कर
मुझे आवृत्त किये जाती है,
और मैं ठगी सी खड़ी हूँ !
किरणों के वर्षा-जल से धुली कांति
देखते ही देखते अहर्निश लज्जा में डूबी जा रही है,
किन्तु मैं कैसे देखूँ उसका मोहक परिवेश ?
इस स्थिति की अवयवता का, ओ प्रिय कैसे सवरण करूँ ?
कैसे ये भीगे कपड़े पहने घर से निकलूँ ?"

(विमला राजेन्द्र)

यही कवयित्री 'यह विरक्ता मादक गान में और भी निरपेक्ष हो जाती है, पर जड़वत् शांति के बावजूद भी उसके हृदय पर अनजाना, अपरिचित बोझ जमता जाता है

'यह विरक्ता मादक गान आज नहीं छूता मुझे,

छूती है केवल यह जड़वत शान्ति ।
जपनादे से हाथ अचानक खिंचा जाता है,
हृदय पर जमता जाता है कोई अपरिचित बोझ ।
कहीं गहराइयों से आती कोयल की कूक,
दूर मैदान में खेलते बच्चों की किल्कारियाँ,
सामने के वकीलों की मुवक्किलों से चख-चख,
रसोई घर में चल रही बर्तनों की खटापट, मसालों की सोंधी
गन्ध सब—
जैसे निकट आकर कतरा कर जाती हैं मुझे छूती नहीं ।
हाँ, गहराती सन्ध्या की अप्रिय निर्वैयक्तिकता की सार्थकता
दान-रहस्य रूपों में उभर आती है ।
तब और यह विरक्ता मादक गान आज नहीं छूता ।"

युग युगान्तर से प्रियतम प्रयसी के प्रणय-स्रोत को काल की गति भी शुष्क न कर पाई वरन निरवधि काल से टकराकर और हर अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियों के भँवर-जाल में भी वह नित-नवीन है । 'अब छोड़ो भी, यह शृंगार कि,' शीर्षक कविता में प्रणय-निवेदन का एक सर्वथा नूतन ढंग देखिए :

"कसम मेरी—
अपनी छवि
दर्पण के
हृदय में
डाल के
न देखो .!
वहीं-
तुम्हारी आँखें
जाने-अनजाने
'तुम्हीं' पर
रीझ गईं,
तो मेरी—
दो बावरी
आँखों का—
क्या होगा ?
तुम्हारे—
रेशम से
काले-काले
कुन्तलों में

जैसे—
रात समाई,
और गेहुएँ
शरीर से
लिपटा—
श्वेत चीर,
जैसे कि
भीगी—
चाँदनी,
रूप के
दूधिया—
सागर में
डूब के,
आई
···· 'मारे
लाज के
तुम में
सिमट गई !
अब छोड़ो भी-

यह शृंगार कि
कहीं ....
पूनम का
चाँद न,
तुम्हें देख
लाज से—
गड़ जाये ?
तब सोचा भी-
आकाश में
टिमटिमाते
सितारों का—
क्या होगा ?
उठो भी ।
देरी इतनी
अच्छी नहीं
वहीं द्वार पर
आया
वसन्त न
प्रतीक्षा कर,

अन्तत
लौट जाय—
परदेश को !
तब तुम—
आसमानी
साडी में
अपने को—
ढांक के
पायल की
खन-खन—
चौखट पर
मौत के—

स्वागत को
बिछा दो !
साथ ही—
पलकों में
काजल के
काले-काले
बादल ले ..
आओ ।
और तब—
जैसे बादल
कठोर पर्वत-
चूम के

मीठा दर्द ले
सिसक पडता है
तुम भी—
मात्र शून्य से
टकरा के
छलक पडो,
कि इतना
सोचने का—
अवसर भी
उसे न मिले,
कि बाद 'उसके'
तुम्हारा—
क्या होगा ?"

मनोवैज्ञानिक गुत्थियां और भावना जगत की अनेक उलझनों के साथ साथ प्राचीन प्रेम संस्कारों की सापेक्षता में पर्याप्त अन्तर आ गया है । नई कविता के छन्द, लय शब्द योजना, प्रतीक विधान तथा कथन भंगिमा के विविध पक्षों में कुछ न कुछ वैचित्र्य और नयापन होता है, वरन् कहें कि आन्तरिक शक्ति संगठन की अपेक्षा उक्ति वैचित्र्य और तदनुरूप भाव भंगिमा मौजूदा कविता का एक प्रधान गुण कहा जा सकता है । फिर भी कुछ कवयित्रियां उसी प्राचीन परिपाटी पर गीतों की आरती उतार रही हैं

"गीतों की अनबूझी आरती,
स्वर किरणों की अलख जगा कर
किस सपने का कथ गुहारती ?

चोटों की यह उमस सकुच कर
किस रीते पतझर पर रोती ?
क्षण की वीरानी ईहा में
कौन नमस्कृत ऋजुता सोती ?

अपने क्षितिज पलक फैला कर
यह अगोरती सांझ बिछी जो—
किस प्रभात का पथ निहारती ?

आज शब्द के पत्र सुलगते—
बन पांखी-से उड जाने को ?
आज भटकती राह न जाने
किन संकेतों के पाने को ?

आशीषित तट की प्रवासिनी
कौन अजन्मी देव कृपा के
सुधि-शकुनों के पद पसारती ?

चक्रव्यूह-सा रचती रेखा—
जो संगम से हार गई है,
बिलख-बिलख रोती है कारा,
जिस को साँस दुलार गई है,
आगत की यह प्रिया द्रवित हो
घुलते-से गीले बाजों से
किस यायावर को पुकारती ?"

(सुजाता पाण्डेय)

'और जलता ही रहेगा ज़िन्दगी भर' कविता में कोमल और सुकुमार भाव-व्यंजना है। वेदना का अखण्ड दीप जल रहा है और उसमें प्राणों की लौ जगाए है। प्रियतम तो मिला, पर पहचान न पाया। इसलिए व्यथा और प्राणघातक कचोट समा गई। प्राणों का थका-हारा पथिक अविराम गति से ज़िन्दगी की डगर पर चलता ही जा रहा है। न कहीं मंज़िल है, न कहीं विराम।

'दीप मेरी वेदना का जल रहा है, और जलता ही रहेगा जिन्दगी भर !
हाय ! यौवन का थकित रवि ढल रहा है, और ढलता ही रहेगा जिन्दगी भर !!

मैं अकेली शून्य पथ पर दीप लौ-सी जल रही थी,
उमड़ बदली-सी क्षितिज पर बूँद-सी ही ढल रही थी,

पर अकेलापन मुझे अब खल रहा है, और खलता ही रहेगा ज़िन्दगी भर !

तुम मिले, मिलकर कभी मुझको न प्रिय ! पहचान पाए,
चिर व्यथा मेरे हृदय की तुम न कर अनुमान पाए,

प्रलय का सागर हृदय में पल रहा है, और पलता ही रहेगा ज़िन्दगी भर !

विश्व में हम जी रहे हैं प्रणय की निधियाँ लुटाकर,
मुस्कराना सीख बैठे, नयन में सावन छिपाकर !

मनुज को अस्तित्व अपना छल रहा है, और छलता ही रहेगा जिन्दगी भर !

चुभ रहे हैं शूल पग में भर रहे पीड़ा से छाले,
मधुर जीवन के गगन में घिर रहे हैं मेघ काले,

किन्तु प्राणों का पथिक यह चल रहा है, और चलता ही रहेगा जिन्दगी भर !
दीप मेरी वेदना का जल रहा है, और जलता ही रहेगा ज़िन्दगी भर !!"

(सुदर्शन पुरी)

एक अन्य कविता 'प्यार का आधार पाकर' में इसी प्रकार के आर्द्र, मर्मस्पर्शी प्रणय भाव की चिर आकुलता है जहाँ उसकी परिधि की इयत्ता दो हृदयों को एक स्नेह सूत्र में बाँध देती है। मांसल सौंदर्य के आकर्षण से परे वह एक ऐसी मधुमती भूमिका है जो न केवल स्थूल वासनाओं का परिष्कार करती है बल्कि जीवन की सूक्ष्म सुंदर उदात्त भावनाओं को उद्बुद्ध कर प्राणवान बनाती है

'झुक गई पलकें किसी के प्यार का आधार पाकर !
हो उठे दृग सजल उर की भावना साकार पाकर !

मृदु वाणी में किसी की प्रेरणा का अंश पाकर !
चल पड़े प्रमी-पथिक विश्वास का संसार पाकर !
झूमतीं अलकें किसी के स्पर्श का आभास पाकर !
जल उठे दीपक, शलभ के स्नेह का आगार पाकर !

झुक गया अम्बर क्षितिज के वक्ष का आधार पाकर !
कल्पना मुखरित हुई है, नव विहग का गान पाकर !

आ गई फिर से शमा, चिर तिमिर अपने साथ लाकर
भर गई आँखें किसी के विरह की मधु रात पाकर !
चेतना जागृत हुई, उर का अचेतन प्यार पाकर !
चातकी भूली घटा के नयन में बरसात पाकर !
पवन गति भी रुक गई, चिर विरह का उच्छ्वास पाकर !

गल उठे पाषाण करुणा की हिमानी साँस पाकर !
झुक गये पर्वत शिखर जलती चिता का प्यार पाकर !"

(कु० संतोष सचदेव)

'क्यों' शीर्षक कविता में कवयित्री अपने से ही प्रश्न करती है कि मन चाँदनी में व्याकुल क्या है ? इसका कारण हृदय में प्यार की तड़पन है। फलत कभी तो अंतर में गीत उभरता है कभी आँसू ढुलकने लगते हैं और कभी मौन रह रह कर प्रणय की रागिनी फूट पड़ती है

'विकल मन क्यों चाँदनी में ?
पूर्णिमा का चन्द्र देखो
है गगन में जगमगाता।
आज उज्ज्वल चाँदनी में
विश्व है गोते लगाता।
क्या रहा अस्तित्व मेरा,
आज बेसुध चाँदनी में ?
विकल मन क्यों चाँदनी में ?

उर कभी है गीत गाता,
चुप कभी आँसू बहाता।
शान्त पर मन हो न पाता,
मौन रह रह गीत गाता,
व्यर्थ दोनों रुदन गायन
इस प्रणय की रागिनी में
विकल मन क्यों चांदनी में ?

चांदनी की मुसकराहट
दूर पर छिटके सितारे।
विरह में डूबा हुआ मन
हो रहा जल जल अँगारे,
व्यर्थ है अब भस्म होना
इस सुधा सी चांदनी में।
विकल क्यों मन चांदनी में ?

गगन गंगा में सुधाकर
चन्द्र मुख को धो रहा था।
भग्न मन की बीन पर तब
गीत तेरा हो रहा था,
खोज मुझको इस प्रणय की
आज छिटकी चांदनी में।
विकल क्यों मन चांदनी में ?

जल रहा दीपक नहीं है,
तुम नहीं यह भी सही है।
अश्रु मेरे बह रहे हैं
चन्द्र से यह कह रहे हैं,
आज जल जल कर बुझा है,
दीप मेरा चांदनी में।
विकल मन क्यों चांदनी में ?

(लता सन्ना 'निशा')

'गीत नहीं सो पाए' में भी वही कातर प्रेम की विह्वलता है। स्निग्ध प्रेम और अनुराग को क़ायम रखने के लिए विश्वास का सहारा आवश्यक है, पर राग-विराग के फन्दों में झूलती हुई आत्माएँ, जब खुद पर ही अविश्वास कर बैठती हैं तो जीवन कटु से कटुतर हो जाता है। तन सूखने लगता है, मन डूबने लगता है और

अन्तर के क्षितिज खोये खोय से लगते हैं। करुण मनुहार भी जब व्यर्थ साबित होती है, तो दर्द और व्यथा की छटपटाहट और भी गहरी होकर उमड़ती है

"मेरी अन्तिम घड़ियों में भी निठुर! न क्षण भर तुम रो पाये!

अधरों तक आते-आते ही—
मेरी वाणी रुक जाती थी,
दृष्टि कहे कुछ इस से पहले—
पलक नयन पर झुक जाती थी।

जो कुछ मैंने कहा वही तो प्रिय! मेरा मन्तव्य नहीं था,
मौन अशक्त निमन्त्रण मेरे मन का भाव नहीं हो पाए!

तुम को गीत सुनाती क्या जब—
खुद ही गीत बनी बैठी थी,
कैसे स्वर के दीप जलाती,
खुद संगीत बनी बैठी थी!

अर्थ शब्द से बहुत बड़ा है, यह मैंने उस दिन ही जाना,
क्या तुम को अपनाते मेरे शब्द न मेरे ही हो पाए!

सारा अर्थ समेट नयन से—
मात्र एक जलधार बही थी,
नीरस जीवन से थक कर मैं,
साँसों का ऋण चुका रही थी।

मुझ को था मालूम कि तुम तक मेरे छन्द नहीं पहुँचेंगे,
जाने फिर भी किस आशा में, निशि-भर गीत नहीं सो पाये।"

(पुष्पा 'रश्मि')

अत्यधिक भावावेग की मार्मिक वेदना से आकुल यही कवयित्री विसर्जन गीत' में कहती है

"अश्रु की बरसात से जब प्रीत की कालिख धुलेगी,
देवता! मेरे निमंत्रण का दिवस होगा वही!

भाव के आवेश में थे
बह गये ये प्राण इतने,
अनसुने मैंने दिए कर
आत्मा के प्रश्न कितने,

मुक्त हो कर साँस लूँगी दग्ध मैं अनुताप के जब,
देवता! मेरे निवेदन का दिवस होगा वही!

भावना से शून्य हैं ये
अर्चना के गीत सारे
तर्क ने हैं काट डाले
कल्पना के पंख प्यारे !

जब न दुनियाँ के नियम से प्रेम की धारा बँधेगी,
देवता ! मेरे समर्पण का दिवस होगा वही !

दर्द तो सहना पड़ेगा ;
प्यार की तक़दीर ऐसी,
अश्रु की राहत मिले, कब—
सूझती तदबीर ऐसी !

जब विरह-ज्वाला जला कर राख में परिणत करेगी,
देवता ! मेरे विसर्जन का दिवस होगा वही !

जर्जरित जीवन ! तुझे आ,
अंक में भर गीत गा लूँ,
घाव की तीखी व्यथा आ,
अश्रु का मरहम लगा दूँ !

जब शिला से चोट खा कर भी न मेरे पग रुकेंगे,
देवता ! निर्धूम अर्चन का दिवस होगा वही।"

'जीवन की राहों में' प्रणयोच्छ्वास के न जाने कितने नगमे तैर रहे हैं जिनमें प्रियतम की निष्ठुरता का इतिहास अंकित है और मरुस्थल से भी बड़ी हृदय की प्यास समायी है :

"मैंने जग को जग ने मुझ को जाना है,
पर जीवन ने भेद नहीं कुछ माना है !

जीवन की राहों में सपने पलते हैं,
श्वासों की पलकों से नगमे ढलते हैं,
दीपक और शलभ ने जलना जाना है,
किन्तु जलन ने भेद नहीं कुछ माना है !

सागर से ज्यादा गहरा आकाश है,
मरुथल से भी बड़ी हृदय की प्यास है,
पलकों ने, पावस ने ढलना जाना है,
पर शबनम ने भेद नहीं कुछ माना है !

कली और कोमलता का सहवास है,
और शूल निष्ठुरता का इतिहास है,

फूलों से शूलों ने बिंधना जाना है,
किन्तु सुरभि ने भेद नहीं कुछ माना है!
कंचन-सी काया थोड़े दिन चलती है,
धूप साँझ बनने को तिल तिल ढलती है,
दूर दूर फूलों ने चलना जाना है,
किन्तु लहर ने भेद नहीं कुछ माना है!"

(स्नेहलता 'स्नेह')

दो वियोगी हृदय जब मिलते हैं तो जैसे टूटे तार जुड़ जाते हैं। इस शुभ मिलन की वेला में प्राण थिरक उठते हैं आशा लतिकाएँ लहलहा उठती हैं और आकुल-व्याकुल भाव आनन्दोल्लास में मुस्करा उठते हैं

"आज फिर मधुगान गाये!
हो रहा मम उर तरंगित, आज जीवन प्राण आये।
जुड़ गये जो तार टूटे,
बज उठी फिर मूक वीणा।
मिट गये सन्ताप हिय के,
साधना कर नित नवीना।
मिल गये दो उर वियोगी, नेह का वरदान पाये।
दूर कर घन-कालिमा को,
लालिमा छाई गगन में।
हो रहा अनुराग अनुभव,
आज कितना शुभ मिलन में,
नृत्य करते मोर भू पर, व्योम में घन श्याम छाये।
टिमटिमाते दीप की लौ--
जगमगाई स्नेह पाकर।
मुग्ध हो छाये शलभ फिर
प्यार की आशा लगाकर।
जो विकल थे भाव उर में, आज फिर वे मुस्कराये।
बन गई अभिसारिका सी
खिल उठीं आशा लतायें।
पवन यह बह प्रेम निधि से
ले रहा अगणित बलायें।
मधुप ने मंजुल स्वरों में, राग फिर नूतन सुनाये।
आज फिर मधुगान गाये!"

(विद्यावती वर्मा)

'याद भरा मन खो जाना है' में प्रणयी की याद मचल मचल उठती है। शून्य गगन, झिलमिल तारे और दूर क्षितिज के व्यापक प्रसार को देखकर उस पर प्यार का उन्माद सा छा जाता है और मिलन विरह के इस क्रीडा-कौतुक में जैसे सब कुछ सपना सा बन कर तिरोहित हो जाता है

"बूझ बूझ में बूझ न पाई
ऐसा कुछ क्यों हो जाता है
याद भरा मन खो जाता है
शून्य गगन में अपलक लोचन
ताक ताक कुछ रह जाते हैं
उगता चन्दा—झिलमिल तारे
चुप-चुप तब कुछ कह जाते हैं
धवल नवल किरणों से कोई
मेरा तन पथ धो जाता है
याद भरा मन खो जाता है
अंग अंग में फागुन आकर
केसर के रंग भर जाता है
और सुरभि में मादकता दे
प्रतिक्षण मादक कर जाता है
कौन तभी जीवन मरु-भू में
सुख के अंकुर बो जाता है
याद भरा मन खो जाता है
कोई पार खड़ा क्षितिज के
मेरे गीतों को दुहराता
मिलन विरह के खेल खिलाकर
कुटी बनाता महल गिराता
जागृति में खो यह सपना बन
इन पलकों में सो जाता है
याद भरा मन खो जाता है।"

(सरला तिवारी)

'फूल न कहना' में कवयित्री के मन की भावुक परिणति है। वह शूलों की छाया में पनपी है, अत उसे फूल कहना भूल है। रूढ़ भावधारा से प्रेरित होकर भी चारु वर्णन और नव्य कल्पना का पुट है

"मैं शूलों की ही छाया हूँ, मुझ को कोई फूल न कहना।
बीज लगा कर तुम ने माली-

धीरे धीरे पनपाया है
माना सरदी, गरमी, वर्षा-
सह कर मधुवन बन पाया है !
फूल गई बस मैं इतने पर, इसको मेरी भूल न कहना !
ऋतुपति भी मुझ में मुसकाता,
पतझड भी मुझ में बस जाता,
मलय पवन मुझ को सहलाता--
और बवण्डर भीषण आता !
यदि य सब मुझ को खो दें तो, मेरे माली ! भूल न कहना !
शेष रहें शाखों पर काँटे--
तो करुणा जल देते रहना,
'शूलों ही में फूल खिलेंगे',
जग से यही बात तुम कहना !
मैं मँझधार नहीं सच मानो, फिर भी मुझ को फूल न कहना !"

(चन्द्रमुखी ओझा 'सुधा')

एक अन्य गीत में यही कवयित्री बडी आर्द्र विह्वलता और गद्‌गद भाव से अपने आकुल प्राणों की अबूझ व्यथा को व्यंजित करती है। हँसना तो सपना है ही, पर रो भी न सकें--जीवन की यह कितनी दारुण विवशता है

"क्या जो गाए गीत शून्य में, उन्हें नहीं तुम सुन पाए हो ?
मेरे आकुल प्राण पुकारें,
ओ मेरे गीतों के दाता !
सब कुछ भूला जा सकता,
क्या भूल गए गीतों का नाता ?
क्या वह कोरा अभिनय ही था, जो कल रोए मुसकाए हो ?
क्या यह बात सही है जग में-
रहती सब की प्रीति अधूरी ?
हँसना तो सपना है, लेकिन-
रो न सकूँ कितनी मजबूरी !
क्या यह जान पराजय मेरी, अपनी जीत जता पाए हो ?
क्या नीरव रजनी में मेरी-
सिसकी तुम तक पहुँच न पाती ?
तिल तिल जल मैं मिटूँ,
मौन तुम, निर्मित है काहे की छाती ?
क्या परिभाषा यही पुरुष की बता मुझे तुम हर्षाए हो ?"

और 'विवशता का गीत' की कुछ पंक्तियाँ :

"अब आँखें कर लो बन्द,
और माया दो टेक !

तुमने तो बहुत किया,
भरसक तो बहुत दिया,
लेकिन कुछ हुआ नहीं,
बस भी कुछ चला नहीं,
सोचा था सहकर भी,
मिट-मिट कर, दबकर भी
राह नहीं छोड़ूँगा ।
आस नहीं तोड़ूँगा ।

मंजिल का एक छोर लेकर ही आऊँगा ।
जीवन का एक मोड़ देकर ही जाऊँगा ।
लेकिन जब पैरों में कीलें जड़ दीं तुमने,
साँसो की राहो में नागफनी बो दी है ।
हाथों की हरकत पर पहरा बैठाला है,
आँखो के आगे दीवारें जो चुन दी हैं ।
उनमें मैं बन्द, आज जोड़-जोड़ छन्द,

यही कह सकता नेक,
अरे माया दो टेक ।
और बन्द करो आँखें"

(*रीति चौधरी*)

प्यार का उन्माद और विरह की हूक लिये एक अन्य कवयित्री की मर्मान्तक व्यथा की छटपटाहट देखिए

"जीत समझूँ, हार समझूँ, या इसे मैं प्यार समझूँ ।
देख कर मुख चन्द्र सा मैं,
फूल जाती हूँ, किसी का ।
फूलें वे, न फूलें वे, मै,
गीत गाती हूँ, किसी का ।
तू बतादे समझूँ क्या ?
इक प्रेम का उपहार समझूँ।
जीत समझूँ, हार समझूँ, या इसे मैं प्यार समझूँ ?
पीर कितनी भी न क्यों हो,

गान करती हूँ, किसी का।
मान जायें वे, न मानें,
मान करती हूँ, किसी का।
तू बतादे समझूँ क्या ?
इक प्रेम का सिंगार समझूँ।
जीत समझूँ, हार समझूँ, या इसे मैं प्यार समझूँ ?"

(राजकुमारी शिवपुरी)

निम्न कविता में प्रेम, प्रेम के लिए (Love for love's sake) इस विषय पर बहस छिड़ी हुई थी। आज का अभिजात और शालीन प्रेम निरंकुश है। वह देश, काल, स्थान से बाधित होकर किसी आचार-मर्यादा के बन्धन में बँधना नहीं चाहता। इसी का नाम प्रेम है ? अथवा क्या कर्त्तव्याकर्त्तव्य, सुख दुःख, संयोग वियोग के अनेक उद्वलनों के मध्य समभाव से प्रवहमान अन्त में शाश्वत मिलन-भूमि पर प्रेम की धारा प्रतिष्ठित होती है ? कवयित्री पूछती है—क्या इसका नाम प्रेम नहीं है ?

बहस छिड़ी हुई थी
मित्रवर
गले की आवाज को
तार-सप्तक तक
ऊपर उठा
पूरे जोर-शोर से कह रहे थे—
"प्रेम, प्रेम के लिए।
सच्चे प्रेम में
आदर्श का पैबंद
शोभा नहीं देता।
प्रेम के प्रवाह पर
निराधार नौका को
लंगर-पतवार हीन
छोड़, चुप बैठना ही
प्रेम है।
और सब कनसिडरेशन
व्यर्थ है
बोगस है
उनकी अर्जा भी
प्रेम के पवित्र
और

उज्ज्वल रूप पर
कलंक है ।
चुप रहो, बको मत…"
पर, मन मेरा दूर
कहीं और ही उलझा था
आँखों के सामने
चित्र एक उभर चला—
प्रेम के प्रवाह को
हृदय में समेटे हुए
उसे दिशा देते हुए
खड़ा एक जोड़ा था ।
विदा के क्षणों की
स्निग्धता
आकुलता
मर्मव्यथा
अंकित थी चेहरे पर
किंतु
उससे भी प्रबलतर
रेखा थी अंकित
दृढ़ता की
कर्मठता की
और
धर्मनिष्ठा की ।
जीवन-संग्राम में जूझने
यथार्थ की कठोर भावभूमि पर
सरिता की धार-धार
चल पड़े दोनों वे
दूर…दूर
फिर भी
कितने अदूर ।
क्या वह प्रेम न था ??"

(प्रतिभा अग्रवाल)

और 'एक रात का सफर' में सितारों जड़े नीलाम्बर और चांद की मदहोश गारी की सायाओं तले ख्वाबों का जो एक जहान उभर आया है उसकी एक

झलक जरा देखिए

'रात सुन्दर थी,
दिल में छाये गुमनाम ग़मों के साये
नीले अम्बर के सितारों-जड़े गुम्बद के तले
गहरी छाया पै, चांद का साया जो पड़ा
झिलमिल लहरों पै नयी दुइज के साथ
ख्वाबों का एक जहान उभर आया।
और फिर वो शीशा जो चढ़ा—
मोटर की घुरड्डर, घुड्डर, घुड़र, घुर में
धौली धरती औ' लम्बे खजूरों की महक
डूब गयी खो ही गयी।
चांद भी दिखता न था
पर उसकी जगह—
मोटी मलमल के एक कुरते और
काली टोपी से ढका, एक मोटे से
लाला का बदन दिखने लगा दोहड़ का
एक चदरा, और गोल सी गांधी टोपी,
चौधरी पच्छिम के एक गांव का लगता था।
अंगरेज की लम्बी, ढलकी, पतली मूँछें, बाल
माथे पै दिलीप के बिखरे हुए,
वो सैलानी सा खुशगाह जवान
अश्लील से गीत की धुन में फड़क उठा।
'वाह। वाह।' पड़ोसी ने कहा,
'देखते नहीं औरत की भी जात', डाँटते स्वर में
मेरे पास बैठा सफ़ेदपोश भी कह बैठा।
गीत थम गया फ़ौरन,
खिलखिलाहट भी उठी,
कानाफूसी का वह आलम,
मेरे मानस पै निशां छोड़ गया।
दूरी कितनी इक औरत औ' मर्दों के समूहों में?
कविता साहित्य पै पोषित सुसंस्कृत चैतन्य,
दुनियादारी के ख्यालों पै पला जन-मानस।
बाहर वह रात सलोनी, और अन्दर?
एकाकीपन, गहरा और गहरा होता ही गया।"

(आभा)

जिन्दगी की राह पर बढते हैं तो कितने ही विघ्न और अडचनें मिलती हैं। हम समझते हैं कुछ और, पर निकलता है कुछ और। तब सचमुच ही अति विशाल और अति लघु की सीमाओं में घिरकर सब कुछ रहस्यमय-सा प्रतीत होता है, पर अन्तर्प्रेरणा और भीतरी विश्वास की मौन छायाएँ धैर्य और सयम को विचलित होने से रोके रहती हैं

'तुम अपने हो कर भी रहते हो सपने-से !
दिन की नौका पर चढ कर मैं हर रोज,
सागर से कुछ मोती लाती हूँ खोज,
तब आँधी औ' धूप मुझे झुलसा देती--
जल-सी निढाल हो बेबस मैं कह ही देती--
"क्या नहीं करोगे छाँह बचा कर तपने से ?"

सूखे वन में मैं ढूँढा करती फूल,
हाथों में कई बार आ जाती धूल,
तब काँटो की झाडी-सी खडी उदास,
सोचा करती तुम आ कर मेरे पास,
क्या नहीं सजाओगे फूलों के गहने से ?

मैं ने जो चाहा वह तो नहीं मिला,
जीवन को समझा कुछ, पर कुछ निकला,
तब पतझड-सा विश्वास लिए यह कौन,
धुँधली छाया चुपचाप खडी हो मौन,
रोका करती मेरे सयम को डिगने से ?"

(*पुष्पा अवस्थी*)

पुरानी पद्धति पर वही उद्‌बोधक और आग्रहवादी स्वर निम्न कविता की विशेषता है। चारो ओर के आकर्षण एक मोह का स्वप्नजाल सा बुन देते हैं जो मन को अपने अहर्निश पाश में जकडे रहते हैं। कवयित्री मन रूपी भँवरे को इन सबसे पृथक् मर्यादित आचरण पर अग्रसर होने की प्रेरणा देती है

"काँटों में बिंध जाना भँवरे
द्वार न जाना कलियों के।

महकी महकी साँसें
बेहद ठगने वाली हैं,
ये सतरगी चूनर
मन को ठगने वाली हैं,

प्यासे ही मर जाना भँवरे,
पास न जाना छलियों के !
घूँघट से हँस झांक रहो !
जो, बडी ठगोरी है,
ये कजरारी अँखियन वाली
हाय न भोली है,
फन्दे में मत आना भँवरे,
जादू है सब परियों के।"

(शकुन्तला सिरोठिया)

'देवराज इन्द्र हूँ मैं' शीर्षक कविता में पुरुष के अहम् और विघटनकारी तत्त्वों के प्रति नारी का तीखा व्यंग मुखर हो उठा है। अपनी समस्त सहिष्णुता और मर्यादों की एक लम्बी परम्परा में जिन्दगी के जहर को रसायन मान कर पीने वाली नारी को पुरुष की स्वेच्छाचारिता से सदैव भयंकर टक्कर लेनी पडी है। आदि काल से अब तक उसकी मूल प्रकृति में विशेष अन्तर नहीं हुआ, हालांकि तहजीब के तकाजे ने पत्नी को उसकी बगल में तो ला बैठाया, किन्तु वहीं उन्हीं परिस्थितियों में जहां उसकी औपचारिकता निभानी पडती है, अन्यथा आधुनिका तितलियाँ अब भी उसकी लिप्सा और भोग विलास पर पलती हैं

"देवराज इन्द्र हूँ मैं !
स्वर्ग का सुगढ सिंहासन
सदैव ही सुरक्षित है मेरे लिए
कितनी ही तपस्याओं की उपलब्धि पदवी यह,
धारण करता हूँ यंत्रणाओं के बल पर मैं
और वज्रघोष में डुबाता हूँ विरोधी स्वर
शाप भोगती हैं वे मेरी मेनका, रम्भा,
उर्वशी वशीकरण प्रवीणा अप्सराएँ,
और खंडित तपस्याओं का फल केवल मेरा है
वैभव विलास का विपुल साम्राज्य सदा,
शाश्वत युगों से मात्र मेरा है, मेरा है।
सारे लोकों की समस्त सुख-सुविधाएँ
मेरे चरणों में, मैं उनका उपभोक्ता हूँ
इन्द्राणी शची तो मेरी ही है किन्तु वे
रमणी मनहारी अप्सराएँ भी मेरी हैं
महलों में मदिरा की शोभा, रंगमहल में
नूपुर की रुनझुन में मस्ती है,
सोम भरे पात्र प्याम बढ़ती है।

और यह प्यास अब लोभ बन चली है
चाहता यही हूँ कि कोई भी सत्प्रयास
सफलता न पा जाए,
और कहीं मेरे विलास-वैभव पर
हावी न हो जाए !
पहले ही दमन करूँ छल से या बल से,
योजनाओं यातनाओं से
अपने इसी रूप में
आज भी मैं जीवित हूँ,
आधुनिक पुरुष में
जो वैभव विलास में प्रवृत्त है प्रति पल
वसुधा का सारा सौन्दर्य, सुख—
समृद्धि जिसे ईप्सित है
पत्नी तो उसकी है ही घर की रानी,
गृहिणी, सहचारिणी समाज और उत्सव में,
किन्तु वे तमाम आधुनिका तितलियाँ भी तो
उसके विलासी स्वभाव की सुगंध पर
पलती चमकती हैं
जिन के विनियोजन से अपना प्रयोजन
बस पूरा कर लेता वह
भोगों वे भर्त्सना प्रवचना समाज में
वह तो उपार्जित विलास का स्वामी है
फिर भी प्यासा मृग-सा लोलुप भी,
और सदा शंकित, सतर्क
कहीं ठेस न लग जाए कोई
उसके विलास को।"

(लक्ष्मी त्रिपाठी)

'विस्मय' में हृदय की उमडन है। स्नेहिल किरणों के संग जब नभ के शतदल मुस्काते हैं तो कवयित्री आश्चर्य चकित और स्तब्ध बिलकुल ठगी सी रह जाती है

"जो कुछ भी दोगे, ले लूँगी, पर तुम्हें नहीं कुछ भी दूँगी,
जो जाओगे इस घेरे में, मैं जाल अनोखा बुनूँगी,
धारा बन कर तुम आवोगे चट्टान नहीं बन पाऊँगी,
तूफान हृदय में उठने दो, मैं सागर-सी लहराऊँगी,
लहरों में मिल लहराओ तो, आकाश निकट आ जायगा,
अम्बर का तारक-दल प्रेमिल नयनों का गीत सुनायेगा,

क्यों व्यर्थ बहाते अश्रु, तुम्हारी आँखें यों ही रोती हैं,
मैं तो वह सीप नहीं, जिससे मिलते जीवन के मोती हैं,
मेरी स्नेहिल किरणों के संग, नभ के शतदल मुस्काते हैं,
मैं विस्मित सी रह जाती हूँ, वे मुझे बुलाने आते हैं।"

(गीता श्रीवास्तव)

'शर्मिष्ठा' शीर्षक कविता में पौराणिक आख्यान के आधार पर नारी के पश्चात्ताप और व्यथा का चित्र आँका गया है

'पिता ! तुम न मानो दुख
माँ ! ममता त्याग दो
जन-हित-यज्ञ में
अर्पित कर दो मुझको
चिन्ता क्या है यदि मैं—
दासी बन जाऊँगी
इच्छाओं के कच्चे घड़े
डूब जायेंगे
अपनी आकांक्षाएँ
छलना ही होती हैं
समभागी क्यों कोई
बने मेरी व्यथा का
मैंने अपराध किया
मुझे दण्ड सहने दो
करने दो प्रायश्चित्
जलने दो मुझे
देवयानी के गर्व में।"

(अपर्णा)

'मूँठी मनुहारें' की कुछ पंक्तियाँ

"जीवन जलता है जलने दो
मैं डरता नहीं अंगारों से

कर सकता निर्मित नव प्रभात
प्रतिदिन जीवन की हारों से

घन घोर शब्द करती उल्का–
का आलिङ्गन कर सकता हूँ

प्रलयङ्कर के प्रलय नृत्य में
मधुमय स्वर को भर सकता हूं

किन्तु हृदय हो जाता दुखित
जग की झूठी मनुहारों से

नव पल्लव-सा हृदय कांपता
दुनिया के झूठे प्यारों से।"

(कमला दीक्षित)

'कैसे दूं पाती' में विरहिणी की कसक और प्यार की वेदना है। उसका हृदय प्रणयावेग से ओतप्रोत है। दिल की असख्य धड़कनें प्रिय की पाती में सिमट जाना चाहती है। *अपने अन्तर के संगीत, लय और करुण-रसधारा को कागज की नावों में* बहाकर वह उस प्रतीक्षा में है कि देखें– वे लहरें उसके लिए क्या लाती है, प्रेम का प्रतिदान अथवा निर्मम दुराशा ?

"कैसे दूं पाती ?
कंचन-सी देह जले,
चंदन-सा नेह घुले
पलकों में नेह पले—
आंसू के मोती।
बांधू किस अम्बर में
भावों की आंधी औ
शब्दों की पांती ?
नीले नभ-कागद पर
अक्षर उड़ थर-थर
मैं बांच नहीं पाती,
कैसे दूं पाती ?
सारी वय रो-रो कर
भ्रम वश ही खो दी
खो गया वसंत, गंध
सावन की सोंधी।
मंजरी टिकोरे क्या
ओंठो से झांक नई—
कोंपल मुस्काती !
कैसे कहूं आदि, कहां
कहूं अंत भूल यहां
कोयल ना गाती !

कैसे दूँ पाती ?
प्रीति करी क्या एसी ?
अनदेखा उर वासी !
यह क्या अनजानी, सुधि—
मुरली, स्वर-फाँसी ?
टेर रहे घड़ी घड़ी
बाँहें दो बढ़ा, तरी
तीर बाँध पाती ।
बाँधो दुर्लंघ्य जलधि
बीते ना अवधि हृदि
छपलें उतारतीं !
कैसे दूँ पाती ?
क्या शह क्या मात चलें,
ये श्वासों की मुहरें,
हारूँ तो अपन को
जीत तुम्हें दुहरे !
अब तो भय भूल चुकी,
ढोकर यह शूल थकी,
गीतों की थाती !
धारा में कागज की
नावें बहा दी, देखूँ
लहरें क्या लातीं ?
कैसे दूँ पाती ?' (प्रकाशवती)

ऊपर की पाती प्रतीक्षातुर असफल प्रयसी द्वारा किसी निष्ठुर प्रणयी को लिखी गई है जो अनिवायत अपनी ही हीनागपूर्ति की प्रभावोत्पादकता के वैचित्र्य का सजीव सूत्र है किन्तु नीचे की चिटठी भगवान की सेवा में प्रेषित की जा रही है जिसका अतापता कुछ भी नहीं और भक्ति एव प्रेम की आशा में विभोर उसकी करुणा और दया की याचना में बड़ी ही सीधी-सादी अकृत्रिम भावाभिव्यंजना है

'चिटठी मैं लिख रही हूँ इसका जवाब दीजे ।
कब तक हमें मिलोगे, इसका पता तो दीजे ॥
चिटठी म अपनी लिखके, किस किस पते से भेजूँ ।
यह कौनसी जगह है, हमको बता तो दीजे ॥
अपना परिचय मैं दे रही हूँ, इसमें शर्म ही क्या है ।
गुनहगार म बहुत हूँ इस पर भी गौर कीजे ॥
यह पत्र पढ़ते पढ़ते, कहीं थक न जाइएगा ।

अनुचित कर्म हैं मेरे, कुछ तो हिसाब कीजै ॥
मैं खुद ही झिझकती हूँ, कैसे मैं मुँह दिखाऊँ ।
हो तुम दयाल भगवन, अपनी शरण में लीजै ॥
दासी की दासता को, खुद ही समझ गए हो ।
मेरी कैसे अब गुजर हो, कुछ श्याम लिख तो दीजै ॥"

—(सुन्दर देवी माथुर)

प्रेम की दर्दीली अनुभूति में रमकर कवयित्री को लगता है जैसे उसके दिल में कुचले अरमानों का भीषण बवंडर-सा उठ रहा है। बाहरी आँधी उसके सामने बेमानी है, इसलिए आँधी से वह प्रश्न करती है :

"आँधी तुम आई हो;
हाँ, किसलिए ?
क्योंकि मैं प्यार भरी चाहों की धड़कन हूँ
दर्द भरी आहों का कम्पन हूँ
बन्दी हूँ बोली में, मेरे स्वर दर्दीले
मेरे जहरीले अधरों का जो विष पीले
उसका तन डोल जाए।
उसका मन डोल जाए।"

(सुमन शर्मा)

नदी के उतार-चढ़ाव और उसकी समूची गतिमगिमा की झांकी निम्न कविता में प्रस्तुत की गई है। अल्हड़ सरिता मंथर गति से ज्यों-ज्यों आगे बढ़ी, अपने प्रवाह में कंकड़-पत्थर, कीचड़-धूल, सूखी-जर्जर टहनी या पत्ती जो कुछ मिला सब, मानो बहाकर, ले चली

"वह सहज कुतूहल या उसका अथवा उन्माद ?
शान्त, सुरभित जीवन त्याग मचल कर चल दी थी सरिता—
मन में उमंग थी उसके, भावों में थी चंचलता,
स्वर में उल्लास भरे गीत।
कुछ भय न था शंका न थी!
पर्वत-मालाएँ हाथ बढ़ाए रोक रही थीं; बुला रही थीं
फिर से अपनी गोदी में!
किन्तु हठीली तिरस्कार कर उनका
कोलाहल करती चल दी थी मदमाती।
राह की चट्टानें भी रोक रही थीं,
पर वह मनमानी

टकरा-टकरा कर उनसे हँस पड़ती थी ।
मानो कहती हो
"क्या मुझे न जाने दोगी ?
तुम बेचारी स्थिर हो, निश्चल हो
नहीं तो साथ तुम्हें भी ले चलती
पर रुक न सकूँगी "
द्रुत गति से लहराता यह गान नदी का
फिर वेग-सहित उत्साह सहित बढ़ती जाती आगे ।

देखा जब विस्तार भूमि का, पशु-पक्षी नर-नारी,
वेग हुआ कुछ मन्द
अनायास ही दृष्टि मुड़ी,
पर छूट चुकी थी गोद पिता की ।

तब लिया आसरा कूलों का, कुछ दीन भाव से,
किन्तु चपल थी, अल्हड़ थी, चचल थी, सरिता—सहमी अभिलाषा
मुसकायी फिर से वह बाल-सुलभ विश्वास लिये मन में,
संगिनि बन कूलों की बह चली सहज आगे ।

जीवन कुछ हरा-भरा था
जग उठा स्नेह, औदार्य हृदय में ।

पाया आलय कंकड़, कीचड़, सूखी डाली ने,
मुरझाए पल्लव तिरस्कार पा तरु का
आ छिपने उसके अंचल में ।

सरिता सुख से बहती जाती
सहसा झंझा ने प्रलय मचा दी, किया किनारा कूलों ने!

विस्मित भोली सरिता
हाथ बढ़ाए, भय से कातर
उन्हें पकड़ने दौड़ी!

शान्त हुआ वह आन्दोलन,
फिर दिया सहारा कूलों ने ।

अब समझ चली थी सरिता भी जीवन की गति ।

गिरि की गोदी से उतर पड़ी थी जो सवेग,
बहती है आज वही सरिता धीमे-धीमे
मन्थर गति से !"

(उमा पाठक)

और निम्न कविता में संघर्षशील मानव को ही सृष्टि का शृंगार बताया गया है। समय की अबाध गति और नित-नये संघर्षों से जूझता वह किनारे पर बैठा केवल लहरें ही नहीं गिन रहा है, बल्कि तूफानों से भी टक्कर ले रहा है। आदमी आदमी से दूर जा पड़ा है, उनके दिलों में दरार है और उनका दृष्टिपथ स्वार्थ से सीमित है। इन परिस्थितियों में परस्पर प्रेम और आस्था ही इनके पशुत्व को दबाकर इंसानियत जगा सकती है

"देख जग की रीति को निश्चय हुआ,
आदमी ही सृष्टि का सिंगार है।

कुछ न कुछ कमियां लिए हर आदमी,
प्यार का भूखा रहा है हर समय;
डाल कर घेरे विवशताएं खड़ीं—
खुल नहीं पाया कभी उस का हृदय;
भार जीवन का कि जो हल्का करे
वह मृत्युंजय मंत्र केवल प्यार है।

है न उसके पास केवल बुद्धि-बल,
मनुज में चिन्तन मनन भी, भक्ति भी;
ला रहा विज्ञान द्वारा काम में—
वायु की जल की अग्नि की शक्ति भी;
तीर पर बैठा लहर गिनता नहीं,
कर रहा तूफ़ान से खिलवार है।

उठ पड़ा पशुबल दबा इंसान जब,
देव हारे, दनुज ने पाई विजय;
आदमी की आदमी से उठ गई—
आस्था ज्योंही, हुई जग में प्रलय;
कह उठा फिर आदमी आकर नया,
प्रेम ही अमृत, घृणा संहार है।

आज ऐसा लग रहा है विश्व में,
आदमी से दूर है कुछ आदमी;
स्वार्थ सीमित दृष्टिपथ उसका हुआ—
गर्व मद में चूर है कुछ आदमी;

भग पूजा हो गई विश्वास की –
जीतन पर भी तभी तो हार है।

(देवव्रती शर्मा)

दीपावली के उपलक्ष्य म ज्योति का वन्दन एव अभिनन्दन करती हुई कवयित्री की उदात्त भावना देखिए

इस ज्योति का वन्दन करो !
सौ बार अभिनन्दन करो !
लो रश्मि रथ पर बठ कर है आ रही दीपावली

दुगम तिमिर पथ पार कर
हर गह में हर द्वार पर
मढ मत्तिका के दीप में बन ज्योति प्राणों की जली !

नक्षत्र बन नभ में खिली !
भू पर बहुत लगती भली !
फूली निशा की डाल पर अम्लान सोन की कली !

यह ज्योति का त्योहार है
मानो तिमिर न हार है।
सत से असत को जीत जग की कामना फूली फली !

(श्यामा सलिल)

शिला म अहिल्या के मिस कवयित्री अपनी स्थिति का बोध कराती है

राम के चरणों को छू कर एक शिला
अहिल्या बनी
इसलिए चरण दुबारा व
धो लिय गय
अच्छा होता मन भी
चरण तुम्हारे
यदि धो लिय होते
दुनिया की सारी मान्यताओं से दूर
एक स्पश के बाद
आज पत्थर तो न बनती।

(शभा)

इस प्रकार जीवन की बहुरूपता और वविध्य के आकलन के लिए नारी भी उतनी ही सन्नद्ध और तत्पर है तथा पुरानी टकनीक व रूप के प्रति अवज्ञा का रख

अपनाकर वह भी नये कवियों की पाँत में नित-नई टेकनीक और तौर-तरीकों को रियाज दे रही है। जैसा कि स्वाभाविक है मानव-बुद्धि भी इस समय आध्यात्मिक से भौतिक तथा स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रवृत्त हो रही है। उसकी सुष्ठु कल्पना और मूर्तिमत्ता ने तर्क वितर्क के रूप में काव्य के प्रसाद गुण के बजाय हठधर्मी और जोर-जबर्दस्ती को अख्तियार कर लिया है।

छायावाद के उन्मेष ने जो सहज प्रणयावेग और भावोच्छ्वास नारी में जगाया था, मौजूदा विधि निषेधों के कारण उसका स्वप्ननीड ध्वस्त है। उसका विशृंखल और अनेक कुठाओं एवं वर्जनाओं से ग्रस्त मन बेकार और बनुके आलम्बनों में बहक रहा है। अनुभूति उसमें है, पर वह शायद अनुभूति के किसी तर्कसंगत कारण की खोज में है, आकर्षण के किसी वैज्ञानिक समाधान की खोज में शायद।

फलत: कविता की नव्य धारा जिस हद तक जागरूक और गतिशील है उतनी ही उसमें लाक्षणिक वक्रता, तथ्य-कथन और खरेपन की प्रवृत्ति जोर पकड़ती जा रही है। कहीं-कहीं उनमें शंकाकुल अराजकता और अनगढ़ एकाग्रिता इतनी हद दर्जे की बढ़ गई है कि उसमें वैचित्र्यवाद की असामान्य स्पृहा जगी है। उसकी प्रेरणा के बहुमुखी स्रोत—एक सीमित दायरे में—उसके अन्तर्संघर्ष को इतस्तत: ठेल रहे हैं। अपनी भाव प्रवण, कोमल संवेदनाओं के औचित्य की सचेतता जो नारी में है वह आज की कोरी बौद्धिकता के विरुद्ध पड़ रही है, अतएव उसकी सहज अभिव्यक्ति में गतिरोध है।

नारी ने क्या कुछ दिया, उसके काव्य का मूल्यांकन कहाँ तक, कितनी दूर तक पहुँचेगा—कहना कठिन है, किन्तु यह अवश्य है कि एकांगी दृष्टि के कारण उसकी अभिव्यक्ति में एक प्रकार की 'मोनोटोनी' आ गई है और उनकी काल्पनिक उड़ानें एक विशेष परिसीमा में ही घिरकर रह गई हैं। वह अपनी नई उपलब्धि से स्तब्ध-सी है और उसकी अनुभूति, उसका संवेद्य कुहरजाल की इस मरीचिका में अवश-सा ठगा रह गया है।

प्रकृति का महान् चितेरा--महाकवि कालिदास

अनन्तव्यापी प्रकृति का निस्सीम प्रसार जिसके विराट चित्र फलक पर उक्त महाकवि के काव्य सजन की अमिट रेखाएँ खिंची और उदात्त प्रेरणा के वशीभूत हो जो अपने अन्तर की आकांक्षाओं के तुमुल अतर्निनाद को लेकर उससे एकात्म्य हो उठा। अव्यक्त को स्पर्श करती उसकी मधानरत अनुभूति ज्यो-ज्यो अधिक गहरी और संवेदनशील होती गई उतना ही अन्तपट अनावृत्त होता गया और रहस्यमय स्तर भेदकर उसकी अमूल्य निधियाँ किसी दुर्वार अन्तःशक्ति से दृष्टि के सम्मुख बिखरती गई। समूचे वातावरण में रमकर उसकी कलाएँ विस्फारित हुई। यकायक जसे प्रकृति की रंगीनियो से आख मिचौनी खेलते खेलते वह खो गया हो और अभिन्न से घुल मिलकर उसकी तन्मयता अधिक जागरूक हो उठी हो। यो महाकवि कालिदास के जीवन दर्शन का विभिन्न श्रेणियाँ है और इन्ही श्रेणियो के अनुसार उनका भावोन्मेष हुआ है।

प्रकृति अपने विस्तृत अर्थ में वह सब कुछ है जिसके प्रत्येक अणु अणु का अपना इतिहास है। अतएव सौन्दर्य की इस लीलाभूमि के मनोमुग्धकारी रूप ने सदा इस महाकवि के अन्तर को झकझोरा। प्रकृति के नव-नव रूप और उसकी समष्टि के प्रभावात्मक प्रसार--नीलाम्बर धरती का मनोमोहक हरीतिमा वन उपवन नदी नाले और पवन समुद्र यहाँ तक कि छोटे छोटे पेड पौधे और फल फूल तक ने रसानुभूति के माध्यम से उसकी वृहत सत्ता का आभास कराया। मन की एकरसता उसकी प्रगाढतम अनुभूति और चरम आनन्द की पराकाष्ठा को उस सुषमा और सौन्दर्य बोध में लय किया जो सत्य शिव सुन्दरम का ओर प्रवर्तित करने वाला है।

कवि की अतीन्द्रिय रससिक्त भावना का मादक स्पन्दन भी भिन्न भिन्न रूपो में प्रकृति के उन्मुक्त ऐश्वर्य को नियामक रूप में वर्णन करता आया है। कारण--प्रकृति के विविध रूपो को अपनी कल्पना रस से समन्वित करने में वह खो गया। जीवन के राग विराग प्रवृत्ति निवृत्ति भोग एवं सयम को कभी अपने सुख का कभी अपना अशाति मिटाने को कभी सौन्दर्यबोध की श्रेष्ठतम कल्पना पर कभी अपने हृदयावेग और सहज उत्सव प्रियता का उजागर करने के निमित्त उन्होने प्रकृति के तरोताजा पुनर्नवा और समृद्ध उपादानो से रागात्मक सम्बन्ध जोडा उसके प्रति

अपने नैसर्गिक आकर्षण को उसकी हर गतिविधि और रम्य छटाओ में तद्रूप किया। शुरू से अत तक उसकी काव्य-परम्पराएँ इसी आधार को अनिवार्यत. मानकर चलती रही। अत प्रदेश के किसी कोने में जब एक मधुर गूँज सुन पडी या सहसा प्राणों के तार झनझना उठे अथवा भावावेगो की अजस्र निर्झरिणी सी बह चली तो ऐसी मनोदशा में कवि के उद्गार, शाब्दिक अर्थ, अलकार, छन्द, गति, प्रेरणा, अनुभव और उसकी उद्भासित अतश्चेतना प्रकृति के चिरन्तन सौन्दर्य में प्रश्रय खोजती रही। बसन्त के आगमन पर जब सारा वातावरण एक अजीब सी मदहोशी और उन्माद से झूम-झूम उठा, मजरी और सहकारी लताएँ मलय मारुत की ताल पर थिरक-थिरक कर नृत्य कर•उठी, विकसित श्वेत पुष्प चतुर्दिक् बिखरी हरीतिमा की गोद में मचल-मचल उठे और भौरो का मधुर गुजन सुखद सगीत सा जान पडा तब पेड-पौधे, जलाशय, निर्झर, इठलाते बलखाते नदी-नाले, साथ ही मानो अपनी समूची गरिमा से लहलहाता प्रकृति का व्यापक प्रसार अपने चिरसचित वैभव को मानो बिखेर उठा

"द्रुमा सपुष्पाः सलिलं सपद्मम्,
नभः प्रसन्न पवनः सुगन्धि.
सुखाः प्रदोषा दिवसाश्च रम्याः
सर्वं सखे। चारुतरं बसन्ते।"

हे सखे। बसन्त का सौन्दर्य सर्वत्र कितना मोहक और अभिराम है। पुष्प-मञ्जित वृक्ष, कमलो से सुशोभित जलाशय, उन्मुक्त आकाश और खुशनुमा नजारा और सुगन्धित पवन, सुखमयी सन्ध्या और दिन की रम्यता मानो समूचे वातावरण को अपने विविध उपक्रमो से अभिभूत सा कर रही है।

एक दूसरे पद में—

"श्रुति सुख भ्रमर स्वन गीतयः कुसुम कोमलदन्त रुचो बभुः।
उपवनान्तलताः पवना हतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः॥"

अर्थात् उपवन-लताओ के हाव-भाव नर्तकी की भगिमाओ से प्रतीत होने हैं भ्रमरो का मधुर गुजन कानो को सुख देने वाले गीत लगते हैं, खिले हुए कोमल पुष्पो में श्वेत दत पक्ति की सी चमक है जिनमें खिलखिलाती हँसी की उत्फुल्लता व्यजित होती है। वायु के हल्के स्पर्श से हिलती-डुलती उनकी डालियाँ और पत्ते ऐसे लगते हैं मानो अभिनय और लय-विभोर उनके कोमल करो का सचालन हो। राह में झुकी लताएँ अभिनय-मुद्राओं और चेष्टाओ की दिग्दर्शक हैं।

महाकवि कालिदास के उपर्युक्त दोनो श्लोको में न केवल उनकी अपनी अनुभूतियो का रसाप्लावित भाव है बल्कि एक दूसरे के पूरक के रूप में उसका समस्त सत्य, शिवत्व और सौन्दर्य कवि के काव्य-सृजन की क्षमता और शक्तिमत्ता का द्योतक है। उनके सुप्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ 'मेघदूत', 'रघुवश', 'कुमारसम्भव' और 'शकुन्तला'

आदि नाटकों में ऋतु-विलास, प्रकृति वर्णन और निसर्ग की मनोरम झाँकी बड़े ही भव्य और उदात्त रूप में मिलती है। न केवल बनस्थलियों के दृश्य, लता गुल्म, फूल-पत्ते, वृक्ष वाटिकाएँ, नदी निर्झर, पर्वत समुद्र और अनन्त वन प्रान्त के व्यापक प्रसार का हम वर्णन मिलता है बल्कि षड्ऋतुएँ—ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर और बसन्त और उनके साथ ही अलग-अलग महीनों ज्येष्ठ, आसाढ़, सावन, भादों, क्वार, कार्तिक अगहन, पूस, माघ, फाल्गुन, चैत, वैशाख आदि भिन्न भिन्न अवस्थिति और कार्य-व्यापारों का भी विशद वर्णन है। अपने खण्ड-काव्य 'ऋतु संहार' में बदलती ऋतुएँ, उनका अतरंग प्रभाव और भाव-संचरण से समूचे वातावरण में परिवर्तन तो है ही, वरन् इसके विपरीत मनुष्यों के आचरण और सूक्ष्म प्रक्रियाओं तक पर असर दिखाया गया है। जैसे—वसन्त ऋतुराज है और सहज सौन्दर्योल्लास जागता है तो ग्रीष्म प्रखर किरणों से सबको व्याकुल कर देता है। किन्तु ग्रीष्म के बाद पावस अर्थात् वर्षा ऋतु तपती धरा को अपनी शीतल फुरहरी से शान्त करती है, उसके झुलसे प्राणों में नवजीवन का संचार करती है। 'ऋतु संहार' का समूचा दूसरा सर्ग वर्षाऋतु के वर्णन में लिखा गया है। आषाढ के महीने में जब बादल उमड़ने घुमड़ने लगते हैं, पपीहा मयूर, कोकिल, सारस, चकोर, पारावत आदि पक्षी आशा प्रत्याशा से मुँह बाए आकाश को ताकने लगते हैं, प्यासी धरती, पेड़-पौधे, फूल-पत्ती, पशु पक्षियों के विषाद की भूमिका न बनकर उनके स्नेह सिंचन के लिए तत्पर हो उठती है तभी उनके अपेक्षित गणों से साधर्म्य रखने वाली मानवी प्रेम गाथा का सृजन कर हंस जैसे पक्षी को कमल नालों का पाथेय ले मानसरोवर की ओर उड़ाया गया है। पवन की प्रेरणा से गतिमान मेघ जब आकाश में उड़ते हैं तो हंसों की पंक्ति भी उनके साथ साथ तैरती सी चलती है। वर्षा से रससिक्त हो—

> 'विपत्र पुष्पां नलिनीं समुत्सुका
> विहाय भृङ्गा श्रुतिहारिनिस्वना।
> पतन्ति मूढ़ा शिखिनां प्रनृत्यता
> कलापचक्रेषु नवोत्पलाशया ॥'

अभिराम गुंजार करते उत्कण्ठित भ्रमर पत्ररहित कमलिनी का परित्याग कर मोरों के पुच्छ-मंडल को ही भ्रमवश नए नए कमल मानकर उस पर टूट पड़ते हैं और विभोर हो नर्तन सा करते हुए घुमेर खाते हैं। वर्षा के प्रभाव से—

> 'प्रभिन्न वैदूर्यनिभैस्तृणाङ्कुरैः
> समाचिता प्रोत्थित कन्दली दलैः।
> विभाति शुक्लेतररत्न भूषिता
> वराङ्गनेव क्षितिरिन्द्रगोपकैः ॥'

अर्थात् वर्षा से धरती की छटा कैसी निराली हो गई है। वह सर्वत्र जल-परिपूरित है, वर्षा ने मानो उसे इर ओर से भर दिया है। बिल्लौर के घास के अंकुर

उस पर छा गये हैं, केलों के नव प्रस्फुटित पत्तों के भार से वह पलक उठी है, बीर-बहूटियों ने उसके अंग-प्रत्यंग को आच्छादित सा कर लिया है। प्रेमोन्मत्त नायिका सी भाँति-भाँति के रत्न-आभूषणों से सजी धरती बड़ी ही सुन्दर प्रतीत हो रही है।

अपनी हर परिस्थिति और हर पहलू में जिस रहस्यमय, निगूढ़ भाव का संचार और असीम सत्ता का आभास हमें इस दृश्य जगत् द्वारा होता है, उसके न केवल समस्त बाह्य, पर भीतरी छवि तक को भेद-भाव जनित पार्थक्य मिटाकर उस-से तादात्म्य स्थापित करने के लिए चाहिए यथार्थ और तीखी दृष्टि, अनुभूति की गहरी पैठ और हृदय की विशालता। गतानुगतिक भाषा-शैली में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ ही भावों की प्रेषणीयता में अधिक सूक्ष्म हो सकता है, यही कारण है कि महाकवि कालिदास ने प्रकृति-वर्णन में प्रतीकों का अधिक सहारा लिया है, पर सौंदर्य के प्रति उनके मन के सहज आकर्षण ने जो दिव्य भावापन्न एवं महत्तर स्वर छिपे हैं उनमें अत्यधिक भावद्योतक मानवीयता और सार्वजनीनता के साथ-साथ एक उससे बड़ी खूबी है उनकी अंतरंग मौन मुखर व्यंजना।

"निरुद्धवातायन मन्दिरोदरं
हुताशनो भानुमतो गभस्तयः।"

शिशिर ऋतु की कँपकँपाने वाली सर्दी के कारण लोग जब घर के भीतर के वातायन और झरोखे बन्द कर भीतर चले जाते हैं और आग व धूप अधिक सुहानी लगने लगती है :

"न चन्दनं चन्द्रमरीचिशीतलं
न हर्म्यपृष्ठं शरदिन्दुनिर्मलम्।
न वायवः सान्द्रतुषार शीतला
जनस्य चित्तं रमयन्ति सांप्रतम्॥"

तब न तो चन्दन-प्रलेप की इच्छा रह जाती है और न ही चन्द्र किरणों से शीतलता प्राप्त करने की आवश्यकता। छत पर विकीर्ण शरद की शुभ्र चन्द्र-ज्योत्स्ना अब लोगों का मन आकृष्ट नहीं करती और बर्फ के छितरे कणों से स्निग्ध शीतल हवा भी कतई अच्छी नहीं लगती।

कभी कभी जीवन-द्वन्द्वों के अतिरिक्त मानसिक संघातों का भी प्राकृतिक उपादानों में सुन्दर निदर्शन हुआ है, यथा—किसी विरही अथवा विरहिणी के हृदय की छटपटाहट से सारी प्रकृति और दृश्य वस्तुएँ विषण्ण और उदास सी लगती हैं, किन्तु प्रेमावेगों के आधिक्य से उन्हीं में सहसा एक विचित्र सौंदर्य और उन्माद की प्रतीति होने लगती है। यों उक्त महाकवि की भावव्यस्त अनुभूतियाँ प्रकृति में सर्वदा संश्लिष्ट हो रही हैं। वह उनके लिए खुला पृष्ठ रही है और उसके विशद मस्तिष्क की अन्त-र्निहित भाव-मन्दता उसी के माध्यम से व्यंजित हुई है। मनुष्य की लघुता के परे सृष्टि की असीमता और फिर आकाश-तारे, चन्द्र-सूर्य, पेड़-पौधे, फूल-पत्ती, नदी-निर्झर,

पर्वत-समुद्र और न जाने कितनी अगणित वस्तुएँ जो महादान में मिली हैं उनके चिर-सहयोग से जीवन में स्फूर्ति और प्रेरणा भरने के लिए उसे सत्य, सुन्दर, उदात्त और समृद्ध बनाने के लिए यही नहीं अपितु हर कोण और हर पहलू से उसमें सम्पूर्ति खोजने के लिए महाकवि कालिदास ने प्रकृति वर्णन के रूप में जो महत्तर भावसृष्टि की है उसके कारण हम आज भी और आने वाले युगों तक अपने लघु वृत्त से ऊपर उठकर उसकी विराट् असीमता का आभास पा सकेंगे।

प्रकृति का महान् चितेरा विलियम वर्ड्सवर्थ.

अनादि काल से प्रकृति की मनोरम क्रोड में मानव की सहज अन्तर्वृत्तियाँ प्रश्रय लेती आई हैं। मानव के चारों ओर प्रकृति फैली हुई है। प्रकृति का रूपात्मक सौंदर्य मनुष्य के मानस पर प्रतिबिम्बित हो रहा है और प्रकृति की गति मानस-चेतना को ग्रहण कर रही है।

प्रकृति उपासक महाकवि विलियम वर्ड्सवर्थ की कृतियों में प्रकृति मानो सजीव हो उठी है। उसकी कविता में न तो कल्पना की क्रीडा है, न कला की विचित्रता। वह है प्रकृति की ही एक मनोहर झाँकी और उसी के स्वरूप का मधुर चिंतन। प्रारम्भ से ही कवि का बाल हृदय प्रकृति के विभिन्न रूपों के प्रति प्रश्नशील है और वह प्रकृति की गति और भंगिमा में किसी व्यापक रहस्यात्मक शक्ति का संकेत पाना चाहता है। वह समझना चाहता है और प्रकृति के समस्त प्रसाधनों एवं अलंकारों पर मुग्ध हो अपने से ही प्रश्न करता है—ये वस्तुएँ कैसे उत्पन्न हो गईं? ये गुलाब, चमेली, बेला इत्यादि पुष्प क्यों खिलते हैं? अगणित पुष्पों एवं श्यामल द्रुम लताओं से मंडित सघन वन, अनन्त लहरियों से विलोडित गहन गम्भीर समुद्र, मन्द-मन्द गरजते मेघों का मेरु रंजित शृंगों से लगा दिखाई देना और फिर उस पर्वत के नीचे स्वच्छ शिलाओं पर फैले हुए जल में आकाश और हरीतिमा के बिम्ब, लह-लहाते हुए खेतों और जंगलों, हरी घास के मध्य इठलाते नालों, विशाल चट्टानों पर चाँदी की भाँति ढलते हुए झरनों, मंजरियों से लदी हुई अमराइयों, झाडियों, चह-चहाते पक्षियों, ओस-कणों और जल निर्झर के संघात से उडे हुए श्वेत जल-कण के मनोहर दृश्यों को वह मनोमुग्ध दृष्टि से देखता है। उसे जलसिक्त धरती तथा भोली चितवनवाली ग्राम वनिताओं, बाल्यावस्था के साथी वृक्षों, रंग-बिरंगे मधु मदिर सुगंधवाही पुष्पों, नीलम-सदृश हरित, कँटीले कटावदार पौधों, रसमय कच्चे या पक्के फलों, प्रियतम अम्बुधि की आकुल चाह में दौडी जाने वाली सरिताओं एवं समस्त प्राकृतिक उपादानों में आसाधारणत्व की प्रतीति तथा चिरपरिचित साहचर्य-सम्भूत रस की अनुभूति होती है।

'रमणीय सौन्दर्य से दीप्त प्रात या पुष्प सदैव की भाँति देदीप्यमान, जैसा कि मैंने देखा था,

सामने ही कुछ दूरी पर हँसते हुए समुद्र का व्यापक प्रसार,

पास ही वृहदाकार पर्वत, जो धूमिल रंग और दिव्य आभा की तरलता से सिक्त मेघों सा चमक रहा था,

चरागाहों और नीची सतह वाली जमीन पर उषःकालीन सहज मधुरिमा का आच्छादन,

ओस, कुहरा और पक्षियों का सगीतमय स्वर तथा खेत बोने के लिये श्रमिकों का प्रस्थान आदि सब कुछ शानदार था।"

('Magnificent
The morning rose in memorable pomp
Glorious as ever I had beheld—in front
The sea lay laughing as a distance ; near
The solid mountain shone, bright at the clouds,
Grain tinctured, drenched in emphrean light ,
And in the meadows and the lower grounds
Was all the sweetness of the common dawn
Dew, vapours and the melody of birds
And labourers going forth to till the fields ")

ज्यों-ज्यों कवि की बुद्धि का विकास होता है, उसकी सहज भावना की सौंदर्यानुभूति में प्रकृति सचेतन और सप्राण हो उठती है, पुन उसी के साथ तद्रूप होकर आनन्द से उल्लसित होती है। शनै-शनैं इस आत्म-चेतना के प्रसार में प्रकृति सर्वचेतन हो उठती है और उस क्षण प्रकृति उसे अपनी ही चेतना का एकरूप और समगति प्रतीत होती है।

"पृथ्वी और समुद्र, समस्त दृश्य-जगत् और उसके समक्ष फैला हुआ अम्बुधि का निस्सीम जल प्रसार एक विचित्र आनन्दानुभूति से ओतप्रोत है। इतस्ततः जल को स्पर्श करते हुए मेघ अव्यक्त प्रेम की सृष्टि करते हैं। आनन्द की अभिव्यक्ति में वाणी मूक है और शब्द मौन, उसकी आत्मा इस दृश्य के सौन्दर्य-रस का आस्वादन कर रही है। मन, शरीर, प्राण—सभी तो उसमें विलय हो गए हैं, उसका पार्थिव शरीर ही मानो उसमें जा समाया है। उन दृश्यों में ही वह खोया-सा खड़ा है, उन्हीं में उसकी चेतना और प्राण केन्द्रित हैं। ईश्वर प्रदत्त सुखों में विभोर वह अपने अन्तर्मानस को विचारों से नितान्त शून्य पाता है, इनमें ही मानों वे खो गये हैं। धन्यवाद वह नहीं दे सकता। शोक प्रकट करने में भी वह असमर्थ है। अपनी मूक अन्तश्चेतना से एकरूप हो वह उस परम शक्ति की अभ्यर्थना में सलग्न है, जिसने उसका सृजन किया और जो उस दिव्य प्रेम एवं ब्रह्मानन्द की अनुभूति कर रहा है, जो प्रशंसा और अनुनय से परे है।"

"*(Ocean and earth, the solid frame of earth*
And ocean's liquid mass in gladness lay

Beneath him —Far and wide the clouds were touched
And in their silent faces could be read
Unutterable love Sound needed none,
Nor any voice of joy , his spirit drank
The spectacle sensation soul and form
All melted into him , they swallowed up
His animal being , in them did he live,
And by them did he live , they were his life
In such access of mind, in such high hour
Of visitation from the living God,
Thought was not, in enjoyment it expired,
No thanks he breathed, he professed no regret ,
Rapt into still communion that transcends
The imperfect offices of prayer and praise
His mind was a thanksgiving to power
That made him , it was blessedness and love ")

प्रकृति के इस सर्वचेतनवादी दृष्टिकोण में कवि की अनुभूति प्रकृति से ऐसी समन्वित हो जाती है कि उसे प्रकृति के प्रति आश्चर्य-चकित और प्रश्नशील होने का अवसर ही नही मिलता । यही कारण है कि वह सर्वचेतनवादी सृष्टि के स्रष्टा और सृजन के सूत्रधार के प्रति अपना आग्रह प्रकट नही करता । वह अपनी सीमाओं में अनीश्वरवादी ही रहता है । प्रकृति ही उसके जीवन का आधार और प्रेम की चरम साधना है । उसके प्रत्येक सकेत में, जिज्ञासा में, प्रार्थना में, ध्वनि में प्रकृति का अनुग्रह निहित है । वही उसकी प्राणाधिका सखी, जीवन-सहचरी, सरक्षिका, पथ-प्रदर्शिका, आनन्ददायिनी और पवित्र भावनाओं की सवाहक दिशा निर्देश करने वाली जीवन-ज्योति है ।

("Well pleased to recognize
In Nature and the language of the sense
The anchor of my purest thoughts,
The guide, the guardian of my heart,
And soul of all my moral being ")

प्रकृति के विभिन्न स्वरूपो ने कवि की भावनाओ को आलोडित किया है । अलकारो से विभूषित हो वह बहुरगिनी कभी उसकी भावनाओ को हँसाती-रुलाती है और कभी केवल मानव के अगाध प्रेम एव समादर की भावना पर मुग्ध हो उस पर अपना वरदान बिखेरती है । कभी वह सरल साधिका की भाँति ज्ञानोपदेश द्वारा उचित मार्ग-निर्देश करती है और कभी रहस्यमयी चुँदरी ओढ उसके लिए गूढ चिन्तन का विषय बन जाती है । यही नही, वह कभी चचला स्वय मानवीय रूप धारण करके छायावादी अवगुण्ठन से झांक उसे विमोहित करती है और कभी आकर्षक, मनोहारी,

सामने ही कुछ दूरी पर हंसते हुए समुद्र का व्यापक प्रसार,

पास ही वृहदाकार पर्वत, जो धूमिल रग और दिव्य आभा की तरलता से सिक्त मेघो सा चमक रहा था,

चरागाहो और नीची सतह वाली जमीन पर उप कालीन सहज मधुरिमा का आच्छादन

ओस, कुहरा और पक्षियों का सगीतमय स्वर तथा खेत बोने के लिये श्रमिको का प्रस्थान आदि सब कुछ शानदार था।"

('Magnificent
The morning rose in memorable pomp
Glorious as ever I had beheld—in front
The sea lay laughing as a distance , near
The solid mountain shone, bright at the clouds,
Grain-tinctured, drenched in emphrean light ,
And in the meadows and the lower grounds
Was all the sweetness of the common dawn
Dew, vapours, and the melody of birds
And labourers going forth to till the fields ")

ज्यों-ज्यो कवि की बुद्धि का विकास होता है, उसकी सहज भावना की सौंदर्यानुभूति में प्रकृति सचेतन और सप्राण हो उठती है, पुन उसी के साथ तद्रूप होकर आनन्द से उल्लसित होती है। शनैं-शनैं इस आत्म-चेतना के प्रसार में प्रकृति सर्वचेतन हो उठती है और उस क्षण प्रकृति उसे अपनी ही चेतना का एकरूप और समगति प्रतीत होती है।

"पृथ्वी और समुद्र, समस्त दृश्य-जगत् और उसके समक्ष फैला हुआ अम्बुधि का निस्सीम जल प्रसार एक विचित्र आनन्दानुभूति से ओतप्रोत है। इतस्तत जल को स्पर्श करते हुए मेघ अव्यक्त प्रेम की सृष्टि करते है। आनन्द की अभिव्यक्ति में वाणी मूक है और शब्द मौन, उसकी आत्मा इस दृश्य के सौन्दर्य-रस का आस्वादन कर रही है। मन, शरीर, प्राण—सभी तो उसमें विलय हो गए हैं, उसका पार्थिव शरीर ही मानो उसमें जा समाया है। उन दृश्यो में ही वह खोया-सा खड़ा है, उन्हीं में उसकी चेतना और प्राण केन्द्रित हैं। ईश्वर-प्रदत्त सुखो में विभोर वह अपने अन्तर्मानस को विचारो से नितान्त शून्य पाता है, इनमें ही मानों वे खो गये हैं। धन्यवाद वह नहीं दे सकता। शोक प्रकट करने मे भी वह असमर्थ है। अपनी मूक अन्तश्चेतना से एकरूप हो वह उस परम शक्ति की अभ्यर्थना में सलग्न है, जिसने उसका सृजन किया और जो उस दिव्य प्रेम एव ब्रह्मानन्द की अनुभूति कर रहा है, जो प्रशसा और अनुनय से परे है।"

"(Ocean and earth, the solid frame of earth
And ocean's liquid mass in gladness lay

Beneath him —Far and wide the clouds were touched
And in their silent faces could be read
Unutterable love Sound needed none,
Nor any voice of joy , his spirit drank
The spectacle , sensation soul and form
All melted into him , they swallowed up
His animal being , in them did he live,
And by them did he live , they were his life
In such access of mind, in such high hour
Of visitation from the living God,
Thought was not, in enjoyment it expired,
No thanks he breathed, he professed no regret ,
Rapt into still communion that transcends
The imperfect offices of prayer and praise
His mind was a thanksgiving to power
That made him , it was blessedness and love ")

प्रकृति के इस सर्वचेतनवादी दृष्टिकोण में कवि की अनुभूति प्रकृति से ऐसी समन्वित हो जाती है कि उसे प्रकृति के प्रति आश्चर्य चकित और प्रश्नशील होने का अवसर ही नही मिलता। यही कारण है कि वह सर्वचेतनवादी सृष्टि के स्रष्टा और सृजन के सूत्रधार के प्रति अपना आग्रह प्रकट नही करता। वह अपनी सीमाओ में अनीश्वरवादी ही रहता है। प्रकृति ही उसके जीवन का आधार और प्रेम की चरम साधना है। उसके प्रत्येक सकेत में, जिज्ञासा में, प्रार्थना में, ध्वनि में प्रकृति का अनुग्रह निहित है। वही उसकी प्राणाधिका सखी, जीवन-सहचरी, सरक्षिका, पथ-प्रदर्शिका, आनन्ददायिनी और पवित्र भावनाओ की सवाहक दिशा निर्देश करने वाली जीवन-ज्योति है।

("Well-pleased to recognize
In Nature and the language of the sense
The anchor of my purest thoughts,
The guide, the guardian of my heart,
And soul of all my moral being ")

प्रकृति के विभिन्न स्वरूपो ने कवि की भावनाओ को आलोडित किया है। अलकारो से विभूषित हो वह बहुरगिनी कभी उसकी भावनाओ को हँसाती-रुलाती है और कभी चेतन मानव के अगाध प्रेम एव समादर की भावना पर मुग्ध हो उस पर अपना वरदान बिखेरती है। कभी वह सरल साधिका की भाँति ज्ञानोपदेश द्वारा उचित मार्ग-निर्देश करती है और कभी रहस्यमयी चुँदरी ओढ उसके लिए गूढ चिन्तन का विषय बन जाती है। यही नहीं, वह कभी चचला स्वय मानवीय रूप धारण करके छायावादी अवगुण्ठन से झाँक उसे विमोहित करती है और कभी आकर्षक, मनोहारी,

अल्हड़ भाव से अतीत की मधुर स्मृतियों को गुदगुदा देती है। प्रेम की अभिव्यक्ति के रूप में कवि अपने भावों को प्रकृति में प्रतिबिम्बित देखता है। प्रेम की वेदना का रूप यदि प्रकृति में है, तो प्रेम की तृप्ति भी उसी में दिखाई देती है। कभी-कभी प्रकृति की विराट् झोली में वह अपने भावों को भर सामने से हट जाता है।

"प्रशान्त

निश्चल नीरव जल मेरे मस्तिष्क पर उल्लास का दुर्वह भार सा बनकर छा गया है, और आकाश जो पहले कभी इतना सुन्दर न लगा था, मेरे हृदय में धँसकर मुझे स्वप्न विभोर सा बना रहा है।"

(The calm
And dead still water lay upon my mind
Even with a weight of pleasure, and the sky,
Never before so beautiful sank down
Into my heart and held me like a dream")

सच तो यह है कि प्राकृतिक सौन्दर्य एवं सौकुमार्य की उपासना में अहर्निश निरत वर्ड्सवर्थ ने सुन्दर एवं सरस भावों की लड़ियाँ पिरो कर अपने काव्य को सजाया है। उसकी अन्तर्हित भावनाएँ प्रकृति से तद्रूप हो मानो साकार हो उठी हैं।

"अप्रैल का सुन्दर, स्वच्छ प्रभात है। क्षुद्र नदी अपनी लबालब उद्दामता से गर्वित यौवन की मदमाती चाल से प्रवाहित हो रही है। नदी के प्रवहमान जल की प्रतिध्वनि वासन्तिक वायु में जा विलीन होती है। सभी सजीव वस्तुओं से आनन्द और आकांक्षा, आशाएँ और इच्छाएँ अगणित ध्वनियों की भाँति फूटी पड़ रही हैं।"

("It was on April morning , fresh and clear,
The rivulet, delighting in its strength,
Ran with a youngman's speed , and yet the voice
Of waters which the river had supplied
Was softened down into a vernal tone
The spirit of enjoyment and desire
And hopes and wishes from all living things
Went circling, like a multitude of sounds")

ग्रीष्म जैसी मनहूस ऋतु का वर्णन करते हुए कोई भी कवि प्रकृति के उन नाना रूपों एवं दृश्यों तक नहीं पहुँच पाया है, जिसका वर्णन वर्ड्सवर्थ की कविताओं में अनायास ही मिलता है।

"उत्तरी मैदान स्वच्छ हवा में तैरता हुआ दूर तक नजर आ रहा है। घुमड़ते बादलों की धिमलती छाया पृथ्वी की सतह को चितकबरा सा बना रही है।"

"(The northern downs
In clearest air ascending, showed far off

A surface dappled over with shadows fleecy
From brooding clouds ')

यहाँ देखिए—गर्मी की प्रचण्डता को भी वह छन्दोबद्ध कर सकता है

"प्रचण्ड ग्रीष्म जबकि वह अपनी आत्मा को काँटेदार गुलाब के पुष्प में केन्द्रित कर देता है।"

("Flaunting summer when he throws
His soul into the briar rose ')

प्रारम्भ में फ्रांस की राज्य-क्रान्ति में वर्ड्सवर्थ ने मानवता, विश्व-बन्धुत्व और जीवन का अभिनव सदेश पाया था, किन्तु शीघ्र ही क्रान्तिवादियों की हिंसक मनोवृत्ति और घातक चेष्टाओं ने उसे पुन प्रकृति की ओर उन्मुख कर दिया। उसकी प्रारम्भिक कृतियाँ 'दि प्रिल्यूड' (The Prelude) और 'दि एक्सकर्शन' (The Excursion) में उसकी उदात्त भावनाओं की मनोहर झाँकी मिलती है।

अन्तत उसकी कलात्मक चेतना विकसित होते-होते प्रकृति की अन्तरात्मा में इतनी पैठ गई कि उसके प्रत्येक स्वरूप का स्पष्ट चित्र उसके हृदय-पटल पर अंकित हो गया और प्राकृतिक अनुभूति का अन्तर्बाह्य सूक्ष्म रेखाओं में उभर पड़ा।

उसकी प्रख्यात् कविता 'बाल्यावस्था की स्मृति द्वारा अमरत्व का संकेत' (Ode on Intimations of Immortality from Recollections of Early Childhood) में प्रकृति की व्यापक चेतना के साथ उसकी अपनी अन्तर्वृत्तियों का तादात्म्य होकर अद्भुत ज्योतिर्मय कणों में छिटक पड़ा है।

"हमारा उद्भव एक प्रकार की निद्रा और चिर-विस्मृति है।

आत्मा, जिसका प्राकट्य हमारे साथ होता है और जो जीवन की नक्षत्र है,

कहीं अन्यत्र से आती और दूर ही जाकर छिपती है।

हम पूर्ण विस्मृति और एकदम निरावरण होकर नहीं आते, वरन् ऐश्वर्य के घन खण्डों पर थिरकते हुए अपने चिर-आश्रयस्वरूप प्रभु के यहाँ से आते हैं।

बाल्यावस्था में स्वर्ग सामने बिछा रहता है, किन्तु ज्यों-ज्यों बालक बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों कारागार की सघनता उसे आच्छन्न करती जाती है।

वह प्रकाश से साक्षात्कार करता है और उल्लास में भरा हुआ सोचता है—यह प्रकाश कहाँ से बहकर आता है?

युवावस्था की ओर बढ़ता हुआ वह अपनी उद्भव-दिशा से दूर भटकता जाता है, किन्तु प्रकृति का उपासक तब भी बना रहता है।

अपने मार्ग में दिव्य सौन्दर्य से दीप्त वह ज्यों-ज्यों मनुष्य बनता जाता है, साधारण जीवन की चकाचौंध में वह उसे तिरोहित होते देखता है।"

("Our birth is but a sleep and a forgetting,
The soul that rises with us, our life's Star,

Hath had elsewhere its setting,
And cometh from afar,
Not in entire forgetfulness,
And not in utter nakedness,
But trailing clouds of glory do we come
From God, who is our home;
Heaven lies about us in our infancy!
Shades of the prison house begin to close
Upon the growing Boy,
But He beholds the light, and whence it flows
He sees it in his joy,
The youth, who daily farther from the East
Must travel still is Nature's Priest,
And by the vision splendid
Is on his way attended,
At length the Man perceives it die away,
And fade into the light of common day.")

अनन्त और शाश्वत अन्त प्रकृति में रमकर वर्ड्सवर्थ की कल्पना का प्रसार इतना व्यापक हो गया है कि तुच्छ से तुच्छ उपकरणों में भी उसे विराट् छाया छटपटाती नजर आती है। 'लूसी ग्रे' (Lucy Gray) की निम्न पंक्तियों में कवि के कोमल हृदय की धड़कन सुन पड़ती है।

"सम-विषम पथों पर भटकती हुई वह बिना पीछे मुड़े एकाकी गीत गाती है, जो वायु के स्तरों में ध्वनित होता रहता है।"

("Over rough and smooth she trips along
And never looks behind,
And sings a solitary song
That whistles in the wind.")

कवि के लिये व्यक्त सत्य है—प्रकृति और मानव। इन्हीं के आध्यात्मिक प्रणय का रूप उसे सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। इन्हीं से अन्तर्भूत रूप-व्यापार उसके हृदय पर मार्मिक प्रभाव डाल कर उसके भावों का प्रवर्त्तन करते हैं। इन्हीं रूप-व्यापारों के भीतर उसे भगवदीय कला का साक्षात्कार होता है, इन्हीं का सूत्र पकड़ कर उसकी भावना अव्यक्त सत्ता का आभास पाती है। प्रकृति के रोम-रोम में, कण-कण में एक दिव्य, अलौकिक शक्ति सन्निहित है। उसकी दृष्टि में प्रकृति निर्जीव नहीं, प्रत्युत् सजीव एवं सप्राण है। वह मनुष्य के दुःख-सुख में योग देती है। वह उसके साथ रोती है, हँसती है। वह उसकी महत्वाकांक्षाओं, दुर्बलताओं, इच्छाओं, वेदनाओं तथा सुखों में सदैव साथ रहती है। एक स्थल पर वह कहता है:

"मेरा विश्वास है कि प्रत्येक पुष्प वायु के श्वास प्रश्वास का अनुभव करता है।"

("And it is my faith that every flower enjoys
the air it breathes")

प्रकृति ही उसके जीवन की क्रीडा एव मधुर मुस्कान है।

("It is her privilege through all the years of this our life to lead from joy to joy")

प्रकृति के विस्तृत प्रागण में उसे निरन्तर अव्यक्त सत्ता का आभास होता है

"सूक्ष्म गति और अव्यक्त सत्ता,

जो चिन्त्य वस्तुओ की प्ररक है, समस्त मतव्यो का सार और सभी वस्तुओं की सवाहिका शक्ति।"

(" A motion and a spirit that impels
All thinking things
All objects of all thoughts
And rolls through all things")

कवि के कानो में निरन्तर यह प्रश्न गूँजता रहता है—वह कौन शक्ति है, जो यह सब चुपचाप करती है? अन्त में इस जिज्ञासा का समाधान होता है—प्रश्न का उत्तर भी कवि को स्वय ही मिल जाता है कि निस्सदेह इस अनुपम सृष्टि की स्रष्टा कोई अव्यक्त शक्ति है, जिसने मनुष्य मात्र की रक्षा के लिए केवल अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा इसका सृजन किया है। तो क्या मानव जीवन में ज्योति का अन्त-सॉंक्ष्य कराने वाली प्रकृति ही है? कवि की वाणी मूक हो जाती है, भाव स्तब्ध हो जाते हैं। उसे प्रकृति के गर्भ में, सृष्टि के अन्तराल में अद्भुत, अलौकिक, दिव्य प्रकाश का आभास होता है, जो उसके रोम-रोम में परिव्याप्त होकर कविता द्वारा प्रस्फुटित होता है।

महाकवि गेटे के दार्शनिक विचार

महाकवि गेटे के मत में व्यक्ति के आत्मविकास की सम्भावनाएँ परिस्थितियो की विवश स्वीकृति नही वरन उसकी अपनी पूर्णता की प्रक्रिया है क्योकि वह अपने चिंतन ही प्रयत्नो को अहर्निश पूर्णता की ओर उत्प्रेरित करता रहता है। उसकी विकल्पात्मक वृत्ति आतरिक साक्षात्कार से गतिशील होती है और उसकी इस *अभीप्सा और ससक्ति मे ही विश्वसृष्टि का आदिम अकुर छिपा हुआ है।*

यो सागोपाग रूप म अनेक कोण एव आयामो में रख कर जांचने-परखने से जीवन का वैविध्य कैसा असीम दीख पडता है ? कितने अनबूझ प्रश्नचिह्न सामने आ खडे होते है ? भावसत्ता के माध्यम से छिन्न आकाक्षाओ के तानेबाने के रूप में गुँथे हुए जीवन के वैभिन्य प्रकट होते है तो लगता है कि गेटे जैसे सध कलाशिल्पी की *अनुभूतियाँ कितनी सवेद्य कितनी प्रशसनीय है।* एक स्थल पर

"मनुष्य का जीवन क्या है—एक भ्रामक मिथ्या स्वप्न, कितने ही व्यक्तियों ने इस बात को समझा-बूझा है और मै स्वयं इसे बखूबी अनुभव कर रहा हूँ। जब मै सोचता हूँ कि हमारी सक्रिय जिज्ञासु प्रवृत्तियों को पर कितनी स्वल्प कितनी सकुचित परिसीमा में है तथा साथ ही यह देखता हूँ कि हमारी कार्य शक्तियाँ किस प्रकार व्यर्थ के प्रपचों में रमी है कि जिनका अनिवार्य परिणाम यह होता है कि वे उन्हीं की स्थायित्व के प्रयास में खप जाती है तब मै मूक और जडवत हो जाता हूँ। *मै अपने 'स्व' का विश्लेषण करता हूँ और वहाँ एक ऐसी दुनियाँ पाता हूँ जिसमें* सशक्त, जागरूक आह्वान के बदले धूमिल इच्छा-आकाक्षाएँ और कल्पना का गुबार उमड घुमड रहा है। तब उस क्षण मेरे नेत्रों के समक्ष मानो हर वस्तु तैरने लगती है और ससार के मिथ्यात्व में खोया हुआ मै महज मुस्कराता और स्वप्न देखता रहता हूँ।

मनुष्य की सबसे बडी कमजोरी है कि वह बौद्धिक तर्क के मोह में फँस जाता है और उसे नित-नई खोज और दिमागी कसरत में बडा रस आता है। चिन्तन मनन द्वारा नही बल्कि कभी कभी नितात उथली और हास्यास्पद जिज्ञासा का प्रश्रय ले वह जिन्दगी के ऐसे जटिल एव गम्भीर प्रश्नो का समाधान खोजता है जिसे मनुष्य की बुद्धि अथवा तर्क से परे सामान्य व्यवहार के स्तर को भदकर सत्य

की समग्रता या समूची सत्ता में गहरे पैठकर ही पा सकती है। उसकी सन्देहशील और द्विविधाग्रस्त दृष्टि—ऐसी स्थिति में—यह समझ नहीं पाती कि वस्तुतः अन्तर कहाँ है, क्यों है। शनैः-शनैः भ्रम और संशय की यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ जाती है कि उसे स्वयं अपने ऊपर सन्देह होने लगता है। गेटे के शब्दों में

"विद्वानों और विचारकों का अभिमत है कि मनुष्य अपनी इच्छाओं के मूलभूत कारण को स्वायत्त नहीं कर पाता, अपितु अज्ञानी बालक की भाँति इस धराधाम पर विचरता है—बिना समझे-बूझे कि कहाँ से वह आया है और कहाँ उसका गन्तव्य है। वह पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति का दावा तो करता है, पर अधिकतर उसे निरर्थक उद्देश्यों की पूर्ति करनी पड़ती है।

मुझे ज्ञान है कि आप इसके उत्तर में क्या कहेंगे? यही न कि खुशकिस्मत है वे लोग जो बच्चों कि तरह अपने आपको बहला सकते हैं। सचमुच, ऐसे व्यक्तियों को मैं भाग्यवान कहूँगा, किन्तु इसके विपरीत ऐसे व्यक्ति भी हैं जो यों तो सत्ताधारी और बड़ी-बड़ी उपाधियों से विभूषित हैं, पर शिथिल और श्रान्त निजी सफलताओं असफलताओं का असह्य भार लिये जिनके डगमगाते क़दम आगे बढ़ रहे हैं, क्या वे सूर्य के प्रकाश में कुछ क्षण नहीं ठहरना चाहते? भले ही वे ऊपर से खुश नज़र आवें, पर ऐसे व्यक्तियों को आप क्या कहेंगे?"

ज्यों ज्यों अहंवादी बौद्धिकता जगती है त्यों त्यों कुंठा, अनास्था और व्यक्तिवादिता—उसी अनुपात में—उभरती जाती है। सत्य और सत्ता में प्रतिष्ठित सजग चिन्तन अपनी मूल प्रवृत्ति का परित्याग कर बहक जाता है और कितने ही सैद्धांतिक व क्रियात्मक पक्षों में बँटकर अपनी यथार्थता खो बैठता है। व्यक्ति का यह सहज स्वभाव है कि वह स्वयं को शून्य मान किसी भी 'मूड' की इकाई के आगे अथवा अपने व्यक्तित्व, रुचियों, महत्वाकांक्षाओं को किन्हीं भी सीमित दायरों में बन्दी नहीं बना सकता, अतएव कभी-कभी उसका 'अहम्' ईश्वर के अस्तित्व के प्रति भी विद्रोह कर उठता है। क्या सचमुच ईश्वर नाम की कोई चीज़ है? कैसा है उसका रूप? आखिर वह है क्या बला? क्या सचमुच इंसानी जिन्दगी को अपने विकास-क्रम में आगे बढ़ाने में वह सहायक हो सकता है? यों—प्रतिस्पर्धा और होड़ में ईश्वर की परिकल्पना वाद विवादों के गोरखधन्धे में उलझ जाती है और अर्पण-समर्पण का भाव तो दूर तर्क वितर्क और विपरीत प्रतिक्रियाएँ चित्त को अस्थिर बना देती हैं। गेटे के मत में ईश्वर की सत्ता विषयक ऐसे विकल्प मन की अन्तःशक्ति को कुंठित कर देने वाले होते हैं। यह जिज्ञासा तो सत्य की उपलब्धि से ही तृप्त होती है।

"कौन उसकी व्याख्या करने का साहस कर सकता है और उसका स्पष्टीकरण भी कैसे किया जाय—यह कह कर कि मैं उसमें विश्वास करता हूँ। जो देखता, चलता और अनुभव करता है वह क्योंकर उसकी सत्ता को अस्वीकार कर सकता है

—यह कह कर कि मैं उसमें विश्वास नहीं करता। वह सर्वशक्तिमान परमेश्वर क्या मेरे, तेरे और समस्त चराचर जगत् के रूप में व्यक्त नहीं होता? क्या हमारे ऊपर आकाश नहीं है, क्या हमारी दृष्टि के समक्ष पृथ्वी का अनन्त प्रसार फैला हुआ नहीं है और क्या हमारे सिरों पर मित्र की भाँति मुस्कराते चाँद-सितारे नित्य ही उदित नहीं होते? मुख से मुख, नेत्र से नेत्र, हृदय से हृदय और तेरा-मेरा साक्षात्कार होने पर क्या उसकी परोक्ष-अपरोक्ष सत्ता का आभास नहीं होता और क्या इस प्रकार तेरे-मेरे जीवन के चतुर्दिक् लिपटे हुए दृश्य-अदृश्य रहस्य का उद्घाटन नहीं हो जाता? उसकी शक्ति अपरिमेय और अचिन्त्य है। उस अव्यक्त सत्ता की अचेतन अभिव्यक्ति को अपने हृदय में अनुभव कर। जब तेरा हृदय दिव्य रस से आप्लावित हो जाय तो उसी ब्रह्मानन्द अर्थात् प्रेम और ईश्वर की निनादित होती हुई अनुकम्पा समझ।"

ईश्वर कोई स्थूल या सहज ही इन्द्रियगोचर होने वाली वस्तु नहीं है, वह तो भीतर ही भीतर समग्र सत्ता या पूर्ण सत्ता का एक तरह साक्षात् उन्मेष है। इस गहरी दृष्टि का रहस्य है कि मूलगत तत्त्वों की तह तक पैठ सकें। बाहरी तौर पर इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं, बल्कि असीम और अनंत का सम्यक् ज्ञान—जो शक्ति है, प्रेरणा है और तलीय स्वरूप है—इसी की व्याख्या में गेटे ने लिखा :

"कौन वह शक्ति है जो हृदय को आन्दोलित करती है और जिससे समस्त तत्त्वों पर विजय प्राप्त कर ली जाती है? क्या यह उस समस्वरता के अतिरिक्त कुछ और है जो हृदय में प्रकट होकर सारे संसार को उससे समन्वित कर देती है। जबकि प्रकृति चरखे पर अनवरत वर्द्धमान धागे को अनायास कातती जाती है और सम्पूर्ण सृष्टि की उलझनों का समावात परस्पर टकरा कर भीषण अट्टहास करता है, तब कौन उन्हें जीवनदायी प्रवहमान स्वरसरणियों में सविभक्त करता है जिससे वह सुस्वरता से सम्पन्न हो जाता है। पृथक्-पृथक्, विशृंखल, विभक्त सत्ताओं को सर्वव्यापी पावनता के लिए कौन आह्वान करता है जिससे कि ये अचिन्त्य समस्वरता के साथ ध्वनित हो उठती हैं। वह कौन है जो प्रबल मनोवेगों के अधड़ में अथवा आत्मा की दुर्भेद्य गहनता में साध्य अरुणिमा का आलोक भर देता है तथा सुखद वसन्त की अर्द्धस्फुट कलिकाओं को प्रेमपथ पर बिखेर देता है?

आह! मैं जगत् की उस निगूढ़ शक्ति को पहचान सकूँ और समग्र विधायक-शक्ति एवं मूल बीज को खोज सकूँ तथा कोरे शब्दाडम्बर से मुक्त हो जाऊँ।

अनन्त प्रकृति! क्या मैं तुझे स्वायत्त कर पाऊँगा?"

दरअसल, मनुष्य में स्वसत्ता का अहंकार इतना प्रबल और उद्दाम है कि वह अपने समक्ष किसी को नहीं आँकता। यहाँ तक कि वह भगवान तक को चुनौती देता है। इसी भाव से प्रेरित होकर गेटे ने लिखा :

"अपने को परमेश्वर का प्रतिरूप मानकर मैं यह समझ बैठा था कि मैं सनातन

सत्य रूपी दर्पण के नितान्त निकट हूँ। मैं मानवीय शक्ति की अवहेलना कर स्वर्गिक सुख एवं आनन्द का उपभोग कर रहा था ; अपने आपको देव-पार्षदों से बड़ा समझ में अपनी स्वच्छन्द शक्ति को प्रकृति की धमनियों में प्रवाहित होने की होड़ तथा दिव्य उदात्त जीवन की रचना कर उसके उपभोग का दुस्साहस कर रहा था, पर एक ही धक्के ने मेरा गर्व, खर्व कर दिया।"

कभी-कभी जब अहंकार बहुत बढ़ जाता है तो ऐसे भी क्षण आते हैं जब कितनी ही बाहरी विसंगतियों और अलक्षित परिस्थितियों के कारण हमारे मिथ्याभिमान को गहरी ठेस लगती है। जिसकी चोट से सहसा आहत उसका अपना स्वरूप उसके सामने उसी प्रकार स्पष्ट हो जाता है जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब।

"नहीं, मैं तेरी बराबरी करने का साहस नहीं कर सकता। तुझे आकर्षित करने की शक्ति तो मुझ में है, पर रोक रखने की क्षमता नहीं। उस एक महान् क्षण में मैंने अपनी लघुता तथा तेरी महत्ता दोनों का अनुभव कर लिया ! और तूने पुनः मुझे अनिश्चित् मानव-नियति के गर्त्त में ढकेल दिया। अब कौन मेरा पथ-प्रदर्शन करेगा ? क्या मैं पुनः उसी प्रवृत्ति का अनुसरण करूं ? ओफ् ! हमारे कर्म दुःखों के समान हमारे जीवन की प्रगति में बाधक होते हैं।

जो कुछ अच्छी वस्तु हमारी आत्मा ग्रहण करती है उसमें अनवरत अधिकाधिक बाह्य वस्तुओं का मिश्रण होता जाता है। जब हमको ऐहिक समृद्धि प्राप्त होती है तो हम श्रेष्ठ आध्यात्मिक वैभव को छलना एवं प्रवंचना मान लेते हैं। हमारी महत्त्वाकांक्षाएँ, हमारी आत्मा की सच्ची पुकार सांसारिक द्वन्द्वों के तुमुल घोष में जड़ हो जाती है। यदि पहले कभी, आशाभरी कल्पना ने अपने साहसी पंखों को सनातन तत्त्व की ओर फैलाया था तो आज समय के भँवर-चक्र में, सुखों के तिरोहित हो जाने पर वह अपने पंखों को समेट रही है। हृदय के अन्तराल में चिन्ता ने अपना नीड़ बना लिया है और वहीं चुपचाप वह पीड़ा उत्पन्न किया करती है। निद्रा से दूर रख कर वह सुख-शान्ति और विश्राम का अपहरण कर लेती है और मन को दोलायमान रखती है। नये-नये रूपों में चिन्ता हमारे सम्मुख आया करती है और हम उसके प्रहारों से काँपा करते हैं। हम सदैव मनगढ़त, कल्पित दुश्चिन्ताओं के शिकार बने रहते हैं।"

फिर भी, मनुष्य का आत्मज्ञान ही उसकी प्रयोजनभूत उपलब्धि है जिसके कारण उसका अहंता मन किसी के समक्ष घुटने नहीं टेक सकता—यहाँ तक कि वह ईश्वर से भी होड़ लेने को कटिबद्ध रहता है। यदि वह अपने तईं ऐसी हीनता को प्रश्रय देगा तो उसका पूर्णत्व कैसे विकसित होगा ? कोरे नैराश्यवाद के मिथ्यावरण के मिस वह अपने आप को कब तक बहला सकता है ? उसे हेय, उपादेय और ज्ञेय का विवेक-तत्त्व जगाना ही होगा। गेटे ने इसी तथ्य की व्याख्या में लिखा :

"फिर भी कर्म के द्वारा यह सिद्ध कर दें कि मनुष्य की क्षमता परमेश्वर की प्रभुता के समक्ष आत्मसमर्पण नहीं कर सकती। उस अंधकारमय गह्वर के सामने न

कांप, जिसमें कल्पना स्वरचित यन्त्रणाओं से पीडित होती है। आयासपूर्वक उस घाटी की ओर बढ चल जिसके सकुचित मुख के चतुर्दिक् नरक की लपटें प्रदीप्त हो रही हैं। चाहे विनाश का भय ही परिणाम क्यों न हो, तो भी उल्लासपूर्ण सकल्प से इस मार्ग को ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हो जा।,

सतोष की प्रबल आकाक्षा होते हुए भी सतोष का स्रोत हृदय में बरबस फूट नहीं पडता। यह सरिता इतनी शीघ्र क्यों सूख जाती है कि हम प्यासे ही रह जाते हैं? लोकोत्तर रहस्य का महत्त्व ऐसी ही अवस्था में हमारी समक्ष में आता है और हम पावन आह्वान की ओर उत्कण्ठित हो जाते हैं, जो और कहीं भी इतनी क्षमता एव सुषमा के साथ आसमान नहीं होता-जैसा कि नवीन साक्ष्य में। प्रभात काल में मैं भय से कांपता हुआ उठता हूँ और दिन का दर्शन करके मुझे रोना आता है, क्योंकि वह अपने अनवरत चक्र में एक भी आकाक्षा को पूर्ण नहीं कर सकता। इतना ही नहीं वह आनन्द के पूर्वाभास तक को दुराग्रह द्वारा घटा देता है और क्रियाशील हृदय की उमडती हुई रचनात्मक प्रवृत्ति के मार्ग में व्यवधान उपस्थित कर विघ्न डाल देता है।

मैं तो अपना जीवन उद्दाम उद्वेग चक्र में, यन्त्रणामय उन्माद में, स्नेहपूर्ण घृणा में, स्फूर्तिदायक उपेक्षा में उत्सर्ग कर देना चाहता हूँ। ज्ञान की पिपासा से तृप्त हुआ मेरा हृदय भविष्य में किसी पीडा से पृथक् नहीं रहेगा—मानव मात्र के भागधेय को मैं अपने अन्तरतम में भोगना चाहता हूँ। महान् से महान् और क्षुद्र से क्षुद्र को मैं अपनी आत्मा द्वारा ग्रहण करना चाहता हूँ और सबके सुख दुःख को अपने अतर में राशिभूत कर लेना चाहता हूँ, ताकि मेरी आत्मा उन सबके समान विशाल होकर अन्त में उन्हीं के समान छिन्नभिन्न हो जाय।

साहसपूर्ण निर्णय सभाव्य को दृढतापूर्वक पकड लेता है, छूट कर जाने नहीं देता, तब, चूँकि सभव को करना अनिवार्य हो जाता है, वह उसको पूर्ण करके ही मानता है।"

'स्व' का विवेक होने पर अतर्निरीक्षण द्वारा यह महान् तथ्य हमारे समक्ष उभर आता है कि आत्मा क्या है। आत्माएँ तत्त्वत एक हैं तो उनमें यह वैषम्य, यह पार्थक्य और भेदभाव कैसा? यदि बाह्य उपाधियों के कारण ये भेदभाव और पार्थक्य हैं तो वस्तुत ये उपाधियाँ क्या हैं? क्या अवांछित रूप से वे आत्मा से संश्लिष्ट हो जाती हैं और जिन परिस्थितियों में उसे अपनी जञ्जीरबन्दी में आबद्ध कर लेती हैं? कैसे उनसे छुटकारा मिलना सभव है? वह कौन सी महत् शक्ति है जो उनकी मीमासा और विवशताओं के बावजूद दिशा निर्देश कर उसे आगे बढाती है? इन्हीं प्रश्नों का समाधान खोजने के लिए गटे ने इस महत् शक्ति को सम्बोधन कर लिखा

"ओ महत् शक्ति! मैंने जो कुछ पाने की तुझ से प्रार्थना की थी तूने मुझको वह सब प्रदान किया। तूने अग्नि की लपटों में अपनी आकृति का दर्शन यों ही व्यर्थ

नहीं दिया था। ओ विशाल तेजोमय प्रकृति ! तूने मुझे अनुशासन सिखाया और साथ ही उसका अनुभव एव उपभोग करने की शक्ति भी प्रदान की। तूने न केवल आश्चर्य-चकित करने वाली पहचान मात्र दी, अपितु वह शक्ति भी प्रदान की जिसके द्वारा मैं गम्भीरता को भाँप सकता हूँ और उसकी भीतरी थाह पा सकता हूँ। अगणित जीवों की पृथक्-पृथक् श्रेणियों को तू मेरे समक्ष उपस्थित करती है तथा जल, उपवन और वायु में विचरण करने वाले प्राणिवर्ग को पहचानना सिखलाती है और जब प्रभजन गरजता और कडकता है, गिरते हुए देवदारु के वृक्ष निकटवर्ती शाखाओं और वृक्ष-स्तम्भों को कुचल धराशायी कर देते हैं और उनके निपात की गहन ध्वनि गिरिकोटरों में गूँज उठती है तब तू मुझे सुरक्षित गिरिगुहा में ले जाकर मेरी आत्मा और रहस्य-मय हृदय का साक्षात्कार कराती है। तब न जाने कितने आश्चर्य उद्घाटित हो जाते हैं। जब मेरी दृष्टि के सम्मुख सौम्य चन्द्रमा का उदय होता है और वह स्निग्ध शीतल विश्रान्ति बिखेरता हुआ गगन मण्डल की ओर उत्थित होता है तो प्रत्येक कगार और सिक्त झुरमुट से अतीत की अगणित रजत-छायाएँ उठ-उठ कर मेरे चारों ओर मँडराने लगती हैं और चिंतन की निर्मम कर्कशता को मृदुता प्रदान करती हैं।

दिन के प्रकाश में भी रहस्यमयी प्रकृति अवगुण्ठन को सर्वथा निरावरण नहीं करती तथा जो कुछ स्वयमेव तेरी आत्मा पर उद्घाटित नहीं करती उसको दाँव-पेंच की सहायता से तू बलपूर्वक नहीं खोल सकता।"

वास्तव में, स्वभाव से अमूर्त होने पर भी जीव कर्मबन्ध के कारण मूर्त होने के अनवरत प्रयास में लगा रहता है। उसके विकास में अतरग चिन्तन-मनन का बडा महत्व है। किन्तु इस अतरग चिन्तन-मनन को उजागर करने के लिए उसकी सर्वप्रथम चेष्टा होनी चाहिए कि वह हर वस्तु को निर्भय और पूर्वाग्रह मुक्त भाव से देखे ताकि उसमें जो सारतत्त्व, महत्वपूर्ण और उपादेय है उसे पहचान सके। आत्मा भले ही भोगने में परतन्त्र हो, पर उपार्जन में स्वतन्त्र है अर्थात् स्वय ही वह अपने उत्थान पतन का निर्माता है। गेटे के निम्न उद्धरण में इस अतर्बोध की कितनी अद्भुत अभिव्यजना हुई है

"जो कुछ हमें विदित नहीं उसे हम जानने की आकाक्षा रखते हैं तथा जो हम जानते हैं वह किसी काम का नहीं। देखो तो सही सन्ध्या की लाली में ये हरियाली से आवृत्त भवन कैसे देदीप्यमान हो रहे हैं। सूर्य का प्रकाश विदा लेकर छिप रहा है, दिन समाप्त हो गया, यही प्रकाश अन्यत्र जाकर नवीन जीवन को स्फूर्ति प्रदान करेगा। शोक को प्रकाश के अनवरत अनुसरण के लिए पृथ्वी से ऊपर उडा देने वाले पख मुझे प्राप्त नहीं हैं। ऐसा होता तो मैं सारे जगत् को अपने चरणों के नीचे साध्य प्रकाश में निमग्न हुआ देखता। प्रत्येक पर्वत-शिखर भास्कर और सब उपत्यकाएँ प्रशान्त दृष्टिगोचर होतीं तथा प्रत्येक रजत प्रभाधारा स्वर्णकान्त महानद सी

प्रवहमान दृष्टिगत होतीं। गम्भीर गह्वरों सहित पर्वत-श्रेणियाँ मेरी दिव्यगति को न रोक पातीं। आलोक-मण्डित सागर अपने वक्ष स्थल को मेरी दृष्टि के सामने फैला देता। ऊपर अनन्त आकाश है और नीचे सागर की लहरें। कैसा मनोरम स्वप्न है, पर शोक, कि दैहिक पख मानसिक पखों के समान हल्के फुल्के नहीं हो सकते। तो भी, लवा नील गगन में गूंजने वाला गीत गाता है तब उच्च देवदारु के अमेय विस्तीर्ण में पखों वाली चील मंडराती है। जब क्रौंच शाद्वलों और सागरों को पार करता हुआ अपने नीड की ओर उडने का प्रयत्न करता है तब प्रत्येक मानव हृदय में पृथ्वी से दूर ऊँचे उड जाने की उत्कण्ठा जगा करती है।"

अतत, सर्वात्मा सच्चिदानद घन में ही समस्त ज्ञान विज्ञान, भक्ति एव दर्शन की अखण्ड साधना अव्याहत है। उससे परे है ही क्या? सचमुच वह सर्वशक्तिमान परमेश्वर ही सब कुछ है—'सर्वं खल्विद ब्रह्म' उसी से सब उत्पन्न होते हैं उसी से पुष्ट होते हैं और उसी में लौटकर समाहित हो जाते हैं। तो वह है क्या चीज? यथार्थत यह आत्मा ही ब्रह्म है! उसमें और ब्रह्म में कोई अतर नहीं। अत स्वयमेव को पहचानो। अपनी आत्मा को इतना ऊँचा उठाओ जिससे सर्वाङ्गीण रूप में उसका पूर्ण परिपाक हो सके। जब तर्क थक जाता है, लक्ष्य अस्थिर होकर डगमगाने लगता है और आत्मा में जडता का तिमिर छा जाता है तब उसी का आलोक तो भटके हुए को गतिमान करता है। अतएव हर स्थिति में परमेश्वर की अभ्यर्थना ही जीवन की सार्थकता है।

'किसमें यह साहस है कि उसका नाम ले? कौन यह घोषणा कर सकता है कि मैं उसमें विश्वास करता हूं! कौन अनुभव करने वाला यह कहने का साहस कर सकता है कि मैं उसको नहीं मानता। वह सर्वात्मा, सर्वव्यापक क्या तुझे-मुझे और स्वय अपने को घेरे हुए और धारण किए हुए नहीं है? क्या गुम्बद के सदृश आकाश हमारे ऊपर नहीं छाया हुआ है? क्या नीचे धरा स्थिर नहीं पडी है? क्या सनातन सौहार्दपूर्ण तारिकाएं हमारी ओर ताका नहीं करतीं? क्या तेरी निखिल भावनाएं हृदय और मस्तिष्क की ओर उमड कर तेरे चारों ओर सनातन प्रत्यक्ष और परोक्ष रहस्य के द्वार तानाबाना नहीं बुनती! ऐसा महान् है वह, अपने हृदय को उससे परिपूर्ण कर ले और जब तू पूर्णतया उसे आत्मसात् कर ले तो तू उसको जो नाम चाहे दे डालना, चाहे उसको ईश्वर मानना, चाहे हृदय! चाहे प्रेम, चाहे परमेश्वर! मेरे पास उसके लिए कोई नाम नहीं है। भावानुभव ही सर्वस्व है, नाम और उपाधि तो उस स्वर्गिक कान्ति को धूमिल करने वाला धुआं और नाद मात्र है।"

२०

क्रांतदर्शी टाल्सटाय

युग-जीवन का प्रेरक लिओ टाल्सटाय का नाम वास्तविक कला और जन-जीवन की महती निष्ठा और मानवतावादी भावधारा से जुड़ा है। उसकी लेखनी में निर्भीक विचारों की सर्जना के साथ-साथ विश्ववेदना की मर्मस्पर्शी कचोट को उभाड़ने वाली शक्ति सदैव निहित रही—और वास्तव में, टाल्सटाय की कृतियाँ शताब्दियों तक अमर मानवता की कल्पना-शक्ति को उजागर करने वाली स्मारक बनी रहेंगी।

टाल्सटाय की लेखनी उस समय चमकी थी, जब रूस के सामाजिक सम्बन्धों में भारी उथल-पुथल मची हुई थी। रूढ़िग्रस्त कुठाओं ने विकास के पथ को अवरुद्ध कर लिया था। इस कदर मुसीबतों और कठिनाइयों का तांता-सा लगा हुआ था कि तभी टाल्सटाय की लेखनी विश्वास की बुलन्दी में बदली और उसने जीवन का नक्शा अपने ढंग से पेश किया।

"प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन हो रहा है, केवल अपने को फिर से कायम रखने के लिए उसकी नींव सुदृढ़ बनाना है।"

दासवृत्ति के समाप्त हो जाने के पश्चात पूंजीवाद ने धीरे धीरे अपनी जड़ें मजबूत कर ली थी, लेकिन जब श्रमिक वर्ग ने नई दुनिया में अपनी आँखें खोली और एक मुक्ति आन्दोलन को जन्म दिया तो १८६१ और १९०५ के दौरान यह समय रूसी क्रान्ति और श्रमिक सुधार-आन्दोलन का था। निस्संदेह, टाल्सटाय ने अपनी कला-शक्ति की निखार से उनकी आकांक्षाओं के रथ में प्राण फूंका—उनके विचारों और भावनाओं को सबलता प्रदान की, जिनके अन्तर्दाह में दमन और विद्रोह का ऊफान कसमसा रहा था। जमींदारों, जार के कर्मचारियों और अभिजात्य वर्ग के प्रति जिनकी द्वेष भावना उग्र रूप से थी अथवा प्रतिशोध की ज्वाला जिनकी रग रग में समायी थी, उन सभी सत्रस्तों के लिए टाल्सटाय देवतुल्य सिद्ध हुआ और उसकी कला दैत्यों के सघात के साथ मानो आगे बढ़ी। टाल्सटाय के उपन्यास एवं कथा-साहित्य ने उन्नीसवीं शताब्दी के रूसी जीवन में भारी तहलका मचा दिया। उस समय जबकि पश्चिम तक में कला अपना मूल्य खो रही थी—क्योंकि जनता में सामाजिक उत्तेजना का प्रसार अधिक और समाज के प्रति दिलचस्पी कम थी, तो टाल्सटाय ने समाज से

सर्ग स्थापित करके ही एक नवीन, आयासहीन संवेदना को मुखरित किया था।

टालस्टाय की विवेकशीलता ने काव्य ग्रंथों में क्लासिकल रुझान के साथ साथ सांगोपांग सरलता और शक्ति का भी समन्वय किया। इस महान् लेखक ने रूस के पुरुष और नारी के राष्ट्रीय चरित्र का पूर्ण विश्लेषण कर उनके शताब्दियों से चले आ रहे स्वतन्त्रता-संघर्ष को चित्रित किया। न सिर्फ उनकी स्वतन्त्रता, उनकी समृद्धि और फौलाद की सी शक्ति के लिए ही उसकी लेखनी ने मार्ग प्रशस्त किया, बल्कि उस सर्वथा नवीन पथ की लीक पकड़ने का भी संकेत किया, जहाँ संघ स्थापना की पृष्ठभूमि में एक वृहद् मानववादी भावना पनप रही थी। बाद में सार्वजनिक आन्दोलन के साथ साथ उसने खूनी क्रान्ति का पृष्ठ भी खोला और समकालिक समाज के जीवन का मर्मस्पर्शी चित्रांकन प्रस्तुत किया। आधी से अधिक शताब्दी तक टालस्टाय की दृढ़ और सत्यवादी आवाज संसार भर में गूंजती रही—पूंजीवादी वर्ग की पैशाची वृत्ति के दंभ को तोड़ती हुई और उनकी आत्म अभ्युदय की ख्वाहिश या इस संहिता और तमाम 'सभ्यता' की नकाब में पाखण्ड और छल-कपट की परतों में ढकी दासता व खूंखार अनाचार का पर्दाफाश करती हुई।

टालस्टाय के विषय में प्रसिद्ध है कि यदि अन्य विद्वानों का कृतित्व जोड़ें तो उनसे दुगुना उस एक व्यक्ति ने अकेले ही लिखा। साठ वर्ष तक वह रूस में घूमता रहा, तमाम चीजों को देखते हुए—गाँवो गाँवो में, गाँवो के स्कूलों में'''जेलों और हवालातों में अपराधियों और कैदियों की कोठरियों में, कैबिनेट मंत्रियों और अधिकारियों के आमोद-स्थलों में, राज्यपालों के दफ्तरों में, किसान और मजदूरों की झोपड़ियों में, फैशनपरस्त स्त्रियों के ड्राइंग रूमों में, न जानें कहाँ कहाँ और किन किन के जीवन में झाँक कर उसने अपने अनुभवों को बटोरा। अपने उदार दृष्टिकोण और नित-नई परिस्थितियों में निरखने-परखने और उसमें से कुछ पा लेने की प्रवृत्ति के कारण उसने कितनी ही समस्याओं से सदैव संघर्ष किया।

टालस्टाय ने जो मार्ग जनता के सामने प्रशस्त किया था वह अत्यन्त कष्टप्रद था, क्योंकि उसका जीवन और कृतित्व प्रतिकूल धाराओं में बँटा हुआ पेचीदा सामाजिक उथल पुथल का परिचायक था। चलती फिरती ताजी घटनाओं ने उसका ध्यान बँटाया और इन्हीं घटनाओं के माध्यम से उसकी सारी आगामी क्रियाओं का सूत्रपात हुआ। वह महान् कलाकार, जो जन्म से ही जीवन का प्रेरक रहा, शनै-शनै, शोषित वर्ग का रक्षक और बेमेल प्रतिद्वन्द्वियों का भक्षक बना। साथ ही साथ समस्त राजकीय, सामाजिक और आर्थिक संगठनों का—जो बेसहारे निर्धन किसानों को चूसना और लूटना ही जानते थे—उनका एक उत्कट आलोचक भी बन गया। टालस्टाय ने समय की दिशा-दृष्टि को मोड़ा और तमाम परम्परागत अन्धविश्वासों को तोड़ डाला।

"मैं जीवन के दायरे को अपने में समेटने की कोशिश करता हूँ।" टालस्टाय ने अपनी एक पुस्तक 'कन्फेशन' में लिखा है। "मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि यह जीवन नहीं है, बल्कि यह जीवन की विडम्बना है और एक किस्म का तिरस्कार या

बहिष्कार है। जिन अतिवादो में हम रमे रहते है वह जीवन को समझने से हमें वंचित कर देते हैं और जीवन को समझने के लिए किसी के जीवन को अपवाद नही समझना चाहिए, क्योकि इस तरह जीवन की प्रच्छन्न चापलूसी नहीं, बल्कि उन मजदूर, निर्धन किसानो का जीवन समझना है—जो जीवन का निर्माण करने वाले हैं और जिसका अर्थ केवल उन्ही के द्वारा समझा जा सकता है।"

टाल्सटाय की जीवन की परिकल्पना इतनी विराट् थी कि वह मूलभूत भौतिक यथार्थताओं की रगड खाकर ऐसी संवेदना का संस्कार करना चाहता था जिसके वृत्त के भीतर अलग अलग संघर्ष की लीकें पहचानी जा सकें। जो भावुकता की कसौटी को ही अंतिम कहते हो अथवा तर्कों के उन सूत्रों में ही उलझे रहें जो मात्र भावाश्रित हैं तो वे जीवन की अतल गहराइयो में न पैठकर हवा में उड़ानें ही भरते रहते हैं। तात्कालिक परिस्थितियाँ या परिवृत्ति को अस्वीकार करने की कुंठा या असतोष के कारण उनमें आमूल विद्रोह या नकारात्मक आग्रह तो है पर उसका कोई समाधान नही है। यह दुराग्रह और अंतर्विरोध अन्तत भौतिक जीवन के साथ चेतना का अद्भुत और अनमिल सामंजस्य स्थापित कर सीमाओ का अतिक्रमण कर जाता है। अतएव टाल्सटाय का आक्रोश समवर्ती समस्याओ और आयोजनो के प्रति ही नही है, बल्कि समूचे जीवन-विधान के प्रति है। उनके मत में मानवी प्रवृत्तियाँ तो बोध-गम्य है, पर घटनानुक्रम तर्कातीत और विसंगत है, यही कारण है कि साहित्यकार की जिज्ञासु आत्मा मुखर हो अनेक प्रश्न करती रहती है और कितनी ही भ्रान्तियो और उलझनो से आतंकित रहने के बावजूद भी मूलत जीवन के प्रति नया दृष्टिकोण विकसित करती रहती है। अपनी डायरी म एक बार टाल्सटाय ने लिखा .

"कलाकार के लिए यह जानना अनिवार्य है कि उसे क्या कहना चाहिए। साथ ही उसे मानवी भावनाओं का भी विशुद्ध ज्ञान होना चाहिए। युग की उच्चस्तरीय संस्कृति से वह अवगत हो, किन्तु सब से महत्वपूर्ण बात तो यह है कि वह आत्मश्लाघी न हो, बल्कि जीवन में सक्रिय भाग लेने वाला हो। कारण—एक अज्ञानी या अपने तई ही सीमित व्यक्ति कभी भी एक बडा कलाकार नही बन सकता।"

लेखक की अंत शक्ति तो साहित्य में ही उजागर होती है, देखना सिर्फ यही है कि जीवन के आयामो में निजी अनुभूतियो के मिलेजुले ये यथार्थ चित्र नये सिरे से आँकने में वह कहाँ तक सफल हुआ है और इस प्रक्रिया में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से भाव-संघात और सूक्ष्म से सूक्ष्म उद्वेलनो को तात्त्विक ढग से समझने का प्रयत्न उसने किया है अथवा नही। एक बार अपनी नोटबुक में उसने लिखा :

"कलाकार का ध्येय किसी समस्या का निर्विवाद समाधान प्रस्तुत करना नही, अपितु पाठक को जीवन के अनेक पक्षो से परिचित कराना है। यदि मुझे कहा जाए कि मैं एक ऐसा उपन्यास लिखूँ जो सामाजिक समस्याओं पर मेरे व्यक्तिगत विचारो को प्रकट करे तो मैं दो घण्टे भी नही लिख सकूँगा, परन्तु यदि मुझ से यह कहा जाए कि मैं जो कुछ लिखूँगा वह आज से बीस वर्ष तक उन लोगो द्वारा पढा जाएगा जो

आज बालक हैं और वह रचना उन्हें हँसाएगी रुलाएगी तो मैं उसको लिखने में अपनी पूर्ण शक्ति और सारा जीवन लगा दूँगा '

विश्व में कलाकार जितना ही नवीन है उतना ही पुराना भी। देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार उसके विचारों में परिवर्तन तो होता रहता है, किन्तु उसके सृजन द्वारा जो सहज चिरत्व की स्थापना होती है वह अतीत, वर्तमान और भविष्य के छोरों को एक साथ जोड देती है। आत्मचेता कलाकार वर्तमान की जीर्णता को एकदम पहचान लेता है और विभिन्न स्तरों पर जो यथातथ्य है उसी को 'आधुनिकता' का पुट देकर भूत भविष्य के संदर्भ में प्रतिष्ठित करने का प्रयास करता है। एक स्थल पर

'कलाकार जो कुछ अभिव्यक्त करना चाहता है उसे पूरी तरह प्रकट करने के लिए उसके पास हुनर होना चाहिए। हुनर प्राप्त करने के लिए उसे श्रमपूर्वक काम करना चाहिए।

कलाकार को अपने हृदय की गहराइयों से लिखने के लिए अपने विषय में लगन होनी चाहिए। इसलिए उन विषयों के बारे में उसे कुछ नहीं कहना चाहिए जिसके प्रति वह उदासीन है। किन्तु जिन बातों को वह हृदय से चाहता है, उनके बारे में उसे अवश्य लिखना चाहिए।

कला की उत्पत्ति के लिए ये तीन आधारभूत आवश्यकताएँ हैं और अन्तिम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके बिना अथवा विषय की लगन के बगैर कला का कोई कार्य सम्भव नहीं।'

लेखक बनने की ख्वाहिश तो होती है, पर लेखक बनने के लिए उसे क्या साधना करनी चाहिए, चारों ओर दिशा व काल की परिधि में किस प्रकार अपने हर एक एक क्षण को चिरन्तनता में बाँध देने की उत्कण्ठा होनी चाहिए अर्थात कोई पूछे चिरन्तनता क्या?—तो वह लेखक के हृदय का विभोर व तन्मय करने वाला मन का पूर्णत्व है जिसका अणु अणु, कण कण—दिशा और काल के परे—समय व चिरन्तन प्रवाह में लय हो जाता है। अपने मित्र को लिखे एक पत्र में टाल्सटाय ने रचनाकार या लेखक के सम्बन्ध में जो उद्गार व्यक्त किये वे निम्न हैं

'मेरी समझ में प्रथमतः व्यक्ति को तब लिखना चाहिए जब उसके वे विचार, *जिन्हें वह अभिव्यक्त करना चाहता है इतने प्रबल हों कि उन्हें शब्दों का रूप दिये* बिना वह उनसे छुटकारा न पा सके।

लेखन के अन्य कारण (उदाहरणार्थ महत्त्वाकांक्षा या आर्थिक विवशता) लेखन के मुख्य कारण (अर्थात् आत्माभिव्यक्ति की अनिवार्यता) से सम्बन्धित होने हुए भी लेखन की श्रेष्ठता एवं ईमानदारी को भ्रष्ट कर देंगे। इनसे सचेष्ट रहना चाहिए।

दूसरे, वह वस्तु जिससे प्रायः हो वास्ता पड़ता है और जिसके लिए कई समकालीन लेखक भी दोषी हैं, उनकी यह कामना है कि दूसरों से भिन्न एवं मौलिक लिखा

जाए तथा पाठकों को अपनी कृति से आश्चर्यचकित कर दिया जाए। यह अधिक हानि-कारक है। " सरलता सौन्दर्य का अंग है। जो भी सरल और कलाहीन है वह अनिवार्यतः अच्छा नहीं होगा, परन्तु जो सरल नहीं है और कृत्रिम है, वह कदापि अच्छा नहीं हो सकता।

तीसरे लेखन में जल्दबाजी अपकारी है और इसके अतिरिक्त वह विचारों को प्रकट करने की सच्ची आवश्यकता से वंचित करती है, क्योंकि यदि आवश्यकता सच्ची और निष्कपट है तो लेखक अपने विचारों को अत्यधिक सरलता और सरसता से व्यक्त करने का पूरा-पूरा प्रयत्न करेगा।

चौथे, अत्यधिक पाठकों की आवश्यकताओं और रुचियों को सन्तुष्ट करने की इच्छा नहीं होनी चाहिए। यह इच्छा सृजन के महत्त्व को पूर्णतः नष्ट कर देती है। साहित्य का कोई कार्य तभी मूल्यवान होगा जब वह प्रत्यक्ष रूप से धर्ममन्त्रों की तरह उपदेश न देकर, लोगों के समक्ष नए विचार प्रस्तुत करे'''।"

चूँकि टाल्सटाय का उदय उस संक्रान्ति-युग में हुआ था जबकि यथार्थ की ह्रासोन्मुख और विनाशोन्मुख प्रवृत्तियों का द्वन्द्व चरम परिणति को पहुँच चुका था, अतएव साहित्यिक स्थापनाओं और उनके मूल्यों तक ही उसकी दृष्टि सीमित न रह कर मानव और तत्कालीन समाज पर भी केन्द्रित हुई। एक ओर अभिजात वर्ग तथा दूसरी ओर वर्गविहीन समाज का उद्भव हो रहा था। लोकतान्त्रिक प्रवृत्तियाँ जब रूस में राष्ट्रीय चरित्र के वैशिष्ट्य को रूपायित कर रही थीं तब जागृति की इस असाधारण स्पृहा ने टाल्सटाय में जनता के रागतन्तुओं को छूकर और उनके व्यापक संघर्ष की पीड़ा और वेदना में पैठकर ऐसे साहित्य-सृजन के अन्तरंग और बहिरंग द्वारा परिवर्तन लाने का प्रयास किया जिसकी जड़ें तत्त्वतः जनतन्त्र की अनुकूल भूमि में ही पोषण और संवर्द्धन प्राप्त कर रही थीं। सर्वप्रथम उसने इस बात को बड़ी ही गहराई से समझा कि यदि राष्ट्र की आत्मा स्वस्थ नहीं है अथवा वह लोगों को विपरीत दिशाओं से संघर्ष की ओर प्रेरित कर रही है तो इससे न तो नैतिक उत्थान ही संभव है और न राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए लोक-जीवन के साहसिक अभियानों की ओर ही उन्मुख हुआ जा सकता है। अतएव, शुरू में ही रूसों की विचारधारा से प्रभावित होकर उसने अपना सबसे पहला उपन्यास 'ए रशियन लैंडलार्ड' (एक रूसी जमींदार) लिखा। इसका नायक प्रिंस नेखलदोफ एक ऐसा व्यक्ति चित्रित किया गया जो असहायों, पीड़ितों और दासता के बन्धन में जकड़े गुलामों का उद्धारक था। पर जैसा कि प्रायः होता है गुलाम और किसान-वर्ग अपनी मौजूदा स्थिति के इतने अभ्यस्त और उसमें ही इतने रम गए थे कि इस बात का उन्हें किंचित् भी एहसास न था कि इस चौहद्दी, इस दासता की जकड़बन्दी से अलग हटकर भी क्या किया जा सकता है। परिणाम-स्वरूप वे अपने उद्धारक को सशय और हिकारत की नजर से देखते रहे।

वर्षों तक टाल्सटाय के विचारों में इसी प्रकार का द्वन्द्व चलता रहा। क्रिमियन युद्ध के दौरान सैनिक के रूप में भी उसका साहित्य-सृजन का क्रम यथापूर्व

चलता रहा। मानव सहार हिंसा और रक्त पिपासा हर काल और हर परिस्थिति में गर्हित है अतएव ध्वस से निर्माण की ओर प्ररित होना श्रेयस्कर है। फलत 'दि इनवेजन म उसन युद्ध के विरुद्ध अपन विचार प्रकट किय। एक साहित्यकार को विनाश के भीतर स कौनसी उपलब्धिया हो सकती हैं इसलिए बुनियादी तौर पर सकुचित दृष्टि स्वार्थ और अनाचार की भावना से पृथक जीने की कला विकसित होनी चाहिए। मानव एकता और समग्र सामाजिक प्रगति के लिए अवाछनीय तत्वो का मूलोच्छद कर भौतिक कल्याण और विश्वशान्ति की ओर अग्रसर होन के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। उन्ही दिनो की अपनी डायरी में उसन लिखा

मेरे हृदय म यह भावना प्रबल हो गई है कि मैं अपन समस्त जीवन को इस नवीन धम के लिए बलिदान कर दूँगा। यह नवीन धम अप्रतिरोध विश्वबधुत्व और विश्वशाति की ओर प्ररित करन वाला होगा।

और तभी से युद्ध के विरुद्ध विश्वव्यापी युद्ध छेडन की वैचारिक क्रान्ति न उसम सत्य और दार्शनिक बुद्धि की प्रखरता जगाई। उसके विचारो न अपन जमान पर जबदस्त छाप डाली और अपन जीवन काल में ही वह मानवता के शातिदूत के रूप म जन भावनाओ को दूर तक समेट ले गया। ज्यो-ज्यो समय बीतता गया उसके विश्वास अधिकाधिक पुष्ट होकर फलीभूत हुए। उसे देश के भावी जीवन में एक महान परिवतन का पूर्वाभास हो गया था। अत उसकी यह जागरूकता ही उसकी धारणाओ को नित नय विकास की सीढियाँ चढते हुए इतनी दूर तक ले गई जहा खीचतान और कशमकश से परे नय शिल्प और नई कथन भगिमा को उभार कर उसन सामन रखा। क्षणवाद लघु मानववाद और अन्तर मनोवृत्तिया किसी हद तक क्षम्य मान ली जाय किंतु वे अधिकाधिक गहरी जड जमाकर हमारे जीवन की उत्फुल्लता को काहिली उदासीनता और सडा-गली उकताहट की मनहूसियत में न समो द—यह देखना है। दरअसल सच्चे कलाकार की खूबी है कि इस ऊब और उदासी म भी अमर विश्वास के स्पदनो का उम आभास मिलता रहे।

स्वय लनिन न टालस्टाय को एक सच्चे कलाकार के रूप में देखा जिसन सहृदयता से प्रताडित और शोषित मजदूर वग की आत्माओ का सजीव चित्रण किया। लनिन न टालस्टाय पर अनक लेख लिख।

लनिन न एक स्थल पर कहा है— टालस्टाय बडा था बहुत बडा। उसन उन ऐसे विचारो और भावो को प्रस्तुत किया है जो करोडो रूसी किसानो में जम चुके थे वे भी उस समय जबकि अभिजात वग्र दासत्व रूप में अपन पूरे जोरो पर था।

टालस्टाय की डायरी का एक पृष्ठ जो अक्तूबर १६०५ में लिखा गया था वर्ष भर के रूसी आन्दोलन की घटनाओ का विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

'म इन लाखो-करोडो के बीच म से देखता हूँ' टालस्टाय न १९१० में अपन एक पत्र म लिखा। इन लाखो करोडो की ओर से और इन्ही का पक्ष लेते हुए टालस्टाय न धनी वग की अत्यत कटु आलोचना की। अभिजात्य 'सभ्यता अथवा कला

की अवनति को टालसटाय ने दफनाने की कोशिश की—उनका नामोनिशां तक न रहने देने का संकल्प किया । टालसटाय की कला शक्ति ही उसकी असाधारण क्षमता थी जो व्यापक सद्भाव में अधिकाधिक परिणत होती गई ।

किन्तु आलोचकों ने उसकी कटु आलोचनाएँ कीं—'लम्बा सांप जो हर दूध के कलश में जहर उगलता है ।' 'सभ्य संसार की कचोटती आवाज,' 'जीवन का हत्यारा' । चूँकि उनके सामने ऐसे जीवन की समस्या का समाधान नहीं था, इसीलिए उन्होंने उसको दुत्कार दिया—उसके समाजवादी और प्रजातन्त्रवादी सैद्धान्तिक मत-वादों पर कीचड उछाली । उन्होंने लेखक की दृष्टि से की गई उसकी समस्त व्याख्याओं का खंडन किया और उसे एक क्रिश्चियन राज्य का संहारक और घोर विप्लववादी घोषित किया । किन्तु एक ऐसा वर्ग भी था जो उसके प्रति उतना ही उत्कट आस्था-वान और श्रद्धालु भी था । उन्होंने टालसटाय की अमर रचनाओं का स्वागत किया, *'वार एण्ड पीस', 'अन्ना करेनिना,' 'रिसरेक्शन', 'द डेथ आफ इवान इल्चि'* आदि यथार्थ-वादी कला की इन बेजोड़ कृतियों की भूरि भूरि प्रशंसा की ।

पश्चिमी कला-गुरु बालजाक और डिकेन्स से जोला तक ने पूँजीवादी समाज के केवल धुँधले और छिछले रूप को ही प्रस्तुत किया था । उन्होंने जो कुछ किया उसमें पूँजीवाद का विरोध, विलासिता और साथ ही दरिद्रता का अत्युक्तिपूर्ण विवेचन, लोलुपता, मूर्खता, कठमुल्लापन इत्यादि को ही बेहद *महत्त्व दिया गया था* । पर इसके बावजूद उनमें जीवन के कसमसाते दृश्यावन और उद्दाम जीवन चित्र न थे ।

किन्तु टालसटाय इस मनोविज्ञान का गम्भीर द्रष्टा था । कारण—उसकी यथार्थ-वादी कला ने सामाजिक तनाव पर नग्न प्रहार किया था और उसी से लोगों में एक दुर्जेय श्रद्धा का फूल खिला । टालसटाय की दृष्टि में—"उसकी तह तक असंगत रूढिवादी अवनत *कला बिल्कुल जड से मिट चुकेगी । यह अभिजात्य सभ्यता और सामन्तवादी प्रथाएँ* भविष्य के लिए जहर के बीज बोयेंगी जो लोगों की रुचि का ह्रास करेंगी और मानवता का ग्रास करेंगी ।"

टालस्टाय के विषय में रोम्याँ रोलाँ का अभिमत था कि—

"यूरोप में इससे पूर्व ऐसी बुलन्द आवाज़ कभी नहीं गूँजी । टालसटाय की कृतियों की प्रशंसा कर देना ही काफी नहीं है, क्योंकि यह तो हमारा कर्तव्य ही है । सबसे बड़ी बात—उसमें ऐसी जिन्दादिली थी जिसके धड़कते स्पन्दनों ने हमें प्रभावित किया । उसकी समाज-सुधार की दृढ़ प्रतिज्ञा हम सदैव एक मशाल लेकर आगे बढ़ायेंगी ।"

टालसटाय ने अपनी कृतियों को इस भावभूमि पर उतारा है

"साहित्यकार का लक्ष्य केवल मिथ्या परिकल्पनाओं और बौद्धिक विनोद के उपकरण जुटाना नहीं है । वस्तुतः जीवन और कला का अटूट सम्बन्ध है । यदि कला जीवन, समाज और संस्कृति से संश्लिष्ट होकर आगे नहीं बढ़ेगी, तो वह मिट जाएगी । कला किन्हीं बूझे-अनबूझे पूर्वाग्रहों के पीछे चलने वाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके

आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है । जीवन की कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें स्वस्थ चिंतन हो स्वातन्त्र्य का पोषक भाव हो, सौन्दर्य का सार हो सृजन की आत्मा हो जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो—जो जीवन में गति दे, संघर्ष, बेचैनी व प्रतिक्रिया उत्पन्न करे, हमें पस्त न करे, अपितु जागरूक बनावे। कला के अलग अलग मानदण्डों का व्यवहार किया जा सकता है किन्तु उनके द्वारा कला और लोक-जीवन में ऐसी निकटता और सामीप्य लाया जा सकता है जिससे कला को तो संवर्द्धन प्राप्त हो और साथ ही लोक जीवन भी समृद्ध होता चला जाए। साहित्य में हमारी आत्माओं को जगाने की, हमारी मानवता का सचेत करने की, हमारी रसिकता का तृप्त करने की शक्ति होनी चाहिए। वाल स्ट्रीट के साहित्यिक विशेषज्ञों ने 'रूसी' षड्यन्त्र-कारियों से मिलकर इस लेखक की रचनाओं को अश्लील व अशुद्ध साबित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने टाल्सटाय की क्षमता का गलत रूप से पेश किया, उनकी कला-दक्षता को मिथ्या और ढकोसला बताया और पूँजीवाद, समाजवादी प्रवृत्ति की खिलाफत को कल्पित और बकवास समझा। उनका कहना है कि संसार जिसे मानव-जीवन का चितेरा और जिसकी सबल लेखनी को पूँजीवाद का संहारक बताती है, वह उतना अधिक खरी कसौटी पर नहीं उतरता, वह तो केवल संगठित सरकार की ख्याली उड़ानों में ही तैरना जानता है।

अमेरिका के प्रतिक्रियावादी आलोचकों ने न केवल टाल्सटाय की निन्दा की वरन् अपने हिमायतियों के पुछल्ले बन उनके अविस्मरणीय उपन्यासों तक को 'जीवन का अवास्तविक मूल्यांकन' करार दिया। 'वार एण्ड पीस' का रचयिता उनके लिए उस उच्छृंखल नागरिक के अतिरिक्त कुछ नहीं था, जिसने एक पारिवारिक वंशावली को सभ्य लोगों के पढ़ने का मनोरंजन मात्र बना दिया था। अगर इन आलोचकों पर विश्वास किया जाय तो टाल्सटाय के उपन्यास ज़ारी अदालत और *अवास्तविक घटनाओं के अतिरिक्त कुछ नहीं और न ही १८१२ के स्वदेश युद्ध के* दृढ़ प्रतिज्ञ मनुष्यों के चित्रण—जिनके बलिदान ने 'वार एण्ड पीस के पृष्ठ रंगे थे।

किन्तु शनैः शनैः विरोधी पक्ष का आक्रोश भी थमा और कभी कभार इन *कीचड़ उछाल समीक्षाओं में उठाए गए अनेक भुरे प्रश्न ही उसकी जागरूक और सजग* प्रतिभा के प्रमाण बन कर प्रकट हुए।

१८१२ के युद्ध पर टालसटाय ने हमें एक अभूतपूर्व मसाला दिया है। नेपो-*लियन की सेनाएँ प्लेटन केरेटेस से पराजित नहीं हुई थी, बल्कि रूसी सेना से पराजित* हुई थी जिसके लड़ाकू सैनिक यूरोप भर में अद्वितीय थे, जिन्हें निर्भीक साथियों और रूसी जनता द्वारा दुगुनी सहायता और जोश मिला।

जैसा कि लेखक ने स्वयं कहा है कि 'वार एण्ड पीस' के विचार जनता से उसे मिले हैं। टालसटाय का कहना है—'१८१२ का युद्ध मातृभूमि के लिए जीवन और मृत्यु की खुली चुनौती था। वह संघर्ष था—रूसी हृदयों का। तमाम रूसी पुरुष और

नारी में एक भावना जकड़ चुकी थी कि उन्हें फ्रांसीसी सेना को रूस से खदेड़ना है और उन्हें सदा के लिए खत्म करना है।"

लोगों की महत्वाकांक्षाओं और स्वदेश प्रेम को उसने फील्ड-मार्शल कुटुज़ाव में चित्रित किया है। वह एक महान् सिपाही था जो सैनिकों के सदैव समीप था, लोग उसे समझते थे और वह लोगों को समझता था। उसकी तीक्ष्ण बुद्धि, शान्तिप्रियता और स्वाभिमान भरी मनोवृत्ति में रूसी राष्ट्रीय चरित्र का सच्चा चित्र झाँकता है।

इनके अतिरिक्त ऐसे कितने ही पात्र हैं जिनमें सभी प्रकार के चेहरे सामने आते हैं और जिनके व्यक्तित्व, भाव भंगिमाएँ और मन स्थितियों के चित्रण में बड़ी ही सजीव व प्राणवान कलात्मकता बरती गई है।

झूठे अपवाद की लीक पकड़ कर इतिहास का पात्र बनना असम्भव है। टाल्सटाय जब कुटुज़ाव को जीवन की घटनाओं का निष्क्रिय द्रष्टा बतलाता है, तो वहाँ वह ऐतिहासिक तथ्य से भटक जाता है। पर तब भी कलाकार के जीवन का प्रत्यक्ष विश्लेषण इन गलत धारणाओं को धो देता है। इस प्रकार युद्ध के विषम क्षणों में हम कुटुज़ोव का एक महान् सैनिक के रूप में देखते हैं, जिसमें आत्मशक्ति और संकल्प का ज्वालामुखी उफान है, जोश है, साथ ही जो एक कुशल योद्धा और राजनीतिज्ञ भी है।

उनके दूसरे विश्व-प्रसिद्ध उपन्यास, 'अन्ना करेनिना' में टाल्सटाय ने अपनी अप्रतिम कलात्मक प्रतिभा द्वारा उन समस्त दकियानूसी सामाजिक रूढ़ियों पर पदाघात किया है जिन्होंने कि उस समय जीवन के तमाम स्वस्थ और सबल हिस्सा को अपनी मनहूस छाया से ढक लिया था। अभिजात्य-वर्ग और धनी-वर्ग राज्य के टुकड़ों पर पलता था। खुशामद, चापलूसी, स्वार्थ और भोग-विलास का बोलबाला था। पारिवारिक और सामाजिक नैतिकता कतई नष्ट हो चुकी थी। समाज का वह भाग जो नितान्त खोखला और पंगु हो चुका था, उन पर टाल्सटाय ने अपनी लेखनी द्वारा करारी चोट की।

उक्त उपन्यास की नायिका अन्ना करेनिना—अत्यन्त आकर्षक और महिमामयी नारी—किन्तु जो अपनी आसपास की परिस्थितियों और वातावरण से बँध कर कहीं स्नायविक तनाव और मनोवेगों की उत्तेजित अवस्था में तो कहीं नितान्त निरीह और विवश हो उठी है, और जिसके जीवन का अन्त बड़ा ही कारुणिक और दिल दहलाने वाला है। कारण—उसमें संवेदना और अनुभूति इतनी तीखी है कि तिलमिला देती है। अनेक स्थलों पर यह तिलमिलाहट और जुगुप्सा घावों की खरोंच सी इतनी दर्दीली और आघातिक साबित होती है कि वह उन समस्त मिथ्याडम्बर और ढकोसलेबाज़ी को सहन नहीं कर सकती जो तात्कालिक जीवन को घेरे थे। यहाँ तक कि सामाजिक औपचारिकताओं के बंधन से भी वह त्रस्त हो उठी है। उक्त उपन्यास लिखते समय लेखक में जो स्वयं अन्तर्द्वन्द्व चल रहा था उसकी परिणति अन्ना के चरित्र में मूर्त हुई। कटुताओं की चोट खाकर उसकी

कलम ने ऐसी विद्रोहिणी नारी का व्यक्तित्व आंका जो साहस पूर्वक जिन्दा रही, प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझी और हारी नही, चाहे टूट-फूट गई। पति से सम्बन्ध विच्छेद और अन्त में उसकी मृत्यु उस समाज को खुली चुनौती है जो सच्चे मानवीय भावों का खुलेआम गला घोटते हैं।

मृत्यु के समय स्वयं अन्ना के हृदय के तार भी सहसा झनझना उठे थे जिसे गहरा सदमा और बुझी तमन्नाओ की कलौंच ने जग चढा दिया था। उसके हृदय की गहराइयो में जो प्रेम का सोता फूट पडा था और जिस सुहाने सपने में वह खो भी गई थी और अपने अस्तित्व को विस्मृत कर बैठी थी वहाँ पहुँचकर उसे लगा कि उसमें पग पग पर चटियल चट्टानें भी हैं और अधकार में डूबी खाइयाँ भी।

दरअसल जीवन में अनेक दारुण आघात सह कर लेखक उत्पीडित को उदार करणा देने में समर्थ हुआ है। करुण पहलू अर्थात् दूसरो के दुख-दर्द को बडी ही पैनी दृष्टि से टटोलना, साथ ही ऐसे प्रसगो में आत्मा की समूची गहराई उँडेल देना उस मनोवैज्ञानिक स ग का उद्घाटन करता है जिसके बिना कोई भी कला महान् नही होती। अकथनीय ग्लानि और भग्नाशा के इस दुहरे भाव की प्रतिक्रिया में एक साथ उमडती और सिमटती रेखाएँ स्थायी मानव समस्याओ के सम्पूर्ण और सच्चे चित्र उभारने की क्षमता रखती है।

टालस्टाय की लेखनी की अद्वितीय ताक्त अवश्य ही अन्ना के जीवन के अन्तिम दिन में बहुत अधिक उग्र रूप कचोट खाकर तिलमिला देती है। जब वह अपनी बग्घी पर राजधानी की सडकों से घूमती है और भूतकाल के भूले-बिसरे चित्र उसके सामने से गुजरने लगते हैं, तब वह एक बदलते हुए तान्त्रिक सम्मोहन के वशीभूत हो जाती है और कहती है—"यह सब नीचता है। व गिरजाघर में घटे बजा रहे हैं और वह व्यापारी कितनी सावधानी से व्यापार कर रहा है, मानो उसे कुछ खो जाने का डर हो। ये गिरजाघर क्यो है, यह घटा क्यो है और यह क्यो धोखा है, दगा है? क्या केवल इसलिए कि हम तथ्य को छुपा दें जिससे हम सब आपस में एक दूसरे से घृणा करें। कैसे ये मोटर ड्राइवर आपस में खुलेआम गन्दी गालियाँ बक रहे हैं। यह सब मायाजाल है, दगाबाज़ी है, मिथ्या है, षडयन्त्र है—नीचता है।" उपन्यास की नायिका की मानवीय सुख की खोज और उसकी कारुणिक मृत्यु पाठक की हृदय-तन्त्रियो को झकझोर देती है।

टालस्टाय का तीसरा प्रमुख उपन्यास 'रिसरेक्शन' है। उसमें निर्दयी अभिजात्य जमींदारी प्रथा का मर्मस्पर्शी चित्रावन है। "यहाँ टालस्टाय ने"—लेनिन के शब्दों में—"सबसे अधिक यथार्थ उँडेल झूठे नक़ाब को खोला है।"

कला के बारे में टालस्टाय के विचार हैं कि कला लोगो को प्राप्य होनी चाहिए। अपने प्रसिद्ध लेख 'कला क्या है?' में उसने लिखा—"जैसे ही ऊपरी दर्जे की कला को विकास से हटकर कोई कला की अवनति की ओर अग्रसर होने लगता

है, तो मानो उसके लिए कला का सच्चा अर्थ खोजना है। क्या कोई भी कला जन-साधारण के जीवन-स्पन्दन से शून्य रहकर सच्ची कला है? क्या वह कला की गणना अन्ना के चारित्रिक द्वन्द्व द्वारा की जा सकती है?"

एक अन्य स्थल पर उसने लिखा, "कला में मुख्य चीज होनी चाहिए कि वह कुछ मौलिक कहे, कुछ नवीन वस्तु प्रकट करे। यही महान् कलाकारों में एक होड पैदा करती है या नवीन भावनाओं को उत्तेजित करती है। टाल्स्टाय का घरेलू जीवन शांतिपूर्ण न था, क्योंकि कला-साधना ने उसकी भावनाओं को इतना उदार और संवेदनशील बना दिया था कि उसकी व्यावहारिक पत्नी उन्हें बर्दाश्त न कर पाती थी। दुनियादार पति के रूप में टाल्सटाय उतना सफल न हो सका, फलतः दोनों में आपसी झडप होती रहती थी।

पर साहित्य-क्षेत्र में वह एक अविश्रान्त खोजी था। रूसी साहित्य की क्लासिक परम्परा के महत्त्व को आँकते हुए उसने उसकी मौलिकता, विचार-गाम्भीर्य और कला-त्मक ताजगी को बनाए रखने पर जोर दिया है, चूंकि वह स्वयं भी अपनी लम्बी साहित्य-साधना में इन्हीं चीजों का कायल था। गोर्की ने लिखा है—"टाल्सटाय ने सच-मुच वह दिया जो बेजोड था, जिसकी कहीं तुलना नहीं। एक समूची शताब्दी के अनुभवों को उसने अपने शब्दों में गूँथ दिया और वह भी आश्चर्यजनक सचाई, शक्ति और सौंदर्य के साथ।"

कुछ पाश्चात्य कवियों की ग्राम्य सामाजिकता

उच्चस्तरीय काव्य जीवन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों को आत्मसात कर ...
और उदात्त भावना की संस्थिति का निरूपण करता है पर इससे पृथक कुछ ऐसा भी सृजन है जो रात दिन के अनुभूत प्रयोगों और नित्य प्रति आँखों से गुज़रने वाली घटनाओं और अगणित समस्याओं में से वस्तुनिष्ठता को ग्रहण कर उसके सम्मोदय का दर्शन कराता है। ऐसी कविताओं में लोक संवेद्य उपकरणों के बीच हृदय की सच्ची अनुभूतियाँ तरंगित होकर प्रवहमान रहती हैं। समाज के जीते जागते दृश्यचित्र ऐसे पद्यों में जमे तरते रहते हैं और परिस्थिति, पात्र एवं प्रसंगानुरूप व्यापक अनुभूतियों के संयोजन से प्रभावोत्पादकता उत्पन्न करते हैं। कवि का अंतर्मन लोकमानस की चिन्ताधारा से जुड़कर एक विशेष सजीवता और सुसम्पन्नता संजोता है जो जन मन को तुष्ट करने वाले ज्ञान वैभव के अमृत कणों को छलकाता है।

यहाँ कतिपय पाश्चात्य कवियों की अनूदित कविताओं में लोक संस्कृति के उपादानों की स्वीकृति और उनका निर्वाह केवल रूढ़ अर्थों में ही नहीं हुआ अपितु उनमें ताज़गी, भाव-गाम्भीर्य और प्रयोजन की सच्चाई है। जीवन की अनगिन दैनंदिन घटनाओं में से कुछ ऐसे व्यावहारिक नुक्तों को चुना गया है जो सीधे मन और प्राणों को छूते हैं।

सब सामान्य काव्य की विशेषता है कि कवि अपने विशिष्ट व्यक्तिगत और इधर उधर बिखरे अनुभवों को इतना सबद्ध और व्यापक बनाकर प्रस्तुत करे कि जिससे उसकी तह तक पहुँचा जा सके। विभिन्न और बहुविध स्तर की चीज़ों के बावजूद इस प्रकार का सम्पूर्णाभास सृजनात्मक संभावनाओं को अधिकाधिक विकसित करता है। कला-सृजन की दो मुख्य कसौटियाँ हैं—एक सैद्धान्तिक चेतना और दूसरी व्यावहारिक चेतना। मनोवैज्ञानिक व सैद्धान्तिक विवेचन आन्तरिक संघात का निष्कर्ष है पर व्यावहारिक चेतना की अनुभूति किस प्रकार सामान्य अनुभूति के साथ एक सतह पर खड़ी की जा सकती है और उससे मानवीय भावनाओं का कैसे तादात्म्य किया जा सकता है—यह देखना है। दरअसल ऐसी अव्याहत कला ही उस वैचारिक संस्कृति को जन्म देती है जिसकी पृष्ठभूमि में एक परम्परा और दर्शन का निवास होता है तथा कुछ विशिष्ट लोकादर्शों की प्राप्ति के लिए वस्तुस्थिति की सापेक्षता और सत्य

की शक्ति पर अधिक निर्भर करती है।

इंग्लैण्ड के रोमांटिक कवियों में प्रकृति उपासक महाकवि वर्डसवर्थ प्राय इसी विचारधारा का हामी है। अपने व्यक्तिगत जीवन में शिव-अशिव, सुन्दर-असुन्दर, सत्य-असत्य जो मिला उसी की चरम अनुभूति और द्वंद्व उनके काव्य में प्रकट हुआ। प्रस्तुत कविता 'हार्ट लीप वेल' में घोडे जैसे निरीह जीव की मृत्यु ने कवि को द्रवित कर दिया है और उसकी करुण संवेदना प्राणों के स्वर में डूबकर प्रकट हुई है।

"रिचमाण्ड से ब्राक्करिज जाने वाली सडक के समीप, यार्कशायर में, रिचमाण्ड से लगभग पाँच मील की दूरी पर हार्ट-लीप-वेल नाम का एक छोटा सा जल-स्रोत है। इसका नाम एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण घुडदौड की घटना के आधार पर रखा गया था, जिसकी स्मृति निम्न लिखित कविता के दूसरे भाग में वर्णित स्मारकों द्वारा सुरक्षित है। ये स्मृति-चिह्न अभी तक अवशिष्ट हैं, जिनका मैंने प्रस्तुत कविता में उल्लेख किया है।

वेन्जले के निर्जन मैदान को पार कर वह शूरवीर ग्रीष्म ऋतु के बादलों की-सी धीमी चाल से आगे बढा और एक सेवक के द्वार के समीप रुक-कर उसने उच्च स्वर में आदेश दिया—"दूसरा घोडा लाओ।" तत्क्षण ही सेवक सर्वोत्कृष्ट, द्रुतगामी, सुन्दर, सुदृढ घोडे को सुसज्जित करके ले आया। सर वाल्टर उस पर सवार हो गये। वह दिन उनके लिए अत्यन्त शुभ था, क्योंकि वे दो बार विजयी होकर तीसरी बार इस घोडे पर सवार हो रहे थे।

उत्साही घोडे के नेत्रों से उल्लास उमडा पडता था। घोडा और घुड-सवार दोनों की जोडी अत्यन्त सुन्दर थी। यद्यपि सर वाल्टर पक्षी की भाँति द्रुतवेग से दौड रहे थे, तथापि वातावरण में एक विषाद-मयी निःस्तब्धता छाई हुई थी। सर वाल्टर के इस्तस्तत खडी हुई भीड ने उनका स्वागत किया और ज्योंही उन्होंने एड लगाई, चारों दिशाएँ जयघोष से गूँज उठीं। अश्व और सवार शीघ्र ही दृष्टि से ओझल हो गये। यह दौड असामान्य और बेजोड थी।

तीव्र वायु की भाँति अशान्त सर वाल्टर ने, दौड से श्रमित, कुछ अवशिष्ट कुत्तों को अपने साथ दौडाने के लिए आमन्त्रित किया। स्वामी के आदेशानुसार ब्लाच, स्विफ्ट और म्यूज़िक नामक सर्वोत्तम कुत्तों ने उनका अनुसरण किया और वे एक बहुत ही दुर्गम पथ पर चढने का प्रयास करने लगे।

सर वाल्टर, प्रशंसा सूचक संकेतों और कठिन आदेशों द्वारा, उन्हें बार-बार प्रोत्साहित करते रहे, किंतु भीषण चढाई की मार ने उन्हें

निर्जीव कर दिया था। अत्यन्त परिश्रम के कारण उनका श्वास घुटा जा रहा था और आख निकली पड रही थी। अन्त म वे कुत्त माग म निश्चेष्ट होकर गिर पड। वह जयघोष करती हुई भीड अब कहाँ थी? उसका कोलाहल तो बहुत पहले ही शान्त हो गया था। आनन्द के बाज जो इस दौड का स्वागत कर रहे थ बहुत पीछ छूट चुके थ। सर वाल्टर और उनका हाट घोडा*—य ही दोनो अकेल दौड रहे थ। यह दौड पृथ्वी की सी नही वरन स्वर्गीय सी प्रतीत हो रही थी। बचारा हाट अत्यन्त कष्ट से पवत पर चढा। वह कितनी दूर तक दौडा इसका विवरण देने के लिए मैं यहाँ नहीं रुकूँगा प्रत्युत उसकी हृदय विदारक मृत्यु की घटना का ही उल्लेख करूँगा। सर वाल्टर के सम्मुख उनका वीर अश्व दीन हीन असहायावस्था म मरा हुआ पडा था।

वे मृत घोड से उतर कर एक झाडी के सहारे बैठ गय थ। कुत्ता मनुष्य अथवा परिचारक कोई भी उनके साथ नही था। इस निजन स्थान म उन्होंने विजयसूचक शब्द अथवा वाद्य ध्वनि करना आवश्यक नहीं समझा। वे हर्ष से गदगद हो चुपचाप उस घोड के मृत शरीर को देखते रहे।

उस झाडी के समीप जहाँ सर वाल्टर बैठ थ विजय प्रदान करान वाला वह मूक प्राणी निर्जीव पडा था। उस के मुख से सफेद झाग निकल रहे थ। उसके नासिका रध्र पहाडी के नीचे बहने हुए स्रोत के जल को स्पश कर रहे थ। उसके अन्तिम गहरे श्वास के साथ जो जल-कण उड कर आ गय थ वे अभी तक वायु में प्रकम्पित हो रहे थ।

घोड का मृत्यु का दृश्य अपूव था। सर वाल्टर आनन्दातिरेक के कारण बहुत देर तक स्थिर न बैठ सके। वे सोचने लगे—क्या मनुष्य का भाग्य इतना उज्ज्वल भी हो सकता है? उन्हें अलौकिक अपरिमित आनन्द की अनुभूति हो रही थी। व प्रफुल्ल चित्त चारो तरफ घूम घूम कर उस स्थान का निरीक्षण कर रहे थ।

कुछ दूर पहाडी पर चढकर सर वाल्टर ने अनक वन्य पशुओं के पैरों के चिह्न घास पर देख। मुख पर से स्वेद-कणों को पोछकर उन्होंन

* (हाट उस घोड का नाम है जिस पर सवार होकर सर वाल्टर न दौड में विजय पाई था। स्वामी भक्त हाट न अपने स्वामी को विजयी बनाने क प्रयत्न में अपने प्राणों की बलि द दी। हाट का यह बलिदान इस कविता की मूल प्रेरणा है।)

स्वय ही कहना आरम्भ किया, "अभी तक जीवित मनुष्य के नेत्रों ने ऐसा आश्चर्यजनक दृश्य कभी नही देखा। यह बहादुर घोडा तीन ही छलाँगो मे पर्वत-शिखर से उस जल-स्रोत तक पहुँच गया।

"इस स्थान पर मै सुन्दर आनन्द-भवन बनवाऊँगा और प्राकृतिक शोभा के लिए एक निकुज भी तैयार करवाऊँगा। यह यात्रियो का विश्राम स्थल और श्रान्त पथिको का आश्रयदाता होगा। लजीली कुमारियाँ यहाँ आकर अपने प्रमियो के साथ सुख मे विहार करेंगी।

"इस घाटी के स्रोत के समीप किसी कुशल कलाकार द्वारा सुन्दर जलाशय का निर्माण कराऊँगा। अश्व की पुनीत स्मृति में यह रमणीक स्थान 'हार्ट लीप-वेल' के नाम से प्रसिद्ध होगा।

"ओ प्यारे बहादुर घोडे! तेरी वीरता की प्रशसा में और भी स्मारक खडे किये जायेंगे। जिस भूमि के गर्भ में तेरे चरण समा गये हैं, वहीं तीन प्रस्तर स्तम्भो का निर्माण कराया जायेगा।

"ग्रीष्म ऋतु के लम्बे असह्य उष्ण दिनो मे अपनी प्रेयसी के साथ यहाँ आऊँगा। अनेक कुशल नर्तकियाँ तथा गायिकाएँ हमारे आनन्दोत्सव में भाग लेंगी।

"जब तक पर्वत की नींव स्थिर रहगी तब तक मेरा आनन्द-भवन और निकुज भी स्थिर रहेगा। यहाँ का मनोरम दृश्य सदैव इन खेतो में काम करने वाले तथा यहाँ रहने वाले मनुष्यो को मनोरजन प्रदान करेगा।"

ऐसा निश्चय करके सर वाल्टर ने अपने घर की ओर प्रस्थान किया। हार्ट के शव को वे वहीं छोड गये। उसके श्वास रहित नासिका-रन्ध्र अभी तक जल का स्पर्श कर रहे थे।

सर वाल्टर ने शीघ्र ही अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की और उसकी प्रसिद्धि चारो ओर फैल गयी।

तीन मास के पश्चात् ही तीन सुदृढ प्रस्तर-स्तम्भ खडे करा दिये गए और घाटी में एक आनन्द-भवन का निर्माण भी कराया गया।

जलाशय के समीप ही सुगन्धित पुष्प-लताएँ और वृक्षावली सुशोभित होने लगी। उस रमणीक स्थान में वृक्षो की सघन छाया अत्यन्त ही मनोरम प्रतीत होती थी जो धूप एवं आँधी से सदैव सुरक्षित थी।

गर्मी के लम्बे, असह्य उष्ण दिनों में सर वाल्टर अपनी चकित प्रेयसी के साथ उस मनोरम निकुञ्ज में जाते थे और अनेक नर्तकियों तथा गायिकाओं के नृत्य संगीतादि से अपना आमोद-प्रमोद करते थे।

यथा समय सर वाल्टर की मृत्यु हुई और उनका मृत शरीर उनके पूर्वजों के समाधि स्थान में दफ़ना दिया गया। किन्तु यह सब बतलाना हमारा उद्देश्य नहीं। अपने आशय को स्पष्ट करने के लिये हमें कुछ और भी कहना है।

आश्चर्यजनक कहानियाँ किस्से लिखना मेरा व्यवसाय नहीं, और न मैं इस कला से परिचित ही हूँ। मननशील व्यक्तियों के लिये अवकाश के समय कुछ चिन्तन का विषय प्रस्तुत करने में ही मुझे सुख प्राप्त होता है।

एक बार, जब कि मैं हाज़ से रिचमाण्ड जा रहा था, मैंने मार्ग में एक लम्बी घाटी की चौकोर भूमि के तीनों कोनों पर तीन सूखे हुए जंगली वृक्ष देखे और एक वृक्ष लगभग चार गज की दूरी पर कुएँ के समीप देखा।

इन वृक्षों का क्या अभिप्राय है—यह जानने के लिये कौतूहलवश मैं घोड़े पर से उतर गया और तभी मैंने एक पंक्ति में खड़े तीन पत्थर के खंभों को भी देखा, जिनमें से अन्तिम खंभा अँधेरी पहाड़ी के शिखर पर स्थित था।

वे वृक्ष बिल्कुल सूख गये थे। उनमें पत्ते नहीं थे, शाखाएँ भी नहीं थीं। उस चौकोर टीले की हरियाली सर्वथा नष्ट हो चुकी थी, किन्तु यह सब देखकर अनुमान लगाया जा सकता था कि विगत काल में यहाँ मनुष्य भी कभी रहते होंगे।

मैंने पहाड़ी के चारों ओर बहुत ध्यान पूर्वक देखा। ऐसा भयानक और निर्जन स्थान मैंने पहले कभी नहीं देखा था। प्रतीत होता था कि वसन्त का आगमन यहाँ होता ही नहीं और प्रकृति सदैव यहाँ रोती रहती है।

मैं यहाँ बहुविध भावों और विचारों में खोया हुआ खड़ा था। उस समय एक ग्वाला आता हुआ दिखाई दिया। मैंने उसे पुकारा और उस स्थान के बारे में पूछा।

वह व्यक्ति रुका और उसने वह कहानी बतलाई, जिसका उल्लेख मैं अपनी पूर्वोक्त कविता में कर चुका हूँ। उसने कहा—'गुज़रे-ज़माने

में यह एक बहुत सुन्दर स्थान था, किन्तु अब इसमें सर्वनाश निवास करता है। यह अभिशप्त स्थान है।

"आप इन शुष्क, निर्जीव वृक्षों को देख रहे हैं। ये पहले बहुत सुन्दर, हरे-भरे, सुगन्धित पुष्पों से आच्छादित निकुंज के वृक्ष थे। यहाँ एक सुन्दर भवन था, जिसके समक्ष सैकड़ों राजमहल भी हेय थे।

"यह निकुंज अपनी दुर्दशा का स्वयं ही दिग्दर्शन करा रहा है। पत्थरों, जलाशय और स्रोत की स्थिति भी आप देख रहे हैं और वह विशाल आनन्द-भवन तो अब उजड़े हुए स्वप्न की भाँति हो गया है, जिसका आभास बहुत अनुसंधान करने पर भी नहीं मिलता।

"इस जलाशय के जल को कुत्ता, बैल, घोड़ा, भेड़ कोई भी पशु स्पर्श नहीं करता। अर्द्धरात्रि में जबकि सब गहरी नींद सो जाते हैं, तब प्रायः इस जल में से अत्यन्त करुण और दुःखभरी आहें व सिसकियाँ सुन पड़ती हैं।

"कोई कहता है,—यहाँ खून हुआ है और रक्त, रक्त का प्रतिकार चाहता है। किंतु मैंने अनेक बार शान्त भाव से बैठकर इस पर मनन किया है कि ये करुण आहें उस अभागे हार्ट के लिए ही हैं।

"महाशय! आप अनुमान कर सकते हैं कि पहाड़ी के उच्च शिखर से निम्नतर प्रदेश में कूदते समय हार्ट के मस्तिष्क में कैसे भीषण विचार उठे होंगे और अन्ततः उसकी तीसरी छलाँग, जो अन्तिम थी, कितनी निर्मम और घातक सिद्ध हुई।

"तेरह घंटे तक निरन्तर एक गति से वह दौड़ता रहा और न जाने किस अज्ञात आकांक्षा की पूर्ति के लिए, न जाने किन रहस्यमय स्नेहभावों को सँजोए हुए वह यहाँ तक आया और इस कुएँ के समीप मरा।

"कदाचित् अपनी माँ से पृथक् होने पर ग्रीष्म ऋतु में उसने पहली बार यहीं घास पर इसी जलाशय की मधुर थपकियों के मध्य विश्राम किया होगा और इसी स्रोत का जल पीया होगा।

"वसन्त ऋतु में यहीं इन सुगन्धित झाड़ियों के नीचे उसने प्रथम बार उषःकाल में पक्षियों का कलरव सुना होगा, क्योंकि जैसा कि मुझे ज्ञात हुआ है—इस स्रोत से लगभग आधे फर्लांग की दूरी पर उसका जन्म हुआ था।

"किन्तु अब न तो यहाँ घास है और न सघन छाया ही। धूप भी इस निर्जन, वीहड़ प्रदेश में कभी नहीं चमकती। मेरी सम्मति में जब तक इन वृक्षों पत्थरों, जलाशय सभी का क्षय नहीं हो जायगा, तब तक यहाँ सूर्यदेव की कृपा नहीं होगी।

प्रत्युत्तर मे मैंने कहा—महोदय! आपका कथन सर्वथा सत्य है। मेरे और आपके विचारों में बहुत कम अन्तर है। उस अभागे जीव की दारुण हत्या प्रकृति की दृष्टि से छिपी नहीं, अपितु वह अब भी उसकी मृत्यु पर सहानुभूति से अश्रु विमोचन करती है।

वह अव्यक्त शक्ति जो सर्वत्र वायु, मेघ, पत्तों और निकुंजों में निहित है अपने प्रिय सरल निरपराध जीवों के कष्टों और दुखों की पुनीत स्मृति में सदैव श्रद्धा और प्रेम के आँसू बहाया करती है।

'यद्यपि यह रमणीक स्थान आज वीरान और उजाड़ है और इसके चारों ओर सर्वनाश और अंधकार दृष्टिगोचर हो रहा है तथापि प्रकृति कभी किसी समय इस स्थान का भी स्वागत करेगी और अपने सौंदर्य को वह यहाँ पुनः प्रसारित करेगी।

'अब जो इन वस्तुओं को उसने नष्ट होने के लिए छोड़ दिया है वह इसलिए कि हमें यह विदित हो जाय कि हम कितने तुच्छ मनोवृत्ति के और विवेकहीन हैं। किन्तु भविष्य में दया करके वह इन दुखद स्मारकों को पृथ्वी के गर्भ में छिपा लेगी। मित्र! प्रकृति ने जो कुछ हमारे समक्ष प्रदर्शित किया है तथा जो कुछ अपने भीतर छिपा रखा है उससे हम यह उपदेश ग्रहण करें कि हम अपने सुखों और महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए तुच्छ से तुच्छ जीव को भी कभी क्लेश न पहुँचावें।"

अपनी सुप्रसिद्ध कविता 'लूसी ग्रे' में वर्ड्सवर्थ ने बड़ी मार्मिक और करुणा प्लावित भावनाओं का दिग्दर्शन कराया है जो किसी तार्किक आधार पर स्वतःसिद्ध नहीं अपितु अनर्थपूर्ण अंतर मर्यादा को व्यक्त करता है:

'मैं प्रायः लूसी ग्रे के विषय में सुनता था—और एक बार जबकि मैं वन में भ्रमण कर रहा था, तो प्रातःकाल की सान्ध्य-वेला में मुझे उस एकाकिनी बाला के दर्शन हुए थे।

पृथ्वी की विभूति वह सरल भोली कन्या एक विस्तृत भूखण्ड में रहती थी। अपने अल्प जीवन में वह सखी सहेली का परिचय भी प्राप्त न कर सकी। मानव सृष्टि में ऐसी उत्कृष्ट कुमारियाँ बहुत सौभाग्य

से जन्म लेती है। उसके निवास गृह के समीप पक्षियों का कलरव और खरगोश की मनोरम क्रीडा अब भी यदा कदा दीख पड़ती है, लेकिन प्रिय लूसी ग्रे के मधुर, सौम्य दर्शन नितान्त दुर्लभ है।

बहुत दिन पूर्व लूसी ग्रे के पिता ने लूसी से कहा था "बेटी! आज की रात बहुत अशान्त प्रतीत हो रही है। तुम नगर को प्रस्थान करो और अपनी माँ को बर्फीले मार्गों म प्रकाश दिखाकर लिवा लाओ।"

उसने उत्तर दिया—"पिता! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। मैं इस कार्य को अत्यन्त प्रसन्नता से करूँगी। अभी दोपहर नहीं ढला है और गिरजाघर की घडी ने केवल दो बजाए है। अभी रात्रि बहुत दूर है।"

इसके अनन्तर पिता अपने कार्य में पुन व्यस्त हो गये और लूसी ग्रे ने प्रकाश लेकर नगर की ओर प्रस्थान किया।

वह मृगछौनी सी चपल सुकुमारी बालिका धूम्र सदृश आच्छादित हिमकणो को चीरती, पैरो से रौंदती आगे बढती रही, किन्तु बर्फ समय से पूर्व ही गिरने लगा और वह इतस्तत अनिश्चित मार्गों मे भटकती रही। अनक टीलो, पहाडियो पर वह चढी, किन्तु नगर में नहीं पहुँच सकी।

उसके अत्यन्त दुखी, व्यथित माता पिता सारी रात चिल्लाते-रोते हुए अपनी पुत्री का इधर-उधर ढूँढते रहे, किन्तु कोई भी दृश्य अथवा ध्वनि उनकी सहायक नहीं हुई।

प्रात काल एक पहाडी पर खडे होकर उन्होने मैदान के चारो ओर दृष्टि दौडाई। अपने निवास-गृह से एक फर्लांग की दूरी पर उन्हें एक लकडी का पुल दिखाई दिया।

वे निराश होकर करुण क्रदन करने लगे। अब तो हम सब स्वर्ग में ही मिलेंगे—ऐसा सोचकर ज्योंही वे घर की ओर उन्मुख हुए तभी लूसी की माँ को बर्फ में पद चिह्न दृष्टिगोचर हुए।

वे बहुत थक गये थे, तो भी ढालू पहाडी के नीचे उतरकर उन्होने उन छोटे पद चिह्नो का अनुसरण किया और टूटी, काँटेदार झाडियो से गुजरकर एक प्रस्तर दीवार के मार्ग से एक विस्तृत मैदान को पार किया, किन्तु पद-चिन्ह अभी तक पूर्ववत् ही बने थे। उन्होने

पुनः उनका अनुसरण किया। बहुत दूर तक भी वे समाप्त नहीं हुए। अन्त में ल्यूसी के माता पिता पुल पर पहुँचे। पुनः बर्फीले किनारे पर उन्हीं पद चिन्हों का पीछा करते हुए वे पुल के मध्य में पहुँच गये। ठीक उसी स्थल पर इन पद चिन्हों का अन्त था।

इस दुर्घटना के पश्चात् भी लोगों का दृढ़ विश्वास है कि बालिका अभी तक जीवित है और शून्य वन वक्ष में यदा-कदा उसके दर्शन होते हैं। ऊँचे-नीचे, दुर्गम, विषम पथों में भटकती हुई वह बिना पीछे मुड़े आगे बढ़ती रहती है और अत्यन्त करुण, दुःखभरा गीत गाती है जो वायु के स्तरों में निरन्तर ध्वनित होता रहता है।"

बड़े-बड़े कवियों तक की कविता के प्रेरणा-स्रोत कभी कभी इतनी तुच्छ, नगण्य वस्तुओं पर आधारित होते हैं, कभी-कभी वे क्षुद्र जीवों के स्नेह, सौहार्द्र और सहानुभूति में इतने आत्मविभोर हो उठते हैं कि उनके जीवनगत दृष्टिकोण अपनी समस्त यथार्थता के साथ उनके सम्मुख हाथ बाँधे खड़े रहते हैं। इंगलैण्ड के सुप्रसिद्ध कवि रावर्ट बर्न्स की यह विशेषता थी कि तुच्छ से तुच्छ वस्तुओं में भी उनकी दिलचस्पी और मानसिक रुचि सक्रिय थी। सन् १७८५ के नवम्बर मास में एक दिन ऐसी घटना घटी कि जब बर्न्स खेत में हल चला रहे थे तो उनके हल की धुरी से एक चूहे का बिल उलट पुलट गया। चूहा भयातुर हो जोर से भागा। बर्न्स का ब्लेन नाम का एक सेवक छड़ी लेकर उसे मारने दौड़ा, किन्तु बर्न्स ने उसे यह कह कर रोक दिया, "क्या इसने तुम्हारी कोई क्षति की है ?" सन्ध्या समय वे कागज-कलम लेकर बैठ गए और उन्होंने चूहे पर कविता लिख डाली। बर्न्स की इस सुप्रसिद्ध कविता 'टु ए माउस' (To A Mouse) का भावार्थ नीचे दिया जाता है :

"ओ, छोटे, क्षीण, भयातुर, डरपोक प्राणी ! तेरे पेट में यह कैसी उथल-पुथल मची ? तुझे इस प्रकार आर्त्तनाद करते हुए शीघ्रता से सरपट दौड़ने की आवश्यकता न थी। मैं अपनी हिंसक आकांक्षाओं को लेकर तेरे पीछे भागने की धृष्टता न कर सकता था।

मुझे हार्दिक क्षोभ है कि मनुष्य का अनुशासन प्रकृति के सूक्ष्म, सामाजिक बन्धनों को क्षण भर में ध्वस्त कर देता है। मेरे जैसे तुच्छ, पृथ्वी से उत्पन्न सखा और चिरंतन साथी के प्रति तेरी यह दुर्भावना, जिसने कि तुझे द्रुतवेग से भागने को बाध्य किया, न्यायसंगत ही है।

निःसन्देह, तू सदैव फलता-फूलता रहे। ओ छोटे जीव ! तेरा अस्तित्व इतना स्वल्प है कि यदि तू हमेशा बरक़रार रहे तो हानि ही क्या है। मैं तुझे सद्भावना पूर्वक आशीर्वाद देना कभी न भूलूँगा।

तेरा ज़रा सा, छोटा घर उजड़ गया। अब इस चतुर्दिक् फैली हरीतिमा में नया

घर कैसे बनेगा ? दिसम्बर की तीक्ष्ण, घातक हवाएँ अब आरम्भ होने को ही हैं।

तूने तो सोचा था कि खेत उजाड और सूना पड़ा है और कड़कड़ाना, भयंकर शीत भी शीघ्र आना ही चाहता है। तूने ओ मित्र ! बर्फीली, तेज हवा से अपनी रक्षा करने के लिए यह आश्रयस्थल खोजा था, किन्तु मर्र से मेरे हल की तेज, निर्मम नोक ने तेरे बिल को चीर डाला।

थोड़े से हरे पत्ते तूने कितने कष्ट और परिश्रम से एकत्रित किये होंगे। अपनी समस्त परेशानियों के बावजूद भी तू अपने मकान से बाहर शीत और ठंडी हवा में कष्ट झेलने के लिए खदेड़ दिया गया।

पर चूहे ! तेरा दोष नहीं, बहुतों की भावी कल्पनाएँ इसी प्रकार निरर्थक साबित होती हैं। चूहे हों या मनुष्य, किसी की भी सोची हुई बातें कभी पूरी नहीं होतीं। जिन भावी सुखों की हम कल्पना किया करते हैं वे प्रायः दुःखों में बदल जाया करते हैं।

तो भी तू मेरी तुलना में बड़ा सुखी है। तुझ पर केवल वर्तमान ही असर करता है, किन्तु मैं अपने अतीत दुःखों को याद करके रोता हूँ और भविष्य की सही कल्पना न करने के कारण सम्भावित कष्टों को सोच-सोचकर भयभीत रहता हूँ।"

लगभग एक वर्ष बाद अप्रैल मास में बर्न्स के हाथों एक और दुर्घटना घटी। वे प्रतिदिन की भांति खेत में हल चला रहे थे कि अकस्मात हल की नोक ने एक 'डेजी' पुष्प को छिन्न भिन्न कर दिया। बर्न्स ने उस जर्जरित पुष्प पर अपनी कविता रच कर उसे सदैव के लिए अमर बना दिया।

"ओ नन्हे से, सकुचित, लजीले, लाल पुष्प ! तू मुझे कुसमय में मिला, क्योंकि मैंने अन्य अगणित वस्तुओं के साथ तेरे कोमल वृन्त को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। ओ सुकुमार रत्न ! अब तुझे पहले जैसा बना देना मेरी शक्ति और सामर्थ्य से परे है।"

ध्वस्त पुष्प को देखकर कवि को जीवन की क्षणभंगुरता का स्मरण हो आता है और वह उत्तरोत्तर समीप आती हुई मृत्यु की कल्पना करता हुआ अपने को सम्बोधन करके कहता है।

"अरे तू भी, जो 'डेजी' की किस्मत को रो रहा है—इसी प्रकार एक दिन मर जायगा। वह दिन दूर नहीं है जब तेरी भी यही दुर्दशा होगी। क्रूर सर्वनाश रूपी हल की धुरी तेरे यौवन पर कुठाराघात करेगी और सिकुड़ी खाल की झुर्रियों के भार से दब कर तू सीधा मृत्यु के मुँह में चला जाएगा।"

अत्यन्त प्राचीन काल से कबूतर विश्वस्त सन्देशवाहक रहा है। विश्व इतिहास

में ऐसे प्रमाण मिले हैं कि सम्राट् सोलोमन भी कबूतरों को डाक हरकारों के रूप में पालता था।

ग्रीक रोमन, पारसी और सेरासन्स के शाही सैन्यदल में इन कबूतरों को संदेशवाहक के बतौर इस्तेमाल किया जाता था। युद्ध और शान्ति, प्रेम और व्यवसाय, जीवन मरण सुख दुखद संदेशों का विनिमय उनके द्वारा होता था। गॉल की विजय के समय जूलियस सीजर ने कबूतरों से सहायता ली थी और इतिहासकार प्लाइन ने लिखा है कि सम्राट् हरटियस और ब्रूटस ने मोडेना युद्ध-काल में कबूतरों को संदेश-विनिमय का माध्यम बनाया था। सुप्रसिद्ध वाटरलू की लड़ाई में कबूतर अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए थ।

हमारे यहाँ मुस्लिम राजाओं से भी पूर्व कबूतरों का उपयोग होता रहा है और अंग्रेजी शासन काल तक उनके द्वारा 'डाक सर्विस' का उल्लेख मिलता है। कहते हैं कबूतर का वेग १२० मील प्रति घंटा से भी अधिक होता था। उक्त कविता ५६३-४७८ ईसा पूर्व एक यूनानी कवि की रचना है, जिसे सुप्रसिद्ध अंग्रेजी कवि टामस मूर ने अंग्रेजी में रूपान्तरित किया है।

"मेरे प्यारे कबूतर ! बताओ न !
क्यों तुम इस प्रकार अपने सुकोमल
आर्द्र पखों को फड़फड़ा कर
वायु में पुष्पों की सुखद, भीनी गन्ध
विकीर्ण करते उड़े चले जा रहे हो।
बताओ न ? किधर, कहाँ,
किस गन्तव्य की ओर
तुम भ्रमण कर रहे हो ? प्रिय पक्षी !
बताओ न मुझे अपनी
पूरी कहानी तो सुनाते जाओ।

विचित्र पथिक !
टीअन सगीत-परम्परा के चारण कवि से
मेरा सम्बन्ध है और मैं नीलवर्ण
शोभन नेत्रों वाली सौन्दर्य-अप्सरी के पास
उसका आदेश-पत्र
लिये जा रहा हूँ
आह !
इन नेत्रों ने न जाने कितनों को मदमत्त बनाया है,
पर कवि तो सर्वाधिक उसके स्नेह-पाश में आबद्ध है।
प्रेम की देवी 'वीनस'

प्रणय गीत लहरी जगाने के लिए
उसके अपने निकुंज में कूकती है।
निश्चय ही वह कैसा सौभाग्यशाली
दिन था जब कि उसने मुझे
दूरस्थ कवि को सौंपा था।
देखिए—तभी से मैं उसका
तुच्छ विश्वस्त चाकर हूँ,
जो धीमी, मथर गति से पखों पर
तैरता और कवि के प्रेमावेश भरे गीतों को
वायु में लहराता आकर्षक
रूपसी बाला के समीप उसके
प्रेम-सदेश को लिए उडा चला जा रहा हूँ।'

पत्र—महज मामूली कागज के टुकड़े हैं, पर उनमें अतरग भावनाएँ और रहस्य-पूर्ण अनुभूतियाँ छिपी होती हैं। व विचारा के आदान प्रदान का माध्यम बनकर बहुत ही महत्वपूर्ण साबित होते हैं। अग्रेजी कवयित्री एलिजाबेथ बेरट ब्राउनिंग ने अन्तिम पद में पत्रवाहक का अभिनन्दन करते हुए उसे नि स्वार्थ परोपकारी के रूप में चित्रित किया है

"मेरे पत्र! निर्जीव कागज के टुकडे मात्र—मूक और श्वेत, फिर भी मेरे काँपते हाथों में वे सजीव और स्पन्दित प्रतीत होते हैं। उन विवश कम्पायमान करों में जिन्होंने सम्भालने में असमर्थ बध शिथिल हो जाने के कारण उन्हें आज रात मेरे घुटने पर बिखरने दिया है।

इस पत्र में लिखा है कि वह साथी के रूप में—केवल एक बार—मुझे अपनी नजरों के सामने रखना चाहता है। बसन्त ऋतु में एक नियत दिन आकर वह मेरा हाथ स्पर्श करना चाहता है। बहुत साधारण सी बात है, पर मेरा रुदन न जाने क्यों फूटा पड रहा है?

यह पत्र—महज हल्का सा कागज—पर इसमें लिखा है—'प्रिये! मैं तुम्हें प्यार करता हूँ" ओह! मैं पस्त हूँ और मेरी आत्मा करुण क्रन्दन कर रही है मानो खुदा का कहर मेरे अतीत पर हावी है। इस पत्र में लिखा है "मैं तेरा हूँ" और इसकी स्याही तेजी से धडकते मेरे वक्षस्थल पर पडे-पडे नि स्पन्द पड गई है।

यह पत्र—ओ प्रिय! तुम्हारे शब्दो का कैसा विषम प्रभाव होगा यदि मैं—जो इसमें लिखा है—दुहराने की चेष्टा करूँ तो।"

"ओ उदार! ओ महान् कृपालु! मैं बदले में क्या दूँ जिसने बिना कुछ कहे मेरे प्रणयी के अन्तर की स्वर्णाभा का अमल धवल आलोक मुझ तक पहुँचाया है।

अपनी अवाछित उदारता का परिचय देते हुए उसके मदरा को बाहरी दीवार पर रख दिया है मानो कि म उन्हें लूँगी या वहीं पडे रहने दूँगी ।

क्या म निमम हूँ या कि कृतघ्न, क्योंकि इन अमूल्य, बेशकीमती उपहारों के बदले में तुम्हे कुछ भी तो नहीं दे पा रही हूँ--सचमुच, कुछ भी नहीं। किन्तु ऐसा नहीं, म निमम या कृतघ्न नहीं बल्कि मजबूर और दयनीय हूँ । ईश्वर से पूछो जो सवज्ञ है ।

अनवरत अश्रुओं ने मेरे जीवन की लालिमा को अपहृत कर लिया है और मुझे मृत और नितान्त निष्प्राण बना दिया है । यह ठीक नहीं है, आखिर मेरा वह आधार नहीं बन सकता जो उसका है ।

आगे जाओ ! मुझ से दूर ! पर मं ऐसा अनुभव करती हूँ मानो मं अब से तुम्हारे आश्रय की छाया में खडी रहूँगी ।"

सचार-साधनो के समुचित विकास के पूर्व पैदल हरकारों को मार्ग की अनगिनत कठिनाइयों को पार करना पडता था। आँधी-तूफान, वर्षा धूप और ऊँचा नीचा, समतल या पवतीय भूमि पर दिल दहलाने वाले जगली जानवरों से लोहा लेते हुए जान हथेली पर रख कर बनिस्बत उन्हें आगे बढना पडता था। इन हरकारों के पास एक चाबुक होती थी जिसमें छोटी छोटी घटियाँ लगी होती थी, जो उनके आगमन की सूचक थी। सुप्रसिद्ध कवि रुडयार्ड किपलिंग ने 'ओवरलैंड मेल की पूर सर्विस' (पैदल सेवा) का बडा ही रोमाचक वर्णन प्रस्तुत किया है ।

'भारत की महारानी के नाम पर अग्रसर होते रहो, ओ जगल के स्वामी ! तुम जहा कहीं भी हो, आगे बढते रहो।

साध्य वेला में वन प्रान्तर अस्थिर हो उठता है, यहाँ का वातावरण अशात हो जाता है फिर भी हम वनवासी अपने घरों से आने वाले पत्रों की प्रतीक्षा कर रहे हैं। डाकू छिप जाएँ ! शेर अपनी दुम को पीछे मोड लें ! पहाडो डाक महारानी के नाम पर किसी तरह सुरक्षित पहुँच जाए ।

ज्योंही साध्य अधकार सघन होता जाता है घटियों की रुनझुन के साथ हरकारा पगडडी पर मुडता है—उस पगडडी पर जो पहाडी पर ऊँचे ले जाती है। उसकी पीठ पर डाक के थैले लटके हुए हं और ठोडी पर कपडा लिपटा है। कमरबद पर डाकखाने का यह सूचक चिह्न लटका है जिस पर लिखा है 'रल से प्राप्त करते ही अमुक तारीख को हरकारे द्वारा ओवरलैंड मेल के दो थैले भेजे गये ।"

क्या नदी में बाढ़ आ गई है ! उसे तैर कर पार करना होगा या नष्ट हो जाना होगा। क्या वर्षा ने सडक को अवरुद्ध कर लिया है ? उसे शिखर पर से उतरना होगा। क्या भयकर तूफान उसे रुकने का सकेत देता है ? पर आधी-तूफान

उसके लिए कोई अर्थ नहीं रखता। इस कठिन सेवा में 'मगर......' अथवा 'ननुचन' की गुजायश नहीं है। जब तक उसके मुँह में सांस है उसे बिना किसी झिझक के आगे बढ़ना ही होगा, महारानी के नाम पर ओवरलैंड मेल को ले जाना ही होगा।

अखरोट वृक्ष से बेंतूल वृक्ष तक, बंबूल से देवदार वृक्ष तक, समतल से ऊबड-खाबड भूमि तक, ऊबड-खाबड भूमि से शिखर तक, चावल के खेत से चट्टानी मैदान तक, चट्टानी मैदान से मजिल तक, हल्के-फुल्के जूतो से उसे उडकर जाना होता है। सीना फुलाकर श्रमपूर्वक चढना पडता है। विषम पथ से नाले तक और पहाडी मोडो से घाटी तक, ऊँचे—और ऊँचे—रात्रि के मध्य भी—पहाडी डाक को ले जाना होता है।

आह! उधर पहाडी की ओर एक धूमिल आकृति दीख पड रही है—सडक पर एक धब्बे की तरह। नीचे पगडडी पर घटियो की रुनझुन सुन पड रही है। बदरों के आवास में ऊपर अचानक हडकम्प-सा मच गया है। दुनिया जग गई है और दूर आकाश में बादल चमक उठे हैं। महारानी के नाम पर 'ओवरलैंड मेल' का स्वागत करने के लिए महान् सूर्य भी मानो अपनी शत-सहस्र किरणो से स्वागत के लिए तैयार खडा मुस्करा रहा है।"

वैधव्य जीवन कितना कष्टपूर्ण और दुखमय है। एक अनजानी घुटन प्राणो को ममोसती हुई समस्त इच्छा-आकाक्षाओ को जैसे राख या हर बना देती है। दिल पर गहरे विषाद और कचोटती वेदना की काली छायाएँ मँडराती हैं तो श्रम करने में भी बडा कष्ट होता है। अत कोल्हू के बैल की भाँति उसकी जिन्दगी बडी ही बेमानी और सघर्षशील है। कारण—वह चेतन मन से कार्य-क्षेत्र में तो उतरती है, पर उसकी अन्तश्चेतना के परस्पर विरोधी, कभी कभी असम्बद्ध और भयावह तत्त्व हैं जो उसकी चेतना को अवचेतन के निरतर प्रहारो से प्रताडित करते रहते हैं। न्यूयार्क के सुप्रसिद्ध कवि डॉ० वरटन मेकडानियल ने कृत्रिम विशेषणो और अलकारो का प्रयोग किये बगैर यथातथ्य गुणात्मक चित्रण को बडे कौशल से अकित किया है:

"दुख के उच्च शृगों पर
निस्तेज दृष्टि गडाए
वह पेड की सूखी ठूँठो के बीच हल चलाती है।
वृक्षो के ऊबड खाबड पैशाची अवशेषों के इर्दगिर्द
वह अपग बैल के सहारे हल चलाती है।

गरीबी के लौहशिकजे में जकडी
और श्रम के क्रूर पाश में आबद्ध

वह हल चलाते बैल से अपनी ताकत की होड़ करती है
जैसे ही मिट्टी के ढोके उखड़ते हैं
व्यथा के ढोके उसके कण्ठ को रूँध देते हैं।

रात्रि में
जबकि उसका काम खत्म होता है
वह पहाड़ियों पर जाती है
उस ध्वस्त वृक्ष की छितराई टहनियों के समीप
घुटने टेकने और रोने, जहाँ उसका पति
बिजली से आहत होकर मरा था।
मुँह अँधेरे से उठकर मध्य रात्रि तक
वह दुःख, क्लेशों से अनभिज्ञ गुलाम सी
कड़ा श्रम करती है;
स्वाभिमान की निर्मम जड़ता संजोए
अपने असहाय आठ बच्चों का पालन-पोषण करती हुई
जो ज़िन्दगी के सुखों से वंचित हैं।

मुँह अँधेरे से मध्य रात्रि तक
वह कड़ा श्रम करती है
उस अन्धे बैल की तरह,
जो कोल्हू में जुता हुआ
अपने चिर-परिचित पथ पर अविरत चक्कर काटता है
और दासता के अनाज को दलकर
जीवन की खुराक पैदा करता है।"

मानव की उन्मुक्त आत्मा दासता का बंधन कभी भी स्वीकार नहीं करना चाहती, मगर ज़िन्दगी की अनगिनत मजबूरियों और पेट की आग ने मजदूर नाम की चीज़ को जन्म दिया। गरीबी की मार उसकी आत्मा के स्वाभिमान को चाट जाती है, उसमें कुछ बचता नहीं। इंजिन की भट्टी में कोयला झोंकने वाले मजदूरों का एक दृश्य चित्र इसी कवि के मानस पटल पर कैसा उभरा है :

"कमर तक उघड़े बदन
वह भीतर लोह में घुस जाते हैं
उन भयंकर अँधियाली खोहों में,
जो अग्नि से आच्छादित और धुएँ से ठसाठस है
वे नीचे छाया में पैठते हैं
उन सघन छायाओं में, जो धूल, राख और कालिख से ओतप्रोत हैं।

वे नीचे आग की लपटों से संघर्ष करने उतरते हैं
नुकीली जिह्वा सी लपटों से, जो प्राण कचोटकर सखा देती हैं,
खून उबाल देती हैं, और श्वास अवरुद्ध कर देती हैं
मनहूस चेहरे और धुँधली आँखें लिये,
जो बादलों में छिपे सूर्य सी निस्तेज और
क्षितिज के पार डूबते तारे सी नि स्पन्द हैं,
वे खोहों में घुस जाते हैं
उन घटों से जूझने, जो दिन से काले
और रात द्वारा अधिकाधिक मलिन बनाये गए हैं
क्योंकि वे भट्टों में कोयला झोंकने वाले कोयला मजदूर हैं
ऐसे भयकर विस्फोटक भट्टों के,
जो कोयलों के ढेर में आंच की सफेदी
और कच्चे धातु के टुकड़ों से लौह-अतस्थ को
पिघला देते हैं।

बेडगी पीठ लिये
वे खोहों में घुसते हैं
नीचे आग की कब्र में
वे नीचे, नीचे, एकदम नीचे उतरते जाते हैं
उस भावी सतति के सरक्षण के लिए उत्फुल्ल गीत गाते हुए
जो अभी पैदा नहीं हुई।"

जोक मजदूरों के सम्बन्ध में लोगों को बहुत कम जानकारी है, किन्तु इनका जीवन और भी कठिन व श्रमसाध्य है। मौसम और विषम वातावरण की बिना परवाह किये वे समुद्री किनारों और जल के बीच जोक ढूँढने में बेतहाशा जुट रहते हैं। डॉ० वेस्टन मेक्डानियल ने अपने भ्रमण के दौरान एक ऐसे ही वृद्ध जोक मजदूर से मुठभेड की जिसकी सहज सरल वाणी से एक एक शब्द कवि के चिंतन का गभीर विषय बन गया।

"तमाम रात हवा की भीषण गडगडाहट होती रही।
धुआँधार वर्षा हुई और जल उमड बह चला।
किन्तु अब शात चमकीला सूर्य उदित हो रहा था।
दूर बन-प्रान्तर में चिड़ियाँ गा रही थीं।
पेड़ की अपने मधुर स्वर पर मुग्ध थी।
नीलकण्ठी चहचहाती थी तो नीलकण्ठ उसका उत्तर देता था।
सारा वातावरण जल की सुखद कलकल ध्वनि से भरा था।

सूर्य को प्यार करने वाली सभी वस्तुएँ बाहर निकल आई थीं।

प्रभात के जन्म पर आकाश खुशियाँ मना रहा था।
वर्षा के बिंदुकणों से घास चमक रही थी,
विशाल भूखण्ड में खरगोश उत्फुल्ल हो चौकड़ी भर रहा था।
जलसिक्त धरती से जल का धुंध उड़ाता और कुलाचें भरता हुआ
वह दौड़ रहा था।
जहाँ कहीं जाता था,
यह धुंध भी धूप में दमकता हुआ उसके साथ उड़ रहा था।

मैं तब उस विशाल भू प्रदेश का पथी था।
प्रसन्नता म विभोर खरगोश को चौकड़ी भरते मैंने देखा।
दूर वन्य प्रदेश में जल की गड़गड़ाहट भी मैंने सुनी
अथवा सब सुनकर भी जैसे अनजान था।
चचल बालक-सा मस्त,
सुहावन मौसम ने मेरे हृदय को अभिभूत कर लिया था।
मेरी अपनी अतीत स्मृतियाँ,
दूसरों की विडम्बना भरी मनहूस बातें,
म सभी कुछ विस्मृत कर चुका था।

पर जैसा कि प्राय होता है खुशी का अतिशय्य विवेच्य-शक्ति
को शिथिल करता हुआ प्रसन्नता में हमें जितना ही ऊपर उठा देता है,
विषाद के क्षणों में उतना ही नीचे धँसा भी देता है।
वह प्रात मेरे लिए ऐसा ही सिद्ध हुआ।
भय भरी अनभावित कल्पनाओं ने मुझे जकड़ लिया।
धुँधली उदासी और आशकाएँ,
नहीं जानता कि उन्हें क्या कहूँ,
मुझ पर बुरी तरह छा गईं।

मैंने लवा पक्षी को आकाश में चहकते सुना। चपल खरगोश के
बारे में भी म सोचता रहा। आह ! मैं पृथ्वी पर कैसा सुखनसीब
प्राणी हूँ। इन सौभाग्यशाली प्राणियों की भाति ही
मैं समस्त चिन्ताएँ भुलाकर दुनिया से दूर—बहुत दूर—चला
आया हूँ। लेकिन क्या जाने एक दिन ऐसा भी कभी आए
जब एकाकीपन, मनोवेदना, दु ख और गरीबी मुझे आ घेरे।

सारी जिन्दगी मैंने अलमस्ती में गुजार दी मानों जीवन का व्यापार
केवल चन्द दिनों की बहार हो। मानो सभी अभीप्सित वस्तुएँ
मेरे सुखद विश्वास और अब तक की मेरी सुखद समृद्धि पर रीझकर

स्वयमेव आ जाएँगी। लेकिन भला कोई कैसे दूसरों से
यह आशा करे कि वे उसके लिए प्रयत्न करें, बोएँ और
काटें और उसकी जरा सी पुकार पर उसे प्यार करने
दौड़ें जबकि वह स्वयं अपनी तनिक भी सँभाल नहीं रखता।

मैंने उस मित्र के अद्भुत व्यक्तित्व की याद की। वह बेचैन आत्मा
जो अपने स्वाभिमान से नष्ट हुई! खुशी की गरिमा से भरी जो
पर्वतीय क्षेत्र में अपने हल का सदैव अनुसरण करती रही! किस
प्रकार अपनी आत्माओं से ही हम प्रताड़ित किए जाते
हैं? हम, कवि, यौवनोन्माद में फूले नहीं समाते, किन्तु
अंत में क्रमशः नैराश्य और पागलपन हमें जर्जर बना जाता है।

तब फिर, इसे अलौकिक चमत्कार कहिए अथवा अज्ञात प्रेरणा,
या कोई दैवी देन, यह घटना घटी कि इस एकांत स्थल में जब मैं
इन दुःसम्भावनाओं से घिरा था, आकाश की विस्फारित
दृष्टि के तले एक जलकुण्ड के समीप मैंने अप्रत्याशित
ही एक व्यक्ति को देखा। उसके बाल इतने सफेद हो
चुके थे कि वह सबसे बूढ़ा आदमी प्रतीत होता था।

ऊँचाई की नग्न खोपड़ी पर औंधा पड़ा हुआ विशाल शिला-खण्ड
जैसे प्रतीत होता है, प्रत्येक देखने वाले के लिए अचरज सा
कि यह किस प्रकार यहाँ आया, कब, कहाँ से? मानो
यह कोई सजीव वस्तु हो, उस समुद्री जानवर की तरह
जो चुपके से बाहर खिसक आया हो और प्रस्तर-खण्ड
पर अथवा रेत पर धूप तापने के लिये विश्राम कर रहा हो।

ठीक ऐसा ही यह व्यक्ति न जीवित सा, न मृत और न सोता
सा अपनी अति जर्जर वृद्धावस्था में प्रतीत हो रहा था।
उसका शरीर दुहरा झुक गया था। जिन्दगी की लम्बी यात्रा से
थक कर उसके पाँव और सिर एक-सी स्थिति में आ गए थे।
लगता था मानो भारी व्यथा की कुंठा अथवा किसी रोग का प्रकोप
उसे गुजरे जमाने में आक्रांत कर चुका है। मनुष्य की
सामर्थ्य से परे कोई दुर्वह भार उसके कन्धों पर सदैव रहा है।

अपने शरीर, अंग-प्रत्यंगों और मुँह को उसने एक लम्बी, भूरी,
साफ लकड़ी की बनी छड़ी के सहारे टिका दिया था,
और अभी तक ज्यों-ज्यों उसकी ओर मैं मंद गति से बढ़ रहा था,

मैदानी बाढ़ के छोर पर वह वृद्ध उस निश्चल बादल सा खड़ा था
जो हवाओं की भीषण गड़गड़ाहट को भी नहीं सुनता
और यदि चलता है तो एक साथ भार-सभार लेकर चलता है।

तदनन्तर अपने को अनिश्चित करके उसने उस तलैय्या को छड़ी
से झकझोरा और उसके गदले पानी में इस प्रकार दृष्टि गड़ाकर
देखा मानो कंठस्थ करने के लिए वह किसी पुस्तक को
ध्यान से पढ़ रहा हो। एक अपरिचित का श्रेय लेकर
और उसके समीप जाकर मैंने उससे कहा 'आज
का सुबह एक सुन्दर सुहावने दिन का द्योतक है।

वृद्ध ने विनम्र भाषा में, क्रमशः शब्दोच्चारण कर, मेरी बात का
सौम्य उत्तर दिया। फिर मैंने उससे पूछा 'आप यहाँ क्या कर
रहे हैं ? आप जैसे वयोवृद्ध व्यक्ति के लिए यह जगह नितांत
सूनी है ?' अपनी बुझी आँखों किन्तु अब भी प्रखर दृष्टि
फेंककर किंचित् आश्चर्य के साथ उसने उत्तर दिया।

क्षीण कंठ से क्षीण शब्द धीमे धीमे बाहर आए, पर प्रत्येक
तरतीबवार, एक के बाद एक, गुरु गंभीरता लिये और ऊँची
भावनाओं को समेटे। चुने हुए शब्द और नपी तुली बात जो
साधारण व्यक्ति की समझ से परे की चीज थी, ऐसी
शानदार वक्तृता जैसी स्काटलैंड के समाधि निवासी
और धार्मिक व्यक्ति, जो ईश्वर और मानव मात्र के
लिए सर्वस्व अर्पित कर देते हैं, बोलते हैं।

उसने बताया कि जल में वह जोक ढूँढने आया है। वृद्ध और
निर्धन होने के कारण यह व्यवसाय उसके लिए बड़ा ही कष्टप्रद और
थका देने वाला हो गया है। उसे अनेक मुसीबतें उठानी पड़ती हैं।
एक मैदान से दूसरे मैदान एक तलैय्या से दूसरी तलैय्या, इस
प्रकार दर दर भटकता, ईश्वर की कृपा पर निर्भर, जैसा भी मौका
देखता है वहीं आश्रय ग्रहण करता है। इस तरीके से
ईमानदारी के साथ वह अपनी आजीविका कमाता है।

वृद्ध अभी तक मेरे समीप खड़ा बातें कर रहा था। लेकिन अब
उसकी वाणी जल प्रवाह सी धीमी बड़ी कठिनाई से ही सुन पड़ रही
थी। शब्द को शब्द से पृथक् करना कठिन था। उस आदमी का

सम्पूर्ण व्यक्तित्व ऐसा प्रतीत होता था मानो वह मुझे स्वप्न में
मिला हो अथवा किसी दूर देश से प्रेषित मानव-सा
मुझे सचेत करने और मानवीय शक्ति प्रदान करने वह आया था।

मेरे पहले विचार लौट आए, वह घातक भय और दुराशा जो
सवर्द्धन नहीं चाहती। शीत, दर्द, श्रम और सभी शारीरिक क्लेश
तथा वे महान् कवि, जिन्हें मुसीबतो ने निगल लिया,
सभी मेरे स्मृतिपटल पर कौंध गए। घबराकर और अपनी
तसल्ली के लिए मैंने फिर वही प्रश्न उत्सुकता से
दुहरा दिया, 'आप यहाँ कैसे रहते हैं और क्या करते हैं ?'

उसने मुस्करा कर पुन अपने उन्हीं शब्दो को दोहराया और कहा
कि जोंक एकत्रित करने के लिए वह इतस्तत भटकता फिरता है।
जहाँ कहीं भी मिलने की सभावना होती है वह तलैय्या के पानी
को पैरों से टटोल कर उन्हें ढूँढता है। "किसी समय वे हर कहीं
मुझे मिल जाती थीं। पर समय की दीर्घ अवधि ने
उन्हें क्रमश नष्ट कर दिया है। तो भी जहाँ कहीं वे मिल
सकती है, मैं उन्हें ढूँढने में कोई कसर नही रखता।"

इस प्रकार जब वह बातें कर रहा था तो उस एकात स्थल, वृद्ध
के व्यक्तित्व और विवश वाणी सभी ने मुझे परेशान कर दिया। मेरे
मस्तिष्क में शिथिल पाँवो से मैदान में अनवरत चुपचाप और एकाकी
घूमते हुए उस व्यक्ति की तस्वीर खिच गई। जब भीतर ही भीतर
मैं इन विचारो में उलझा हुआ था, उसने थोडा रुककर
फिर वही सब दोहरा दिया।

और शीघ्र ही उस प्रसग में उसने अन्य बातें भी जोड़ दीं। सौम्य मुद्रा
में प्रसन्नतापूर्वक किन्तु एक विशिष्ट गरिमा लिये उसने बताया।
जब वह समाप्त कर चुका तो मुझे अपने से घृणा हुई और हँसी
आई कि इस जर्जर मनुष्य में कितनी दृढता है। 'प्रभु !' मैंने कहा
'मेरी रक्षा करो और मुझे सामर्थ्य दो। शून्य वनखण्ड मे
इस जोंक ढूँढने वाले व्यक्ति का मैं सदैव ध्यान रखूँगा।"

आग में कोयला झोकने वालो की अपेक्षा कोयला खोदने वाले मजदूरो का काम अधिक परिश्रमसाध्य और आयासपूर्ण होता है। उन्हें आँख, नाक और भीतर-अतडियो तक धँस जाने वाली कलौंच से बड़े ही धैर्य और आत्मविश्वास के साथ कडा सघर्ष करना पडता है और कोयले की चट्टान जैसी सख्ती के साथ-साथ जीवन को भी

दारुण और वज्र सा कठोर बनाना पड़ता है। यही एक तथ्य इस महाकवि की दृष्टि की गहरी पैठ का ज्वलन्त प्रमाण बनकर निम्न कविता में प्रकट हुआ है :

"गहरे
नीचे गहरे
पृथ्वी के प्रस्तर कोण में
और नरक की सी अंधेरी गलियों में भी
वे कोयला खोदते हैं।
जमीन की कठोर काली छाती को चीरकर
वे कोयला खोदते हैं।

हर जगह
कालस की रेखाएँ
जो सघन छायाएँ बनकर उनकी आँखों में धँस जाती हैं,
जबकि रात की कालिमा रस्सों द्वारा
झकझोरती हुई
उन्हें काली खदक में ढकेल देती है।

गहरे
नीचे गहरे
पृथ्वी की अंधेरी सीली कोख में
चुपचाप और अनदेखे
उनका दिल धड़कता है
जबकि ऊपर
भयानक सूनापन
निर्मम, घना
और कोयले की चट्टान सा दारुण बनकर
उनके सिर पर छाया रहता है

हमेशा
नीले, स्वच्छ आकाश को
एक नजर देखने के लिए
उनकी आत्मा तड़पती है,
और तारे
असंभावित गुलाब पुष्पों से
विनाश के पृष्ठों में सश्लिष्ट से जान पड़ते हैं,

तथापि कालस की धुंध
और वहाँ की तरलता से अवरुद्ध कंठों से भी
उनके आनंदपूर्ण गीत
चिनगारियों से फूटते हैं
उसी तरह
जैसे बच्चे की धूप से चकाचौंध आँखों में
प्रार्थना का प्रकाश फैल जाता है।"

'नींद के मोड़' शीर्षक कविता में डॉ० मेक्डानियल ने बदनसीब बेकारों की विवशता और लाचारी का बड़ा ही मार्मिक और हृदयस्पर्शी चित्रण किया है

"सड़कों पर इधर से उधर
चरागाहों में
जलाशयों के साथ-साथ
काले जबड़ों और भौंडे मुँह वाले लोग
छोटी-मोटी आग जलाकर
रात को उजली बनाते हैं,
क्योंकि वे शीत से संघर्ष करने वाले
समाज से त्यक्त अभागे बेकार लोग हैं।

हवा की ओर पीठ फेरे
और कोट के कालर में सिर सिकोड़े हुए
वे निराश मनहूस से लट्ठों पर बैठ जाते हैं
सीले लट्ठों के पास, आग के इर्दगिर्द वृत्त बनाकर
जहाँ वे सभी एकत्रित हुआ करते हैं
भेड़ों की तरह
जो ऊनी बालों से वंचित, खदेड़ी हुई—
और अपने झुंडों से भटकी हुई होती है।

जब आग बुझ जाती है
जब पक्षी रात की बर्फीली नीरवता में खो जाते हैं
वे व्यक्ति लट्ठों पर लेट जाते हैं
सीले लट्ठों और आग के चहुँ ओर वृत्ताकार
जहाँ वे भेड़ों का स्वप्न देखते हैं
ऊनी बालों वाली भेड़ों का
जो सुखपूर्वक अपने बाड़ों में विश्राम करती हैं—

जबकि रात में बर्फ
उनकी आँखों के सामने पिघलता है
वे औंधे लेटे हुए
कसकर, चिपटकर
हाथों से लट्ठों को जकड़े रहते हैं
खूब कसकर जकड़े हुए
मानो नींद के दुर्दान्त मोड़ों को
अपने 'स्व' में समेट लेना चाहते हैं।"

'हलवाहों के प्रति' शीर्षक कविता में भोर के पहले रात्रि में उनकी क्या स्थिति होती है किस प्रकार आर्थिक दुर्व्यवस्था से अभिशप्त ये मेहनतकश मूक मानव जिन्दगी के दुर्वह भार को ढोते हैं और अपनी अभावग्रस्त विभीषिकाओं में स्तब्ध और हतचेत से समय बिताते हैं। डॉ० वरदन मक्डानियल ने उनकी मर्मान्तिक वेदना को जैसे शब्दों में सजीव रूप में उभार कर दर्शाया है.

'एक सँकरी कोठरी में ठुँसकर बैठे हुए
जीवन की दुर्गन्ध और मृत्यु की विभीषिका से सन्त्रस्त,
जहाँ हवा उन्हें कचोटती है
जैसे मोमबत्तियाँ अपनी लपट से पिघलकर नष्ट हो जाती हैं
उसी प्रकार उनका शरीर भी पिघलता है।

एक सँकरी कोठरी में ठुँसकर बैठे हुए
उनकी आँखें दूर रात्रि के अँधेरे में तैरती हैं,
यहाँ तक कि सर्वनाश के घटाघरों की ओर
और अन्धकार के दूरस्थ कक्षों में
जहाँ चील के पंख भी फड़फड़ा उठते हैं
और पक्षियों के बोल भी ठिठककर थम जाते हैं।

एक सँकरी कोठरी में ठुँसकर बैठे हुए
उनकी आँखें रात की अँधेरे तमस में खो जाती हैं
क्योंकि अभी तक
उनकी आँखों में शिथिल, सुखकर नींद की खुमारी है।
वह नींद जिसमें खेतों का भय समाया हुआ है,
लड़खड़ाते, लियड़ते खच्चरों का भय,
उखड़ती, फटती लाल धरती का भय,
और दरारों, बेशुमार दरारों की हल्की चीख का भय,

जो घाटियों और पहाड़ी शिखरों तक को
अपने क्रूर पाश में
अग्नि की गझरियों पर लिपटते धागे सा
जकड़ लेता है।

शिथिल, सुलकर नींद
जिसे अरुणोदय की प्रथम रेखा फूटने का भय है,
मानो प्रसवकारिणी दाईं हाथ में कतरनी लिये
रात की काली, मजबूत डोर को
उषा की नाभि से पृथक् कर देती है।"

सैंकड़ों-हजारों वर्षों से मनुष्य सिलेसिलाये कलात्मक डिजाइनों के कपड़े पहनने का शौकीन रहा है, पर इन वस्त्र सीनेवालों और छोटी सी सुई की साधना में लगे श्रमिकों पर शायद ही किसी का ध्यान गया हो। डॉ० वेस्टन मेकडानियल ने बड़ी ही खूबी और दिल्चस्पी के साथ अपनी सवेदना को उन तक पहुँचाया है।

'दिन ढलता है
रात ढलती है
वे
सोने की तेजी से गरम
चमकीली, इस्पाती सुइयों को
अनवरत दौड़ाते हैं।
श्रांत, सुन्न उँगलियों से
निर्मम, जर्जर उँगलियों से
वे
धारदार सुइयों को
तेज, अपेक्षाकृत तेज
दिल की धड़कन से भी तेज
अनवरत दौड़ाते हैं।

नीचे से ऊपर
ऊपर से नीचे

वे
कौंधती सुइयों को
सदा टाँका भरती सुइयों को
मीलों
मीलों दूर

मीलों लम्बे कपड़े पर
अनवरत दौड़ाते हैं
श्रात, सुन्न उंगलियों से
निमम जजर उंगलियों से
निष्प्राण, थकी उंगलियों से
अब भी
सदव
वे ऐसा ही करते हैं।

न केवल इस कवि की दृष्टि मानवों तक सीमित रही है बल्कि पतझड़ के व्यथ, उजाड़ और इधर उधर उड़न वाले सूख पत्ता तक को उसन अपनी उमड़ती सवेदना प्रदान का है।

हवा के तूफानी झोकों से
पतझड़ के पत्ते
निर्जीव निष्प्राण और श्रात से
मानो शरद ऋतु तक विश्राम करने के लिए
चरागाहों में इधर उधर बिखर गए हैं।
सघर्षों से जूझकर
और झुण्ड बनाकर
वे मानों गरम करने के लिए
झाड़ियों पेड़ों और जड़ों में रम गए ह—
जसे कठिन श्रम करते हुए किसानों को
उनके पांवों पर लिपट बोरे
सर्दी से बचाते ह।"

इस कविता में कवि न प्रम और श्रम को परस्पर सश्लिष्ट कर दिया है। प्रेम और श्रम जीवन क प्रमुख व्यापार और एक दूसरे के पूरक सहयोगी और पोषक रहे हैं।

'प्रतिक्षण प्रम को पोषित करो
प्रेम, जो न जाने कब से, कितने चिर काल से
गहन दुर्भेद्य रहस्य है
हृदय के प्रथम स्पदन
और गीत क पहले प्रश्वास से भी जो पुरोगामी है।

प्रतिक्षण प्रेम को पोषित करो
प्रम, जो घृणा क भीषण तूफानों को
और अधकार के दुर्लंघ्य पवतों को

ध्वस्त कर देता है।
प्रेम, जो पुष्पित मन्द समीर की भीनी सुगन्ध ले
पृथ्वी के अन्तराल तक पैठकर
उसके अणु-परमाणुओं तक को सिक्त कर देता है।

प्रेम और मनुष्य का श्रम
जो बुभुक्षा-सा अनन्त
और प्यास-सा चिर विरान्त है।

प्रतिक्षण प्रेम को घोषित करो
प्रेम, जो रात्रि में ध्रुव तारक-सा अचल, अटल
और वृक्ष के तने में धंसा हुआ तीर-सा सुस्थिर है।
प्रेम, जो बच्चों, रोगियों और और असमय व्यक्तियों का सहारा है।

प्रेम,
जो काले, सांवले
लाल, पीले
और गोरे व्यक्तियों सा अबोध्य है।

प्रेम,
मानव सा अविनश्वर
और उन लोगों की इच्छा-अभिलाषा सा अमर
जो जो तोड परिश्रम करते हुए
ईगल पक्षी के घोसले से उच्च महत्त्वाकांक्षा वाले
और उसकी असम्भावित उडान से भी बढकर
कल्पित स्वप्न संजोने वाले ह।

गम्भीर से गम्भीर चिन्तक और कलाकार की कल्पना और रुचि कभी-कभी बहुत ही हल्के 'मूड' में किन्हीं अत्यन्त उपेक्षित और नगण्य वस्तुओं पर जा टिकती है तो लगता है जैसे जिन्दगी के अविश्रान्त डगर पर सरपट दौडते-दौडते मानो अनायास उसके समक्ष कोई मोड आ गया है। जीवन के इस दुगम पथ पर तरह-तरह की प्रतिक्रियाएँ और हृदय की गहराइयों स अनायास फूट सोते उन उठन वाली भाव-लहरियो के सदृश हैं जिनके प्रवाह और गत्यवेग से टकराकर पाठक का मन भी उसमें डूब-उतराकर खोन लगता है। एसी अनन्य अनुभूति—स्वर, अलंकार और मायास काव्य सृजन के तिलिस्म मे परे—उस अतरंग सत्य को उजागर करन के पक्ष में अपना लक्ष्य खोजती है जहा इस अकृत्रिम कला को उभारन के लिए बारीक निगाहें भी हैं और कला पारखी का हृदय भी।

विश्व साहित्य के इतिहास में जिन्दगी को सर्वथा नई दृष्टि देने वाली स्फुट स्थितियों के कुछ अभिनव पहलू या क्षण बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं जिन्हें केन्द्र मानकर कलाकार अनुभवों का नया सस्पर्श और दृष्टिकोण प्राप्त करता है। निस्सदेह, ये क्षण बहुत ही महत्वपूर्ण हैं और इन क्षणों में सिरजी कला में उसका आत्मदर्शन होता है। तात्पर्य है कि प्रकारान्तर से भावों का यह सबल उन्मेष और प्राणवत्ता ही साहित्य की वह थाती है जो अपने सहज स्पर्श से अन्तरात्मा के भीतर तक पैठकर प्राणों को पुलकित और हर्ष विभोर करती रहती है।